

सम्मेलन पत्रिका



गांधी-टण्डन स्मृति-अंक

गांधी जन्मशती वर्ष

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग



सम्मेलन-पत्रिका

[त्रैमासिक]

[भाग-५५, संख्या- ३, ४]
[आषाढ़-मार्गशीर्ष, शक १८९१]

गांधी-टंडन-स्मृति-अंक

सम्पादक
ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल'
रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

वार्षिक शुल्क आठ रुपए } हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग { इस अंक का मूल्य ~~आठ रुपए~~



प्रकाशक :
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

मूल्य : आठ रुपए

मुद्रक :
श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

विषय-सूची

प्रथम खंड

महात्मा गांधी : राष्ट्रभाषा हिन्दी

लेख-लेखक | पृष्ठ-संख्या

●

द्वितीय खंड

राजर्षि टंडन : राष्ट्रभाषा हिन्दी

चित्र-सूची

वक्तव्य

किसी भी स्वतंत्र राष्ट्र के लिए राष्ट्रभाषा की महत्ता सर्वोपरि है। भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुए बाईस वर्ष हो गये किंतु राष्ट्रभाषा की समस्या अभी तक उलझन में पड़ी हुई है। यद्यपि भारतीय संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन कर दिया है किन्तु भारत के केवल दो प्रतिशत सरकार-परस्त अंग्रेजी-भक्तों ने उसके मार्ग को अवरुद्ध कर रक्खा है। पिछले वर्षों में भाषा-विधेयक भारतीय संसद से स्वीकृत कराकर अंग्रेजी का मार्ग प्रशस्त किया गया और हिन्दी के मार्ग में बाधा उत्पन्न की गई। सरकार की ओर से कहा गया कि अहिन्दी भाषा-भाषी तत्काल हिन्दी को राजभाषा स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं जब तक वह पूर्ण रूप से समृद्ध और सक्षम न हो जाये, इसलिए तब तक अंग्रेजी का प्रचलन पूर्ववत् बना रहेगा। परिणामस्वरूप सरकार भी राष्ट्रभाषा के लिए कोई ठोस, सक्षम अथवा चमत्कारिक कदम अभी तक नहीं उठा पाई। हाँ, बड़े मंथर गति से वह राष्ट्रभाषा की समस्या हल करने में लगी हुई अवश्य है।

किन्तु राष्ट्रभाषा का प्रश्न राष्ट्रीय प्रश्न है। संविधान ने भी यदि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन किया है तो बहुत समझ बूझ कर और अहिन्दी भाषा-भाषियों की सहमति से। किन्तु थोड़े से अंग्रेजी-परस्तों और कुछ राजनीतिक नेताओं ने, जो हिन्दी के विरोधी हैं, परस्पर मिल कर जो सांठ-गांठ की, उसी का परिणाम है कि अभी तक राष्ट्रभाषा की समस्या पूर्ण रूप से हल नहीं हो पाई। हिन्दी का किसी भी प्रादेशिक भाषा से कभी भी विरोध नहीं रहा और न उनके उन्नयन में यह बाधक रही है, वरन् वह तो राष्ट्रीय एकता, सौहार्द्र और पारस्परिक प्रेम की प्रतीक मात्र है। संस्कृत की पुत्री होने के कारण वह समस्त राष्ट्र में सरलता से समझी और बोली जाती है। इसी महत्व और अपनी गरिमा के कारण ही आज अहिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में, विशेष कर दक्षिण भारत की जनता में स्वतंत्रता प्राप्ति के अनेक वर्षों पूर्व से ही हिन्दी को इतनी लोकप्रियता प्राप्त हो गई है कि उसके बोलने, समझने और पढ़नेवालों की संख्या करोड़ों तक पहुँच गई है और दिन प्रति दिन उसकी व्यापकता बढ़ती जा रही है। सदियों से दक्षिण और उत्तर भारत के संतों तथा धर्म-चिन्तकों ने पारस्परिक आदान-प्रदान, सौहार्द्र और प्रेम का जो पथ प्रशस्त किया था, उसका सांस्कृतिक संस्कार राष्ट्र की करोड़ों जनता को आज भी शक्ति प्रदान कर रहा है। जब अंग्रेजों का प्रभुत्व इस देश से समाप्त हो गया तो अंग्रेजी का प्रभुत्व भी अब कथमपि इस देश में टिक नहीं सकता। उसका अस्तित्व शीघ्र ही समाप्त होने का अवसर आ गया है। हिन्दी का युद्ध केवल अंग्रेजी से है, अंग्रेजी संस्कृति, अंग्रेजी विचारधारा, अंग्रेजी पद्धति, अंग्रेजी रहन-सहन तथा अंग्रेजी दृष्टिकोण से है न कि अपनी सहोदरीय भारतीय भाषाओं से। राष्ट्र को विशुद्ध रूप से भारतीय होना है तथा सांस्कृतिक एकता के एक सूत्र में बँधना है। जागरूक तथा स्वाधीन राष्ट्र को उसकी राष्ट्रभाषा से अंग्रेजी विरत नहीं रख सकती। भारतीय संविधान ने इसी दूरगामी दृष्टि से हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा देवनागरी को राष्ट्रलिपि के पद पर आसीन किया है।

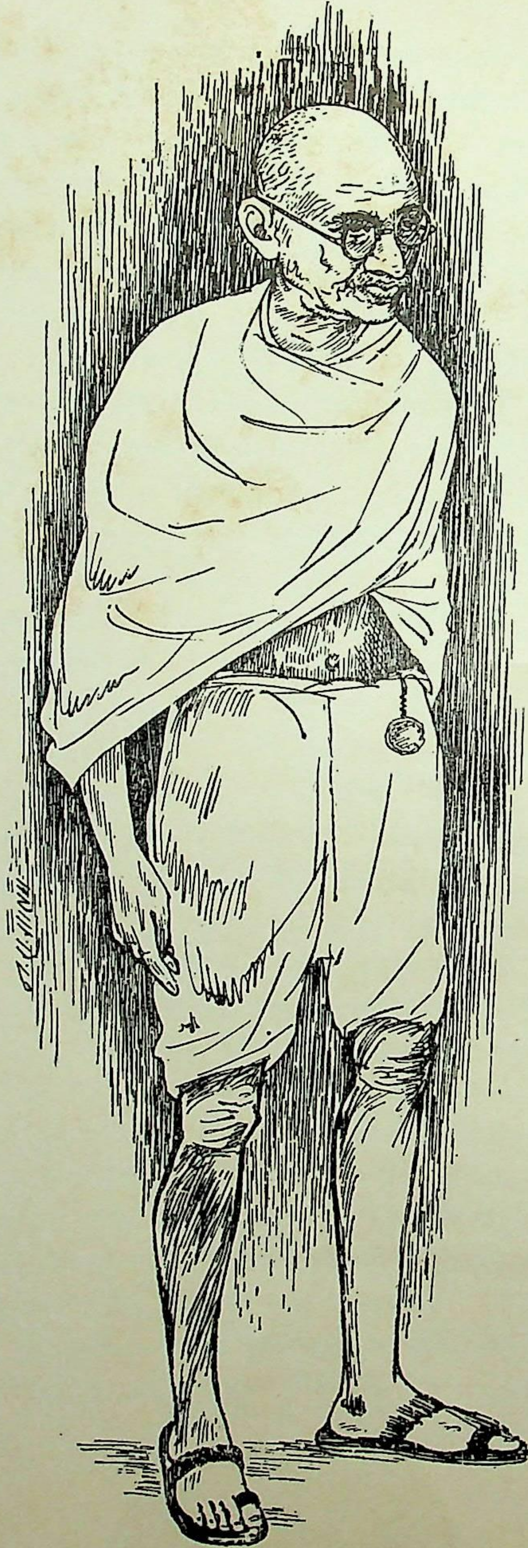
हमारे देश के नेताओं ने, जिन्होंने भारतीय स्वाधीनता तथा सांस्कृतिक चेतना की अग्नि विदेशी सत्ता के विरुद्ध प्रज्वलित की, वह जानते थे कि राष्ट्र के स्वाधीन होने पर उसको एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता होगी। उन्होंने स्वाधीनता-आन्दोलन के समानान्तर राष्ट्रभाषा के आन्दोलन का भी सूत्रपात किया। राष्ट्रभाषा हिन्दी के अक्षयवट का बीजारोपण सर्वप्रथम अहिन्दी भाषा-भाषी दक्षिण के महान संतों, पंजाब के गुरु नानक, बंगाल के राजा राममोहन राय, श्री केशवचंद्र सेन, महाराष्ट्र के लोकमान्य तिलक और गुजरात के महर्षि दयानन्द सरस्वती के द्वारा ही हुआ, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। पंडित मदनमोहन मालवीय और महात्मा गांधी ने उसे जीवन प्रदान किया और राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने उसे पल्लवित और पुष्पित करने में अपने समस्त जीवन को सर्मपित कर दिया। हिन्दी भाषा भाषियों ने तो कभी कल्पना भी नहीं की थी कि हिन्दी को इस देश की राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन करना है। सच तो यह है कि सन् १८५७ ई० से आज तक का राष्ट्रभाषा हिन्दी के आन्दोलन का अत्यन्त उज्ज्वल और ज्वलंत इतिहास है। शोध और अनुशीलन की दृष्टि से पिछले एक शती का इतिहास यदि लिखा जाये तो वह राष्ट्रभाषा की एक महान् उपलब्धि सिद्ध हो सकती है किंतु अंग्रेजी के प्रभावित विद्वानों तथा इतिहासकारों ने इस ओर अभी ध्यान ही नहीं दिया है। सरकार से हमें विशेष आशा नहीं करनी चाहिए। अंग्रेजी से प्रभावित सरकारी दृष्टि से राष्ट्रभाषा के निमित्त प्रति वर्ष करोड़ों रुपया व्यय कर के वह जो कुछ कर सकती है, कर रही है। इसका उत्तरदायित्व भाषा-संबंधी सक्रिय कार्य करनेवाली समर्थ राष्ट्रीय संस्थाओं ही पर निर्भर है। तभी हिन्दी तथा अहिन्दी भाषा-भाषियों की राष्ट्रभाषा की कल्पना साकार रूप ग्रहण कर सकती है।

'गांधी-टंडन-स्मृति-अंक' राष्ट्रभाषा की उसी पूर्व कल्पना को साकार बनाने की एक कड़ी मात्र है। आधुनिक युग में महात्मा गांधी तथा राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने राष्ट्र को वाणी देने में जो महत्वपूर्ण योगदान दिया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। हमारा विचार था कि इन दोनों महान पुरुषों के व्यक्तित्व तथा राष्ट्रभाषा संबंधी महत्वपूर्ण कृतित्व पर अलग-अलग विशेषांक प्रकाशित किए जायें और उनमें अधिक से अधिक सामाग्री प्रस्तुत की जाये किन्तु समय के अभाव तथा अनेक कठिनाइयों के कारण उसे क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा सका। फिर भी अपने ढंग का यह विशेषांक वर्तमान तथा भावी पीढ़ी के हिन्दी रचनाकारों तथा साहित्यकारों का कुछ न कुछ मार्ग-दर्शन अवश्य कर सकता है। इस विशेषांक में महात्मा गांधी तथा राजर्षि टंडन जी के संबंध में जो सामाग्री प्रस्तुत की गई है उससे उनके राष्ट्रभाषा प्रेम का पवित्र और उज्ज्वल दर्शन प्राप्त होता है। इस संबंध में अभी अधिक से अधिक अनुसंधान और शोध होने की आवश्यकता है, बिखरी हुई तथा वर्षों की अस्तव्यस्त सामग्री को एकत्रित करना है जो भविष्य के लिए संदर्भ का काम दे सकती है।

हमें आशा है कि 'गांधी-टंडन-स्मृति अंक' राष्ट्रभाषा प्रेमियों को पसंद आयेगा, साथ ही भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त करने में सहायक होगा।

सम्पादक

विश्ववंद्य पूज्य बापू



जन्म : २ अक्टूबर १८६९ निधन : ३० जनवरी १९४८

महात्मा गांधी : राष्ट्रभाषा हिन्दी

व्यक्तित्व, कृतित्व और संस्मरण

(प्रथम खण्ड)

श्री सुमित्रानन्दन पंत

श्रद्धांजलि



दीप-स्तंभ से कौन खड़े उस पार दूर पर--
निज प्रकाश-अंगुलि से जो अदृश्य इंगित कर
निर्देशन करते जन का पथ संकट-क्षण में
जो अविचल, निर्भीक रहे युग संघर्षण में !

उफनाता उद्वेलित दुर्गम जीवन-सागर
पद नत जिनके सम्मुख लगता रहा निरंतर !
पर्वत सा संकल्प लोक तृण-तरणी पर धर
पार कर गए जो अकूल भव जलनिधि दुस्तर !

तोड़ लौह शृंखला दासता की चिर दुर्जय
बना गए वे नियति भीत जनता को निर्भय !
स्वार्थ लुब्ध, कटु द्वेष क्षुब्ध, बहु मुंड विभाजित,
निखिल देश को युग प्रबुद्ध कर, ऐक्य-संगठित !

खोल गए चिर रुद्ध हृदय-पट तुम क्षण भर में
हिन्दी की दे स्वर्ण-कुंचिका जन जन कर में !
धन्य, अमर युग सेनानी, पुरुषोत्तम-गांधी,
साँसों में भर, लाए स्वतंत्रता की आँधी !

डाक्टर सेठ गोविन्ददास

हिन्दी का अक्षयवट

राष्ट्रभाषा हिन्दी के सूत्रधार, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने देश की स्वाधीनता को स्थायी और सार्थक बनाने के लिए स्वातंत्र्य प्रयत्नों के साथ-साथ राष्ट्रभाषा के उत्थान और उन्नयन के लिए कार्यारम्भ किया। उनका मत था कि स्वाधीनता यदि कोटि-कोटि भारत-वासियों की अभिलाषा हो सकती है तो उसकी अभिव्यक्ति भी उनकी अपनी वाणी से ही संभव है। बापू के लिए जिस तरह विदेशी शासन देश का दुर्भाग्य और एक अभिशाप था उसी तरह देश के जन-जीवन और उसकी जबान पर एक विदेशी भाषा का आधिपत्य। उनकी दृष्टि में दोनों ही अस्वाभाविक और अपवित्र थे।

यही वजह हुई कि उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार और उसकी प्राण-प्रतिष्ठा के प्रयत्नों में उसे देश की स्वतंत्रता से कोई कम महत्व नहीं दिया। उनके जीवन भर के कार्यों में पग-पग पर भाषा-स्वातंत्र्य की उनकी आकांक्षा, उनके प्रयत्न और उन प्रयत्नों के परिणाम में देश के जन-जीवन में जो चेतना हमें परिलक्षित होती है, वह उनके राष्ट्रभाषा-प्रेम के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

देश की एकता, उसकी समृद्धि और एक-सूत्रबद्धता के लिए उन्होंने देश के मानस में नागरी लिपि और हिन्दी की प्राण-प्रतिष्ठा की। उनके द्वारा हुआ वह बीजारोपण देश के सुदूर अंचलों में अंकुरित हो कर स्वाधीनता के साथ ही अपना एक स्वरूप लेकर सामने आया। राष्ट्रभाषा के इस स्वरूप को बापू के ही एक अनुयायी और अभिन्न साथी श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने अपने सेवा-संस्कारों से सिंचित कर पाला-पोसा। इतना ही नहीं उसकी इस विशाल गणराज्य के संविधान में प्राण-प्रतिष्ठा करायी। उन्होंने अपने जीवन से हिन्दी को भारत की संस्कृति की, उसकी आकांक्षाओं और अभिव्यक्ति का एक मुखर और प्रखर साधन बना दिया। इस प्रकार गांधी जी ने अपने स्वप्नों और संकल्पों के भारत में राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का जो बीजारोपण किया था वह टण्डन जी के पुण्य-प्रयत्नों से आज एक अक्षयवट का रूप ग्रहण कर चुका है। इसकी शाखा-प्रशाखाओं के रूप में देश की अन्य भाषाएं आज सुशोभित हो रही हैं और देश का जन-जीवन बहुत तेजी से हिन्दी रूपी इस विशाल अक्षयवट की छाया में अपने प्रयत्नों को सफलीभूत बनाने का इच्छुक और आकांक्षी बनता जा रहा है।

इस भाषा-अक्षयवट के रोपक और पोषक पूज्य बापू और राजर्षि टन्डन जी को मेरी शतशः श्रद्धांजलि !

माननीय श्री जगजीवनराम

राष्ट्रभाषा हिन्दी : आशीर्वाद और संरक्षण

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की पत्रिका का 'गांधी-टण्डन स्मृति अंक' प्रकाशित हो रहा है, यह जान कर प्रसन्नता हुई। भारत महान व्यक्तियों का देश रहा है। दूसरे के प्रति आक्रामक न होकर अपने त्याग और बलिदान के आधार पर अपने अधिकारों की प्राप्ति और उनकी रक्षा करना भारत की अनोखी परम्परा रही है। गांधी जी ने इसी परम्परा को अपनाकर अहिंसात्मक आन्दोलन द्वारा जन-जागरण किया और देश को स्वतंत्र कराया। स्वतंत्रदेश की अपनी एक राष्ट्र और राज्य भाषा होनी चाहिए और वह भाषा बहु-संख्यक जनता की भाषा हिन्दी ही हो सकती है, यह तथ्य उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रहा। यही कारण था कि अहिन्दी भाषी होते हुए भी उन्होंने हिन्दी को ही अपने कार्य के लिए अपनाया। स्वामी दयानन्द ने भी अहिन्दी भाषी होते हुए हिन्दी को अपने प्रचार का माध्यम बनाया था। दूरदर्शी महापुरुषों की यही विशेषता रही है।

गांधी जी ने हिन्दी को अपनाया ही नहीं उसके प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति आदि संस्थाओं को अपना आशीर्वाद दिया। टण्डन जी ने गांधी जी के इस कार्य को गति देने के लिए सम्मेलन को संरक्षण प्रदान किया और वे सम्मेलन ही नहीं हिन्दी की अनेक संस्थाओं के लिए मार्ग-दर्शक स्तम्भ सिद्ध हुए। गांधी जी और टण्डन जी की हिन्दीसेवा देशसेवा का ही एक अंग था। इनमें भेद करना सम्भव नहीं। हिन्दी देश के संविधान में राष्ट्र और राजभाषा का पद प्राप्त कर सकी, इसमें इनका बड़ा योगदान रहा है। आज भी देश को भावनात्मक एकता में आबद्ध रखने के लिए एक सम्पर्क भाषा की आवश्यकता है जो निश्चय ही हिन्दी है। इसका प्रचार-प्रसार करना देश की एकता को दृढ़ करना है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन "गांधी-टण्डन स्मृति अंक" प्रकाशित कर के उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन तो कर ही रहा है, यह हिन्दी के प्रचार-प्रसार में भी सहायक सिद्ध होगा,—इसमें दो मत नहीं।

नई दिल्ली, ८ जुलाई १९६९

श्री गोपाल शास्त्री, दर्शनकेसरी

महात्मा गांधी श्रीकृष्ण-प्रतिकृतिः

मम दृष्टौ गान्धी महात्मा श्रीकृष्णस्य कर्मठयोगिराजस्यैव भगवतः प्रतिकृतिरासीदिति अधस्तन-पद्यैः स्फुटं निर्दिश्यते---

अयि महात्मन्!

"यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽसम्भवम॥" (भगवदगीता १०।४१)

इति यद् भगवानाह पार्थाशय रणमूर्द्धनि।
तत्प्रतीको भवानासीदिति मे निश्चिता मतिः॥१॥

नवनीतादिकं बाल्ये कृष्णेनापहृतं बलात्।
त्वया वृटिशराज्याद्वै हठाल्लवणमाहृतम्॥२॥

गावः सुरक्षिता यद्वत्कृष्णेन गोपवृत्तिना।
तथा तवापि गोरक्षा प्रतिज्ञा प्रथिता भुवि॥३॥

समुद्रमन्थनात्तेनोन्नीतं रत्नं सुधादिकम्।
बहुरत्नं त्वयोन्नीतं स्वातन्त्र्याद् भारतेऽधुना॥४॥

द्रौपदी रक्षिता तेन सभायां वस्त्रवर्द्धनात्।
त्वया खद्दरदानेन दीना नार्य्यः सुरक्षिताः॥५॥

शिशुपालवधे तेन चक्रं क्षिप्तं सुदर्शनम्।
तर्कुचक्रं त्वयोत्क्षिप्तं लंकाशायरशातने॥६॥

नास्तिक्य-प्रविघाताय तेन गीता समर्पिता।
कम्युनिज्मविनाशाय दत्तेश-प्रार्थना त्वया॥७॥

तेन भारतयुद्धेन धर्मराज्यं समुद्धृतम्।
त्वया गोरण्डयुद्धेन स्वतन्त्रं भारतं कृतम्॥८॥

यथाजहाज्जराव्याध-हतः कृष्णो निजं वपुः।
तथैव त्वं निजं देहं नाथूरामहतोऽत्यजः॥९॥

इत्येवं कर्म-साम्यात्त्वं कृष्णतेजोंऽशसम्भवः।
अहिंसा नीतिरेका ते तद्विरुद्धा प्रतीयते॥१०॥

कर्मणा मनसा वाचा यदाऽहिंसामवर्तयः।
कथं तदा त्वं नैजीं हा! हिंसया तनुमत्यजः॥११॥

मन्ये संसारकृत्ये ते नाऽहिंसा सर्वथा मता।
केवलं नीति-रूपेण वृटिशयुद्धे त्वया धृता॥१२॥

नो चेत् कथं त्वं गोवत्सं ममूर्षुः स्वयमावधीः।
हिंसा सा दर्शिता साक्षात् गोवत्सं निघ्नता त्वया॥१३॥

हनूमत् सुरसावत् सा हिंसाहिंसाविरोधिनी।
सुरसा-मुखविस्तारे यथा स लघुराश्वभूत्॥१४॥

तथैव हिंसकानां त्वमग्रेऽहिंसक आश्वभूः।
कृष्णनीतिस्तु हिंसैव भारते दृश्यते स्फुटम्॥१५॥

अहिंसानीतिरासीत्ते तात्कालिकनयप्रिया।
इत्येतत्तर्कितं साम्यं मया कृष्णेन गान्धिनः॥१६॥

गोपालशास्त्रिणा कृष्ण-गान्धि-चारित्र्यसाम्यतः।।
यथाशक्यं प्रचार्यं स्याद्गान्धिनश्चरितं भुवि॥१७॥

विशेषतोऽनुसर्तव्या तदीयेश्वरप्रार्थना।
सत्यं धर्मं सदाचारं सर्वभूत-प्ररक्षणम्॥१८॥

प्राहुः सनातनं धर्मं सर्वेऽपि मुनयो वरम्।
किमाश्चर्य्यं भगवत इहावतरणं प्रति॥१९॥

स्वयं स ब्रूते गीतायां धर्म-ग्लानौ निजागमम्।
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत॥२०॥

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
इति वाक्यात्स्वयं कृष्णो गान्धिरूपादिहागतः॥२१॥

कार्यं कृत्वाऽवतारस्य पुनर्नैजं पदं गतः।
का हानिर्ब्रूत सुधियो मम कल्पनयाऽनया॥२२॥

धर्म्ये सनातने मार्गे पुराणप्रतिपादिते।
अवतारकथावादे युगरूपानुरूपतः॥२३॥

इति गान्धिस्मृतावङ्के कृष्णसाम्यनिरूपणम्।
कृतं मया मुदा लोच्यं सुधीभिः सुरभाषया॥

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

भारतीय संविधान सभा में राष्ट्रभाषा हिन्दी

राष्ट्रभाषा

भारतीय संविधान सभा के अधिकांश सदस्यों का यह मत था कि राष्ट्रीय सुदृढ़ता की प्राप्ति के लिए संविधान का एक प्रमुख अंग 'राष्ट्रभाषा सम्बन्धी व्यवस्था' होना चाहिए।

सन् १९०५ में, आज से बहुत पहले, अन्य कार्यों के साथ मैंने अपने आपको राष्ट्र भाषा के कार्य के लिए भी समर्पित कर दिया था जिसे मैंने उस समय 'हिन्दुस्तानी' नाम दिया था। उस समय हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी के बीच कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची गई थी।

अपने धर्मोपदेश के दौरान स्वामी दयानंद सरस्वती ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा प्रदान किया। भाषा के विकास और प्रसार के लिए पंडित मदनमोहन मालवीय तथा श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने १० अक्तूबर सन् १९१० ई० को हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की।

गुजरात के बरौच नामक स्थान पर आयोजित द्वितीय गुजरात शिक्षा सम्मेलन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में २० अक्टूबर सन् १९१७ को गांधी जी ने स्पष्ट रूप से कहा कि केवल हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, हिन्दी और उर्दू एक ही है, केवल उनकी शैली में अंतर है।

सन् १९१८ में जब गांधी जी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आठवें अधिवेशन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए, उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा कि जब तक हिन्दी को राष्ट्रीय स्तर तथा प्रांतीय भाषाओं को जन-जीवन में उनका उचित स्थान नहीं प्रदान किया जाता, तब तक, स्वराज्य की सारी बातें व्यर्थ है।[1] उन्होंने हिन्दी का उल्लेख करते हुए कहा कि यह देवनागरी या उर्दू लिपि में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के द्वारा बोली जाती है।

गांधी जी द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में मान्यता दिए जाने से देश में हिन्दी-प्रसार-आन्दोलन को बड़ा बल मिला।

सन् १९१८ में गांधी जी ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना की जिसने कुछ वर्षों की अवधि में शानदार काम किया है। इस संस्था के प्रारंभिक मार्ग-दर्शन हेतु अथक श्रम करने

---

१. एम० जी० गांधी : आवर लैंग्वेज प्राब्लम, संपादित द्वारा ए० टी० हिंगोरानी, पृष्ठ १८।

के लिए श्री राजगोपालाचार्य तथा मतूरि सत्यनारायण धन्यवाद के पात्र हैं। सन् १९२० में गांधी जी ने मद्रास प्रेसीडेंसी की जनता से अपील की कि वह लोगों द्वारा हिन्दी सीखने की राष्ट्रीय आवश्यकता को स्वीकार कर ले। इसके बाद, मुख्यतः हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्वावधान में कई अहिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी के प्रसारार्थ संगठन बनाए गए।

सन् १९२५ में कांग्रेस के कानपुर-अधिवेशन में गांधी जी की प्रेरणा से कांग्रेस की भाषा-नीति इस प्रकार स्वीकार की गई—

यथासंभव कांग्रेस की कार्यवाही हिन्दुस्तानी में की जाएगी। यदि भाषण-कर्ता हिन्दुस्तानी बोलने में असमर्थ हैं या जब आवश्यक हो, अंग्रेजी या अन्य प्रांतीय भाषा का प्रयोग किया जा सकता है। प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों की कार्यवाहियाँ सामान्यतः सम्बन्धित प्रांत की भाषा में संचालित होंगी; हिन्दुस्तानी का प्रयोग भी किया जा सकता है।

अप्रैल, सन् १९३५ में मैं गांधी जी के साथ इंदौर गया जहाँ उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के २४वें अधिवेशन की अध्यक्षता करनी थी। उन्होंने मुझे उसकी कार्य-समिति का सदस्य भी नियुक्त किया।

विभिन्न भाषाओं के वर्तमान साहित्य को हिन्दी के सर्वनिष्ठ निकाय में संचित करने के आशय से 'हंस' के प्रकाशन के लिए, जो उस समय सुप्रसिद्ध हिन्दी उपन्यासकार प्रेमचंद के स्वामित्व में प्रकाशित होता था, एक निजी मिश्रित पूंजी कम्पनी की स्थापना की गई। उसके प्रायः सभी हिस्से मेरे पास थे। प्रेमचन्द और मैं संयुक्त संपादक थे।

मैंने मौलवी अब्दुल हक तथा कुछ अन्य प्रमुख लेखकों से सहयोग माँगा। अपनी प्रारंभिक बैठकों में हमने देखा कि मौलवी हमारे कार्य के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों से सहमत नहीं हुए।

'हंस' प्रारंभ से ही बहुत लोकप्रिय हुआ। किन्तु तत्काल ही हिन्दुस्तानी का प्रयोग न करने के सम्बन्ध में उसके विरुद्ध आक्षेप होने लगे। १६ मई, १९३६ ई० के 'हरिजन' में अपने लेख में गांधी जी ने 'हंस' में संस्कृत-निष्ठ हिन्दी के प्रयोग का पक्ष लिया।

उन्होंने कहा, "आज जो लक्ष्य है, वह एक नई भाषा का विकास करना नहीं है बल्कि उस भाषा को ग्रहण करना है जो अंतर्प्रान्तीय भाषा के नाम से जानी जाती है। मैं समझता हूँ कि इसमें प्रयुक्त भाषा के रूप का पक्ष ले कर श्री मुंशी ने ठीक किया। उदाहरण के लिए कह सकते हैं कि तमिल या तेलुगु से हिन्दी या हिन्दुस्तानी में रूपान्तर करते समय संस्कृत शब्दों के प्रयोग से बचना प्रायः उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार अरबी भाषा से हिन्दी या हिन्दुस्तानी में रूपान्तर करते समय अरबी भाषा के शब्दों के प्रयोग से बचना।"

बाद में, एक विचित्र भवितव्यता द्वारा 'हंस' बंद हो गया। पत्रिका का मुद्रण और प्रकाशन बनारस से प्रेमचन्द की निजी देख-रेख में होता था। मैं और प्रेमचंद सहमत हुए थे कि राजनीति को ढाल बनानेवाली कोई रचना हम इस पत्रिका में नहीं प्रकाशित करेंगे। तथापि, 'हंस' के एक अंक में उन्होंने एक ऐसी रचना को छप जाने दिया जिसने शीघ्र ही पत्रिका के सम्बन्ध में बनारस के कलेक्टर का रोष जगा दिया। उसके संपादकों को जमानत देने का आदेश दिया

गया। गांधी जी ने कोई जमानत दिए जाने की अनुमति नहीं दी। एक संयुक्त साहसिक कार्य के रूप में 'हंस' का प्रकाशन बंद हो गया और मैंने उसे प्रेमचंद को पुनः स्थानांतरित कर दिया।

सन् १९३६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन के अवसर पर गांधी जी ने भारतीय साहित्य परिषद् के निर्माण का स्वागत किया जिसको मैंने जन्म दिया था। उन्होंने उसकी अध्यक्षता स्वीकार कर ली। क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्यिक सम्मेलनों का एक संघ-स्वरूप ही इस परिषद् का उद्देश्य था। गांधी जी की प्रेरणा से ही सर्वप्रथम उसके संविधान में 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' शब्द प्रकट हुए। परिषद् के ध्येय को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से मैंने देश के कई भागों की यात्रा की और केवल कर्नाटक में मैंने उसके सम्बन्ध में अवरोध पाया।

हिन्दी-हिन्दुस्तानी

गांधी जी के लिए वह समय कठिन था क्योंकि हर आदमी की हर बात को संतुष्ट करने वाले सूत्रों को लेकर वे विभिन्न दृष्टिकोणों को समेकित कर रहे थे। एक मुसलमान मित्र के समक्ष उन्होंने राजा जी के कार्य, मद्रास प्रेसीडेंसी के स्कूलों में हिन्दुस्तानी के प्रचलन का समर्थन किया जो एक प्रकार से हिन्दी ही थी। अन्य मुसलमान मित्र को, जिसने 'हिन्दी' शब्द का विरोध किया, उन्होंने लिखा कि राष्ट्रभाषा का एक ही नाम 'हिन्दुस्तानी' है।

गांधी जी के अनुयायियों ने, जो गांधी जी के नेतृत्व का अनुगमन कर रहे थे, हिन्दी और उर्दू के मध्य अन्तरों या भेदों को भुला दिया और उसकी गोलमोल व्याख्या की। उन्होंने इस तथ्य की ओर से आँख मूँद लिया कि हिन्दी के शब्दों, मुहाविरों तथा संकेतों-प्रतीकों की रचना संस्कृत के प्रभाव के अंतर्गत हुई है जब कि उर्दू में वे फारसी से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

यह तर्क करना सरल था कि हिन्दुस्तानी, राष्ट्रभाषा होने के नाते, हिन्दी-भाषी तथा उर्दू-भाषी जनता दोनों को मान्य होना चाहिए। यह सही है कि बाजार के स्तर पर भाषा एक ही थी, किन्तु जब वह विचार की उच्चतर अभिव्यक्ति का माध्यम हुई, तो हिन्दुस्तानी नाम की कोई चीज नहीं रह गई—वह या तो संस्कृत-निष्ठ हिन्दी होगी या फारसी-निष्ठ थी।

यह विचार करने का बात है कि ये भाषाएँ कैसे विकसित हुईं तो यह बात बिकुल स्वाभाविक थी। अंग्रेजों द्वारा विश्वविद्यालयों की स्थापना होने पर द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दू विद्यार्थियों ने संस्कृत ली, जब कि मुसलमान विद्यार्थियों ने फारसी ली। लिपियाँ भी भिन्न थीं—एक भाषा में देवनागरी, दूसरी भाषा में संशोधित अरबी।

फिर, हिन्दी को यह लाभ था कि संस्कृत से आहृत होने के कारण इसकी शब्दावली का एक बड़ा भाग न्यूनाधिक रूप से गुजराती, मराठी, बंगला, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, आसामी और उड़िया भाषाओं से समानता रखता था। तमिल में लगभग ३० प्रतिशत संस्कृत के और कुछ फारसी के शब्द हैं। उर्दू में भी संस्कृत से निकले बहुत से तद्भव[1] शब्द थे।

---

१. प्रयोग में विकृत मूल संस्कृत शब्द।

इसके अतिरिक्त, केवल इस तथ्य के कारण कि उत्तर भारत के कुछ भागों में हिन्दू अपनी मातृभाषा के रूप में उर्दू बोलते हैं, अरबी लिपि में लिखी गई उर्दू उस भाषा में सहज स्वीकार नहीं की जाएगी जो संस्कृत के प्रभाव में रह कर सम्पन्न हुई है।

उर्दू के अतिरिक्त, किसी अन्य भारतीय भाषा की अपेक्षा गुजराती की शब्दावली में, जो कि मेरी मातृभाषा है, अरबी-फारसी के शब्द अधिक हैं। मैं थोड़ी हिन्दुस्तानी बोल सकता हूँ और अच्छी हिन्दी में अपने विचार प्रकट कर सकता हूँ। किंतु विधान सभा के वाद-विवादों में मौलाना आजाद और जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रयुक्त शब्दों की सूची बनाने पर मैंने देखा कि आजाद के कोई ६० से ७० प्रतिशत और शुरू में नेहरू के ३० से ४० प्रतिशत तक शब्द मैं नहीं समझ सका।

सन् १९४८ में जब मैं हैदराबाद में रहता था, मैंने देखा कि उसमानियाँ विश्वविद्यालय द्वारा निर्मित तथा हैदराबाद में राज्य-भाषा के रूप में स्वीकृत उर्दू में अरबी शब्द इतनी अधिक मात्रा में थे कि वह एक उर्दू भाषी मुसलमान के लिए भी प्रायः दुर्बोध थी।

ज्यों ज्यों साम्प्रदायिक स्थिति सघन और तीव्र होती गई, गांधी जी हिन्दी और उर्दू के बीच की खाई को पाटने के लिए प्रयत्न करते गए। वे आशान्वित थे और उन्होंने अपनी आशा १९४५ ई० में इस प्रकार प्रकट की—"यदि हिन्दी और उर्दू का संगम हो जाए तो सरस्वती प्रकट हो जो गंगा और यमुना दोनों से महान-विशाल होगी। यह सरस्वती एक ऐसी बड़ी हुगली के समान होगी जिसका पंक दूर कर दिया गया हो, अर्थात् एक सुंदर हुगली।"

इसी सुंदर 'हुगली' की खोज में गांधी जी बराबर समझौतों की सलाह देते रहे जो अव्यावहारिक थीं, मुसलमानों को अस्वीकार थी और हिन्दुओं को नापसंद थीं। तथापि, कांग्रेस की सभाओं में हिन्दी और उर्दू ने एक प्रकार के सहनशील सहअस्तित्व का विकास कर लिया।

सन् १९४५ में गांधी जी ने औपचारिक रूप से हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

गांधी जी ने अनुभव किया कि यह न केवल संभव था, वरन् वांछनीय भी था कि हिन्दी और उर्दू में सामंजस्य किया जाए—एक ऐसा लक्ष्य जिसकी प्राप्ति के लिए निष्ठापूर्वक यत्न किया जाए। आगे चल कर उनकी यह धारणा हुई कि एक नया नाम 'हिन्दुस्तानी' दे कर हिन्दी और उर्दू के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है,और यदि हिन्दू और मुसलमान देवनागरी तथा फारसी दोनों लिपियाँ जान लें तो हिन्दी में संस्कृत के कारण और उर्दू में फारसी के कारण जो भेद या दुरूहता है वह समाप्त हो जाए। यह एक ऐसी बात थी जो उस समय की परिस्थिति में कभी नहीं पूरी हो सकती थी। इसी के साथ ही उन्होंने यह विचार भी प्रकट किया कि राष्ट्रीय लिपि केवल देवनागरी ही हो सकती है। यह एक ऐसी माँग थी जिसे उर्दू के समर्थक नेता नहीं स्वीकार कर सकते थे।

सन् १९४५ में उदयपुर में मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति निर्वाचित हुआ। चूँकि गांधी जी सम्मेलन से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर चुके थे, अतः मैंने उनसे परामर्श किया कि

मैं इस सम्मान को स्वीकार करूँ? उन्होंने मुझसे कहा कि चूँकि मैं हिन्दी में विश्वास रखता हूँ, मुझे निश्चय ही स्वीकार कर लेना चाहिए।

उदयपुर के अपने अध्यक्षीय भाषण में सन् १९३१ की जनगणना के आंकड़ों के आधार पर मैंने कुछ तथ्य प्रस्तुत किए और निष्कर्ष दिया——. . .उसे (हिन्दी को) भली प्रकार बोलने वाले और थोड़े प्रयत्न से बोलने वाले इस देश की आबादी के ६९% हैं। इसका परिणाम है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना नहीं है, उसने यह स्थान स्वयं प्राप्त कर लिया है।

भाषा-सूत्र

संविधान सभा के प्रारंभिक काल में मूल अधिकार सम्बन्धी उप-समिति ने, जो गांधी जी द्वारा दर्शाए मार्ग पर चल रही थी, निम्नांकित सूत्र ग्रहण कर लिया—

जनता के विकल्प पर देवनागरी या फारसी लिपि में लिखित 'हिन्दुस्तानी', राष्ट्रभाषा की भाँति, संघ की प्रथम राज-भाषा होगी। अंग्रेजी उस समय तक के लिए संघ की द्वितीय राजभाषा होगी जो कि संघ विधि द्वारा निश्चित करे। जब तक कि संघ विधि द्वारा अन्यथा व्यवस्था न दे, संघ के सभी सरकारी अभिलेख हिन्दुस्तानी में, दोनों लिपियों में, और अंग्रेजी में भी रखे जाएँगे।

यह सूत्र इस आशा के साथ रखा गया था कि यदि संविधान सभा में मुस्लिम लीग सम्मिलित हुई तो यह दोनों पक्षों को पर्याप्त रूपेण स्वीकार्य सिद्ध होगा।

अम्बेदकर का १९ अप्रैल, १९४७ का विसम्मति-लेख उल्लेखनीय था कि हिन्दुस्तानी को न केवल संघ की वरन् सभी इकाइयों की भाषा बना दिया जाना चाहिए। उन्होंने कहा—

यथास्थित धारा ९ हिन्दुस्तानी को संघ की राजभाषा घोषित करती है। समिति द्वारा गृहीत शब्दावली के विचार से, यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तानी राज्य की, अर्थात् संघ की भाषा होगी और साथ ही इकाइयों की भी। यदि प्रत्येक इकाई को स्वतंत्रता दी जाती है, जैसी कि अन्य धारा में दी गई है, कि वह किसी भी भाषा को राजभाषा बनाए तो इससे न केवल भारत के लिए एक राष्ट्रभाषा का उद्देश्य पराभूत हो जाएगा वरन् भाषाई विभेदता के कारण भारत का प्रशासन भी असंभव हो जाएगा। अतः मेरा अभिमत है कि 'संघ' के स्थान पर 'राज्य' शब्द रख दिया जाए। हो सकता है कि इकाइयाँ हिन्दुस्तानी को अपनी राजभाषा बनाने के लिए समय माँगे। इसके लिए उन्हें समय देने में कोई हानि नहीं है। किंतु इस विषय पर कोई संदेह नहीं हो सकता कि प्रारंभ से ही इकाइयों पर हिन्दुस्तानी को ग्रहण करने की वैधानिक अनिवार्यता या बाध्यता होगी।

हिन्दुस्तानी को हिन्दू लेखकों द्वारा संस्कृत-निष्ठ और मुसलमान लेखकों द्वारा अरबी-निष्ठ बनाए जाने से बड़ा भारी खतरा है। यदि ऐसा होता है तो हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा न रह जाएगी और एक वर्ग की भाषा बन जाएगी। एक राष्ट्रीय अकादमी के बिना हिन्दुस्तानी भाषा इस संकट पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ होगी। अतः यह आवश्यक है कि फ्रांस की राष्ट्रीय

अकादमी के आदर्श पर एक राष्ट्रीय अकादमी की स्थापना के लिए इस देश के संविधान में व्यवस्था की जाए।

निःसन्देह समस्या का यह एक समाधान था और बहुत से लोग यह विश्वास करने के लिए तैयार होंगे कि एक सम-रूप राष्ट्र के रूप में भारतीयों को संगठित करने के लिए यह एक सही साधन था। किंतु यह व्यावहारिक नहीं था। उदाहरणार्थ, गाँधी जी ने सदा यही माना कि हिन्दी या हिन्दुस्तानी को अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध के लिए सम्पर्क-भाषा बनना था, जब कि क्षेत्रीय भाषाओं का प्रांतों में प्रयोग किया जाना था। उन्हीं के निर्देश में (सन् १९२०) में कांग्रेस ने भाषायी प्रांतों के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित किया था और अब कदम पीछे करने में बहुत विलम्ब हो चुका था। यह देखा जाएगा कि अम्बेदकर की सिफारिशों में से एक में यह उपलक्षित था कि हिन्दी के प्रचलन के लिए कोई समय-सीमा नहीं नियत की जानी चाहिए। संभवतः यह एक बुद्धिमत्तापूर्ण कदम था किंतु हिंदी के नेता इसे स्वीकार करने की चित्रवृत्ति में नहीं थे तथा प्रान्तीय नेताओं से, जैसा कि बिल्कुल स्वाभाविक था, आशा नहीं की जा सकती कि वे स्वयं किसी तिथि के लिए वचनबद्ध होते जब से कि वे हिन्दी में, यदि वे उसे स्वीकार करने के लिए तैयार होते, जो कि बड़ा असंभव था, कार्य शुरू कर देते।

फ्रांस की राष्ट्रीय अकादमी के आदर्श पर भारत में एक राष्ट्रीय अकादमी की स्थापना के लिए अम्बेदकर का सुझाव सर्वथा असंभव था। मुझे संदेह है कि हमारी अकादमी के विद्वज्जन फ्रांस की अकादमी के विद्वज्जनों की भाँति विशिष्ट महत्वपूर्ण निस्पृहता तथा गौरव तथा प्रतिष्ठा की अनुरक्षा कर पाते। बाद में मौलाना आजाद ने साहित्य अकादमी की स्थापना की किंतु वह केवल अनुवादों के प्रकाशन से ही सम्बद्ध थी। तथापि, विधान सभा के सदस्यों में सामान्य रूप से यही भावना थी कि उपसमिति द्वारा प्रस्तुत सूत्र यथार्थवादी नहीं था।

श्री श्यामाप्रसाद मुकर्जी, गोपालस्वामी अयंगर और मैं, अहिन्दी भाषी प्रांतों के ये तीन प्रतिनिधि एक ऐसा सूत्र निर्मित करने के लिए उत्सुक थे जो देश के एक राष्ट्रीय माध्यम के विकास की दिशा में तत्पर कर सकता।

प्रारंभ में कांग्रेस दल राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर निम्नांकित वर्गों में विभाजित था——

(१) एक छोटा वर्ग ऐसा था जो संविधान द्वारा राजभाषा का निर्धारण नहीं चाहता था।

(२) एक छोटा किंतु अत्यंत शक्तिशाली वर्ग हिन्दुस्तानी चाहता था।

(३) एक छोटा वर्ग दक्षिण भारतीयों का था जो चाहता था कि अंग्रेजी पन्द्रह वर्षों के लिए राजभाषा बनी रहे और तब तक के लिए हिन्दी का प्रश्न शीतागार में धरा रहे।

(४) पुरुषोत्तमदास टण्डन के नेतृत्व में सदस्यों का एक काफी बड़ा वर्ग चाहता था कि हिन्दी को तत्काल राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचलित कर दिया जाए।

(५) एक बड़ा वर्ग कोई ऐसा सूत्र चाहता था जो कार्य योग्य समझौता दे सके और अंततः हिन्दी को देश की राष्ट्रभाषा बना सके।

मेरे द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव कांग्रेस दल ने पारित कर दिया जिसमें हिन्दी और देवनागरी को क्रमशः राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपि स्वीकार किया गया था। सभा में एक तूफान उठ खड़ा हुआ। जवाहरलाल नेहरू बहुत अप्रसन्न थे। इसके बाद विधान सभा की अंतिम कार्यवाही तक के लिए सारे विषय स्थगित कर दिए गए।

जुलाई १९४९ में हम लोगों में से कुछ लोग अनौपचारिक रूप से मिले। हिन्दी को देश की राजभाषा और देवनागरी को राज-लिपि तथा उसके साथ दस वर्षों के लिए अंग्रेजी को अतिरिक्त राजभाषा बनाने के लिए हमने संविधान के अनुच्छेदों का प्रारूप तैयार किया। उसका अनुमोदन संविधान सभा के लगभग ८० सदस्यों ने किया जो कांग्रेस दल का सब से बड़ा वर्ग था।

संविधान में किसी भी राजभाषा का उल्लेख न चाहने वाला वर्ग अपनी स्थिति सुदृढ़ न रख सका और यही दशा उस वर्ग की भी हुई जो केवल अंग्रेजी को प्रचलित रखना चाहता था, हिन्दुस्तानी के नेताओं को अल्प समर्थन प्राप्त हुआ।

राष्ट्रभाषा समिति में, दल की बैठकों में और अनौपचारिक सम्मेलनों में एक अच्छा खासा संघर्ष छिड़ गया। कुछ लोग आवेश में भर उठे। वाक-आउट की कुछ धमकियाँ भी सुनने को मिलीं। अन्ततोगत्वा तीन प्रकार के विचारक प्रकट हुए—

(अ) हिन्दी के वे उत्साही, जिनका अभिमत था कि हिन्दी न केवल संघ की राजभाषा बनाई जा सकती थी और बनाई जानी चाहिए थी, वरन् सीधे उसका प्रचलन उच्च न्यायालयों में भी हो सकता था।

(आ) वे जो १९४७ ई० के पूर्व की भाँति अंग्रेजी को जारी रखना चाहते थे, हिन्दी को द्वितीय भाषा के रूप में अध्ययन के लिए छोड़ देना चाहते थे और धीरे धीरे एक-एक सीढ़ी चढ़ कर उसे राजभाषा बनाना चाहते थे।

(इ) वे जो सोचते थे कि संघ की राजभाषा के रूप में हिन्दी को धीरे धीरे उन्नति करते हुए अंग्रेजी का स्थान उस समय ग्रहण कर लेना चाहिए जब वह अंग्रेजी द्वारा किए जाने वाले कार्यों को कुछ सीमा तक करने में समर्थ हो जाए।

देवनागरी लिपि में अरबी अंकों के प्रयोग के कुछ दक्षिण भारतीय प्रतिनिधियों के प्रस्ताव से तत्काल कुछ उग्र मतभेद उत्पन्न हो गया। यदि मुझे सही स्मरण है तो, राष्ट्रभाषा समिति में इस आन्दोलन को जन्म दिया था संथानम् तथा टी० टी० कृष्णमाचारी ने। हिन्दी समर्थकों द्वारा उसका दृढ़ता से प्रतिरोध किया गया था।

दक्षिण में कई पीढ़ियों तक तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा कन्नड़ भाषाओं में अरबी अंक चलते रहे थे और उनका प्रयोग संस्कृत ग्रंथों में भी हुआ था। तथापि, जब यह पता चला कि अरबी अंक, मूल उत्पत्ति तथा प्रयोग दोनों में ही भारतीय थे, तो अरबी अंकों का विरोध समाप्त हो गया।

मैंने दक्षिण-भारतीय दृष्टिकोण का समर्थन किया और उन सदस्यों के एक भाग ने मेरा साथ दिया जिन्होंने हिन्दी के विषय में अब तक मेरा समर्थन किया था।

मैं एक अहिन्दी भाषी क्षेत्र से आया हुआ था। यदि मैंने राष्ट्र की एकता के लिए हिन्दी को स्वीकार कर लिया था तो मुझे अंतर्राष्ट्रीय अंकों को स्वीकार कर लेने में भी कोई संकोच नहीं हो सकता था, यदि मेरे ऐसा करने से सारा देश हिन्दी को स्वीकार कर लेता।

इन्हीं संघर्षों के बीच से वह सूत्र तैयार हुआ जो पत्र-पत्रिकाओं में "मुंशी-आयंगर सूत्र" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सूत्र में समस्या को अत्यंत यथार्थ रूप में लेकर हल किया गया था। अतः इसे सर्वाधिक समर्थन प्राप्त हुआ। इसने अत्यन्त उचित रीति से हिन्दी की महत् शक्ति और मुख्यतः संस्कृत से ही इसकी शब्दावली के ग्रहण करने की आवश्यकता पर बल दिया। अंत में यह सूत्र अनेक परिवर्तनों के साथ संविधान के अनुच्छेद ३४३ तथा ३४४ का अंग हो गया।

जिन्होंने यह उपालंभ दिया था कि हिन्दी के समर्थकों ने उसका संस्कृतकरण किया है और उनका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक है, वे हमारी प्रादेशिक भाषाओं की तुलना में संस्कृत की स्थिति को कठिनता से समझते थे। अरबीनिष्ठ तथा फारसी-निष्ठ उर्दू और दक्षिण के ग्रामीण अंचलों में बोली जाने वाली तमिल को छोड़ कर भारत की सभी भाषाओं ने युगयुगान्तर अपनी शक्ति और क्षमता लोकभाषाओं (बोलियों) से प्राप्त की है और उन्हें अपनी सम्पन्नता, अभिव्यक्ति, अभिव्यंजना, गौरव तथा ताल-सुर-लय संस्कृत से ही अर्जित हुई है।

अंग्रेजी

कांग्रेस दल के बहुसंख्यक सदस्य अंग्रेजी को राजभाषा स्वीकार करने के विरुद्ध थे। पुरानी आदतें मुश्किल से छूटती हैं। हमारे मस्तिष्क में यह बात बैठी हुई थी कि अंग्रेजी विदेशी शासकों की भाषा है जो इस देश से चले गए हैं और जिनसे हमें घृणा थी। उनके जाने के बाद वह घृणा उनकी भाषा अंग्रेजी के प्रति हो गई। यह बात भुला दी गई कि यह एक अत्यंत मूल्यवान् उत्तरदान है जिसे वे अपने पीछे छोड़ गए।

भाषा सूत्र में अंग्रेजी को सह राजभाषा के रूप में स्वीकार किए जाने से हिन्दी के उत्साही लोगों का आवेश तीव्र हो गया और उन्होंने कहा कि लोगों ने यह कार्य दासता की मनोवृत्ति-वश किया है। अतः स्वाभाविक रूप से ही अनेक सदस्य वास्तविकताओं को विस्मृत कर देने के लिए उद्यत थे। वास्तविकताएँ इस प्रकार थीं—

प्रथम, हमारी संवैधानिक तथा विधिक धारणाओं की सारी पाठ-वस्तु ऐसे विचारों के तानों-बानों से बुनी हुई थीं जो अंग्रेजी शब्दों द्वारा ही प्रकट हो सकती थीं।

द्वितीय, भारतीय पांडित्य ने अंग्रेजी पांडित्य के निकट सम्पर्क तक अपना स्तर ऊँचा उठा लिया था और उसकी अभिव्यक्ति अंग्रेजी के माध्यम से थी।

तृतीय, यदि हमारे विश्वविद्यालय, न्यायालय और विधान सभाएँ अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को तत्काल स्वीकार कर लेतीं तो देश के सम्पूर्ण प्रबुद्ध तथा प्रशासनिक स्तर में अवनति हो जाती।

चतुर्थ, हिन्दी भाषा अंग्रेजी के निकट सम्पर्क से ही अपनी अभिव्यक्ति, शक्ति का विकास कर परिमार्जित हो सकती थी।

पंचम, भविष्य में विज्ञान तथा तकनीकी में देश की उन्नति केवल अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही संभव होगी क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति की भाषा है।

षष्ठ, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय तथा वाणिज्य सफलतापूर्वक करने के लिए, अंग्रेजी जैसी एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बहुमूल्य है।

अंतिम, सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों प्रकार के अन्तर-राज्यीय संचरण के लिए एक मात्र माध्यम तथा राष्ट्रीय एकता की एक साधिका अंग्रेजी ही थी।

हमने इस विचारों और मान्यताओं पर पर्याप्त बल नहीं दिया और अब दुर्भाग्यवश पूर्वानुमानित संकट प्रत्यक्ष सत्य उपस्थित हैं।

जब संविधान सभा ने संघ के राज-काज के लिए अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को लाने के लिए १५ वर्षों की अवधि निश्चित की, तो यह आशा की गई थी कि अनुच्छेद ३'५१ के अंतर्गत संघ हिन्दी के विकास और उन्नयन के लिए तत्काल एक सुनिश्चित तथा ठोस अभियान प्रारंभ कर देगा और संविधान सभा के मार्ग का अनुसरण कर विश्वविद्यालय तत्काल हिन्दी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लेंगे जिससे धीरे-धीरे अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ग्रहण कर लेगी।

एस० वी० कृष्णमूर्ति राव ने आम राय के अनुसार निम्नांकित संशोधन पेश किया-—

राष्ट्रपति अनुसूची—सात 'अ' में उल्लिखित प्रत्येक भाषा के विशेषज्ञों का एक स्थायी आयोग निम्नांकित उद्देश्यों के लिए नियुक्त करेंगे—

(१) भारत के सभी लोगों के लिए अभिव्यक्ति के एक सर्व-सामान्य माध्यम के रूप में हिन्दी के विकास का निरीक्षण करने और उसे सहायता प्रदान करने के लिए।

(२) विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा अन्य तकनीकी विषयों में प्रयोग हेतु न केवल हिन्दी के लिए वरन् अनुसूची सात 'अ' में उल्लिखित अन्य भाषाओं के लिए भी सामान्य तकनीकी पारिभाषिक शब्दावली के विकास के लिए।

(३) भारत के सभी भागों को स्वीकार्य एक सामान्य शब्दावली के विकास के लिए।

श्री गोपालस्वामी आयंगर ने वास्तव में विषय के इसी पक्ष को निम्नांकित शब्दों में प्रस्तुत किया—

मैं केवल एक बात और कहना चाहता हूँ जो कि, मैं समझता हूँ, उन कुछ मित्रों से मैं स्वयं स्वीकार कर चुका हूँ जिन्होंने कल कुछ संशोधन प्रस्तुत किए थे, विशेषकर वह संशोधन जिसका समर्थन श्री एस० वी० कृष्णमूर्ति राव ने अपने सुतर्कसंगत भाषण में किया था। उन्होंने सुझाव दिया था कि हिन्दी भाषा के अस्थिर स्वरूप को देखते हुए, विशेषकर राजनैतिक, संवैधानिक, वैज्ञानिक, तकनीकी तथा अन्य शब्दावलियों के सम्बन्ध में, यह वांछनीय है कि नए संविधान के लागू होते ही एक अकादमी या आयोग स्थापित हो ताकि वह देश के विभिन्न भागों में इस भाषा के प्रयोग का पुनरीक्षण तथा शब्दों एवं अभिव्यक्तियों का प्रमाणीकरण कर सके।

मान्यवर, मेरा विचार है कि देश की वर्तमान अवस्था में यह सबसे अधिक सहायक सुझाव है। उन्होंने उस सम्बन्ध में एक संशोधन का प्रस्ताव किया है किन्तु मैं नहीं सोचता कि उनके विचारों को कार्यान्वित करने के लिए उसे आपके समक्ष प्रस्तुत मेरे प्रारूप में जोड़ना आवश्यक है। उसी भाग में एक अनुच्छेद है जो राज्य को यह निर्देश देता है कि वह हिन्दी भाषा की उन्नति और विकास के लिए कदम उठाए, वह वे सभी कदम उठाए जो उसे हिन्दी को सम्पन्न बनाने के लिए उसे हिन्दुस्तानी व देश की दूसरी भाषाओं के निकट ले जाने के लिए, शैलियों के लिए, अभिव्यक्ति के रूपों आदि के लिए और प्रथमतः संस्कृत से, उसके बाद संसार की अन्य सभी भाषाओं से शब्दों को उधार लेकर हिन्दी शब्दावली को सम्पन्न करने के लिए आवश्यक हों। यह एक विशद और विस्तृत निर्देश है जिसे हमने इस चौदह 'अ' भाग में रखा है। मुझे विश्वास है कि संविधान लागू होने के बाद जो भी सरकार बनेगी वह इस विशेष उद्देश्य की सम्पूर्ति के लिए आवश्यक उपाय करेगी और उसके होने पर, निःसन्देह, श्री कृष्णमूर्ति राव का सुझाव पूरा किया जाएगा।'[1]

अंग्रेजी के सम्बन्ध में मुझ में कोई माया-जाल नहीं थे। सन् १९५० में दिए गए अपने एक भाषण में मैंने अंग्रेजी के महत्व पर इस प्रकार बल दिया था––

भारतीय साहित्यिक परम्पराएँ अंग्रेजी साहित्यिक कला से भिन्न किंतु प्रभावित हैं भारतीय भाषाएँ संस्कृत से सम्पन्न हुई हैं। उन्होंने अंग्रेजी से अभिव्यक्तिपूर्ण शक्ति प्राप्त की है। इससे उनमें अभिव्यक्ति का उच्चतर विस्तार तथा स्तर प्रकट हुआ है। भारतीय कला के रूपों ने अंग्रेजी के सजीव कला-रूपों तथा योरोपीय कला से प्रेरणा प्राप्त की है। इनके ताने-बाने के सम्मिलन से, एक नई अभिव्यक्ति, एक नई तकनीक, नई शैली तथा एक नया सौन्दर्य-बोध उत्पन्न हुआ है जो भारत के आधुनिक कला-कौशल तथा विद्या के जागृति-काल के मूल में है।

भारत में अंग्रेजी का प्रवेश कोई साधारण घटना नहीं थी। जब हमने अंग्रेजी सीखी, संसार एक नई स्थिति में पहुँच चुका था। भारत ने अंग्रेजी-भाषी संसार से भ्रातृत्व स्थापित कर लिया। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, इससे भारत में एक सांस्कृतिक अभ्युत्थान हुआ, दृष्टि व्यापक हो गई। देश, जाति और रंग के बन्धन टूट गए, मस्तिष्क के लोक में, ज्ञान के क्षेत्र में पूर्व परिचय से मिला-जुला, सीधे मानवीय संसर्ग की स्थापना के लिए एक महान् प्रयास हुआ, देशों की सीमाएँ समाप्त हो गईं, विश्व में एक एकरूपता आई। अब अंग्रेजी केवल अंग्रेजों की नहीं रही, वरन् वह 'एक विश्व' की साधक बन गई, 'एक विश्व' युगों पूर्व ऋषियों ने जिसका संधान किया था–– "वसुधैव कुटुम्बकम्"––विश्व, जिसे हम देखते हैं कि आज रक्तरंजित रणक्षेत्रों तथा आदर्श लालसाओं के माध्यम से अनुभव किया जा रहा है।

अपने देशवासियों से मैं ठीक यही कहूँगा कि इतिहास ने भारत के हाथों में एक ऐसा शक्तिशाली साधन या माध्यम सौंप दिया है जिससे वह अपने संदेश का प्रसार सारे संसार में कर सके। हम पूर्वजों की अपनी सम्पत्ति तथा अपने भावी प्रारब्ध के प्रति विश्वासघात कर बैठेंगे

---

१. संविधान सभा परिसंवाद, सितम्बर १४, १९४९, खण्ड ११, पृष्ठ १९४७।

यदि हम इस अंग्रेजी रूप शस्त्र को यूँ ही नष्ट हो जाने देंगे। एक सामान्य भाषा के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की एक लम्बी प्रक्रिया अथवा रीति के द्वारा हमने संसार को अपने पंचतंत्र, अपने अंक, अपनी दार्शनिक पद्धतियाँ, अपनी साहित्यिक तथा अध्यात्मिक निधियाँ, जो हमें उत्तराधिकार में अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई, प्रदान कीं। किंतु आज अंग्रेजी हमारी है और हम किसी अन्य माध्यम की अपेक्षा इसकी सहायता से आज संसार को कहीं अधिक दे सकते हैं, समझा सकते हैं। अतः इस देश में अंग्रेजी को भुला देना या उसकी उपेक्षा करना एक अपराधमूलक कार्य होगा।

संविधान सभा ने श्री गोपालस्वामी आयंगर के आश्वासन को स्वीकार कर लिया। किंतु शिक्षा मंत्री मौलाना आजाद ने उस आश्वासन की पूर्ति के लिए सच्चे हृदय से पन्द्रह वर्षों तक कुछ भी नहीं किया।

किसी भी प्रकार सही, भाषा-सूत्र जिस अंतिम रूप में सामने आया, वह उस अत्यंत महत्वपूर्ण तथा अति विकट समस्या का विशिष्ट समाधान था जिसका कि हम उस समय सामना कर रहे थे—राष्ट्रीय संगठन तथा एकता के लिए वह एक महत्वपूर्ण कदम था।

यदि कोई एक ऐसा व्यक्ति था जिनसे अपना सम्पूर्ण जीवन एक राष्ट्रीय माध्यम के लिए समर्पित कर दिया तो वह थे श्री पुरुषोत्तमदास टंडन। उन्हें राजर्षि की उपाधि दी गई, वास्तव में यह तो ब्रह्मर्षि थे, भले ही वे ब्राह्मण-कुल में न जन्मे हों। उनका जीवन त्यागपूर्ण था, एक तपस्वी के कठोर अनुशासन पर ढला हुआ जीवन! उन्होंने एक बहुत बड़ी संस्था का निर्माण किया। वह संस्था है हिन्दी साहित्य सम्मेलन और इसके द्वारा उन्होंने राष्ट्रीय एकता का एक शक्तिशाली साधन तैयार किया—हिन्दी ही वह साधन है। उन्हीं से प्रेरणा ग्रहण कर सहस्रों पुरुषों तथा स्त्रियों की हीन पीढ़ियों ने स्वयं को इस भाषा के अभ्युत्थान के लिए समर्पित कर दिया। राजभाषा के रूप में हिन्दी के प्रश्न पर हर स्तर पर विचार के दौरान, चाहे वह समितियों, कांग्रेस दल या संविधान सभा किसी भी स्तर पर हो, टंडन जी और उनके समर्थक, जिनका नेतृत्व सेठ गोविन्द-दास तथा पंडित बालकृष्ण शर्मा करते थे, सदैव दृढ़ रहे, कभी पीछे नहीं हटे। जब श्रीगोपाल स्वामी आयंगर और मैंने भाषा-सूत्र को अंतिम रूप दे दिया, हिन्दी-प्रेमियों ने मुझ पर यह आरोप लगाया कि मैं अपने धर्म से विचलित हुआ हूँ। वे उस सूत्र पर सहमत नहीं हुए थे। वास्तव में उन्होंने उसके विरुद्ध एड़ी-चोटी का पसीना एक कर संघर्ष किया। वे चाहते थे कि हिन्दी को तत्काल हर कार्य के लिए संघ की राजभाषा स्वीकार कर लिया जाए। वे इसके विरुद्ध थे कि सुचारु कार्य-संचालन के लिए अस्थायी अवधि के लिए अंग्रेजी को राजभाषा के रूप में वैकल्पिक स्थान दिया जाए। उन्होंने अरबी अंकों को, जिन्हें बाद में "भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप' कहा गया, देवनागरी लिपि के अंग के रूप में ग्रहण करने का विरोध किया।

अंत में अहिन्दी भाषी सदस्यों के मत के दबाव में आकर, टंडन जी के अनुयायियों ने उस भाषा-सूत्र को, कुछ परिवर्तन किए जाने के बाद पूरे हृदय से तो नहीं, किंतु स्वीकार करही लिया।

राजभाषा से सम्बद्ध संविधान के उस भाग की अभिस्वीकृति वास्तव में टंडन जी के जीवन-कार्य की परिपूर्ति अथवा सिद्धि थी। उस समय जब कि टंडन जी के अनुयायियों ने समझौते द्वारा प्राप्त उस सूत्र को स्वीकार कर अपने को पर्याप्त यथार्थवादी प्रमाणित किया, एकमात्र टंडन जी ही उसके विरुद्ध रहे। ठीक उसी समय, जब उनके जीवन का लक्ष्य प्राप्ति के सन्निकट प्रतीत हुआ, वे कठोर हो गए और अनिच्छापूर्वक उन्होंने अपनी अपूर्व विजय को व्यक्तित्व पराजय में परिवर्तित कर लिया। पुरुषोत्तमदास टंडन ने अपने जीवन का निर्माण एक प्राचीन ऋषि के आदर्श पर किया था। एक घटना जो बाद में घटित हुई अविस्मरणीय है। उसका उल्लेख करने के लिए मुझे क्षमा करें। मैंने विगत वर्षों में राजनीतिज्ञों के अनेक प्रभावपूर्ण भाषण सुने हैं किंतु सितम्बर १९५१ में दिल्ली में टंडन जी ने जो भाषण उस समय दिया जब कि जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से, जिस पर वे निर्वाचित हुए थे, हटाने का निश्चय किया, वह सर्वाधिक मर्मस्पर्शी था।

अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की सभा में सदस्यों का प्रायः व्यग्र एक बड़ा भाग उन दोनों को ही चाहता था। उस समय जैसा व्यक्तित्व आघात जवाहरलाल नेहरू प्रदर्शित कर रहे थे, उससे उनके हृदयों में रोष जाग्रत हुआ किंतु उस अवसर का टंडन जी ने सामना किया। अपने अत्यंत मर्मपूर्ण भाषण में, जिसके स्वर आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं, उन्होंने हम सब को यह उपदेश दिया कि अपना त्यागपत्र वापस लेने के लिए उन पर दबाव न डाला जाए और न उनके कार्य के औचित्य-अनौचित्य पर कोई भाषण ही दिया जाए।

"मेरा निर्णय अपरिवर्तनीय है। मुझे विमुक्त किया जा सकता है किन्तु जवाहरलाल नेहरू को नहीं।" उस भाषण में कोई क्रोध नहीं था, कोई घृणा नहीं थी, कोई विद्वेष की भावना नहीं थी, वह तो एक संत-पुरुष का भाषण था। यदि उन्होंने ऐसी मार्मिक, मानसोत्तेजक प्रार्थना न की होती तो सभा ने उन दोनों में से किसी का भी त्यागपत्र स्वीकार न किया होता।[1]

---

१. माननीय मुंशी का यह लेख अंग्रेजी में आया था। उसी का यह रूपान्तर है। रूपान्तरकार हैं---श्री संतकुमार टंडन, एम० ए, 'साहित्यरत्न'। सं०

श्री श्रीप्रकाश

आदर्श जीवन के दो महान् व्यक्तित्व

[१]

बड़ों का बड़प्पन उनका ही होता है। वही उनकी विशेषता है। उनकी नकल नहीं की जा सकती। नकल करने का प्रयत्न करना भयावह है। उससे बड़ा धोखा हो सकता है। साधारण दृष्टि से यदि देखा जाय तो साधारण जन के लिए विशिष्ट लोग व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं। वे आते हैं, बड़े-बड़े काम कर जाते हैं, या करा जाते हैं, और अपना नाम छोड़ कर चले जाते हैं। कुछ लोग अपने वीर पुरुषों की तरह रहने सहने, बोलने चालने का प्रयत्न करते हैं। वे विशिष्टता न तो प्राप्त करते हैं और न कर सकते हैं, हाँ उपहास के पात्र अवश्य हो जाते हैं और हानि भी उठाते हैं।

इस कारण अच्छा हो यदि ऐसे व्यक्तियों की जीवनी अर्थात् उनकी विचार-शैली और कार्य-प्रणाली से हम कुछ अपने लिए शिक्षा ग्रहण करें, और इसे अपने सीमित क्षेत्र में इस प्रकार कार्यान्वित करें जैसा कि उन्होंने विस्तृत क्षेत्र में किया हो। इससे हम अपना जीवन सार्थक कर सकेंगे, और साथ ही विशिष्टों का भी जीवन सार्थक बना देंगे। वास्तव में हम भी अपने समुदाय में उतने ही विशिष्ट हो सकेंगे जैसा वे वृहत् समुदायों में रहे। इससे हम अपने को सन्तुष्ट कर सकेंगे और दूसरों के लिए भी अच्छा उदाहरण उपस्थित कर सकेंगे।

व्यावहार्य दृष्टि से ही विशिष्ट जनों की जीवनी की भी विवेचना करनी चाहिए जिससे कि उनके व्यावहारिक गुण विशेषों को हम अपना सकें क्योंकि इन्हें सरलता के साथ वास्तव में अपना सकते हैं। महात्मा गांधी जी में मैंने तीन गुण देखे, जो हममें प्रायः नहीं रहते, और यदि उनकी लम्बे-लम्बे शब्दों में केवल प्रशंसा न कर, हम उनके अनुकूल स्वयं व्यवहार करें जैसा कि यदि हम चाहें तो सरलता से कर सकते हैं, तो न हमारा जीवन निरर्थक हो, न हमारे लिए वे ही निरर्थक हों।

पहला गुण तो महात्मा जी में यह था कि वे बड़े ही साहसी थे। उनको किसी का भय नहीं था। जो ठीक समझते थे कहते थे, जो कहते थे वह करते थे। दूसरों से करने के लिए जो वह कहते थे उसे वे पहिले स्वयं करते थे। यह गुण हम सब लोगों के लिए व्यवहार्य है, और उसे हमें अपने लिए स्वीकार करना चाहिए। इसकी हमारे में बड़ी कमी है, इसी कारण हम किसी प्रकार की न व्यक्तिगत न सामुदायिक उन्नति कर पाते हैं।

महात्मा गांधी का दूसरा बड़ा उपयोगी और नितान्त व्यावहारिक गुण यह था कि वे बड़े जिम्मेदार पुरुष थे। उनसे किसी को धोखा नहीं हो सकता था। जो कुछ किसी के लिए करने को कहते थे उसे पूरा करते थे । चाहे किसी बालक, बालिका को अपना हस्ताक्षर भेजने के लिए कहते थे, चाहे किसी बड़े देशव्यापी आन्दोलन का सूत्रपात करने का आह्वान करते थे, वह अपनी सब बातें पूरी करते थे। हम सबकी आदत होती है कि झट कुछ करने के लिए कह देते हैं, और उसी क्षण भूल जाते हैं। हमसे दूसरों को बराबर धोखा होता है। इस दुर्गुण से हमें बचना होगा। महात्मा जी की यह दूसरी शिक्षा है।

महात्मा जी अथक परिश्रम करते थे। चौबीस घंटों में बहत्तर घंटों का काम कर डालते थे। हम सब बड़े आलसी होते हैं। हम कुछ करना ही नहीं चाहते। समय का लगातार अपव्यय करते रहते हैं। इस कारण हम कुछ कर नहीं पाते। सभी कामों में विफल होते रहते हैं। अपनी त्रुटियों के लिए दूसरों को दोष देते हैं। महात्मा जी दूसरों की त्रुटियों के लिए अपने को दोष देते थे। यह सब उनकी तीसरी शिक्षा है जो हम सब ग्रहण कर सकते हैं और हमें ग्रहण करना चाहिए।

[२]

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से मेरी पहली मुलाकात सन् १९१६ के जबलपुरवाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में हुई थी। तब से उनसे मेरा सम्पर्क विविध क्षेत्रों में बना रहा। यद्यपि उन्होंने व्यवसाय की दृष्टि से कभी वकालत की, कभी बैंक की अध्यक्षता की पर उनका हृदय हिन्दी के प्रचार और स्वराज्य की प्राप्ति में ही बराबर लगा हुआ था। इन्हीं के लिए उन्होंने हर प्रकार का कष्ट उठा कर और तपस्या कर अपना जीवन व्यतीत किया। उनके लिए भी मैं वही कह सकत हूँ जो मैंने महात्मा जी के लिए कहा है कि उनका बड़प्पन उनका ही था। उसकी नकल हम नहीं कर सकते और उसके करने का हमें प्रयत्न भी नहीं करना चाहिए क्योंकि उससे हम अपना उपहास ही करावेंगे। पर उनके जीवन से हम अपने लिए अवश्य कुछ शिक्षा ले सकते हैं जिसे हम अपने ऊपर उतार सकते हैं।

एक तो उनका जीवन बहुत सादा था। आजकल पाश्चात्य प्रभावों के कारण हम अपने जीवन के स्तर को बहुत ऊँचा करने के प्रयत्न में रहते हैं जिसका यह परिणाम होता है कि हम बहुत से व्यर्थ के आडम्बर अपने पास एकत्र करते रहते हैं, और अपने आप के भीतर, अपने प्रतिदिन का व्यय नहीं कर पाते, जिनके पास हमसे अधिक होता है उनसे बुरा मानते हैं, और इस कारण बड़े ही असन्तोष में जीवन बिताते हैं।

टण्डन जी में यह सब दोष नहीं थे। वे अपनी आय के भीतर ही व्यय करते थे और सादे प्रकार से रहने के कारण वे अपने को सन्तुष्ट रख सकते थे। वह चाहे किसी पद पर रहें वे अपने जीवन का प्रकार नहीं ही बदलते थे। एक समय वे इलाहाबाद नगरपालिका के अध्यक्ष रहे। उस समय प्रदेश अथवा प्रान्त के राज्यपाल (गवर्नर) सर हारकोर्ट बटलर थे, जो बड़े आराम-

पसन्द थे। लोग उन्हें नवाब कहते थे। प्रयाग से वे राजधानी लखनऊ ले गए थे, पर प्रयाग में भी राजभवन (गवर्नमेंट हाउस) बना रहा, जहाँ वे आया करते थे। उस समय टण्डन जी जान्सटनगंज में एक छोटे से मकान में रहते थे। जमीन पर बैठ कर चारो तरफ कागज फैला कर वे काम करते थे। उन्हें टेबुल कुर्सी लगाए हुए मैंने कभी नहीं देखा।

उस समय प्रयाग में पानी की बहुत कमी हो गयी थी। गवर्नमेंट हाउस में गवर्नर के स्नान करने के लिए बड़ा सा कुण्ड था जिसमें उस समय पानी नहीं रहा। गवर्नर के अंगरक्षक (ए० डी० सी०) गण पिस्तौल, तलवार से सुसज्जित अध्यक्ष के पास दौड़े हुए आए। जिस कमरे में टण्डन जी काम करते थे वहाँ पहुँचने के लिए बाहर से एक सकरी सीढ़ी बनी हुई थी। इस पर अपना बूट फटफटाते हुए वे लोग ऊपर पहुँचे। जमीन पर ही उन्हें बैठना पड़ा। जब उन्होंने लाट साहब के स्नान के अर्थ राजभवन के कुण्ड के लिए पर्याप्त पानी की मांग पेश की तो टण्डन जी ने ठीक ही कहा कि जब मैं नगरवासियों को पीने को ही काफी पानी नहीं दे पा रहा हूँ, तो लाट साहब को नहाने मात्र के लिए कहाँ से दूँ ?

ऐसा वे ही कह सकते थे। उस समय किसी दूसरे अध्यक्ष को इस प्रकार से गवर्नर के प्रतिनिधियों को लौटा देने का साहस न होता। जिस नगर में गंगा, यमुना जैसी दो नदियाँ बह रही हों, वहाँ स्नान के लिए किसी को कोई कमी नहीं हो सकती थी। टण्डन जी अपने कर्तव्यों को यथेष्ट रूप से पालन करने, अपने पद की मर्यादा बनाये रखने और साहस से सब काम करने का महागुण रखते थे। वे अपने सिद्धान्त के पक्के थे और बहुत दिन पीछे उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष के सम्मानित पद को छोड़ दिया, जब देखा कि उनके साथी उनके सिद्धान्तों के विपरीत चल रहे हैं। उनके प्रण से उन्हें कोई विचलित नहीं कर सका। यह एक गुण उनसे हम सभी सीख सकते हैं।

वे बड़े प्रेमी पुरुष थे और सब से ही बराबर प्रेम बनाये रखते थे चाहे किसी से उनका कितना ही घोर मतभेद क्यों न हो। उनका अतिथि-सत्कार भी अपूर्व था। यद्यपि वे स्वयं सदा बहुत सादा भोजन करते थे और बिना उबाली हुई कच्ची सब्जियाँ खाते थे और पानी में भिगोए हुए अन्न का सेवन करते थे, पर दूसरों को अच्छा से अच्छा भोजन कराते थे। उनके यहाँ अतिथियों की भी कमी नहीं रहती थी। सबसे स्नेह और सौहार्द्र के साथ ही बातें करते थे। यह उनका गुण हम सब अपना सकते हैं और व्यर्थ के कलह से अपने को और अपने समाज को बचाये रख सकते हैं।

रुपये पैसे के मामले में वे बड़े ही सावधान , स्वच्छ और सख्त थे। हमारे शास्त्रों ने अर्थ-शुचि को बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। सब प्रकार से स्वच्छ होते हुए, रुपये-पैसे के मामले में हम गड़बड़ा जाते हैं। इसी कारण अनाचार, भ्रष्टाचार आदि की शिकायत चारों तरफ फैली हुई है। किसी समय मैं प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का मन्त्री था। उस समय मैं जब इस पद पर निर्वाचित हुआ तो किसी कारण से समिति का हिसाब-किताब बड़ा गड़बड़ था। मालूम नहीं कैसे कुछ रुपया टण्डन जी के नाम निकला। मैंने अन्य ऐसे हिसाब के साथ इसे भी समिति के

सामने पेश अवश्य किया पर कहा कि टण्डन जी ने अवश्य दे दिया होगा पर जिसका लिखना काशी और प्रयाग के बीच में कार्यालय आने-जाने में अवश्य रह गया होगा। मैंने कहा कि इसे बट्टे खाते डाल देना चाहिए। पर टण्डन जी ने जेब से अपनी चेक बुक निकाल कर उतने रुपयों का चेक दे दिया। जवाहरलाल समझाते ही रह गये कि इसमें कार्यालय की ही भूल हुई होगी पर टण्डन जी ने नहीं ही माना। अर्थ-शुचि का यह बड़ा आवश्यक गुण उनसे हम सब ले सकते हैं।

उन्होंने अपना जीवन इतना कठोर रख छोड़ा था कि वे बराबर गम्भीर रहते थे। उन्हें विनोद करते हुए मैंने कभी भी नहीं पाया। मुझे तो कई बार ऐसा लगा कि वे हँसी मजाक नापसन्द करते हैं। यह सम्भवतः दुर्गुण हो सकता है पर जैसे कार्यों में वे लगे हुए थे अर्थात् प्रतिकूल स्थितियों में हिन्दी का प्रचार करना और विरोध का सामना करते हुए स्वराज्य के लिए लड़ना ऐसे थे जिसमें गम्भीरता को ही उनकी प्रकृति के लोग धारण कर सकते थे।

वे पर्याप्त हठी थे। जब किसी बात को तै कर लेते थे तो उनको कोई डिगा नहीं सकता था। वे दूसरों को पर्याप्त स्वतन्त्रता देते थे। अपने पुत्रों को भी उनके वांछित कार्यों से कभी नहीं रोकते थे। वे सब से ही सहानुभूति रखते थे। बड़े-बड़े धनिकों से उनकी व्यक्तिगत मैत्री थी। उनसे अच्छे काम के लिए दान में रुपया बराबर मांगते और लेते थे, पर उनके धन को छीनने की उनकी कभी भी अभिलाषा नहीं थी। उनसे हम सब यह सीख सकते हैं कि अपना सब काम सबसे प्रेम रखते हुए कर सकते हैं और हमें यही करना चाहिए।

कई घटनाओं से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि शुद्ध भाषा के प्रयोग का उन्हें बड़ा आग्रह था। अंग्रेजी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं के उच्चारण और व्याकरण पर वे बड़ा ध्यान रखते थे, और यदि किसी को गलती करते पाते थे तो शुद्ध कर देते थे। वास्तव में जिस किसी भाषा का हम प्रयोग करें, उसे शुद्ध रूप में ही हमें प्रयोग करना चाहिए। हममें से बहुत से लोग इस प्रसंग में लापरवाह रहते हैं, ऐसा नहीं होना चाहिए।

भोजन के सम्बन्ध में भी उनके बड़े स्थिर विचार थे और चाय, काफी आदि का सेवन वे हानिकर समझते थे और दूसरों से ऐसा कहने में वे संकोच नहीं करते थे। मेरे पिता डाक्टर भगवानदास जी को 'काफी' बड़ी प्रिय थी। अन्तिम कई वर्षों में तो उनके भोजन का यही आधार था। एक बार टण्डन जी पिता जी से ऐसे समय मिलने आये जब वे 'काफी' पी रहे थे। टण्डन जी ने पिता जी से पूछा—"बाबू जी, आप क्या कर रहे हैं।" पिता जी ने उत्तर दिया—"काफी पी रहा हूँ।" टण्डन जी कुछ उद्विग्न हो कर अंग्रेजी में बोल बैठे—'काफी इज स्लो वायज़न', "काफी धीरे-धीरे विष का असर करती है।" पिता जी ने कहा—"वेरी वेरी स्लो इनडीड, फार आई एम एट्टी फाइव इयर्स आफ एज" वास्तव में उसका असर बहुत ही धीरे-धीरे होता है क्योंकि मैं पचासी वर्षों का हो गया।

टण्डन जी खाने-पीने के मामले में बहुत ही दृढ़ प्रतिज्ञ थे। वे मेरे यहाँ अपनी काशी की यात्राओं में बराबर ठहरते थे। मेरी छोटी-छोटी लड़कियाँ उनको देखते ही दौड़ी हुई रसोईदारिन से कहती थीं कि "कच्चा बाबा" आ गये, और दाल, चावल, गेहूँ को पृथक्-पृथक् कटोरों में रख कर

पानी में भिगो देती थीं। जो कुछ हो, चाहे हम उनके प्रकार को पसन्द करें या न करें, यह तो शिक्षा अपने लिए उनसे हम ले ही सकते हैं कि हम सब को लेनी ही चाहिए कि खाने-पीने के मामले में सदा बड़ा सावधान रहना चाहिए और अपने अभीष्ट भोजन को निर्धारित कर उसी का सेवन करना चाहिए जिससे हम अपने स्वास्थ्य को बनाये रहें और व्यर्थ के रोगों से व्याप्त होकर न अपने को, न दूसरों को कष्ट दें।

गांधी जी और टण्डन जी दोनों ही संसार से उठ गये। अपना बड़प्पन अपने साथ ले गये। बड़े-बड़े काम कर गये और करा गये, साथ ही अपने जीवन-क्रम से कुछ व्यावहारिक शिक्षा भी हमारे लिए छोड़ गये जिन्हें हम साधारण जन अपना सकते हैं और अपने साथ ही और देश और समाज का भला कर सकते हैं।

| आचार्य काका कालेलकर

राष्ट्रभाषा-प्रचार : गांधीजी और टंडनजी का सहयोग

भारत के लिए राष्ट्रभाषा अंग्रेजी नहीं किन्तु हिंदी ही होनी चाहिए यह गांधी जी का दृढ़ अभिप्राय (साठ वर्ष पूर्व) सन् १९०९ में लिखे हुए उनके 'हिन्द-स्वराज्य' में प्रगट हुआ था।

दक्षिण आफ्रिका का अपना काम सफलतापूर्वक पूरा करके भारत की आजादी की सेवा करने के लिए गांधी जी सन् १९१५ में भारत लौटे। सन् १९१७ में गुजरात प्रान्त की एक शिक्षा-परिषद् भँरूच में हुई। गांधी जी उसके अध्यक्ष थे। उस सभा में गांधी जी ने राष्ट्रभाषा के तौर पर हिन्दी का प्रचार जोरों से और विस्तार से किया। उसका हिंदी या अंग्रेजी अनुवाद अथवा सार टंडन जी ने अवश्य देखा होगा। देश के प्रमुख राजनीतिक नेताओं में से किसी ने भी हिंदी का इतना जबरदस्त समर्थन शायद ही किया होगा।

सन् १९१८ में हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन इन्दौर में होने वाला था। टंडन जी ने अध्यक्ष के स्थान के लिए गांधी जी का नाम पसंद किया। टंडन जी उन दिनों सम्मेलन के प्रधान मंत्री थे।

सन् १९१७ की भँरूच की शिक्षा-परिषद् के लिए मैंने हिंदी के पक्ष में एक विस्तृत लेख लिखा था। बावन वर्ष के पहले हिंदी के बारे में मैंने जो गुजराती में लिखा था उसका हिंदी अनुवाद कर के मैंने 'मंगल प्रभात' में दिया है। यहीं से हिंदी-कार्य में मैं गांधी जी के साथ हो गया।

सन १९१८ के इन्दौर के सम्मेलन में गांधी जी और टंडन जी के बीच हुआ संभाषण जो मैंने सुना उसे यहाँ लिखना मनोरंजक होगा। सम्मेलन के अवसर पर निजी चर्चा में हिंदी-प्रचार के लिए क्या करना चाहिए इसकी बातें हो रही थीं। गांधी जी ने कहा--पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि प्रान्तों में लोग हिंदी जानते ही हैं। बंगाल, आसाम, उड़ीसा में और सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र में हिंदी समझना कठिन नहीं है। कड़ा मामला है दक्षिण के चार प्रान्तों में जहाँ द्रविड भाषा बोली जाती है। हिन्दी प्रचारकों को वहाँ भेज कर वहाँ के लोगों को हिन्दी सिखाने का काम प्रारम्भ करना चाहिए। टंडन जी ने चकित हो कर पूछा—"वहाँ हिंदी कौन सीखेंगे? उन्हें कौन सिखायेगा?"

गांधी जी ने कहा--"दक्षिण के चार प्रान्तों के नवयुवकों को उत्तर भारत भेज कर हिंदी सिखाना होगा। वे अपने-अपने प्रान्त में लौट कर लोगों को हिंदी सिखाएंगे। बाद में उत्तर भारत

के हिंदी नवयुवकों को चाहिए कि वे दक्षिण की चार भाषाओं में से कोई एक भाषा सीख कर दक्षिण जायें और वहाँ हिंदी का प्रचार करें। लोगों को हिंदी का महत्व समझाना होगा। यह मिशनरी ढंग का काम है।"

टंडन जी ने इस कार्य में कठिनाई व्यक्त की।

दक्षिण आफ्रिका में कठिन से कठिन काम करके आये हुए कर्मवीर गांधी जी को सम्मेलन के प्रधान मंत्री टंडन जी का यह रुख सहन नहीं हुआ। झट से गांधी जी के मुँह से अंग्रेजी में यह शब्द निकले In that case the Sammelan Should withdraw its claim that Hindi can be the national language of India इतना कह कर गांधी जी शांत नहीं हुए। टंडन जी की ओर देख कर उन्होंने फिर कहा—Or yau Should resign as the secretary of the Sammelan.

टंडन जी जैसे अद्वितीय हिंदी भक्त को इस तरह से कहना मामूली बात नहीं थी।

इतनी बातें हुई और गांधी जी सीधे गये इन्दौर के राजा से मिलने। महाराजा साहब से उन्होंने कहा, "अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन आपकी राजधानी में हुआ है। हम लोगों ने प्रस्ताव पास किया है कि हिंदी ही भारत की राष्ट्रभाषा बननी चाहिए। इस प्रस्ताव के अनुसार हम दक्षिण भारत में हिंदी का प्रचार शुरू करना चाहते हैं। इसमें आर्थिक मदद आवश्यक है। आप से ही प्रारंभ करने के लिए मैं आया हूँ।" गांधी जी की बातों से इन्दौर के महाराजा प्रभावित हुए और उन्होंने तुरन्त दस हजार का दान दे दिया।

गांधी जी की यह तेज कार्यशीलता देखकर टंडन जी अत्यन्त प्रभावित हुए। दक्षिण भारत से नवयुवकों को हिंदी सीखने के लिए इलाहाबाद भेजने का प्रबंध किया गया। मेरे पुराने साथी वाजंगम जिनको हम हरिहर शर्मा अथवा अण्णा कहते थे, गांधी जी के आश्रम में दाखिल हुए थे। उन्होंने मद्रास जाकर हिंदी प्रचार का काम शुरू किया।

इतना करने पर भी गांधी जी को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने अपने उन्नीस-बीस वर्ष के लड़के देवदास को मद्रास भेजा। देवदास ने कहा "मुझे हिंदी तो नहीं आती।" गांधी जी ने कहा—"कोई परवा नहीं। हिंदी सीखने की चंद किताबें साथ ले जाओ। मद्रास पहुँचते कुछ तो तैयारी होगी ही। मद्रास जा कर हिंदी सीखते जाओ और सिखाते जाओ। सीखने वाले विद्यार्थियों के ज्ञान से तुम्हारा ज्ञान तो दो चार पाठ जितना आगे रहा तो बस है।"

दक्षिण अफ्रिका के कर्मवीर गांधी जी की प्रतिष्ठा भारत में काफी थी ही। लोगों ने यह समाचार पढ़ा कि गांधी जी ने अपने छोटे लड़के को हिंदी सिखाने के लिए मद्रास भेजा है। यह सर्वत्र कौतुक का विषय हो गया। जहाँ तक मुझे स्मरण है मद्रास के किसी निवृत्त हाई-कोर्ट के जज ने भी हिंदी सीखने की तैयारी कर ली। श्रीमती एनी बेसेन्ट भी तैयार हुई थीं। देवदास ने मद्रास जाकर वहाँ के कदरदान लोगों पर अच्छा प्रभाव डाला।

इतने में पंजाब के बड़े तेजस्वी राष्ट्रभक्त सत्यदेव जी आश्रम में आए। (मैं इनसे) कुछ समय पूर्व अल्मोड़ा में मिल चुका था। राष्ट्रीयता से भरे हुए यह तरुण अमेरिका से लौटे थे। बिहार में राष्ट्रीयता का और स्वराज्य-सेवा का अच्छा प्रचार करते थे। हमारे बाबू राजेन्द्र प्रसाद भी उनसे काफी प्रभावित थे। गांधी जी ने सत्यदेव जी को मद्रास भेजा। उन्होंने एक हिंदी की प्राथमिक पुस्तक लिख कर के दे दी और वहाँ अच्छा काम किया।

दक्षिण भारत के हिंदी प्रचार के लिए जो भी पैसा गांधी जी इकट्ठा करते थे, हिन्दी सम्मेलन के पास भेजते रहते थे और सम्मेलन वह पैसा मद्रास भेजता जाता था, ऐसी व्यवस्था की गई थी। बाद को सम्मेलन की ओर से यह मदद समय पर मद्रास नहीं पहुँच पाती थी। काम में मुश्किलें आने लगीं। तब गांधी जी इकट्ठा किया हुआ पैसा सीधा दक्षिण भेजने लगे।

इस स्थिति में जो एक कांड पैदा हुआ उसका वर्णन न करना ही अच्छा है। अगर पंडित मदनमोहन मालवीय जी बीच में नहीं पड़ते तो गांधी जी को अभियुक्त की भांति कोर्ट में हाजिर होना पड़ता। (मुझे यहाँ यह कह देना चाहिए कि इन दिनों टंडन जी सम्मेलन के प्रधान मंत्री नहीं थे)। जो हो दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा सम्मेलन से स्वतंत्र हो गयी और दक्षिण में हिंदी का प्रचार जोरों से चला। आंध्र, तमिलनाड, केरल, कर्णाटक चारों प्रान्तों में प्रचारक हिंदी प्रचार का काम करने लगे। परीक्षाओं का प्रबंध हुआ। दक्षिण की चार भाषाओं और अंग्रेजी के द्वारा भी हिंदी सीखने के लिए सहायक किताबें तैयार हुईं। ऐसे काम में कठिनाइयाँ, कमजोरियाँ और दोष आते ही हैं। लेकिन सारा दक्षिण भारत हिंदी के लिए अनुकूल हुआ।

जब मैं अपने गुजरात के काम से मुक्त हुआ तब गांधी जी ने मुझे दक्षिण भारत का काम ठीक करने के लिए भेजा। मैंने दक्षिण की हालत देखी। चार भाषावाले प्रान्तों में यात्रा करके हिंदी का प्रचार किया। तब तक गांधी जी हिंदी प्रचार के लिए अपनी तरफ से पैसे भेजते रहे। मैंने दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार के लिए पैसा भी इकट्ठा किया। इस समय का मेरा अनुभव बहुत अच्छा है, जनता के सामने रखने लायक है। किसी अन्य प्रसंग पर वह रोचक कथा दूंगा। यहाँ इतना जरूर कहूँगा कि राजा जी (राजगोपालाचारी) की मदद इसमें मुझे बहुत प्राप्त हुई।

दक्षिण भारत का काम देख कर मालवीय जी और टंडन जी बहुत ही खुश हो गए। अब हिंदी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन पुनः सन् १९३५ में इन्दौर में हुआ। मालवीय जी उसके अध्यक्ष होने वाले थे। लेकिन शायद उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। उन्हें विदेश भी जाना था। टंडन जी ने और इंदौर वालों ने अध्यक्षता के लिए फिर से गांधी जी से प्रार्थना की। और गांधी जी इन्दौर सम्मेलन के अध्यक्ष हुए। सन् १९०९ में गांधी जी ने राष्ट्रभाषा प्रचार की जो नीति स्थिर की थी उसको यहाँ दुबारा दोहराया और गांधी जी के नेतृत्व में दक्षिण के चार प्रान्त छोड़ कर बाकी भारत में हिंदी प्रचार का काम जोरों से चलने लगा। राजेन्द्र बाबू, सुभाष बाबू, वल्लभ भाई आदि नेताओं से इसमें अच्छी सहायता मिली। तब से मेरा सम्मेलन के साथ और टंडन जी के साथ सम्बन्ध बढ़ते-बढ़ते घनिष्ठ हुआ। टंडन जी का स्वभाव

अंतर्बाह्य एक सा था। किसी प्रवृत्ति के बारे में अपना स्पष्ट अभिप्राय कहते उनको संकोच नहीं था। मन में किसी से द्वेष नहीं। केवल राष्ट्र हित की ही चिंता। इसलिए जब कभी उनके मुँह से किसी के बारे में सुनता "ये सारे चोर हैं" तो मैं उनका भाव समझ जाता और हँस पड़ता। न जाने राष्ट्रहित के कितने असंख्य विषयों पर हमने चर्चा की होगी। कभी-कभी वे मुझे कहीं कहीं अपने साथ ले भी जाते थे और स्थानिक संस्थाओं से परिचय कराते थे। हमारी चर्चाओं में से एक चर्चा का यहाँ जिक्र करना मैं आवश्यक समझता हूँ। क्योंकि उससे गांधी जी और टंडन जी का दृष्टिभेद स्पष्ट होता है।

हिंदू-मुस्लिम की बात चल रही थी। टंडन जी ने कहा, "मैं इस्लाम का विरोधी नहीं हूँ। भारत में इस्लाम भले रहे। लेकिन भारत के मुसलमानों को भूलना नहीं चाहिए कि वे अधिकांश इसी देश के असली हिंदू हैं। इनके बाप-दादा की संस्कृति यहाँ की संस्कृति है। धर्म से वह इस्लामी हैं। किन्तु संस्कृति से भारतीय रहना ही उनके लिए उचित है। भारत की संस्कृति प्रधानतया हिंदू-संस्कृति है। इसका विरोध इनके मन में भी नहीं होना चाहिए। यही है मेरी भूमिका। उनसे झगड़ा ही तो इसी बात पर है।" मैं उनसे कहता कि "बाबू जी, आपकी बात सही है। लेकिन उसका आग्रह चलाने से काम सुधरता नहीं बिगड़ता है। पर देश से तो मुट्ठी भर मुसलमान ही यहाँ आये। प्रथम आये तब केवल तिजारत के लिए आये। हमारे जातीय स्वभाव की और संस्कृति की कमजोरियाँ सैकड़ों वर्षों तक उन्होंने देख ली। तभी तो वे यहाँ के शासक हुए। हिंदू समाज के सामाजिक दोषों के कारण इस्लाम का प्रचार आसान हुआ। यहाँ के जो लोग मुसलमान हुए, प्रशासन के साथ घुलमिल गए, हिंदुओं से अलग होने में उनकी शान बढ़ती थी, धार्मिक श्रेष्ठता का अभिमान भी उनमें था।"

"बाद में यूरोप के पोर्तुगीज, डच, फ्रेंच और अंग्रेज आये। उनके जमाने में जो लोग इसाई हुए उनमें भी अभिमान हुआ कि हम शासन के सहधर्मी हैं। बहुमत को तो दब कर ही रहना पड़ता है। शासन की जिनके प्रति सहानुभूति है वे सिरमौर बनेंगे ही। जब स्वराज्य होगा तब मुसलमान और ईसाइयों के दिमाग में जो हवा भर गयी है वह धीरे-धीरे और कठिनाई से निकल जायेगी। तब हम सब समान भूमिका पर आयेंगे। तब तक दोनों तरफ से बाधा आयेगी। कहीं अविश्वास, कहीं तिरस्कार, कहीं स्वार्थभेद के कारण झगड़े दीर्घकाल तक चलेंगे। लेकिन अंत में हमें एक बनना ही है। स्वार्थत्याग पूर्वक अगर हमने पास आने की कोशिश की तो एक बनना आसान होगा। अगर यह प्रयत्न न किया तो हमारे अलगाव से लाभ उठाने वाले लोग हमारे बीच की खाईं बढ़ाने में सफल होंगे। हमें दीर्घ दृष्टि से ही काम लेना पड़ेगा। कई बातें सहन करनी भी पड़ेंगी।"

मैं बार-बार टंडन जी से कहता था, "आप पूरे-पूरे कांग्रेसी हैं। हिंदू सभा की सांप्रदायिकता आप में तनिक भी नहीं है। लेकिन आपकी राष्ट्रीयता 'हिंदू-राष्ट्रीयता' है। मध्यकालीन हिंदू राष्ट्रीयता के प्रति मेरे मन में आदर है। लेकिन वह भूतकाल की चीज हुई। भविष्य काल में, भारत में, प्रचलित सब धर्मों के सहयोग से और पश्चिमी शिक्षा के असर से भविष्य के लिए

एक सम्मिलित संगम संस्कृति बनेगी जिसे मैं भारतीय संस्कृति कहूंगा। ऐसी भारतीय संस्कृति के लिए हमें कोशिश करनी है। उसमें हिंदू-संस्कृति के अंश ज्यादा रहेंगे। लेकिन ऐसा कहने से अथवा अपना आग्रह चलाने से मामला बिगड़ जायेगा। जो आप ही आप बनने वाला है। भविष्य की आशा पर विश्वास रख कर हम अपना आग्रह छोड़ दें।"

"हम लोग स्वभाव से भूतकाल के उपासक बने हैं। हम अराधना करते हैं राम और कृष्ण के जमाने की। वेद और वेदकाल का समय हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ है। ऐसे भूतकाल की उपासना कुछ हद तक ही अच्छी है। लेकिन वह भी अंधी नहीं होनी चाहिए। भूतकाल की हमारी कमाई कीमती खाद जैसी है, उसे हम खाद्य नहीं बना सकते। हिंदू-संस्कृति के लिए एक नया उज्ज्वल स्वरूप हमें देना है जो हमारे पुरखों के स्वप्न में भी नहीं आया होगा।"

"भारत भाग्य-विधाता का निर्णय हो चुका है कि 'भारत में सब धर्मों का एक विशाल कुटुंब बनाने का मिशन भारत का है।' भारत ने शुरू से किसी भी धर्म का विरोध नहीं किया। सर्व-धर्म-समन्वय हमारे खून में है।" ऐसी-ऐसी बातें मैं अनेक बार टंडन जी से करता था।

एक बार मेरे आदरणीय स्नेही डॉ० बाबूराम सक्सेना ने मुझे इलाहाबाद युनिवर्सिटी में गांधी-नीति पर व्याख्यान के लिए बुलाया। वहाँ मैंने कहा, "मुझे हिंदी ठीक नहीं आती। उर्दू तो मैंने सीखी ही नहीं। जो कुछ हिंदी बोलता हूँ, संस्कृत शब्दों की मदद से मेरा काम चलता है। सब भारतीय भाषाओं को संस्कृत-भाषा से पोषण मिलता है। भारत की सांस्कृतिक एकता की प्रथम भाषा-संस्कृत ही है। इस भाषा ने न जाने कितने स्थानिक प्राकृतिक शब्द अपना कर अपनी समृद्धि बढ़ायी है। जल, पानी, नीर आदि भिन्न-भिन्न प्रदेश के स्थानीय शब्दों को स्वीकार करके संस्कृत समृद्ध हुई है। अब संस्कृत का स्थान हिंदी को लेना है। राष्ट्रीय हिंदी पंजाबी के शब्द लेती है। बंगला के शब्द भी उसने आत्मसात् किए हैं। मैं जो बोल रहा हूं, चाहे जितनी टूटी फूटी हो वह है राष्ट्रीय हिंदी। और आप बोलते हैं वह चाहे जितनी बढ़िया और मुहावरेदार हो, वह है प्रान्तीय हिंदी।" अपनी कमजोरी का इस तरह से बचाव करने के बाद मैंने राष्ट्रभाषा की नीति की मुख्य बातों को समझाया। मैंने कहा, "राष्ट्रभाषा प्रचार का काम केवल भाषिक या साहित्यिक नहीं है। यह सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और राजनैतिक भी है।

आज भारत में अखिल भारतीय विचार-विनिमय का काम और राजनीतिक संगठन का काम अंग्रेजी के द्वारा हो रहा है। कांग्रेस का काम भी अंग्रेजी में ही चलता है। अंग्रेजों का स्वप्न अब साकार हो रहा है। इस स्वप्न को भंग कर के अंग्रेजी की जगह हम हिंदी को लाना चाहते हैं। यह तभी होगा जब हम लोग भारत की सभी भाषाओं में दोस्ताना वायुमंडल ला सकेंगे। अगर हिंदी को अखिल भारत की राष्ट्रभाषा बनानी है तो हिंदी को भारत की सब भाषाओं का आशीर्वाद मिलना चाहिए। अखिल भारतीय सर्व सम्मति के द्वारा ही यह स्वप्न सिद्ध होगा। अखिल भारतीय एकता के जोर से ही हम अंग्रेजी को उसके नाजायज अधिकार से हटा सकेंगे। दक्षिण की ओर की चार भाषाएँ, बंगाल, आसाम, उड़ीसा की चार भाषाएं, पश्चिम भारत की सिंधी, गुजराती, मराठी और आप लोगों के क्षेत्र की पंजाबी, उर्दू, राजस्थानी आदि सब

भाषाओं से मित्रता कर के सबको यथाशक्ति पोषण दे कर सब का पृष्ठबल प्राप्त करोगे तभी अंग्रेजी को हटा कर उसके स्थान पर राष्ट्रभाषा के तौर पर हिंदी को स्थान दिला सकोगे।"

"आपकी सारी शक्ति उर्दू के खिलाफ लड़ने में खतम हो रही है। सब से बड़ा खतरा अंग्रेजी का है। उसके खिलाफ लड़ना है। इस ओर गांधी जी आपका ध्यान खींच रहे हैं। गांधी जी को आपकी मदद नहीं मिल रही है। आप उर्दू को सांप समझ कर उससे लड़ रहे हैं। सांस्कृतिक और राजकीय स्वराज्य प्राप्त करने में उर्दू से कोई डर नहीं है। मरे हुए सांप को आप पीट रहे हैं। और जिंदा जहरी सांप को—अंग्रेजी को आप दूध पिला रहे हैं। इतनी ही बात आपको समझाने के लिए यहां आया हूं।"

"अंग्रेजी भाषा और साहित्य से हमें बहुत कुछ लेना है। पश्चिम से जो लेना है अंग्रेजी के द्वारा ही लेना पड़ेगा। भारत की राजनीतिक आकांक्षा और संस्कृति की खूबियां दुनिया के सामने रखनी हो तो अंग्रेजी की मदद आज लेनी ही पड़ेगी। लेकिन (१) राज्य अंग्रेजी में चले, (२) सब विषय हम अपने देश के लोगों को विदेशी भाषा के द्वारा सिखावें और (३) हमारे बहुविध जीवन की चर्चा हम अंग्रेजी के द्वारा चलावें, यह सब अनिष्ट है। प्रजा शक्ति को इससे पोषण नहीं मिलेगा। जनता की भाषाएँ ही जनता में प्राण लायेंगी। इसलिए जनता की जो पंद्रह बीस भाषाएं देश में प्रचलित हैं उनको उनका अधिकार प्राप्त करने में मदद करनी है। ऐसा करने से ये भाषाएं कृतज्ञता से हिंदी को अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा का स्थान दिलायेंगी। यह सीधी बात गांधी जी राष्ट्र को समझा रहे हैं।"

"हिंदू और मुसलमान राष्ट्र के दो बड़े समाज हैं। इनमें एकता लाने और दोनों की उन्नति करने के लिए गांधी जी ने अथक प्रयत्न किये। लेकिन दोनों समाज को गांधी जी की बातें न जँची। भाषा के बारे में उनकी नीति किसी को पसंद न आयी। अंग्रेजों की नीति सफल हुई। गांधी जी ने राष्ट्रभाषा प्रचार के लिए जो संस्था वर्धा में खड़ी की थी वह सम्मेलन के नाम से खड़ी की थी। टंडन जी ने गांधी जी से कहा, "हमारे नाम से आपने जो संस्था खड़ी की है, हमें सौंप दीजिए। आप अपनी नीति के अनुसार संस्था खड़ी करिये, हमें एतराज नहीं है। गांधी जी ने वह संस्था, उसकी जायदाद और धन सब कुछ टंडन जी को सौंप दिया। इतने में अंग्रेजों ने गांधी जी को जेल में बंद कर दिया। उसके बाद वर्धा की संस्था चलाने वाले देश में घूम-घूम कर गांधी जी का नाम काम में लाकर बहुत फायदा उठाया। वह संस्था आज भी अच्छी तरह से चल रही है।"

लेकिन इंजन के हट जाने से जिस तरह सारी ट्रेन पुरानी शक्ति से थोड़ी आगे बढ़ सकती है वैसा ही हिंदी प्रचार का काम देश में चल रहा है। अंग्रेजी का राजकीय और सांस्कृतिक राज्य देश में जोरों से बढ़ रहा है। देश के राजनीतिक नेता गांधी जी को याद करके वचन देते हैं "हिंदी को राष्ट्रभाषा का स्थान जरूर देंगे लेकिन आज नहीं, आज से दस वर्ष के बाद। किसी भी नेता से यदि यह प्रश्न पूछें, जवाब वही मिलेगा, "अब नहीं, आज से दस वर्ष के बाद।"

"हिंदी का भाग्य स्पष्ट है, किसी भी 'आज' से दस वर्ष के बाद हिंदी का भाग्योदय होगा। तब तक हमारी आंतरिक कमजोरियाँ और अंग्रेजी का प्रचलन अबाधित है। दोनों बढ़ रहे हैं।"

यह है गांधी जी और टंडन जी के सहयोग के संस्मरण। राष्ट्र का स्वभाव बदलने के लिए जो क्रांतिकारी शक्ति चाहिए वह जब तक प्रगट नहीं होगी तब तक राष्ट्र का स्वभाव राष्ट्र के भाग्य के आड़े खड़ा ही है। 'स्वभावो दुरतिक्रमः'।

डाक्टर रामधारी सिंह 'दिनकर'

हिन्दी-हिन्दुस्तानी विवाद

गांधी जी ने अफ्रीका में रहते हुए ही यह कल्पना तैयार कर ली थी कि उत्तर भारत के हिन्दू और मुसलमान जिस भाषा को, आमतौर पर, बोलते हैं और जो देवनागरी तथा फारसी, दोनों ही लिपियों में लिखी जाती है, उसी भाषा को भारत की राष्ट्रभाषा का स्थान मिलना चाहिए। अवश्य ही, यह कल्पना उन्होंने भारत की सांस्कृतिक एकता को ध्यान में रख कर की होगी। मानसिक ऊहापोह के क्रम में गांधी जी का तर्क यह रहा होगा कि यदि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी राष्ट्रभाषा हुई, तो मुसलमान, क्रिस्तान और सिक्ख तथा पारसी उस भाषा को हिन्दुत्व की भाषा समझ कर उससे घबरायेंगे। इसी तरह यदि अरबी-फारसी से भरी उर्दू भाषा राष्ट्रभाषा बनायी गयी, तो उसे हिन्दू स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि हिन्दू केवल हिन्दी भाषी प्रान्तों में ही नहीं बसते, वे अहिन्दी भाषी प्रान्तों में भी बसते हैं।[1] अतएव वे इस निष्कर्ष पर आ गए कि जैसे भारत मिश्रित संस्कृतियों का देश है,[2] उसी प्रकार, उसकी राष्ट्रभाषा भी हिन्दी और उर्दू का मिश्रित

---

१. "फिर दूसरी बात भी ध्यान में रखनी है। जहाँ तक दक्षिण भारत की भाषाओं का संबंध है, बहुत अधिक संस्कृत शब्दों से युक्त हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो दक्षिण के लोगों को अपील कर सकती है, क्योंकि कुछ संस्कृत शब्दों और संस्कृत ध्वनियों से तो वे पहले से ही परिचित होते हैं।"

(हरिजन सेवक, १० अप्रैल, १९३७ ई०)

"बंगाल और दक्षिण के श्रोताओं के सामने जो हिन्दुस्तानी बोली जायगी, उसमें स्वभावतः संस्कृत से उत्पन्न शब्दों का प्राचुर्य होगा। वही भाषा जब पंजाब में किया जायगा, तो उसमें अरबी-फारसी से पैदा हुए शब्दों की काफी मिलावट होगी।"

(हरिजन सेवक, २९-१०-१९३८)

२. "हममें से बहुतेरे इस जतन में लगे हुए हैं कि उन सब सभ्यताओं को एक में मिला दिया जाय, जो इस समय आपस में टकरा रही हैं। अलग रहने की कोशिश करने वाली कोई भी सभ्यता जिन्दा नहीं रह सकती। इस समय भारत में ऐसी कोई तहजीब बाकी नहीं बची है, जिसे बिलकुल "पवित्र आर्य सभ्यता" कहा जा सके।...मेरा मतलब इतना ही बताने का है

रूप होगा। आजादी की लड़ाई के दिनों में हिन्दू-मुस्लिम-एकता की समस्या ही प्रधान थी। अतएव भारत के सभी प्रान्तों में ऐसे लोग थे, जो यह चाहते थे कि हिन्दी-उर्दू की एकता से अगर हिन्दू-मुस्लिम -एकता की नींव पुष्ट होती है, तो उचित है कि भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी बना दी जाय।

इस भाषा की लिपि क्या होगी इस बारे में भी गांधी जी का मत स्पष्ट था। वे देवनागरी और फारसी, दोनों ही लिपियों का प्रयोग विहित मानते थे तथा उन्हें यह आशा थी कि काल-क्रम में जो लिपि अधिक सरल और सक्षम पायी जायगी, वह दूसरी लिपि पर विजय प्राप्त कर लेगी। दूसरी ओर उनका यह भी ख्याल था कि संस्कृत से निकली हुई भारत की सभी भाषाओं की लिपि देवनागरी होनी चाहिए। यहां तक कि वे द्रविड़ भाषाओं के लिए भी देवनागरी लिपि को उचित समझते थे। "जब मैं दक्षिण अफ्रीका में था, तब भी मैं मानता था कि संस्कृत से निकली हुई सभी भाषाओं की लिपि देवनागरी होनी चाहिए। और मुझे विश्वास है कि देवनागरी के द्वारा द्रविड़ भाषाएं भी आसानी से सीखी जा सकती हैं। मैंने तमिल-तेलुगू को और कुछ दिन तक कन्नड़ व मलयालम को भी उनकी अपनी लिपियों द्वारा सीखने का प्रयत्न किया है। मैं आपसे कहता हूं कि मुझे साफ दिखायी पड़ रहा था कि अगर इन चारों भाषाओं की लिपि देवनागरी ही होती, तो मैं उन्हें थोड़े ही समय में सीख सकता था।"[1]

गांधी जी ने अपनी कल्पना की हिन्दुस्तानी को हिन्दी साहित्य सम्मेलन से स्वीकृत करवा लिया था। "सन् १९१८ में मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति हुआ था। तभी मैंने हिन्दी भाषी जगत् को सुझाया था कि वह हिन्दी की अपनी व्याख्या को इतना प्रशस्त बना ले कि उसमें उर्दू का भी समावेश हो जाय। सन् १९३५ ई० में जब मैं दुबारा सम्मेलन का सभापति बना तो मैंने हिन्दी शब्द की यह व्याख्या करायी कि हिन्दी वह भाषा है, जिसे हिन्दू-मुसलमान दोनों बोलते हैं और जो देवनागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती है।" (राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी)

गांधी जी की प्रेरणा से यही हिन्दुस्तानी सन् १९२५ ई० में अखिल भारतीय कांग्रेस की दफ्तरी भाषा मान ली गयी थी। और सन् १९३८ ई० में कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति ने इसी हिन्दुस्तानी के प्रयोग में दुबारा अपनी आस्था प्रकट की थी। "कांग्रेस की प्रचलित प्रथा

कि हमारे बहुत पुराने पुरखे, पूरी आजादी के साथ, एक दूसरे से मिलते थे और हम इस समय की संतान उसी मिलावट के फल हैं।"

(हरिजन सेवक, १६-५-१९३६)

"हिन्दू-मुस्लिम कलह भाषा में भी आ घुसा है। मुझे बचपन से ही हिन्दू-मुस्लिम एकता की धुन रही है। भाषा में घुसे हुए कलह को मिटाने के लिए भी दोनों लिपियों और शैलियों का ज्ञान जरूरी है।"

१. हरिजन बंधु, ५ जुलाई, १९३६ ई०।

के अनुसार हिन्दुस्तानी वह भाषा है, जिसे उत्तर भारत के लोग उपयोग में लाते हैं और जो देव-नागरी या उर्दू, दोनों लिपियों में लिखी जाती है।"[१]

अगर हिन्दुओं और मुसलमानों के दिल साफ होते, तो गांधी जी का अभिप्राय पूरा हो गया होता यानी देश का बँटवारा नहीं होता और गांधी जी की कल्पना की हिन्दुस्तानी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो जाती। लेकिन, हिन्दुओं और मुसलमानों के हृदय साफ नहीं थे। हस्व-मामूल भाषा के मामले में भी हिन्दुओं ने एक हद तक गांधी जी का साथ दिया, लेकिन उर्दू वालों ने सम्मेलन के द्वारा बढ़ाये गए हाथ को नहीं थामा। जैसे हिन्दी-भाषियों का एक दल हिन्दुस्तानी को शंका की निगाह से देखता रहा, उसी प्रकार उर्दू वाले भी हिन्दुस्तानी को शंका की नजर से देखते रहे। उर्दू वालों ने गांधी जी पर यह लांछन लगाया कि वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तो सभापति हुए, मगर अंजुमन तरक्किए-उर्दू की उन्होंने सदारत नहीं की है। सम्मेलन के लिए उन्होंने चंदे उठाये हैं, मगर अंजुमन तरक्किए-उर्दू के लिए कुछ नहीं किया है। अवश्य ही, गांधी जी हिन्दुस्तानी की आड़ में हिन्दी का प्रचार कर रहे हैं और उर्दू की हस्ती को वे मिटाना चाहते हैं।

यह गांधी जी पर झूठा इलजाम था। उर्दू वालों ने गांधी जी का कभी इतना विश्वास नहीं किया कि वे उन्हें अपनी अंजुमन की सदारत करने का निमंत्रण देते। जहाँ तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सवाल है, गांधी जी ने उसका सभापतित्व अपनी शर्त पर स्वीकार किया था, सम्मेलन की शर्त पर नहीं। और सम्मेलन का उपयोग गांधी जी हिन्दुस्तानी के लिए करना चाहते थे यानी हिन्दी और उर्दू को आपस में नजदीक लाने के लिए करना चाहते थे। स्थिति इतनी साफ थी, फिर भी उर्दू वालों को विश्वास नहीं हुआ। उर्दू के नेता हिन्दी शब्द को ही बर्दाश्त करना नहीं चाहते थे।

"हिन्दी की जगह पर हिन्दी-हिन्दुस्तानी नाम मेरी ही तजवीज से स्वीकार किया गया था। अब्दुल हक साहब ने वहां जोरों से मेरी मुखालिफत की। मैं उनका सुझाव मंजूर न कर सका। जो शब्द हिन्दी साहित्य सम्मेलन का था और जिसकी इस प्रकार की व्याख्या करने के लिए मैंने सम्मेलन वालों को मना लिया था कि उसमें उर्दू भी शामिल कर दी जाय, उस हिन्दी शब्द को मैं छोड़ देता तो मैं खुद अपने प्रति और सम्मेलन के प्रति भी हिंसा करने का दोषी होता। यहां हमें यह याद रखना चाहिए कि यह हिन्दी शब्द हिन्दुओं का गढ़ा हुआ नहीं है। यह तो इस मुल्क में मुसलमानों के आने के बाद उस भाषा को बतलाने के लिए बनाया गया था, जिसे उत्तर हिन्दुस्तान के हिन्दू बोलते और लिखते थे।" (हरिजन सेवक, १०-४-३७)

मुसलमानों की आपत्ति इस बात को लेकर थी कि "अदबी हैसियत के अलावा हिन्दी की एक मजहबी और तहजीबी हैसियत भी है, जिसे मुसलमानों की पूरी जमात अपना नहीं सकती। इसके अलावा अब वह बहुत-से ऐसे अल्फाज़ अपने अन्दर शामिलकर रही है, जो बिलकुल उसी के हैं और वे लोग जो सिर्फ उर्दू जानते हैं, उन्हें आम तौर पर समझ नहीं सकते।"

(राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी)

---

१. हरिजन सेवक, १५ अक्तूबर, १९३८ ई०।

गांधी जी ने इस आक्षेप का उत्तर यह कह कर दिया था कि "अगर अगले जमाने के मुसलमानों ने हिन्दी को सीखा और उसे अदबी जबान की हैसियत दी, तो मौजूदा जमाने के मुसलमान उससे किनारा क्यों करें। बेशक, उस जमाने की हिन्दी में और आज की हिन्दी में आज की हिन्दी से कहीं ज्यादा मजहबी और तहजीबी हैसियत थी। तो क्या किसी भाषा की मजहबी और तहजीबी हैसियत से ही उस भाषा से हमें दूर रहना चाहिए ? क्या मैं अरबी और फारसी से इसलिए बचूं कि उन जबानों की मजहबी और तहजीबी हैसियत है ? · · · सीधे सादे प्रचलित शब्दों की जगह संस्कृत शब्द रखने या तद्भव शब्दों को संस्कृत तत्सम शब्दों का रूप देने का कृत्रिम तरीका निस्संदेह निन्दनीय है।" (हरिजन सेवक, २३-५-३६)

उर्दू के नेता इस उम्मीद में थे कि हिन्दुस्तानी उर्दू का ही दूसरा नाम है। लेकिन मुंशी प्रेमचन्द की जिस भाषा को गांधी जी आदर्श मानते थे, उर्दू वालों को उसमें भी खोट दिखायी देती थी। उर्दू की ओर से एक पत्र-लेखक ने गांधी जी को लिखा था कि "मुंशी प्रेमचन्द साहब आजकल हमारी अदबी दुनिया के शायद सबसे बड़े आदमी हैं। (लेकिन) 'हंस' पढ़ने से ऐसा ख्याल होता है कि यह किसी खास मजहबी समाज का रिसाला है।"

लेकिन गांधीजी से नाराजगी केवल उर्दू वालों को ही नहीं थी। उनसे कुछ हिन्दी वाले भी नाराज थे। "इस बारे में जहां कुछ मुसलमान दोस्त मुझसे नाखुश हैं, वहां हिन्दी मित्र भी कम असंतुष्ट नहीं हैं।" एक सज्जन ने तो सचमुच ही मुझे लिखा है कि अगरचे तर्क और इतिहास की दृष्टि से मेरी स्थिति सही है, फिर भी मुझे मुसलमान आलोचकों को संतुष्ट करने के लिए अपनी राय बदल लेनी चाहिए। यह आलोचक चाहते हैं कि एक ही भाषा का परिचय देने के लिए या तो मैं 'हिन्दी उर्दू' शब्द के प्रयोग का समर्थन करूं या सिर्फ उर्दू का।"

पैगम्बरों का जो हाल होता है, वही हाल गांधी जी का हुआ। जब उन्होंने यह सलाह दी कि संस्कृत से उत्पन्न या प्रभावित भाषाओं की लिपि एक हो और वह देवनागरी हो, तो किसी अहिन्दी-भाषी आलोचक ने लिखा "एक ही भाषा बोलने वाले हिन्दू और मुसलमान अपने लिए दो अलग लिपियां क्यों रखे हुए हैं ?"

गांधी जी ने भारत आते ही हिन्दुस्तानी का आन्दोलन शुरू कर दिया था और हिन्दुस्तानी की आलोचना उस समय भी चलती थी, जब कविवर अकबर इलाहाबादी (मृत्यु सन् १९२४ ई०) जीवित थे। वे गांधीजी के विचारों के पक्के समर्थक थे और हिन्दी-उर्दू को वे गांधी जी की ही दृष्टि से देखते थे। अपनी एक कविता में उहोंने कहा था—

हम उर्दू को अरबी क्यों न करें?
वे उर्दू को भाषा क्यों न करें?
आपस में अदावत कुछ भी नहीं,
फिर भी इक अखाड़ा कायम है।
जब इससे फलक का दिल बहले,
हम लोग तमाशा क्यों न करें?

लोग गांधी जी से पूछते थे कि हिन्दी भाषा का भी साहित्य है और उर्दू का भी है। मगर हिन्दुस्तानी का साहित्य कहां है? ऐसे सवाल का जवाब देते हुए गांधी जी ने एक बार कहा था, जैसे गंगा और यमुना के बीच सरस्वती प्रच्छन्न भी है और प्रकट भी, उसी प्रकार हिन्दी और उर्दू के बीच हिन्दुस्तानी मौजूद है। लेकिन इसी सवाल के जवाब में उन्होंने दूसरी बार यह भी कहा था कि "कभी-कभी लोग उर्दू को ही हिन्दुस्तानी भी कहते हैं। तो क्या कांग्रेस ने अपने विधान में उर्दू को ही हिन्दुस्तानी माना है? क्या उसमें हिन्दी का, जो सब से ज्यादा बोली जाती है, कोई स्थान नहीं है? यह तो अर्थ का अनर्थ करना होगा। स्पष्ट ही यहां इसका मतलब सिर्फ हिन्दी भी नहीं हो सकता। इसलिए इसका सही-सही मतलब तो, हिन्दी और उर्दू हो सकता है। इन दोनों के मेल से ही एक ऐसी जबान तैयार करनी है, जो सब के काम आ सके। ऐसी कोई जबान जो लिखी भी जाती हो, आज प्रचलित नहीं है। लेकिन उत्तर भारत में आज भी करोड़ों अनपढ़ हिन्दुओं और मुसलमानों की यही एक बोली है। चूंकि वह लिखी नहीं जाती, इसलिए वह अपूर्ण है। और जो लिखी जाती है, उसकी दो अलग-अलग धाराएँ बन गयी हैं, जो दिन-ब-दिन एक-दूसरी से अलग हट रही हैं।...आज हिन्दुस्तानी का अपना ऐसा कोई संगठन नहीं, जो इन एक-दूसरी से दूर भागती हुई दो धाराओं को नजदीक आने और मिलाने की कोशिश में लगा हो।"

(हरिजन सेवक, १ फरवरी, १९४२ ई०)

जैसे गांधी जी ने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करने के लिए आजीवन प्रयास किया, वैसे ही उन्होंने हिन्दी और उर्दू को भी एक करने के भगीरथ-प्रयत्न किये। किन्तु, उनके इन दो उद्देश्यों में से एक भी पूरा नहीं हो सका। गांधी जी ने कांग्रेस में हिन्दी-हिन्दुस्तानी चला तो दी थी, किन्तु उसका प्रयोग केवल भाषणों में होता था। हिन्दी-हिन्दुस्तानी को स्वीकार तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने भी कर लिया था, मगर, व्यवहार में केवल यह बात फैल गयी कि हिन्दुस्तानी के प्रचार के बहाने कांग्रेसी सरकार हिन्दू-संस्कृति को विनष्ट कर रही है।

सन् १९३८ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन काशी में हुआ, जिसके मंच पर अन्य नेताओं के साथ देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद जी भी विराजमान थे। वहां किसी ने बिहार सरकार की निन्दा का प्रस्ताव पेश कर दिया और बिहार में प्रकाशित रीडरों का हवाला देकर लोग कटु से कटु भाषण देने लगे। राजेन्द्र बाबू पर इन भाषणों का प्रभाव पड़ा। उन्होंने उठ कर सभा से निवेदन किया कि निन्दा का प्रस्ताव आप पास मत करें। मैं रीडरों को नष्ट करवा दूंगा। राजेन्द्र बाबू के इस आश्वासन के बाद प्रस्ताव वापस ले लिया गया और बाद को रीडरें जला दी गयीं। किन्तु, इस घटना ने देश में हिन्दी-हिन्दुस्तानी को और भी तीखा कर दिया।

दूसरे वर्ष यानी सन् १९३९ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन पंजाब के अबोहर नामक शहर में होने वाला था। हिन्दुस्तानी के समर्थकों ने चाहा कि यह आजमाइश हो जाय कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रतिनिधि हिन्दुस्तानी का साथ देते हैं या नहीं। इस ध्येय को सामने रख कर उन्होंने अबोहर सम्मेलन के सभापति-पद के लिए देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद का नाम प्रस्तावित कर दिया। यह देख कर हिन्दुस्तानी के विरोधियों ने राजेन्द्र बाबू के मुकाबिले

में डाक्टर अमरनाथ झा को खड़ा कर दिया। परिणाम यह हुआ कि राजेन्द्र बाबू चुनाव हार गए और सम्मेलन के अबोहर-अधिवेशन ने यह तय कर दिया कि सम्मेलन की दिलचस्पी केवल हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचार में है।

इस सम्मेलन में काका साहेब कालेलकर भी पधारे हुए थे और सम्मेलन के मंच से बोलते हुए उन्होंने कहा था कि "हम राष्ट्र-हित की दृष्टि से राष्ट्रभाषा की सेवा करना चाहते हैं और कर रहे हैं। परन्तु, 'हिन्दी' नाम से काम करने में हमारे सामने रुकावटें आती हैं। इसलिए 'हिन्दी' नाम से हम काम नहीं कर सकते। आप राष्ट्रभाषा का नाम 'हिन्दुस्तानी' रखें, तो हमें काम करने में सुविधा होगी।"[१]

काका साहब के जवाब में बोलने वालों का भाव यह था कि "जो लोग हिन्दुस्तानी नाम रख रहे हैं और उस नाम से काम करने में सुविधा समझते हैं, उनसे हमारा कोई झगड़ा नहीं है। हम न हिन्दुस्तानी का विरोध करते हैं, न उर्दू का। हम तो हिन्दी-नागरी का प्रचार करते हैं। आप दोनों लिपियों का प्रचार चाहते हैं, तो हम एक लिपि का प्रचार करके आपके आधे बोझ को कुछ हलका ही करते हैं।"[२]

इसके बाद से हिन्दी-हिन्दुस्तानी का संघर्ष और भी विकराल हो गया। जो लोग गांधी जी के अनुयायी समझे जाते थे, उनमें से भी बहुत से लोग खुले आम यह कहने लगे कि हिन्दी के स्थान पर हिन्दुस्तानी नहीं चलेगी। हिन्दुस्तानी के समर्थन में काका साहब कालेलकर, विनोबा जी, राजा जी, राजेन्द्र बाबू आदि नेता खुल कर गांधी जी के साथ थे। किन्तु, टंडन जी हिन्दुस्तानी के विरोध में डट गए और डा० संपूर्णानन्द, पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन, श्री वियोगीहरि तथा श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी और काका गाडगिल ने टंडन जी का साथ दिया।

सम्मेलन से निराश हो जाने के बाद गांधी जी ने चाहा कि सम्मेलन अपनी ही कल्पना की हिन्दी का प्रचार करना चाहता है तो करे, किन्तु, राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा को हिन्दुस्तानी का प्रचार करने की छूट दे। किन्तु, सम्मेलन ने गांधी जी की यह इच्छा भी पूरी नहीं होने दी। समिति सम्मेलन की शाखा की तरह काम कर रही थी। सम्मेलन इसके लिए तैयार न हुआ कि समिति दो लिपियों के प्रचार में लगे। निदान, गांधी जी की प्रेरणा से काका साहब कालेलकर के नेतृत्व में वर्धा में ही २ मई, सन् १९५२ ई० को हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना की गयी। यह सभा हिन्दी-हिन्दुस्तानी-संघर्ष में हिन्दुस्तानी का प्रचार करने के लिये बनी थी, किन्तु, सन् बयालीस की क्रान्ति में सभी नेता पकड़ कर जेलों में डाल दिए गए और हिन्दुस्तानी प्रचार का काम प्रायः ठप पड़ गया।

गांधी जी को इस नयी संस्था से इतना प्रेम था कि ९ अगस्त, १९४२ ई० के 'हरिजन सेवक' में भी उनका यह नोट छपा था कि "सभा का संदेश यह है कि

---

१. राष्ट्रभाषा का इतिहास, लेखक किशोरीदास बाजपेयी।

१. वही।

हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा अंग्रेजी नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानी यानी हिन्दी-जोड़-उर्दू है। कांग्रेस के हिन्दुस्तानी-संबंधी प्रस्ताव के कर्ता, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राण-रूप श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ही थे। उन्होंने मुझे यह बात बहुत साफ तौर पर समझायी थी कि आज की हालत में हिन्दुस्तानी का मतलब हिन्दी-उर्दू ही होना चाहिए।...इस सभा के संस्थापक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सदस्य थे और हैं, लेकिन जब केवल हिन्दी के प्रचार से उनकी महत्त्वाकांक्षा तृप्त न हो पायी, उन्होंने सम्मेलन की स्वीकृति से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा स्थापित की।"

१९४२ की क्रान्ति में नेतागण तो जेल चले गए, लेकिन श्री अमृतलाल नानावटी जेल से बाहर थे। अतएव गुजरात विद्यापीठ के द्वारा उन्होंने हिन्दुस्तानी का प्रचार आरंभ कर दिया। इसी प्रयोग के आधार पर १९४४ के बाद, कार्यकर्ताओं के रिहा होने पर, अन्य प्रान्तों में भी हिन्दुस्तानी के प्रचार का कार्यक्रम बनाया गया।

इस समय तक हिन्दी-हिन्दुस्तानी का विवाद केवल हिन्दी-भाषी प्रान्तों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि उसकी छूत हिन्दी प्रचारकों को भी लग गयी और दक्षिणी तथा पश्चिमी भारत में काम करने वाले हिन्दी-प्रचारक भी दो दलों में बंट गये। यह वह समय था, जब पाकिस्तान बनाने का आन्दोलन अपने पूरे उरूज पर था। असल में, इन वर्षों में वह तूफान सज रहा था, जिसका विस्फोट सन् १९४६-४७ में होने वाला था। पाकिस्तान का आन्दोलन जितना तेज होता जाता था, अखण्ड भारतवासियों का हृदय उतना ही दग्ध होता जा रहा था। लोग मन ही मन यह सोच कर विस्मित हो रहे थे कि आखिर गांधी जी किस आशा में हिन्दू-मुस्लिम-पैक्ट की भाषा पर इतना जोर दे रहे हैं।

किन्तु, गांधी जी अपनी आस्था पर अडिग खड़े थे। वे सम्मेलन वालों को पहले भी कह चुके थे कि आप इस इन्तजार में समय न बर्बाद करें कि अंजुमन तरक्क़िए-उर्दू हिन्दुस्तानी को कब अपनायेगी। अगर हिन्दुस्तानी का प्रचार राष्ट्र के हित में है, तो उस काम को किसी का भी इन्तजार किए बिना आपको करना चाहिए। फिर २७ फरवरी, १९४५ ई० को हिन्दुस्तानी कान्फ्रेंस में बोलते हुए उन्होंने कहा, "हिन्दी और उर्दू के जो अलग-अलग फिरके पैदा हो गए हैं, उन्हें रोकने का काम मेरे-जैसे लोगों का है।···मुझसे कहा गया है कि मुस्लिम लड़के तो नागरी लिपि नहीं सीखते। मैं कहता हूं, अगर ऐसा है, तो तुमने कुछ नहीं खोया, उन्होंने खोया। एक और लिपि सीख ली तो उससे नुकसान क्या हुआ ?···अगर हिन्दी और उर्दू मिल जायें, तो गंगा-यमुना से बड़ी सरस्वती हुगली की तरह बन जायेगी।" (राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी)

गांधी जी जितने ही जोर से हिन्दुस्तानी का समर्थन कर रहे थे, सम्मेलन के लोग उतने ही जोर से उसका विरोध कर रहे थे। अन्त में वह स्थिति आयी, जब महात्मा गांधी को सम्मेलन की सदस्यता से इस्तीफा देना पड़ा। गांधी जी ने अपना इस्तीफा २८ मई १९४५ ई० को टंडन जी के पास भेजा। फिर दोनों महापुरुषों के बीच लंबा पत्राचार चला और अन्त में गांधी जी का इस्तीफा स्वीकार कर लिया गया। गांधी जी के पत्र को टंडन जी ने सम्मेलन की स्थायी समिति में न रख कर उसके जयपुर वाले खुले अधिवेशन के समक्ष रख दिया। उस समय सम्मेलन जिस

परीशानी और पेशोपेश में पड़ा, उसका वर्णन करते हुए आचार्य किशोरीदास जी वाजपेयी ने लिखा है--

"लोगों के हृदय उद्वेलित थे। महात्मा जी सम्मेलन छोड़ जायेंगे, तो क्या होगा? सम्मेलन का क्या रहेगा? त्याग-पत्र स्वीकार न हो, इसका एक ही उपाय था, नागरी के साथ-साथ फारसी लिपि का भी अनिवार्य प्रचार तथा हिन्दी की जगह हिन्दुस्तानी भाषा को ग्रहण करना। यह सब सम्मेलन के मूल उद्देश्य से बहुत दूर, बल्कि, विपरीत था। उद्देश्य छोड़ो या फिर महात्मा जी के महान् व्यक्तित्व के सहयोग से मिलने वाली शक्ति छोड़ो। जयपुर में इस विषय पर बड़ा समुद्र-मंथन हुआ। संध्या से विचार प्रारम्भ हुआ और रात के दो बज गये। अन्ततः बड़े ही दुःख के साथ, धड़कते हुए हृदय से, आंसूओं को रोक कर सम्मेलन ने महात्मा जी का त्याग-पत्र स्वीकार किया।"[1]

सम्मेलन से गांधी जी के इस्तीफे की प्रतिक्रिया लगभग सारे देश में हुई, किन्तु, उसका गंभीर रूप गुजरात, महाराष्ट्र और मद्रास में प्रकट हुआ। २५ जनवरी, सन् १९४६ ई० को मद्रास में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की रजत-जयन्ती के मौके पर गांधी जी ने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने कहा, "हिन्दुस्तानी की सेवा करने को मैं १२५ बरस तक जिन्दा रहना चाहता हूँ।··· दूसरा काम भी करने के लिए मैं यहां आया हूँ। हमारी सभा का नाम हिन्दी प्रचार-सभा है। अब इसका नाम हिन्दी प्रचार सभा नहीं रहेगा। हिन्दी शब्द के बदले अब हमें हिन्दुस्तानी शब्द लेना है।" और उसी दिन से दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा ने अपने नाम को बदल कर "हिन्दुस्तानी प्रचार सभा" कर दिया। गांधी जी ने हिन्दुस्तानी नाम की सिफारिश अपने २७-१-१९४६ वाले भाषण में भी की थी। "आज आप लोग जो प्रतिज्ञा लेंगे, उसमें अब हमारी राष्ट्र-भाषा का नाम हिन्दी न रह कर हिन्दुस्तानी रहेगा। हमारी राष्ट्रभाषा एक लिपि में नहीं, बल्कि दो लिपियों में लिखी जायेगी। राष्ट्रभाषा-प्रचार कार्य के लिए द्रव्य देनेवालों को भी यह बात पहले समझा देनी चाहिए। हमारा काम उन्हें पसन्द है या नहीं, यह देख कर मदद दें।"

सन १९४६ और ४७ के वर्ष भारत में सांप्रदायिक द्वेष और घृणा के भयानक विस्फोट के वर्ष थे। किन्तु, जहर ज्यों-ज्यों ज्यादा होता जाता था, गांधी जी की अमृतमयी वाणी भी प्रखर होती जा रही थी।

"हिन्दी और उर्दू नदियाँ हैं और हिन्दुस्तानी सागर है।"

"दोनों बहनों को आपस में झगड़ा नहीं करना है। मुकाबला तो अंग्रेजी से है।"

"सवाल तो यह है कि अंग्रेजी का प्रभाव और मोह कैसे मिटे? उसे मिटाना स्वराज्य की लड़ाई का बड़ा हिस्सा है, नहीं तो स्वराज्य के मानी बदलने होंगे।"

"अंग्रेजी जानने वाले राष्ट्रभाषा जानने वालों से दस गुना ज्यादा कमाते हैं। ऐसे लोगों का दाम तो अंग्रेजी सल्तनत के बाद जाने के एकदम गिरना चाहिए।"

---

१. राष्ट्रभाषा का इतिहास।

जब पाकिस्तान का निर्माण हो गया, गांधी जी ने हिन्दुस्तानी की टेर तब भी बन्द नहीं की।

"हिन्दुस्तानी में सब की बोली एक ही हो सकती है। मैं तो एक कदम आगे बढ़कर कहता हूँ कि अगर दोनों राज्य एक दूसरे के दुश्मन नहीं, दिल से दोस्त बनते हैं, तो दोनों तरफ सब नागरी और उर्दू लिपि में लिखेंगे।" (हरिजन सेवक, ५-१०-१९४७)

"मैंने अखबारों में पढ़ा कि आगे से यू० पी० की सरकार की सरकारी भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। इससे मुझे दुःख हुआ।... उचित बात यह है कि दोनों लिपियां रखी जायं और सारे सरकारी कामों में उनमें से किसी का भी प्रयोग करने की मंजूरी दी जाय।" (हरिजन सेवक, २६-१०-१९४७)

स्वराज्य हो जाने पर श्रीमती रेहाना बहन तैयब जी ने गांधी जी को लिखा कि "१५ अगस्त के बाद दो लिपियों के बारे में मेरे ख्याल बिलकुल बदल गये और अब पक्के हो गए हैं।... हिन्दुस्तान पर उर्दू लिपि लादने में इतना ही नहीं कि कोई फायदा नहीं है, बल्कि सख्त नुकसान है।... उर्दू लिपि सामाजिक मेलजोल की जगह कभी नहीं ले सकती।... अगर वे हिन्दुस्तान में रहना चाहते हैं, तो हिन्दुस्तानियों की तरह रहें। बेशक उन्हें उर्दू सीखने की सहूलियतें दी जायं। मगर उन्हें खुश करने की खातिर हिन्दुस्तान की सारी जनता पर उर्दू लिपि क्यों लादी जाय?... उर्दू लिपि के आग्रह से हमारा बोझ चौगुना हो जाता है।... हम हिन्दुस्तानियों का यही सूत्र रहे कि हमारी राष्ट्रलिपि नागरी। बस।"

मगर गांधी जी ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा—"अगर राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी है, तो उसे दोनों लिपियों में लिखने की छूट होनी चाहिए। अगर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना है, तो लिपि नागरी ही होगी, अगर उर्दू को बनाना है, तो लिपि उर्दू ही होगी। अगर हिन्दी-उर्दू के संगम के जरिये हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाना है, तो दोनों लिपियां जरूरी हैं।"

(राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी)

डाक्टर प्रभाकर माचवे

महात्मा गांधी : कुछ स्मृतियाँ

आज जो हिन्दी में ये टूटी-फूटी पंक्तियाँ लिख पाता हूँ, इसका प्रमुख श्रेय गांधी जी को है। यद्यपि हिन्दी में मेरी पहली रचना १९३४ में 'कर्मवीर' में स्वर्गीय पं० माखनलाल चतुर्वेदी जी ने प्रकाशित की, फिर भी जैसे राष्ट्रीयता की वर्दी खादी हमने विद्यार्थी-जीवन से पहननी शुरू की, सो आज भी बदन से चिपकी है। वैसे ही अपने देश की भाषा में लिखने की ओर मैं मुड़ा गांधी-आंदोलन से ही और सन् १९३९ में जब मैं उनके प्रथम संपर्क में आया तभी मैंने उन्हें वचन दिया कि अपना साहित्यिक काम हिन्दी में ही करूँगा।

सब जानते हैं कि मेरी मातृभाषा मराठी है और घर में आज भी हम वही भाषा बोलते हैं। प्रपितामह के समय से ही महाराष्ट्र छोड़ कर मध्यप्रदेश में हम लोग आ गये——मेरा जन्म ग्वालियर में हुआ। शिक्षा-दीक्षा रतलाम, इन्दौर, आगरा में जहाँ मराठी भाषा पढ़ने का कोई मौका ही नहीं मिला। माता की कृपा से घर में मराठी संतों के और भक्तों के धर्म-ग्रंथों का पारायण करता रहा। कुछ लिखने भी लगा था। सन् ३७-३८ में मेरी रचनाएँ मराठी के प्रमुख मासिक-साप्ताहिकों में छपती थी। पर बाद में सारा ध्यान हिन्दी की ओर ही मुड़ गया। इसका प्रधान श्रेय सन् १९३५ में विद्यार्थी-जीवन काल में इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में गांधी जी के आगमन को। और बाद में सन् १९३९ में उनके संपर्क में आने को है। सन् १९३७ में मैंने आगरा कालिज से दर्शनशास्त्र में एम० ए० किया और अपने मित्र वी० वी० द्रविड़ के साथ मैं १९३८ में भारतीय राष्ट्रीय मज़दूर संघ का मंत्री हो गया। गुलजारीलाल नन्दा और हरिभाऊ उपाध्याय ने अहमदाबाद के मजूर-महाजन में मुझे ट्रेनिंग के लिए भेजा। तब मैं इक्कीस वर्ष की कच्ची उम्र का युवक था, कुछ तुक-तान भी लिख लेता था कहानियाँ भी रामवृक्ष बेनीपुरी जी ने छापी थीं। सन् १९३७ में 'जैनेन्द्र के विचार' ग्रंथ का संपादन भी किया था, जो नाथूराम प्रेमजी ने हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर में छापा था। मेरे मन में समाजवाद और गांधीवाद के बीच में खासा द्वंद्व था। 'हंस' में भी मैं तब लिखता था। प्रेमचन्द जी ने मेरी कहानी 'अनजाने दाग' छापी थी; और 'चाँद' में महादेवी जी ने भी मेरी एक कहानी 'अश्रुमती गौतम' छापी थी। ऐसी मनोदशा में मैं मजूर-महाजन का ट्रेनिंग और इंदौर के मजदूर-संघ का मंत्री पद छोड़ कर उज्जैन में दर्शन का प्राध्यापक बन कर आ गया। कुछ समय मेरे जीवन में बहुत सन्देह और संशयात्मा-पन का गुज़रा। सन् १९३९ के दिसंबर में मैं अपनी दक्षिण-भारत की तीर्थ-यात्रा से लौटते हुए सेवा-ग्राम पहुँचा। यह क्रिसमस से एक दिन पूर्व की संध्या थी। मैं वहाँ आश्रम में ही अतिथि बनाया गया।

जिस बहन ने हमें 'रसोई' में भोजन दिया, वह शुद्ध गुजराती बोलती थीं, और वह पर्दा नहीं करती थीं। बाद में पता लगा कि वह जौहरा बहन अकबर अली थीं। जो बाद में स्वयम् और उनके पति दिल्ली में संसद सदस्य बने। वे उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त की पठान थीं, पर आश्रम ने उन्हें एकदम अपने अहिंसक सौम्य साँचे में ढाल दिया था। बाद में पता लगा कि वे मेरी भावी पत्नी की सहेली भी थीं।

दूसरे दिन सवेरे गांधी जी की कुटी में प्रार्थना में जाना हुआ। राजकुमारी अमृत कुँअर तब वहीं गांधी जी की सचिव थीं। क्रिसमस का दिन था और उन्होंने बाइबिल से प्रार्थना भावपूर्ण ढंग से पढ़ी। उपनिषद, गीता के साथ जापान के बौद्ध भिक्षु ने बौद्ध-प्रार्थना पढ़ी। खान अबदुल गफ्फार खाँ के कोई अनुयायी थे, उन्होंने कुरआन से आयतें पढ़ीं। सर्व धर्म समभाव का अजब समाँ था! उसी दिन सवेरे बापू के कमरे में मुझे उनसे बातें करने का सौभाग्य मिला। मुझे मिलानेवाले सज्जन गांधी जी की खेती और दुग्धशाला के प्रायः बीस वर्षों से संचालक (बाद में मेरे श्वसुर) श्री य० म० पारनेरकर थे। बापू ने पहला प्रश्न गुजराती में पूछा—'तुम्हें गुजराती आती है?'

मैंने कहा—'हाँ'।

बापू—'कहाँ सीखे?'

मैंने हिचकिचाते हुए कहा—'पुस्तकों से। वैसे अहमदाबाद के मजूर-महाजन में भी था।'

बापू—'मेरी गुजराती सौराष्ट्र की है। उसमें उच्चारण का थोड़ा फरक है। मैं तुमसे हिन्दी में ही बोलूंगा। तुम कहाँ रहते हो?'

मैंने कहा—'उज्जैन?'

बापू—'क्या वहाँ की जनता सुखी है?'

अब यह एकदम अप्रत्याशित प्रश्न था। मैं सहसा कोई उत्तर नहीं दे पाया। मैं कुछ कहने ही जा रहा था कि 'सामान्यतः सुखी है, जैसे रियासतों में जनता का हाल है। अशिक्षित, गरीब...' तो बापू राजकुमारी अमृत कुँअर से कहने लगे—'मैं वहाँ नहीं गया हूँ। वह ग्वालियर रियासत में है न?' राजकुमारी ने उनसे कुछ कहा जो मुझे आज याद नहीं। वह कुछ देशी रियासतों में राष्ट्रीय आंदोलन के बारे में था।

फिर बापू ने पूछा—'क्या करते हो?'

मैंने कहा—'कालेज में पढ़ाता हूँ।'

बापू ने पूछा—'क्या पढ़ाते हो?'

मैंने कहा—'दर्शनशास्त्र।'

बापू हँस पड़े। बोले—'देखो भाई, हम लोग तो यहाँ ऐसे रहते हैं। अच्छी तरह से देख-भाल लो। बाद में यह न कहना कि तुम्हें यह पसंद नहीं था।'

किसी ने परिचय में कहा था कि 'ये लिखते भी हैं।'

बापू ने पूछा—'क्या लिखते हो ? किस भाषा में लिखते हो ?'

मैंने बहुत ही संकोच से कहा—'मराठी में भी लिखता हूँ। हिंदी से प्रेम है। परीक्षाएँ दी हैं।' (मैं सन् १९३६ में साहित्यरत्न की परीक्षा आगरा से दे चुका था और सम्मेलन में प्रथम आया था)

बापू सहज भाव से बोल उठे—'हिंदी में ही लिखो। जहाँ रहते हो, वहाँ की जनता की भाषा में लिखना चाहिए। उर्दू भी लिखो।'

मैंने कहा—'हाँ, अब हिंदी में ही लिखूंगा।'

(वह दिन है कि उसके बाद मेरा मातृभाषा में लिखना काफी कम हो गया। सन् '४८ के बाद जब मैंने मध्यप्रदेश छोड़ दिया और इलाहाबाद रेडियो पर आ गया और बाद में सन् ५१-५२ से दिल्ली में ही रहने लगा, तो मेरा अधिकांश लेखन-कार्य हिन्दी में ही हुआ है। सब जानते हैं।)

गांधी जी इसके बाद मेरी ओर से मुड़ कर मेरे साथ के अभिभावकों से गुजराती में कहने लगे कि 'वह तो मुझे पसंद है। अब इसे लड़की को भी दिखाओ। दोनों एक दूसरे को पसंद कर लें, तो विवाह हो सकता है।'

इसके बाद महिलाश्रम, वर्धा जहाँ मेरी पत्नी पढ़ती थीं, जाना हुआ। दूसरे दिन लड़की को भी बापू ने बुलाया। सोमवार का मौन-व्रत था, पर उसे तोड़कर उससे सम्मति पूछी और निश्चित हो गया। मेरी पत्नी फिर आश्रम में आ गई और उसे भनसाली भाई, किशोरलाल मश्रूवाला, महादेव देसाई, प्यारेलाल जी, सुशीला नैयर, राजकुमारी अमृत कुँअर जैसे अध्यापकों का सौभाग्य मिला।

सन् '४० के ग्रीष्मावकाश में मैं गांधी जी के निमंत्रण पर आश्रम में जाकर रहा। वहाँ सामान्य आश्रमवासी की तरह शरीर-श्रम, कताई, प्रार्थना सब नित्य-नैमित्तिक कर्म करता था। वे गत महायुद्ध के आरंभ के दिन थे। महादेव देसाई ने मुझे गीता के अनासक्ति योग वाले गांधी-भाष्य की पांडुलिपि पढ़ने को दी। 'हरिजन' के लिए कुछ अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद भी मैं करता था। तब राजेन्द्र बाबू, आचार्य नरेन्द्रदेव, लुई फिशर जैसे अतिथि वहाँ आश्रम में आकर रहते थे। उनके दर्शनों का और उनसे विचार-विनिमय का सौभाग्य मिलता था। आशा देवी और आर्यनायकम् का बुनियादी तालीमी संघ का ग्रंथालय मेरे लिए एक बहुत बड़ी नियामत थी। बीच-बीच में मैं वर्धा भी चला जाता जहाँ काका साहब कालेलकर की हिंदुस्तानी प्रचार-सभा थी। भदंत आनंद कौसल्यायन भी उधर ही रहते थे। महिलाश्रम में काशीनाथ त्रिवेदी और भवानी शंकर मिश्र पढ़ाया करते थे। वर्धा शहर में वाणिज्य महाविद्यालय के प्रिंसिपल सेठ जमनालाल जी के जमाई और 'तेरी का राग' के लेखक श्रीमन्नारायण (तब अग्रवाल भी) थे। मेरे मित्र मराठी के कहानी लेखक वामन चोरघडे वर्धा में अध्यापक थे। वे बहुत मजे के दिन थे। व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू ही हुआ था।

नवंबर १९४० को सेवाग्राम में बापू की कुटी के पीछे कुष्ठ पीड़ित पं० परचुरे शास्त्री के पौरोहित्य में, सवेरे, बा और बापू, सरोजिनी नायडू और डा० खान साहब, कुमारप्पा और मौलाना आजाद, महादेव भाई और भारतानंद आदि के सान्निध्य में हमारा विवाह संपन्न हुआ। उसी दिन वर्धा में कांग्रेस वर्किंग कमेटी की सभा थी और देश के अनेक गण्यमान नेता आये थे। ७ नवंबर को जी० रामचंद्रन् और डा० सौदरम्मा का विवाह हुआ था, जिसे बापू ने आशीर्वाद दिया था और ८ता० को हमारा। इसके बाद तो मेरी स्थिति और भी असाधारण हो गई। आश्रम का सब से छोटा जमाई था, इसलिए सब के लिए विनोद का विषय भी था। इस कारण से मुझे बापू की आत्मीयता पाने का बहुत सु-अवसर मिला। ८ अगस्त १९४२ में बापू के बंबई में गिरफ्तार होने तक मैं बहुत बार गया, और वहाँ की गतिविधि से निकटतम परिचय मेरा रहता था।

मेरे जीवन को मोड़ देने में गांधी जी के विचारों का और विचारों से भी अधिक उनकी जीवन-पद्धति का बड़ा सूक्ष्म प्रभाव रहा। मेरी पत्नी और श्वसुर तो वहीं पले-बढ़े, उनके विचारों से अभिभूत रहे। पर मैं अपने आपको उनकी तरह नैष्ठिक गांधीवादी नहीं मानता। मैं खद्दर जरूर पहनता हूँ। हिंदी में अधिकतर अपना काम भी करता हूँ। पर न तो मैं नित्य कातता हूँ, न मैंने 'विवाहोत्तर ब्रह्मचर्य' के गांधी जी के सिद्धांत का पालन किया। गुस्सा मुझे अब भी आता रहता है। खानपान में भी मैं उनका पूर्णतः अनुयायी नहीं—चाय भी पीता हूँ, मिर्च मसाले भी खा लेता हूँ। औसत आदमी और औसत भारतीय हूँ। इसलिए चीन और पाकिस्तान के आक्रमण के बाद शत-प्रति-शत अहिंसक बने रहने का भी दावा नहीं करता। यह कहना भी मुश्किल है कि मैं हमेशा सच ही बोलता रहता हूँ। कोशिश तो करता हूँ कि सत्य पर अड़ा रहूँ। पर कमज़ोर आदमी हूँ। कविता-कहानी-एकांकी लेखन में झूठ और कल्पना का भी सहारा ले लेता हूँ। बहर-हाल, अपने आपको गांधीवादी कहलाना बहुत ठीक नहीं समझता। यद्यपि विदेश में मैंने दो वर्ष तक काफी सफलता से गांधी-दर्शन अमेरिकी छात्रों को पढ़ाया। हाल में एक छोटी सी किताब 'गांधी स्मारक निधि' के शताब्दी-कार्यक्रम के लिए भी लिखी—'सौ सवाल, एक जवाब' (शीर्षक दिवाकर जी ने दिया था)। सुनता हूँ इसकी तीस-चालीस हज़ार प्रतियाँ एक वर्ष में बिक गईं। मैंने रायल्टी नहीं ली—सारी गांधी स्मारक-निधि को दे दी।

जीवन में—अभी आधी सदी का ही अनुभव है, उसमें भी पहले दस वर्षों की स्मृति नहीं—यों चार दशकों में यही पाया कि अंततः अहिंसा बड़ी फलवती और उपयोगी सिद्ध होती है। अब यह साहित्य का ही क्षेत्र ले लीजिए। न जाने कितने निंदक, कितने कटु आलोचक, कितने ऐसे मिले जो हमें लेखक तो दूर 'शुद्ध हिन्दी लिख पानेवाला' भी नहीं मानते। (गो किताबें चालीस से ऊपर छप चुकी हैं, पी एच०-डी० भी हूँ, ईश्वर की दया से कुछ रचनाएँ कोर्स में भी लगी हैं और खासी हिन्दी बोल भी लेता हूँ।) अब ऐसे असूयाग्रस्तों का क्या कीजिए? गुटबाज़ हैं कि अपनी अपनी दुकाने लगाये-सजाये बैठे हैं। 'परस्परं भावयन्तः' में जुटे हैं, किसी को अपने दोस्त की 'ध्वनि' पसंद है तो किसी को उनका रूप! इस आपाधापी में क्या रक्खा है? अपने

राम इस सारे उपेक्षा के घोर वातावरण में संतोष मान लेते हैं कि 'अरे भाई तुम तो किस खेत की मूली हो। तुम तो एक रजकण भी नहीं हो। जब इतने बड़े दयार्णव और अहिंसा के आगार गांधी को भी बुरा-भला कहने से लोग नहीं चूके।' सबसे भली बात यह है कि चुपचाप रचनात्मक काम किये जाओ। एक न एक दिन आखिर 'सत्यमेव जयते' ही होगा। लड़-भिड़ कर, चीख-चिल्लाकर भी आखिर एक दिन राम-नाम 'सत्य' ही तो होना है। यह तटस्थता और मंद यशः-प्राथिता से उदासीनता हम जीवन में बापू से सीखे।

उन्हीं से हमने अपरिग्रह अपनाया, निर्व्यसनता और सादगी सीखी। हम दो वर्ष विश्व के अत्यंत विलासी और आकर्षण-केंद्र अमेरिका देश में भी रहे। पर 'सूरदास या कारी कमरी' लगौ न औरो रंग ! यह हम अपनी डींग हाँकने के लिए या आत्म-श्लाघा में नहीं कह रहे हैं, पर नये लिखनेवाले युवकों को देखता हूँ कि कैसे एक पुस्तक लिखी और कुप्पा हुए; कैसे बिना पग-पग पर व्यसन के उन्हें 'मूड़' नहीं आता, कविता नहीं सूझती ! उनकी दशा दयनीय लगती है, उन पर हँसी आती है। जीवन में ऐसी कई बातें हैं जो सिखाने से सिखाई नहीं जाती, पर गांधी जी के आश्रम के वातावरण में रहने से आपसे आप आ गई। जैसे, श्रम की प्रतिष्ठा। जैसे, किसी भी काम को हलका न समझना। जैसे, किसी अनपढ़ या गरीब को भी ओछा न मानना। जैसे, परंपरा की अच्छी चीजों का आदर। जैसे, नये की भी बात सुन लेना। जैसे, सहिष्णुता। जैसे, सर्व भाषा समभाव···।

गाँधी जी की भाषा-नीति के बारे में सब जानते हैं। टंडन जी से उनका मतभेद भी हुआ। दो बार वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति बनाये गये थे पर उन्होंने सम्मेलन छोड़ दिया। उस सारे कटु विवाद की याद आज व्यर्थ है। दोनों ओर से सिद्धांतों का प्रश्न था। परन्तु जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है मैं गांधी जी के सर्व-भाषा-सम-भाव को बराबर अपनाता रहा। मैंने अनेक भारतीय भाषाएँ सीखीं। सन् १९४८ में राजर्षि टंडन जी के पत्र लेकर मैंने भारत के आठ प्रान्तों की यात्रा की और महापंडित राहुल सांकृत्यायन संपादित 'शासन-शब्द-कोश' की पांडुलिपि लेकर अन्य कई भाषा भाषियों की शासकीय शब्दावली से तुलना करके संपादन में निश्शुल्क सहयोग दिया। मेरे मन में भाषा या साहित्य की सेवा से कोई भौतिक या तुरंत लाभ-लोभ का विचार कभी नहीं आया। इसी कारण से आज तक न प्रादेशिक न केंद्रीय कोई पुरस्कार मैंने पाया। न और लोग करते हैं वैसा उसके लिए कोई प्रयत्न ही किया। हिन्दी-सेवा को प्रधान मान कर मैं आज तक कार्य करता रहा और सच बात कहता गया। जिसके कारण अनेक मित्र शत्रु बन गये। पर उस सबका यहाँ क्या गिला !

गाँधी जी के ही कारण साहित्य जनोन्मुखी हो यह बात मेरी समझ में पक्की तरह से बैठ गयी। साहित्य केवल कल्पना-विलास नहीं हो सकता। वैसा होकर वह दिमागी ऐयाशी या रीतिकालीन दरबारीपनवाला साहित्य होगा। आज भी कई लोग इस तरह की 'कला के लिए कला' माननेवाले महानुभाव हिन्दी में ही नहीं सारे भारतीय साहित्य में हैं, जो केवल अपनी छोटी मित्र मंडली के लिए ही लिखते हैं। उनके हाथ में अखबार हैं, पत्र-पत्रिकाएँ हैं, परस्पर-

प्रशंसा के दौर भी चलते रहते हैं। पर जन-कल्याण उनके हाथसे छूट गया है। और मैं नहीं समझता कि दस बीस साल बाद उन्हें कोई पूछेगा भी। गाँधी जी ने इस देश में जनसाधारण का चारित्रिक साहस बढ़ा दिया। अब साहित्य हो या राजनीति,दोनोंमें 'काठ की हँडिया' ज्यादा दिन नहीं चल सकेंगी। 'उवरहिं अंत न होहिं निबाहू' सच सिद्ध होता है। इसलिए केवल संस्थाओं के बल पर चलने वाले साहित्यकार, 'आया राम गया राम' की तरह भुला दिए जाते हैं। अब केवल पद-प्रतिष्ठा या व्यावसायिकता के स्तर पर साहित्य कितने दिन चल सकता है। ये बैसाखियाँ अब कभी की बेकार सिद्ध हो चुकी है। अब वही टिकेगा जो टिकने लायक होगा। बिकने लायक जो है वह अपनी दुकान जल्दी ही उठा लेगा।

गांधी जी की अनेक स्मृतियाँ हैं। परन्तु एक विनम्र हिन्दी सेवी और एक छोटे से लेखक के नाते आज इस समय जो याद सबसे अधिक उभर कर आई, वह लिख दी है। स्थानाभाव से संक्षेप में लिखा। 'थोड़ा लिखा, ज्यादा बाँच जो जी!'

प्रोफेसर ए० चन्द्रहासन

गांधी जी : कुछ संस्मरण

मैं कोचिन रियासत में पैदा हुआ था और मेरे युवाकाल में जितने भी लोग राजनीति में भाग लेना चाहते थे वे बाहर मालाबार में चले जाते थे। कोचीन के देशप्रेम की भावना रखने वाले लोग गांधी जी के रचनात्मक कार्यों में भाग लेते थे और मैं उनमें से एक था। बचपन से ही गांधी जी के बारे में काफी सुना करता था और एक तरह से मेरे मन में गांधी जी की प्रतिमा की संस्थापना हो गई थी। जहाँ तक सम्भव हो गांधी जी का अनुयायी बनने की कोशिश भी करता था। मेरे माता-पिता उस समय स्वर्गवासी हो गए थे जब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था और इसलिए राजनीति में भाग लेने से रोकनेवाला कोई नहीं था। लेकिन मैं उग्रवादी नहीं था और रचनात्मक कार्यों में, जैसे---खादी, हरिजन-सेवा, देशी चीजों का इस्तेमाल करना और उनका प्रचार करना यह सभी काम करता था।

जब मैं हाई स्कूल में पढ़ता था तब गांधी जी केरल में पहली बार आए थे। उनका दर्शन करने और उनके भाषण सुनने के लिए सैकड़ों की संख्या में लोग खुले मैदान में शामिल हुए थे। मैंने दूर से ही बैठ कर उनको देखा और उनके व्याख्यानों को सुना। गांधी जी में एक विशेष प्रकार का आकर्षण था, यह सभी लोगों को विदित है। गांधी जी के शरीर, चालचलन, व्यवहार आदि का विश्लेषण करें तो यह कहना मुश्किल है कि गांधी जी मु अमुक मुख्य गुण है। लेकिन फिर भी उनके व्यक्तित्व में कोई ऐसी अजीब बात थी कि सभी लोग उनसे आकर्षित होते थे। उनका आदर करते थे और उनके विचारों से विशेषरूप से प्रभावित होते थे। गांधी जी के सामने मेरे ख्याल में गांधी जी का खण्डन करनेवाले इने-गिने लोग थे।

दूसरी बार गांधी जी केरल में आए थे तो मुझे गांधी जी के साथ निकट परिचय पाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। मैं उस समय स्वयंसेवक दल का नेता था और गांधी जी जहाँ ठहरे थे वहाँ मेरी ड्यूटी थी, दर्शन के लिए आनेवालों की व्यवस्था करना। गांधी जी की दिनचर्या से सभी लोग परिचित हैं। इसलिए मैं यहाँ पर उसे दोहराना नहीं चाहता। वे केरल में आकर केरल की विशेष चटाई पर बैठा करते थे और धार्मिक लोग भी अलग से चटाइयों पर बैठते थे। मैं उन दिनों का जब स्मरण करता हूँ तो तमाशा सा लगता है। कुछ लोग आते थे गांधी जी के विचारों के सम्बन्ध में बहस करने के लिए; कुछ लोग आते थे गांधी जी से अपनी कुछ शंकाओं का समाधान पाने के लिए; कुछ लोग आते थे केवल गांधी जी से एक दो बातें करने के

लिए। मैंने देखा कि जो बहस करने के लिए आते थे वे गांधी जी के सामने बैठते ही ठंडे पड़ जाते थे यद्यपि गांधी जी उनसे मीठी भाषा में ही बातें करते थे। जो शंकाएं लेकर आते थे उनको कुछ संकोच होता था और वह कुछ कुशल मंगल की बातें करके चले जाते थे। बाकी लोग थोड़ी देर गांधी जी के सामने बैठते थे और कुछ नहीं बोल सकते थे। ऐसे लोगों के साथ गांधी जी बड़े प्रेम के साथ नाम-वाम पूछते थे और उनको संतुष्ट करते थे। यह स्मरण रखना चाहिए कि गांधी जी मुलाकात के समय बराबर चर्खा कातते रहते थे और लोगों से बातें भी करते जाते थे। एक देवी की मुलाकात का मुझे विशेष स्मरण आता है। उस महिला ने शायद सोचा था कि गांधी जी गवर्नर जैसे आदमी हैं और उनसे मुलाकात करने के लिए सजधज कर जाना चाहिए। वह बहन धनी परिवार की थीं और निःसंकोच आकर बैठ गई। उसको गांधी जी से असल में कुछ पूछना नहीं था। लेकिन गांधी जी ने उनको देख कर विनोद के भाव से पूछा कि आपको बाहर जाने की तैयारी में कितना समय लगता है और आप वेशभूषा आदि में मासिक कितना खर्च करती हैं? गांधी जी के मन में विनोद की भावना थी लेकिन उन्होंने किसी प्रकार का व्यंग्य नहीं किया था। उस महिला ने एक-दो मिनट सोचने के बाद गांधी जी से कहा कि मैं बहुत समय लगाती हूँ और बहुत खर्च भी करती हूँ। आगे मैं इसको कम करूँगी।

यह आश्चर्य की बात है कि उस महिला ने वहाँ से जाते ही खादी के कपड़े खरीद लिए और सादा जीवन बिताने की शपथ ले ली। वह महिला अब भी जीवित है और समाज सेवा का कार्य करती है। मुझे याद नहीं कि गांधी जी की इस यात्रा में या दूसरी यात्रा में गांधी जी हरिजनों के लिए चन्दा, सोने के गहने आदि मांगते थे। कितने ही लोगों ने किसी प्रकार के दबाव के बिना गांधी जी को पैसा दिया और बहुत सी महिलाओं ने अपने सोने के गहने भी उतार कर गांधी जी को भेंट किए थे। चीनी आक्रमण के समय जिस जोश के साथ लोग धन और सोना देते थे उतने ही जोश के साथ उस समय भी गांधी जी जहाँ-जहाँ जाते थे लोगों से भेंट पाते थे।

उसके बाद कई जगह गांधी जी से मेरी मुलाकात हुई थी, लेकिन मद्रास की एक घटना का उल्लेख करने में मुझे बड़ी खुशी होती है और मैं उस घटना का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ। उस समय मैं हिन्दी प्रचार-सभा का कार्यकर्ता था। सभा में गांधी जी आनेवाले थे और हम सब लोग मद्रास के सभा भवन में इकट्ठे हुए थे। गांधी जीके आने के दूसरे दिन सवेरे कार्यकर्ताओं की एक बैठक बुलाई गयी थी। उस समय विचारणीय विषय था एक कार्यकर्ता का भ्रष्टाचार। एक पत्नी के रहते हुए भी एक कार्यकर्ता ने दूसरी देवी के साथ सम्बन्ध स्थापित किया और यह बात खुल गयी, गांधी जी के निकट के वे कार्यकर्ता मित्र थे। उन्होंने अपना कसूर कबूल किया और गांधी जी ने फैसला दिया कि तुम दूसरी स्त्री को भी अपनाओ और पहली स्त्री के रहन-सहन का उचित प्रबन्ध कर लो। उस कार्यकर्ता ने खुशी के साथ गांधी जी की सभी आज्ञाओं का पालन किया और गांधी जी ने हम सब लोगों को उपदेश दिया कि सार्वजनिक क्षेत्र

में काम करने वालों को कोई बुरा काम नहीं करना चाहिए। बुरा कार्य करने से आदमी का आदर कम होता है और उसके कार्य का फल कम हो जाता है। उन्होंने यह भी कहा कि अगर कोई बुरा काम होता है तो उसके लिए स्वयं प्रायश्चित्त करना चाहिए तभी समाज-सेवा के कार्य में सफलता मिलती है।

गांधी जी चार बजे के पहले जरूर उठते थे। मद्रास में मुझे यह देख कर बहुत ही आश्चर्य हुआ कि सवेरे तीन बजे मुलाकात के समय ऐसे बहुत से बड़े बड़े आदमी गांधी जी के दर्शन करने के लिए आते थे जिनके बारे में जनता में यह भावना है कि वे गांधी जी के विरोधी हैं। गांधी जी सबसे अच्छा व्यवहार करते थे और किसी को संकोच की स्थिति में नहीं डालते थे। सभी का अभिवादन समान रूप से स्वीकार करते थे।

मेरे जीवन में सब से बड़े सौभाग्य के दो सप्ताह थे। गांधी जी हरिजन-सेवा के सिलसिले में केरल में दो सप्ताह का प्रोग्राम बना कर आए। उस समय मैंने उनसे निवेदन किया कि आप तो अंग्रेजी में भाषण देते हैं तो उसका भी अनुवाद करना पड़ता है। क्योंकि जो भाषण सुनने के लिए आते हैं उनमें १०-२० प्रतिशत लोग ही अंग्रेजी समझते हैं। आप हिन्दी में भाषण दिया करें तो थोड़ा सा हिन्दी का प्रचार भी हो जाएगा। उन्होंने इसे सहर्ष मान लिया। केरल में पहली सार्वजनिक सभा हुई थी पालघाट में। मैं समय पर तो पालघाट पहुँच गया था लेकिन मंच के पास जाने में कठिनाई हुई। गांधी जी भाषण देने के लिए खड़े हुए और उन्होंने पूछा कि मेरे हिन्दी अनुवादक कहाँ हैं? वे मेरा नाम भूल गए थे। मैं छोटा सा आदमी भी था। तो मैंने चिल्ला कर आवाज दी और भीड़ को चीरते हुए मंच तक पहुँच गया। गांधी जी ने अपना भाषण हिन्दी में दिया और मैं डरते-डरते उसका अनुवाद मलयालम में करता गया। कभी कभी गांधी जी दो चार वाक्य एक साथ बोल देते थे। तब मुझे कठिनाई हो जाती थी ऐसे अवसरों पर गांधी जी धीमे स्वर में मुझे अपना आशय देते थे और मैं उनकी मदद पा कर अनुवाद करने में सफल हुआ। पालघाट से नागरकोयल तक कम से कम १०० सभाओं में उन्होंने व्याख्यान दिया और इन व्याख्यानों का अनुवाद करते-करते मैं उनके विचारों को अच्छी तरह समझ गया और १५-२० भाषणों के बाद अनुवाद का काम मेरे लिए आसान हो गया। लेकिन सभा में मैंने एक जगह एक गलती कर दी, मलयालम न जाननेवाले गांधी जी ने मुझे रोका, अपने वाक्य को दोहराया और कहा कि अब ठीक से अनुवाद कर दो। मैं शर्मिन्दा तो हुआ लेकिन इस बात की खुशी हुई कि मेरी गलती सुधर गई। यद्यपि मैं गांधी जी के साथ रहा किंतु मुझे बातें करने का बहुत ही कम मौके मिल पाते थे। एक बार जब वे नाव में यात्रा कर रहे थे तो मुझे अच्छा मौका मिला। उस समय उत्तर-भारत हिन्दी-उर्दू का झगड़ा चल रहा था। मैंने गांधी जी से पूछा कि हम दक्षिण के लोग किस शैली की हिन्दी सीखें। उन्होंने मुझे बताया कि जब तुम लोग (हिन्दीतर प्रान्त के लोग) हिन्दी सीखोगे तो राष्ट्रभाषा हिन्दी की एक ऐसी शैली स्वयं निकल आवेगी जो सारे देश के लिए मान्य होगी।

जहाँ जहाँ गांधी जी जाते थे वहाँ बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे होते थे। जो सरकारी अफसर होते थे और सरकारी पक्ष के माने जाते थे वे लोग भी लुक-छिप कर पीछे बैठ जाते थे और गांधी जी के भाषण सुन के मुग्ध हो जाते थे।

मुझे गांधी जी के साथ वर्धा-आश्रम में भी थोड़े दिन रहने का सौभाग्य मिला था। वहाँ सभी लोगों को बारी-बारी से टट्टी साफ करना आदि कार्य करने पड़ते थे। मुझे वहाँ इन सभी कार्यों का थोड़ा-सा प्रशिक्षण मिल गया था। उस समय वे स्वर्गीय सेठ जमनालाल बजाज के साथ एक कुटी में रहते थे। हम लोगों के लिए अलग कुटियाँ थी।

डॉक्टर जयशंकर त्रिपाठी

दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार

इस देश में संस्कृत भाषा की मूल कोई भाषा कभी सारस्वत-कुरुक्षेत्र प्रदेश में मातृभाषा थी। उसका प्रयोग जन्म से ही समाज में होता था। वाद की शताब्दियों में जब संस्कृत केवल विद्वानों की भाषा रह गई, देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में नई-नई भाषाओं का उदय हुआ, जिनका मूल उद्गम और प्रकृति संस्कृत की वह मूल भाषा ही थी, इससे हम यह अनुमान लगाते हैं कि सारस्वत प्रदेश की उस मातृभाषा की पुत्री संस्कृत ने किन्हीं कारणों से पूरे देश में अपना व्यापक प्रसार किया। अतः संस्कृत के बाद भी जो भाषाएँ आईं, उनकी प्रकृति संस्कृत से भिन्न नहीं थी क्योंकि संस्कृत सर्वत्र व्यवहार की भाषा हो गई थी। संस्कृत के इस प्रसार में और कारण जो भी रहा हो, भाषा की प्रकृति और उसके शब्दार्थ का प्रयोग-अन्वयन भी एक विशिष्ट हेतु था, जिसने कन्याकुमारी से ले कर हिमालय तक और सिन्धु से लेकर ब्रह्मपुत्र तक इसको शिष्टजनों तथा विद्वानों की भाषा होने का गौरव दिया। हम समझते हैं कि संस्कृत की यह विशिष्टता इसी प्रदेश की मध्यकाल की बोली नागरी-खड़ीबोली या कौरवी में ज्यों की त्यों अभिनिविष्ट चली आई। यह खड़ीबोली हिन्दी का आज का मानक रूप है, और इसी हिन्दी का समूचे देश में पठन-पाठन अनेक बाधाओं के विपरीत वैसे ही व्यापक रूप से प्रसरित होता जा रहा है जैसे कभी संस्कृत का हुआ था। समूचे देश की राष्ट्रभाषा होने का प्यार और गौरव संस्कृत के बाद इस हिन्दी को, कौरवी (खड़ीबोली) हिन्दी को मिला है।

दक्षिण भारत में इस हिन्दी का प्रसार एक आन्दोलन के रूप में स्वतन्त्रता-संग्राम के साथ महात्मा गांधी की प्रेरणा से बीसवीं शती ई० में प्रारम्भ हुआ, किन्तु इसके पूर्व हिन्दी में साहित्य-सर्जन और इसके प्रयोग के व्यापक प्रमाण हमें समूचे दक्षिण भारत में मिलते हैं। एक हजार वर्ष से इस भूभाग में जो कवि या सन्त हुए हैं, उन्होंने अपनी रचनाओं और उपदेशों के लिए हिन्दी का प्रयोग किया है। उन सन्तों में से कोई बिहार-बंगाल के हैं, कोई महाराष्ट्र-राजस्थान के हैं, कोई पंजाब के हैं। आठवीं शती के सरहपा आदि चौरासी सिद्धों से लेकर कबीर-सोलहवीं शती की अवधि तक के लोक-धर्म की क्रान्ति जगानेवाले अनेक सन्तों के नाम आते हैं। इनमें हिन्दीतर प्रदेशों के ख्यातिप्राप्त सन्त भी हैं, इन सन्तों ने जिस भाषा का प्रयोग किया है उसमें आज की खड़ीबोली के प्रयोग हैं। उन प्रयोगों को देख कर खड़ीबोली के लोक-व्यापक रूप का पता चलता है। नामदेव महाराष्ट्र के सन्त हैं, ये तेरहवीं शती में विद्यमान थे, इनके छन्द खड़ीबोली के रूपों से ओतप्रोत हैं—.

माइ न होती बाप न होते कर्म न होता काया
हम नहीं होते तुम नहीं होते कौन कहाँ से आया?

यह सब खड़ीबोली हिन्दी की व्यापकता का इतिहास है। इसी प्रकार बारहवीं शती में गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्र ने 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ बनाया, उसमें संस्कृत के साथ प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों के उदाहरण भी दिए गए हैं। ये उदाहरण अवश्य ही हेमचन्द्र के पूर्व के होंगे। इन उदाहरणों में यत्र-तत्र खड़ीबोली के रूप का दर्शन मिलता है—

भल्ला हुआ ज् मारिया बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेजं तु वयंसि अहु जइ भग्गा घर एन्तु॥

महाराष्ट्र के छत्रपति शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास की रचनाओं में भी खड़ीबोली के प्रयोग हैं।

खड़ीबोली हिन्दी के दक्षिण भारत में इस व्यापक प्रसार के साथ दक्खिनी हिन्दी का इतिहास भी इससे जुड़ा हुआ है। जब दिल्ली में मुसलमानों की सल्तनत स्थापित हुई तब दिल्ली के आसपास की इस खड़ीबोली को उसके राजपुरुषों और फौजी छावनियों ने अपना प्रश्रय दे कर उसके प्रसार में विशेष सहयोग दिया। यद्यपि उनके प्रश्रय से उसके स्वरूप में कुछ अन्तर भी पैदा हुआ। और इस अन्तर के साथ सैनिकों द्वारा व्यवहृत होने के कारण फौजी बाजार के नाम पर इसका उर्दू नाम हुआ। फारसी का थोड़ा-बहुत प्रभाव भी उस पर पड़ा, लेकिन उतना ही जितना आत्मसात् हो सका। यह दक्षिण में पहुँची। आज इसे दक्खिनी हिन्दी कहते हैं। दक्खिनी हिन्दी में गद्य-पद्य का समृद्ध-साहित्य है। आरम्भ में दक्खिनी हिन्दी में जो साहित्य लिखा गया वह आज की हिन्दी के बहुत निकट है। उत्तरोत्तर उसमें फारसी की छाप अधिक होती गई है। गोलकुंडा के शासक अली आदिलसाह (सतरहवीं उत्तरार्ध शती ई०) की दक्खिनी हिन्दी की रचना आज की हिन्दी की ही परम्परा में है, उनकी कविता का यह नमूना देखिए—

जोबन फड़कते हैं पिव मस्त हो मिलेंगे।
आलिंग बदल रहूँ अब बंद खोल अँगिया का॥

दक्खिनी हिन्दी के अन्य कवियों की रचनाएँ भी हिन्दी-खड़ीबोली की परम्परा से भिन्न नहीं हैं। यदि इतिहास को देखा जाए तो मुसलमान-शासकों के उस संरक्षता को हिन्दी भुला नहीं सकती। इसके साथ ही हम मराठा-शासकों को भी इस सन्दर्भ में नहीं भूल सकते। अठारहवीं शती में मुगल-साम्राज्य के पतन के साथ जब मराठा-साम्राज्य का उदय हुआ तो पेशवाओं ने संस्कृत के साथ राजकीय पत्र-व्यवहार में हिन्दी-भाषा को भी अपनाया। सन १७०५ ई० में विद्यमान मलयालम के हास्य कवि कुंचन् नम्प्यार ने अपनी कविताओं में हिन्दी के शब्दों का प्रयोग किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बीसवीं शती के पूर्व दक्षिणाभारत में हिन्दी के प्रसार का एक लम्बा इतिहास है। अद्यतन आन्ध्र, गुजरात, महाराष्ट्र तथा केरल में इसकी लोकप्रियता के अनेक उदाहरण हैं। किन्तु आन्दोलन के रूप में हिन्दी-प्रचार की योजना बीसवीं शती ई० के आरम्भ में स्वतन्त्रता-संग्राम के असहयोग आन्दोलन के साथ तीव्र हुई। इसमें हिन्दी के अनेक शुभचिन्तकों, सेवाव्रतियों तथा राष्ट्र के कर्णधारों का योगदान रहा है। विशेष रूप से महात्मा गांधी के दृढ़ रुख से हिन्दी के प्रचार-आन्दोलन को बहुत बल मिला।

गांधी जी और हिन्दी-प्रचार की योजना

सन् १९१६ में राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ, उसमें पहली बार महात्मा गांधी सम्मिलित हुए थे। अब तक कांग्रेस-अधिवेशन की समस्त कार्रवाई और भाषण अंग्रेजी में हुआ करते थे। गांधी जी ने पत्रकारों तथा अन्य सदस्यों के बहुत विरोध करने पर भी अपना भाषण हिन्दी में किया। इसका हिन्दी-प्रचार में बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। लगभग सात वर्ष पूर्व हिन्दी-साहित्य सम्मेलन––प्रयाग की स्थापना हिन्दी के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से हो चुकी थी और सम्मेलन अपनी हिन्दी-परीक्षाओं का संचालन भी करता था। हिन्दी के प्रति गांधी जी के उक्त साहसिक कदम ने सम्मेलन के संचालकों को आकृष्ट किया। गांधी जी से प्रभावित होकर उन्होंने सन् १९१८ में इन्दौर में होने वाले सम्मेलन के अधिवेशन का सभापति महात्मा गांधी को निर्वाचित किया। इन्दौर का अधिवेशन प्रचार-कार्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। गांधी जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में दक्षिण भारत के तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ भाषी प्रदेशों में हिन्दी प्रचार की आवश्यकता बताई और उस कार्य के लिए पैसा इकट्ठा करने की अपील की। गांधी जी की माँग पर इन्दौर-नरेश महाराज यशवन्त राव होल्कर और नगर-सेठ हुकुमचन्द जी ने दस-दस हजार रुपये हिन्दी-प्रचार-कार्य की सहायता में दिये। इस धन का उपयोग दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार करने में किया गया। इस अधिवेशन में यह भी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि दक्षिण भारत के छह युवक हिन्दी सीखने के लिए प्रयाग भेजे जाएँ और उत्तर भारत के छह युवक दक्षिण की भाषाओं को सीखने तथा हिन्दी का प्रचार करने के लिए दक्षिण भारत भेजे जायें।

सन् १९१८ में मद्रास के 'भारत सेवा-संघ' (इंडियन सर्विस लीग) के हिन्दी-प्रेमी युवकों ने गांधी जी को लिखा कि हम हिन्दी सीखना चाहते हैं, हमारे लिए एक हिन्दी-प्रचारक भेजा जाए। गांधी जी ने अपने पुत्र श्री देवदास गांधी को, जो उस समय १८ वर्ष के ही थे, शीघ्र ही हिन्दी-प्रचार के लिए मद्रास भेजा। श्री देवदास गांधी ने अपने कार्य में सहयोग के लिए एक और व्यक्ति की माँग की, तब उनके सहायतार्थ सम्मेलन ने स्वामी सत्यदेव परिव्राजक को भेजा। श्री देवदास गांधी ने मद्रास में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का एक कार्यालय खोल दिया और इस प्रकार वे हिन्दी का प्रचार-कार्य करते रहे। बाद में श्री हृषीकेश शर्मा और श्री हरिहर शर्मा भी दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार-कार्य के लिए गए। श्री हृषीकेश शर्मा ने आन्ध्र प्रदेश में और श्री हरिहर शर्मा ने मद्रास में प्रचार का कार्य किया। एक वर्ष पश्चात् जब श्री देवदास गांधी

गुजरात लौटे तब मद्रास-स्थित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यालय का भार उन्होंने श्री हरिहर शर्मा को सौंप दिया।

सन् १९२७ तक मद्रास-स्थित हिन्दी साहित्य सम्मेलन-प्रचार-कार्यालय के नाम से ही हिन्दी के प्रचार-प्रसार का काम किया जाता रहा, पुनः महात्मा गांधी की सलाह से इस प्रचार-कार्यालय का नाम दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा, मद्रास कर दिया गया। अतः १९२७ से सम्मेलन का उक्त कार्यालय स्वतंत्र रूप से एक नई संस्था बन गया।

लगभग १० वर्ष के अनन्तर पुनः सम्मेलन ने मद्रास की भाँति हिन्दी-प्रचार के लिए एक दूसरा केन्द्र वर्धा में प्रवर्तित किया। सन १९३६ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का २५वाँ अधिवेशन नागपुर में देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद जी की अध्यक्षता में हुआ। उसी अधिवेशन में गांधी जी की सलाह से हिन्दी-प्रचार-समिति वर्धा का संगठन किया गया, जिसका उद्देश्य उन चार अहिन्दी भाषी प्रदेशों को छोड़कर, जिनमें हिन्दी का प्रचार दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा (मद्रास) कर रही थी, शेष अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार-प्रसार करना निश्चित हुआ। सन् १९३८ में इसका नाम राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धा कर दिया गया, उसकी शाखाएँ भारत के पूर्वी-पश्चिमी सभी अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हैं और यह संस्था अब भी हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग का अंग है। इस राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति वर्धा के साथ सहयोग करने वाली १६ ऐसी अंगभूत संस्थाएँ हैं जो प्रदेश-स्तर की राष्ट्रभाषा-प्रचार-समितियाँ हैं।

इन बड़ी संस्थाओं की प्रेरणा से समस्त दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार ने तीव्र आन्दोलन का रूप ले लिया। राष्ट्र के सभी कर्णधार जो देश की आजादी के लिए संघर्ष कर रहे थे, उनके सामने यह समस्या थी कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समूचे देश की राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय कार्य-व्यवहार की भाषा कौन होगी? इसका उत्तर था—हिन्दी। अतः हिन्दी के प्रति समूचे देश में, विशेषतः दक्षिण भारत में जो आकर्षण पैदा हुआ, वह राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत था। हिन्दी सीखना या सिखाना एक राष्ट्रीय कर्तव्य का पालन था। फलस्वरूप उक्त बड़ी संस्थाओं के कार्य-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होते रहे और हिन्दी-प्रचार को और भी सुव्यवस्थित करने के लिए प्रदेशीय स्तर पर अन्य महत्वपूर्ण संस्थाओं का भी जन्म हुआ, जिनमें मुख्य नाम ये हैं—१. हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद (स्थापना १९३५ ई०), २. मैसूर हिन्दी-प्रचार-परिषद्, बंगलौर (१९-४३), ३. महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा, पुणें (१९४५), ४. हिन्दुस्तानी-प्रचार सभा, वर्धा (१९४२), ५. केरल हिन्दी प्रचार सभा, तिरुअनंतपुरम्, ६. साहित्यानुशीलन समिति, मद्रास, ७. कर्नाटक हिन्दी-प्रचार सभा, धारवाड़।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास को अपने हिन्दी-प्रचार कार्य में राष्ट्र के प्रमुख नेताओं का सहयोग मिलता रहा है। सन् १९२६ के बाद जब उसने स्वतंत्र संस्था का रूप लिया, महात्मा गांधी जी इसके आजीवन सभापति रहे। और मद्रास के प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दू' के सम्पादक श्री ए० रंगास्वामी अय्यंगार उपसभापति। इसका प्रचार-कार्य योजनाबद्ध हुआ। दक्षिण भारत में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने का प्रथम श्रेय इस सभा को है। इसका कार्य-क्षेत्र

मद्रास, आन्ध्र, मैसूर और केरल अर्थात् तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भाषा-भाषी प्रदेश रहे हैं। आरम्भ से सन् १९३६ तक पं० हरिहर शर्मा सभा के प्रधान मंत्री रहे हैं। उसके बाद श्री मोत्तूरि सत्यनारायण ने प्रधान मन्त्री का कार्य सँभाला। सभा का कार्य विस्तृत हो जाने के कारण साहित्य, परीक्षा तथा शिक्षा विषयक तीन और मंत्रियों की नियुक्ति हुई तथा प्रधान मंत्री के सहयोग के लिए एक संयुक्त मंत्री भी रखे गए। प्रथम संयुक्त मंत्री पं० रघुवरदयाल मिश्र रहे। सन् १९६० से श्री एस० आर० शास्त्री सभा के प्रधान मन्त्री हुए। भारत सरकार ने १९६२ में सभा की महत्त्वपूर्ण हिन्दी-सेवा को देखते हुए एक विधेयक बना कर इसका नया गठन करने की योजना प्रस्तुत की और अब यह राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था घोषित हो चुकी है।

सभा की अपेक्षा राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति वर्धा का कार्य-क्षेत्र और भी विस्तृत रहा। इसके संगठन का रूप कई-एक प्रदेशों के हिन्दी-प्रेमियों का सम्पर्क स्थापित करता है। इसके प्रथम मन्त्री श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल थे। इस बीच महात्मा गाँधी के विचार राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ और हो गए, उन्होंने हिन्दी और उर्दू के मिश्रित रूप हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा कहा और इस हिन्दुस्तानी के प्रचार के उद्देश्य से २ मई १९४२ को हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा वर्धा की स्थापना की। तब श्रीमन्नारायण जी ने हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा का मंत्री-पद सँभाला। और श्री पुरुषोत्तमदास टंडन की प्रेरणा से श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति का मन्त्रित्व स्वीकार किया। सन् १९५१ तक वे इसके मन्त्री रहे। उनके बाद से गांधी जी के 'नवजीवन' के व्यवस्थापक श्री मोहनलाल भट्ट समिति के मन्त्री हैं। उन्होंने एक लम्बे अरसे से समिति के व्यापक कार्य-भार को सँभाल रखा है।

हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा ने गांधीजी की सम्मति से दो लिपियों (नागरी, फारसी) का प्रयोग अनिवार्य किया। सन् १९४५ में हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा का कार्य गुजरात विद्यापीठ को सौंप दिया गया। और जब संविधान-सभा ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा उसकी लिपि देवनागरी स्वीकार कर ली तो विद्यापीठ ने भी दो लिपियों का अपना आग्रह समाप्त कर दिया।

हिन्दी के रचनात्मक प्रचार-कार्य में मद्रास, वर्धा, महाराष्ट्र तथा केरल का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। इस प्रसंग में महाराष्ट्र के महामहोपाध्याय श्री दत्तोवामन पोतदार एवं श्री गो० प० नेने के नाम उल्लेखनीय हैं। केरल में हिन्दी के प्रति विगत दो-तीन शताब्दियों से वहाँ की जनता की अभिरुचि रही है। उनके सामने शुद्ध हिन्दी तथा अरबी-फारसी मिश्रित दक्खिनी हिन्दी—हिन्दी के दो रूपों का प्रयोग था। पहले रूप का प्रयोग यात्री संन्यासी (गुसाईं) करते थे और दूसरे का प्रयोग तुर्क कर्मचारी। केरल के लोग जो उनके सम्पर्क में आते थे पहले रूप को गोसाईं भाषा तथा दूसरे को तुलुक्क भाषा कहते थे। यह भी सुनने में आया है कि हिन्दी का एक कोश भी केरल में लगभग दो सौ वर्ष पहले तैयार हुआ था। आज भी हिन्दी के पठन-पाठन, विद्यालय-संचालन एवं लेखन के प्रति मलयालम-भाषी केरल-निवासी बहुत सजग हैं। ऐसे रचनात्मक कार्यों को प्रेरणा देनेवालों में कुछ नाम हैं—श्री के० वासुदेवन् पिल्लै, श्री देवदूत विद्यार्थी, डॉ० के० भास्करन् नायर, श्री पी० के० केशवन् नायर, श्री ए० चन्द्रहासन् के०

सरोजिनी अम्मा, श्रीमती लक्ष्मी कुट्टि अम्मा, विद्वान् के० नारायणन्, डा० विश्वनाथअय्यर आदि। डा० के० भास्करन् नायर इस समय केरल हिन्दी-प्रचार-सभा के अध्यक्ष भी हैं। स्व० श्री के० वासुदेवन् पिल्लै केरल हिन्दी-प्रचार-सभा के संस्थापक थे।

दक्षिण भारत में हिन्दी का जो प्रचार-कार्य विगत दो-तीन दशाब्दियों में हुआ और अब भी हो रहा है, उसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ ये हैं—– १. हिन्दी-प्रचारकों का संगठन, २. हिन्दी-शिक्षण विद्यालयों की स्थापना, ३. परीक्षाओंका संचालन, ४. हिन्दी के प्रकाशन-कार्य, पत्रिकाएँ तथा पुस्तकें, ५. हिन्दी-प्रशिक्षण के सत्र, ६. वाक्-स्पर्धा, लेखन-स्पर्धा, ७. नाटक-अभिनय, ८. पुरस्कार का आयोजन, ९. पदवीदान समारोह।

प्रचारकों का बहुत बड़ा संगठन दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा मद्रास तथा राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति वर्धा का है। उनके अनुरूप ही इनकी परीक्षाओं में सम्मिलित परीक्षार्थियों की संख्या भी अत्यधिक है। इन संस्थाओं ने हिन्दी की प्रारम्भिक परीक्षा से ले कर उच्च, उच्चतम परीक्षाओं का आयोजन किया है। मद्रास की दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा ७ परीक्षाएँ और वर्धा की समिति १३ प्रकार की परीक्षाएँ संचालित करती है। इन परीक्षाओं को प्रदेशीय सरकार एवं भारत सरकार से मान्यताएँ प्राप्त हैं। सभा की परीक्षाओं में सवा लाख से अधिक तथा समिति की परीक्षाओं में सवा दो लाख से अधिक परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं। इन परीक्षार्थियों की संख्या से दक्षिण भारतवासियों में हिन्दी के प्रति प्रेम का पता चलता है। समिति के प्रचारकों की संख्या लगभग सात हजार है। हिन्दी-प्रचार-सभा हैदराबाद की परीक्षाओं में भी चालीस हजार के लगभग परीक्षार्थी सम्मिलित होते हैं। प्रायः प्रत्येक संस्था की हिन्दी-परीक्षाओं में सम्मिलित होनेवालों की संख्या उत्साह-वर्धक है।

संस्थाओं के अपने हिन्दी-विद्यालय भी हैं, जिनके द्वारा वे हिन्दी-शिक्षण-कार्य को गति देते हैं। वर्धा की समिति के सहयोग से उसकी अंगभूत प्रादेशिक समितियाँ भी विद्यालयों का संचालन करती हैं। सन् १९६२ के आँकड़ों के अनुसार समिति के तत्त्वावधानमें ५३४ राष्ट्रभाषा विद्यालय और ३६ महाविद्यालय संचालित होते रहे हैं। पाठ्यक्रम की दृष्टि से पुस्तकों का प्रकाशन भी सस्थाओं ने किया। उनकी मासिक पत्रिकाएँ भी निकलती हैं जिनमें आज भी प्रकाशित होनेवाली पत्रिकाओं में ये मुख्य नाम हैं—राष्ट्रभारती (वर्धा), हिन्दी-प्रचार-समाचार (मद्रास), राष्ट्रवाणी (पूना), राष्ट्र-वीणा (गुजरात), केरल-ज्योति (तिरुअनन्तपुरम्)। हिन्दी प्रचार-सभा हैदराबाद के 'अजन्ता' मासिक का प्रकाशन अब बन्द हो चुका है।

राष्ट्रभाषा प्रचार-समिति वर्धा ने प्रादेशिक भाषाओं के कुछ चुने हुए साहित्य को मूल और हिन्दी भाषान्तर के साथ नागरी लिपि में प्रकाशित कर पारस्परिक आदान-प्रदान का सराहनीय कार्य किया है। इनके अतिरिक्त हिन्दी-प्रचार को गति देने के लिए समय-समय पर प्रचारक-सम्मेलन, वाक् स्पर्धा, लेखन-स्पर्धा, अभिनय, प्रशिक्षण-सत्रों के भी आयोजन होते हैं। वर्धा की समिति ने १५०० रु० का महात्मा गांधी पुरस्कार प्रति वर्ष अहिन्दी-भाषी हिन्दी लेखक को देने का आयोजन कर रखा है, जिन लेखकों को यह

पुरस्कार मिल चुका है, उनके नाम हैं—१. आचार्य क्षितिमोहन सेन, २. महर्षि श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, ३. स्व० बाबूराव विष्णु पराड़कर, ४. आचार्य विनोबा भावे, ५. प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल संघवी, ६. पं० सन्तराम बी० ए०, ७. श्री काका साहब कालेलकर, ८. श्री अनन्तगोपाल शेवड़े, ९. स्व० डा० रांगेय राघव।

इस प्रकार सन् १९१८ में महात्मा गाँधी की प्रेरणा से मद्रास को केन्द्र बना कर हिन्दी-प्रचार का जो आन्दोलन आरम्भ हुआ, उसने अब दक्षिण भारत में हिन्दी के निर्माण का रूप ले लिया है। दक्षिण भारत के अनेक विद्वान् हिन्दी की सेवा में तल्लीन हैं, उनमें उत्कट जिज्ञासा हिन्दी को समृद्ध करने की है। हिन्दी में उच्चस्तर का शोध-कार्य दक्षिण के कई पी-एच० डी० के स्नातकों ने किया है। वे हिन्दी-माध्यम से दक्षिण की भाषाओं का कोश भी तैयार कर रहे हैं। हम समझते हैं कि हिन्दी के व्यापक प्रसार के ये शुभ लक्षण हैं, जो हिन्दी-विरोधी-वर्ग की तमाम कूटनीतियों के विपरीत भी राष्ट्र तथा राष्ट्रभाषा का उज्ज्वल भविष्य सँजोये हैं। दक्षिण भारत में अब हिन्दी-प्रचार का लक्ष्य हिन्दी के निर्माण-कार्य तथा प्रादेशिक भाषाओं से उसके परस्पर के आदान-प्रदान में ही संजीवनी पाएगा।

डाक्टर सत्यप्रकाश (डरबन)

महात्मा गांधी और दक्षिण अफ्रीका में हिन्दी

महात्मा गांधी की शती-समारोह के अवसर पर मुझे दक्षिण-अफ्रीका आने का अवसर मिला, इसे मैं अभूतपूर्व संयोग मानता हूँ, दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों की इस प्रदेश में अनेक संस्थायें हैं, जिन्होंने हिन्दी के कार्य में अच्छा हाथ बँटाया है। इनमें से एक संस्था दक्षिण अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा है, और दूसरी पीटर मेरिट्ज़ बर्ग की वेदधर्म सभा। इन दोनों संस्थाओं ने मुझे इस देश में आने का निमंत्रण दिया। ५ अगस्त १९६९ को दिल्ली से वायुयान द्वारा उड़ कर बम्बई आया और फिर उसी दिन संध्या समय सूर्यास्त से पूर्व मैं मॉरिशस पहुँच गया। मॉरिशस में मुझे तीन दिन रुकने का अवसर मिला। यह छोटा सा द्वीप है, ३५ मील लम्बा और २० मील चौड़ा। इसकी जनसंख्या ८ लाख है, जिसमें ४ लाख भारतीय हैं। इन ४ लाख भारतीयों में १ लाख आर्य-परिवार के हैं। इस छोटे से टापू की आर्थिक स्थिति का अनुमान इसी बात से लग जायगा कि इस टापू में लोगों के पास ३० हज़ार टेलीविजन के सेट हैं, अर्थात् लगभग घर घर में टेलीविज़न है। जब लोगों को मेरे मॉरिशस आने का पता लगा, तो मेरी वार्ता का एक प्रोग्राम टेलीविज़न पर रक्खा गया। इस द्वीप में गन्ने और चाय की खेती होती है। मैं श्री मोहनलाल मोहित जी के घर पर ठहरा हुआ था। मॉरिशस और दक्षिण अफ्रीका में पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के लोगों की विशेष आबादी है। ये सब चार-पाँच भाषायें बोल लेते हैं—हिन्दी, भोजपुरी, अंग्रेज़ी, फ्रेंच या क्रिओल और ज़ूलू भाषा। मोहित जी के परिवार को वहाँ रहते हुए कई पीढ़ियाँ हो गयी हैं, फिर भी घर में भोजपुरी बोली जाती है। अधिकतर लोगों की मातृभाषा इस द्वीप में क्रिओल है, जो फ्रेंच भाषा का एक रूपान्तर है जिसका विकास मॉरिशस में ही हुआ है। मॉरिशस भारत के समान ही कॉमन-वेल्थ में एक स्वतंत्र राष्ट्र है। यहाँ इस समय श्री वीरेन्द्र पाल शर्मा भारतीय हाई कमिश्नर हैं। यहाँ प्रयत्न किया जा रहा है कि क्रिओल और अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिन्दी भाषा को भी राष्ट्रीय भाषा की मान्यता दी जाय। यहाँ के प्रधान मंत्री सर रामगुलाम जी से तो मेरी भेंट नहीं हो पायी, क्योंकि वे उन दिनों विदेश गए हुए थे और उनके स्थान पर अर्थ मंत्री श्री रामस्वामी कार्यवाहक प्रधान मंत्री थे। उनसे मिल कर मुझे प्रसन्नता हुई और उन्होंने आर्यसमाज और अन्य भारतीय संस्थाओं के कार्य की सराहना की, विशेषतया शिक्षा और सामाजिक सेवा के क्षेत्र में। इस छोटे से द्वीप में १०० के लगभग आर्यसमाज हैं, और प्रत्येक बड़े आर्यसमाज के भवन में शिक्षा-संस्था भी है, जिसमें हिन्दी सिखाने का प्रयत्न है। मुझे बम्बई से मॉरिशस जाते समय नव भारत टाइम्स के उत्साही युवक श्री जितेन्द्र कुमार मित्तल से परिचय

हो गया था। उन्होंने "भारत-मॉरिशस मैत्री संघ" की स्वामी कृष्णानन्द जी की प्रेरणा से स्थापना की है। स्वामीजी और अनेक बन्धु मित्तल जी का स्वागत करने हवाई अड्डे पर आये हुए थे, और मुझे भी सब का स्नेह मिला। इस संघ के प्रयत्न से मॉरिशस में भारतीयता और हिन्दी-प्रेम को बड़ा प्रोत्साहन मिलेगा, ऐसी आशा है। मुझे लगा कि मॉरिशस हिन्दी वालों का सब से उत्तम उपनिवेश है। मोहितजी के परिवार का संबंध एक सिनेमा घर से भी है। सिनेमा और रेडियो एवं टेलिविज़न द्वारा हिन्दी का अच्छा प्रचार इस देश में है।

८ अगस्त को मॉरिशस से चल कर उसी दिन सूर्यास्त से कुछ बाद मैं जोहेन्सबर्ग में पहुँच गया जो रिपब्लिक आव् साउथ अफ्रीका का प्रमुख अन्तर्देशीय हवाई अड्डा है, और संभवतः इस देश का सब से बड़ा नगर। अनेक गुजराती और हिन्दी भाषी भाई मेरे आतिथ्य के लिए इस हवाई अड्डे पर उपस्थित थे। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के तीन विशेषवर्ग हैं--हिन्दी भाषी प्रदेश के (पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के), गुजराती भाषी प्रदेश के और दक्षिण-भारत के। इन वर्गों में से तामिल, तेलुगू, हिन्दी और गुजराती चार वर्गों के लोगों ने अपनी भाषाओं को यहाँ जीवित रक्खा है। व्यावहारिक कार्यों में तो लोगों की मातृभाषा अंग्रेज़ी हो गयी है, पर अंग्रेज़ी के अतिरिक्त दो विदेशी भाषायें सभी समझते और बोलते हैं---एक है, जिसका नाम है "अफ्रीकान" भाषा। यह डच भाषा के समीप की भाषा है, और जिसे यूरोप से आये हुए सभी देशों के लोगों ने यहाँ अपनी भाषा मान लिया है। स्कूल के बच्चों को भी यह भाषा अंग्रेज़ी के साथ-साथ पढ़ाई जाती है। विदेशी लोगों के अभिमान की यह भाषा है। प्रत्येक स्थान पर अंग्रेज़ी के साथ इसे लिखा हुआ आप पावेंगे। अफ्रीकान-भाषा में साहित्य भी उत्पन्न हो रहा है। जर्मन भाषा से परिचित भारतीयों को यह भाषा जर्मन से बहुत भिन्न नहीं प्रतीत होगी।[1] गुजराती भाइयों के एक सांस्कृतिक समारोह में डरबन में सम्मिलित होने और दो-शब्द बोलने का अवसर मुझे ९ अगस्त को मिला था। दर्शकों की भीड़ से विशाल हाल भरा हुआ था, और गुजराती संगीत, गुजराती नृत्य, गुजराती संवाद, गल्प, नाटिकायें, सबका इसमें प्रदर्शन था। इस समारोह में महात्मा गांधी की पुत्रवधू श्रीमती सुशीलाजी (श्री मणिलाल गांधी की पत्नी) से मेरा परिचय हुआ। उन्होंने मार्मिक शब्दों में मुझसे कहा---"मैं खादी पहनती हूँ, पर खादी पहननेवाली मैं अकेली इस देश में रह गयी हूँ।" इस समुदाय में दूसरा खादीवाला मैं था। गांधी शती समारोह का कार्य यहाँ जोर से चल रहा

---

१. अफ्रीकान भाषा का कुछ नमूना हवाई-पत्रों पर अंकित इन शब्दों से मिल सकता है--- (अंग्रेज़ी) Sender's name and address; (अफ्रीकान) Naam en Adres van Afsender; (अंग्रेज़ी) Republic of South Africa; (अफ्रीकान) Republiek van Suid-Afrika; (अंग्रेज़ी) Air Letter; (अफ्रीकान) Lugbrief; (अंग्रेज़ी) By Air mail; (अफ्रीकान) Per Lugpos.

है। मैं किसी दिन फिनिक्स (Focnix) भी जाऊँगा, जो गांधीजी के जीवन के साथ अमर-स्थान वन गया है।

मैं १० अगस्त से २४ अगस्त तक पीटरमेरिट्ज़वर्ग रहा जो नैटाल की राजधानी है, पहाड़ियों के चढ़ाव-उतार पर बसा हुआ बंगलोर के समान सुन्दर-सा नगर। दक्षिण अफ्रीका का यह गण-राष्ट्र स्वतंत्र देश है, जो ब्रिटिश कामनवेल्थ के बाहर है। इस राष्ट्र में चार सूबे हैं—ट्रान्सवाल, नैटाल, ऑरेंज्ज फ्री स्टेट और केप-प्रॉविन्स। प्रीटोरिआ समस्त राष्ट्र की राजधानी है, जैसे हमारे देश की नई दिल्ली। इस देश में सभी जगह अलग-अलग चार बस्तियाँ हैं—(१) गोरे लोगों की (Blanke), जिसमें यूरोप के सभी लोग सम्मिलित हैं, (२) रंगदार लोगों की (कलर्ड-पीप्ल), जिसमें वे लोग सम्मिलित हैं जो यूरोपीय और अपने से इतर वर्ण वालों की संकर सन्तान हैं (जैसे हमारे देश में एंग्लोइण्डियन), (३) इण्डियन, जिन्हें कभी-कभी एशियाटिक भी नाम दिया जाता है, (४) दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासी जिन्हें बाण्टू कहा जाता है। मैं परिचय के लिए नैटाल का उदाहरण दूंगा। इस सूबे या प्रदेश की पूरी आवादी ३,४०८,३०० है, जिसमें श्वेत लोगों की संख्या ३९७,०००; भारतीयों की ४६८,०००; वर्णसंकरों (रंगीन या कलर्ड) की ५३,००० और बाण्टुओं की २,४९०,००० है। श्वेत लोग नगरों के आसपास अलग बस्ती में रहते हैं, वहाँ और कोई नहीं रह सकता। बाण्टू लोग गांवों में सर्वत्र ही हैं, और नगर के पास उनकी अलग बस्ती १२,००० वर्गमील की भी है। दक्षिण अफ्रीका में अधिकांश प्रवासी भारतीय नैटाल में ही रहते हैं, और बहुधा समुद्री तट के निकट। वर्णसंकरों की अधिकांश जनता डरबन और पीटरमेरिट्ज़वर्ग में है।

मैं लगभग दो सप्ताह पीटरमेरिट्ज़बर्ग में रहा, और दो दर्जन से ऊपर मैंने वहाँ व्याख्यान और वार्तायें विभिन्न संस्थाओं के तत्त्वावधान में दीं। प्रत्येक व्याख्यान अधिकतर अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में देने पड़ते थे। यहाँ का बच्चा-बच्चा अच्छी अंग्रेज़ी बोलता और समझता है, और घरों में या पाठशालाओं में थोड़ा-बहुत हिन्दी का अभ्यास करता है। इस काम के लिए उनकी अपनी अलग पुस्तकें हैं। प्रवासी भारतीयों में गायत्री मंत्र का विशेष प्रचार है। सभी समारोह का आरंभ इस मंत्र के पाठ से आरम्भ किया जाता है। भारतीय भजन और कीर्तनों में भी इनका अनुराग है, और मीठे संयत स्वर से सब भारतीय इनमें भाग लेते हैं।

पीटरमेरिट्ज़बर्ग के लोटस-हॉल में २१ अगस्त को "महात्मा गांधी" पर मेरा एक व्याख्यान हुआ। यह व्याख्यान इस नगर की गांधी-शती समारोह का पहला व्याख्यान था। दर्शकों और श्रोताओं में उत्साह था। पीटरमेरिट्ज़बर्ग महात्मा गांधी के जीवन की एक ऐसी घटना से संबंध रखता है, जिसने उन्हें एक नया मोड़ दिया। मैं पीटरमेरिट्ज़बर्ग स्टेशन देखने गया जहाँ गांधीजी को रेल के एक डिब्बे से नीचे फेंक दिया गया था। यह घटना १८९३ ई० की है। वे भूल से उस डिब्बे में बैठ गए थे, जो गोरे लोगों के लिए आरक्षित था। गांधीजी के ये शब्द हैं—"जाड़े का मौसम था। दक्षिण अफ्रीका में ऊँची जगहों पर बड़े ज़ोर का जाड़ा पड़ता है। मेरिट्ज़बर्ग ऊँचाई पर था—इसमें खूब जाड़ा लगा। मेरा ओवरकोट सामान में रह

गया था। सामान माँगने की हिम्मत न पड़ी। कहीं फिर बेइज्जती न हो। जाड़े में सिकुड़ता और ठिठुरता रहा।" दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी के जीवन की यह पहली घटना थी, जिसने आगे चल कर, गांधीजी को संसार का एक महापुरुष बना दिया। आज भी पीटरमेरिट्ज़बर्ग का स्टेशन १८९३ ई० से कुछ भिन्न नहीं है। स्टेशन पर भीतर घुसने के दो मार्ग हैं--एक श्वेतों का, एक श्वेतेतरों का। रेल के डिब्बे भी श्वेतों के अलग और श्वेतेतरों के अलग। पोस्ट आफिस में भी दो कक्ष हैं, श्वेतों का अलग, श्वेतेतरों का अलग। होटल भी श्वेतों के अलग, टैक्सी भी अलग और इनकी बस्ती भी अलग। पीटरमेरिट्ज़बर्ग में एक विश्वविद्यालय है--यूनिवर्सिटी आव् नैटाल। उसमें केवल श्वेत ही पढ़ सकते हैं, अर्थात् केवल विशुद्ध यूरोपीय ही, वर्गसंकर श्वेत भी नहीं। व्यक्तिगत रूप से लोगों का व्यवहार अच्छा है। श्वेतों के इस विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के अध्यापकों ने मुझे स्नेह से अपनाया, और वहाँ मैंने दो व्याख्यान भी दिए। एक व्याख्यान वहाँ के विद्यार्थियों की यूनियन में था। वहाँ के दो गोरे रसायन के प्राध्यापक मेरे निवासस्थान पर भी आए। पर फिर भी गोरों की बस्ती यहाँ अलग है। डरबन में एक विश्वविद्यालय भारतीयों के लिए है। पीटरमेरिट्ज़बर्ग के स्टेशन के प्लैटफार्म पर जब गया, तो ऐसा लगा, कि मैं एक ऐसे तीर्थ में आ गया हूँ, जहाँ की एक छोटी सी घटनाने गांधीजी को नयी प्रेरणा दी। पीटरमेरिट्ज़बर्ग ने ही गांधीजी के हृदय में उन अहिंसात्मक प्रयोगों की भावनाओं को जन्म दिया, जिनसे सम्पन्न हो कर उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन का नेतृत्व किया, और भारत के वे राष्ट्रपिता बने। 'नैटाल मर्करी' नैटाल का सब से पुराना समाचार पत्र है, जो गांधीजी के समय से ले कर अब तक पुरानी परम्पराओं को जीवित रक्खे हुए हैं, दादा अब्दुल्ला के परिवार के कुछ लोग अब भी यहाँ हैं।

सन् १९०५ में भाई परमानन्द जी दक्षिण अफ्रीका आये थे। १९०९ में पीटरमेरिट्ज़ बर्ग की वेदधर्म-सभा की संस्थापना स्वामी शंकरानन्द जी ने की। श्री भवानीदयाल संयासी जी की हिन्दी और आर्यसमाज की सेवायें सब को अवगत हैं; उनके परिवार के लोगों से भी मेरी भेंट हुई। पंडित ऋषिराज जी तीन बार यहाँ आ चुके हैं। मेरे पिता जी १९५० ई० में यहाँ आये थे और मुझे भी यहाँ अब आने का संयोग प्राप्त हुआ।

पीटरमेरिट्ज़बर्ग में हिन्दी शिक्षा की प्रमुख पाठशालायें इस समय ये हैं--वेदधर्म सभा हिन्दी पाठशाला, जिसमें २०० विद्यार्थी बाल वर्ग से छंठी कक्षा तक का पाठ्य-क्र पढ़ते हैं। छह अध्यापक हैं। वर्धा की परीक्षाएँ भी बालक देते हैं। (२) रायसथोर्प आर्य-समाज हिन्दी पाठशाला, जिसमें १०० विद्यार्थी हिन्दी पढ़ते हैं। (३) माउण्ट पार्टरिज आर्यसमाज हिन्दी-पाठशाला, जिसमें १ अध्यापक और ५० विद्यार्थी हैं। (४) नार्थडेल सनातन वेद धर्म सभा हिन्दी पाठशाला जिसमें १२० विद्यार्थी और २ अध्यापिकाएँ हैं। (५) नार्थडेल डिवाइन लाइफ सोसायटी हिन्दी पाठशाला जिसमें एक अध्यापिका है।

बुधवार, १६ नवम्बर, सन् १८६० ई० में ३४१ प्रवासी भारतीय एस० एस० ट्रूरो जहाज़ से पहली बार दक्षिण अफ्रीका आये। इस घटना का एक शती-समारोह १६ नवम्बर,

१९६० ई० में मनाया गया था। उस समय एक भव्य स्मृति-ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ। भारतीय प्रवासियों में निम्न अनुपात था—३६% तामिल, ३२% हिन्दी, १६% तैलगू, ७% गुजराती और ६% उर्दू-भाषी। १९५९ में अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने वाले ३३० विद्यालय इस देश में थे। १८९९ ई० में साथिया ज्ञानम् संगम नामक संस्था ने डरबन में तामिल भाषा सिखाने की पहली पाठशाला खोली। एक दूसरा विद्यालय तामिल-अगम १९०५ ई० में सी० बी० पिल्ले द्वारा खोला गया। १९०७ में यंगमेन्स ऐसोसियेशन ने पीटरमेरिट्ज़बर्ग में एक तामिल स्कूल खोला। इसी प्रकार लेडीस्मिथ, न्यूकासेल, डण्डी आदि नगरों में भी छोटे-बड़े स्कूल खुले। १९०८ में तैलगू बैप्टिस्ट ऐसोसियेशन ने तैलगू स्कूल खोला, किएरस्नी नगर में।

स्वामी भवानीदयाल जी ने १९१४ ई० में दक्षिण अफ्रीका में हिंदी प्रचारिणी सभा की संस्थापना जर्मिस्टन में की और बाद में ऐसी ही सभायें नैटाल के अन्य स्थानों पर, जैसे न्यू-कासल, डैन हाउसर, हैटिंगस्प्रूट, लैंको, बर्नसाइड, लेडी स्मिथ, वीनन, जेकाब्स और स्प्रिंगफील्ड में खुलीं।[1] आज डरबन में अनेक संस्थायें हिन्दी शिक्षण का कार्य कर रही हैं—युवक आर्यसमाज, क्लेअर वुड, आर्य युवक सभा, डरबन; नागरी प्रचारिणी सभा, स्प्रिंगफील्ड; मीअरबैंक सनातन धर्म उन्नति सभा, नार्थ नैटाल हिन्दी युवक सभा, लेडी स्मिथ और हिन्दी शिक्षा सभा, स्वामी भवानीदयाल जी ने दक्षिणी अफ्रीका में दो पत्रिकायें भी हिन्दी में प्रकाशित की थीं, एक का नाम था "हिन्दी" और दूसरी का "धर्मवीर", पर दोनों पत्रिकायें एक-दो वर्ष से अधिक नहीं निकल पायीं। तब से कोई और पत्रिका इस देश में हिन्दी में नहीं निकली।

दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों के मध्य में गत २० वर्ष से पं० नरदेव जी वेदालंकार अच्छा कार्य कर रहे हैं। २५ अप्रैल १९४८ को इस देश में उन्होंने एक केन्द्रीय संस्था को जन्म दिया जिसका नाम हिन्दी-शिक्षा संघ है। इस संघ ने राष्ट्र की हिन्दी पाठशालाओं को एक सूत्र में पिरोया। संघ ने तीन कार्य किए—(१) सब पाठशालाओं के लिए एक पाठ्यक्रम तैयार किया (इससे पूर्व पाठ्यक्रम केवल शिक्षक की इच्छा पर निर्भर था)। (२) विद्यार्थियों के लिए उनके परीक्षा-क्रम की व्यवस्था की। प्रारम्भ में विद्यार्थी हिन्दी-प्रथमा की परीक्षा उत्तीर्ण करता है, और फिर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा की प्रवेश, परिचय और कोविद परीक्षायें देता है। आज तक ५०-६० परीक्षार्थी कोविद हो चुके हैं, बालक भी और बालिकायें भी। एक विद्यार्थी श्री बाल गणेश जी (जो शिक्षा संघ के मंत्री हैं), वर्धा की राष्ट्रभाषारत्न की उपाधि भी ले चुके हैं। (३) पाठशालाओं को संघ से सम्बद्ध करना, यह संघ का संगठनात्मक कार्य है। लगभग ४० पाठशालायें संघ से सम्बद्ध हैं। मुख्यतः पाठशालायें (लगभग ३५) नैटाल प्रदेश की हैं। डरबन और पीटरमेरिट्ज़बर्ग की पाठशालाओं का मैं उल्लेख कर चुका हूँ। शेष प्रदेशों में ४-५ पाठशालायें ही हैं, जैसे ट्रान्सवाल में जॉहेनेसबर्ग में, हिन्दी विद्या मन्दिर और स्प्रिंग्स में नेहरू

१. New castle, Dannhauser, Hattings pruit, Gleneve, Burnside, Ladysmith, Weenen, Jacobs, Springfield, Dundee.

विद्यामन्दिर, विनोनी में हिन्दी पाठशाला, लेनेशियन में भारतीय संस्कृति केन्द्र। केप प्रॉविन्स के केप-टाउन में एक गुजराती-हिन्दी स्कूल है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि इन पाठशालाओं द्वारा ३०,००० व्यक्तियों में से केवल ३००० व्यक्तियों को ही हिन्दी पढ़ायी जा रही है (लगभग १० प्रतिशत)। प्रशिक्षित अध्यापकों की कमी के कारण साहित्य के अध्ययन का प्रयत्न नहीं हो पाया है। अब तक ६० कोविद हैं, जिनमें १०-१२ ही अध्यापक का काम कर रहे हैं। नैटाल की इण्डियन यूनिवर्सिटी में डिग्री (बी० ए०) पाठ्यक्रम के लिए हिन्दी को मान्यता दी गयी है, और पं० वरदाचार्यलू इसमें अध्यापक हैं, पर बिरले छात्र ही हिन्दी के अध्ययन के लिए तैयार होते हैं। श्री नरदेव जी वेदालंकार एम० एल० सुलतान टेक्नीकल कालेज में हिन्दी विषय के "पार्ट-टाइम" अध्यापक हैं। हिन्दी-शिक्षण के लिए सरकार से कहीं भी कोई आर्थिक सहायता नहीं मिलती है, जो कुछ भी प्राप्ति है, वह जनता के चन्दे और प्रोत्साहन से है। फिर भी हिन्दी के प्रति लगन और स्फूर्ति यहाँ बहुत है। आबाल-वृद्ध २० वर्ष से एक प्रकार के "हिन्दी मेले" में रुचि लेते आये हैं। वर्ष में एक बार यह मेला धूमधाम से लगता है। हिन्दी के गीत और भजन (जिन्हें ये धुन कहते हैं) इन्हें याद हैं। हिन्दी शिक्षा-संघ की ओर से स्वामी भवानीदयाल की पुण्यस्मृति में प्रौढ़ों के लिए एक वाद-प्रतिवाद प्रतियोगिता का भी प्रवन्ध है।

मैंने दक्षिणी अफ्रीका और मॉरिशस में जो कुछ देखा, उससे लगा कि हिन्दी तो अन्तर-राष्ट्रीय जगत् में भारतीय संस्कृति के प्रसार की एक भाषा हो सकती थी। हिन्दी का उज्ज्वल भविष्य है, और न जाने क्यों, भारत में रहनेवाले भारतीय ही इसकी ओर से इतनी उपेक्षा दिखाते हैं। भाषा प्रत्येक देश के लिए अभिमान और गौरव की वस्तु है। दक्षिणी अफ्रीका में गोरों में उन लोगों की अपनी भाषा अफ्रीकान का प्रचार बढ़ रहा है, और संभवतः अंग्रेजी बहिष्कृत हो जायगी। भारत में अंग्रेजी की व्यापकता के प्रति हमारा मोह है।

दक्षिण अफ्रीका की इस यात्रा में न केवल मुझे अपने प्रवासी भारतीयों से मिल कर प्रसन्नता हुई, मैंने इस भूमि को पुण्यतीर्थ समझा जिसने महात्मा गांधी ऐसे युगपुरुष का सृजन किया।

श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन और गांधी जी

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दो बार सभापति चुने गये थे। ये दोनों वार्षिक अधिवेशन इन्दौर नगर में ही सम्पन्न हुए थे। पहला अधिवेशन, जो सम्मेलन का आठवां अधिवेशन था, संवत् १९७४ अर्थात् सन् १९१८ ई० में तथा दूसरा अधिवेशन, जो सम्मेलन का २४वां अधिवेशन था, संवत् १९९२ अर्थात् सन् १९३५ ई० में सम्पन्न हुआ था।

प्रथम अधिवेशन के समय अर्थात् सन् १९१८ में सम्मेलन का कार्य यद्यपि अखिल भारतीय स्तर पर आरम्भ कर दिया गया था, किन्तु उसकी स्थिति अति सामान्य थी। प्रयाग के एक किराये के भवन में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन ही प्रधानमंत्री के रूप में सम्मेलन का सारा कार्य चलाते थे और उन्हीं की सहायता के लिए कुछ अन्य मंत्रिगण भी थे। न केवल वित्तीय स्थिति अपितु उसकी अन्यान्य प्रवृत्तियों का विकास भी तबतक नहीं हुआ था। जिस वर्ष गांधी जी सभापति बने थे उस वर्ष सम्मेलन का आय-व्ययक ८७३५ रुपये का था। इस धनराशि में सर्वाधिक ३००० रु० की धनराशि पैसा फण्ड में एकत्र किये जाने को थी तथा २१०० रु० परीक्षाओं के शुल्क से अनुमानित किया गया था।

भारतीय राजनीति के क्षितिज पर गांधीजी का उदय ग्रीष्म के बालसूर्य की भाँति बड़ी प्रखर किरणों के साथ हुआ था और समूचे देश में यह आशा हो गयी थी कि इस महान पुरुष के द्वारा परतंत्रता की बेड़ियां अवश्य कटेंगी और देश के सांस्कृतिक जीवन में क्रान्ति होगी।

सम्मेलन की परम्परा के अनुसार सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में सभापति पद के लिए गांधीजी के साथ महामना मालवीयजी, लाला हंसराज, रीवा नरेश सर वेंकटरमण सिंहजी तथा महामहोपाध्याय डा० पं० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा के भी नाम प्रस्तावित किए गए थे जिनमें से मतदाताओं ने गांधीजी को ही प्राथमिकता प्रदान कर अध्यक्ष पद पर अवस्थित करने का निर्णय किया।

सम्मेलन द्वारा जब गांधीजी को यह सूचना दी गयी कि सम्मेलन ने उन्हें अपने वार्षिक अधिवेशन का सभापति मनोनीत किया है तो उन्होंने इसे सहर्ष स्वीकार किया और हिन्दी के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता बताते हुए देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचारार्थ अखिल भारतीय स्तर पर एक उप-समिति बनाने का सुझाव दिया और यह भी सुझाव दिया कि इस उप-समिति का सदस्य उन्हीं सज्जनों को बनाना चाहिए जो इस समिति में काम करने को

स्वेच्छया तैयार हों। दूसरा सुझाव गांधीजी ने यह भी दिया था कि यदि अधिवेशन ईस्टर की छुट्टियों में हो तो उन्हें सुविधा रहेगी।

इन्दौर का यह प्रथम अधिवेशन पहले नवम्बर मास में होने वाला था, किन्तु अधिवेशन की तिथियों के पूर्व ही इन्दौर में भयंकर प्लेग फैल गया जिसके कारण अधिवेशन की तिथियाँ मार्च तक के लिए स्थगित कर दी गयीं थीं और यह अधिवेशन २९, ३० और ३१ मार्च सन् १९१८ के होलिकोत्सव के दूसरे दिन से आरम्भ हुआ था।

इस अधिवेशन का मैं प्रत्यक्षदर्शी तो नहीं था क्योंकि मेरा जन्म ही सन् १९१९ में हुआ है, किन्तु इस अधिवेशन का जो विवरण और अन्य सामग्रियाँ हमारे कार्यालय में विद्यमान हैं, उनसे ज्ञात होता है कि अबतक के अधिवेशनों में सर्वाधिक भीड़ इस अधिवेशन में ही हुई थी और अधिवेशन के लिए तैयार किया गया विशाल पाण्डाल जिसमें दस हजार लोगों के बैठने का स्थान था, उसमें पन्द्रह-बीस हजार तक की भीड़ हो गयी और बड़ी कठिनाई हुई, लोगों को निराश हो कर लौटना भी पड़ा।

गांधीजी ने इस अधिवेशन में सपत्नीक भाग लिया था। श्रीमती कस्तूरबा गांधी अधिवेशन के एक दिन पूर्व २८ मार्च को दिन में दस बजे की गाड़ी से बिहार के मोतिहारी स्थान से तथा महात्मा गांधीजी ११॥ बजे दिन मे दिल्ली से आने वाले थे। स्टेशन पर भी अपार भीड़ थी। स्वागतकारिणी समिति की यह इच्छा थी कि गांधीजी की गाड़ी इन्दौर स्टेशन पर विश्राम-गृह के ठीक सामने लगे, किन्तु संयोगात वैसा नहीं हो सका और विश्रामगृह से कुछ दूर पर जा कर लगी। भीड़ इतनी अधिक हो गयी थी कि डिब्बे से विश्राम-गृह तक जाने में स्वागत समिति को तथा प्रबन्धकारी पुलिस-दल को भयंकर कष्ट उठाना पडा। बड़ी कठिनाइयों के बाद वह विश्राम-गृह में लाये जा सके जहां कुछ देर तक विश्राम किया। स्टेशन से बाहर जुलूस का सारा प्रबन्ध था। जिस गाड़ी में गांधीजी को बैठा कर जुलूस निकाला जानेवाला था उसके घोड़ों को स्कूल और कालेजों के विद्यार्थियों ने खोल लिया और यह हार्दिक इच्छा व्यक्त की कि वे गांधीजी की गाड़ी स्वयं खींच कर ले जायेंगे। गांधीजी को जब यह बात बतायी गयी तो वे इस पर सहमत नहीं हुए और उधर विद्यार्थी भी अपनी दृढ़ प्रतिज्ञा पर अडिग रहे। स्वागत-समिति बड़ी कठिनाई में फँस गयी। सत्याग्रह मंत्र के आविष्कर्ता को विद्यार्थियों के सत्याग्रह के सामने हार खानी पड़ी और अन्त में यह निश्चय करना पड़ा कि सौ कदम तक लड़के गाड़ी खींचेंगे और उसके बाद घोड़े गाड़ी में जोत दिये जायंगे। ऐसा ही किया गया और अपार भीड़ के साथ इन्दौर नगर के प्रधान बाजारों से हो कर जुलस निकाला गया। गाड़ी में एक साधारण सा खद्दर का कुर्ता और घुटनों तक की धोती पहने दोनों हाथ जोड़े गांधीजी पगड़ी बांधे हुए सपत्नीक बैठ हुए थे। गाड़ी खुली हुई थी। एक व्यक्ति ने छतरी लगानी चाही किन्तु गांधीजी ने उसे उतार दी। जुलूस के आगे एक सुसज्जित हाथी था और पीछे बैण्ड दल और स्वयंसेवकों की सेना। स्थान-स्थान पर पुष्प-माला, आरती, पान-सुपारी आदि से गांधीजी की अर्चना की गयी और खजूरी बाजार में आर्य-महिला विद्यालय के द्वार पर विद्यालय की कन्याओं ने बड़े ही मधुर स्वर में गीत गा कर गांधीजी

का स्वागत किया। इस संदर्भ में निम्नलिखित वाक्य उद्धरणीय है जिसे स्वागत-समिति के मंत्री ने वार्षिक विवरण में लिखा है—

"यह कहना अक्षरशः सत्य होगा कि इन्दौर की प्रजा ने इससे दिव्य और रोमहर्षक दृश्य पहले कभी नहीं देखा था और न शायद भविष्य में कभी देख सकेगी।"

अधिवेशन के अवसर पर हिन्दी साहित्य की प्रदर्शनी का भी कार्यक्रम रखा गया था जिसके संयोजक साहित्य विभाग के उपसभापति बाबू सम्पूर्णानन्दजी थे। साहित्य विभाग के मंत्री पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी थे।

२९ मार्च को दिन में १२।। बजे से जब अधिवेशन आरम्भ हुआ तो अत्यधिक भीड़ के कारण थोड़ी देर तक बड़ी अव्यवस्था-सी फैल गयी, किन्तु थोड़ी देर बाद स्थिति शान्त हुई। मुख्य मंच पर गांधी दम्पत्ति के साथ करवीर मठ के जगदगुरु श्री शंकराचार्य, मेजर रामप्रसाद दुबे तथा होल्कर राज्य के युवराज श्रीमन्त यशवन्तराव जी भी उपस्थित थे। अन्य उपस्थित व्यक्तियों में राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टण्डन, सेठ हुकुमचन्द, पं० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, काशी के सुप्रसिद्ध बाबू शिवप्रसाद गुप्त, ठा० गोपालशरण सिंह, श्री वेंकटेशनारायण तिवारी, सेठ कल्याणमल हीराचन्द कोठारी, सरदार माधवराव विनायक किबे, श्री सिरेमल बापना, डा० सरयूप्रसाद, मुं० लालबिहारीलाल प्रभृति गण्यमान्य सज्जन उपस्थित थे।

मंगलाचरण एवं स्वागतगान के रूप में पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न ने संस्कृत छन्दों में जब समागत सज्जनों की प्रशस्ति की तो पंडाल करतल ध्वनि से गूंज उठा। तदनन्तर पंडित श्रीधर पाठक, श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तथा श्री मैथिलीशरण गुप्त रचित राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्वागत गान किलोस्कर-नाटक मण्डली के गायकों द्वारा प्रस्तुत किये गए। स्वागत गान के अनन्तर दस वर्षीय होल्कर युवराज ने सात पंक्तियों का स्वागत भाषण किया और उनके अनन्तर स्वामी शंकराचार्य ने तथा सेठ हुकुमचन्द ने स्वागत भाषण सुनाया।

गांधीजी अध्यक्ष पद से जब भाषण करने को उठे तो सर्वप्रथम उन्होंने अधिवेशन में महामना मालवीयजी की अनुपस्थिति पर हार्दिक खेद प्रकट करते हुए कहा कि हमारे पूजनीय और स्वार्थत्यागी नेता पण्डित मदनमोहनजी मालवीय सम्मेलन में नहीं आ सके। मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि जहां तक बने सम्मेलन में उपस्थित रहिएगा। उन्होंने वचन दिया था कि जरूर आयेंगे। पण्डितजी सम्मेलन में तो उपस्थित नहीं हुए पर उन्होंने एक पत्र भेज दिया है। मैं उम्मेद करता था कि यदि पण्डितजी नहीं आयेंगे तो उनका पत्र अवश्य आयेगा और मैं उसे आप लोगों के सामने उपस्थित कर सकूंगा। यह पत्र मुझे आज मिला है।"

अपने इस भाषण के बाद गांधीजी ने सर्वप्रथम मालवीयजी का वह पत्र पढ़ कर उपस्थित जनता को सुनाया।

आगे चल कर गांधीजी ने कहा कि "मैं बड़ी झंझटोंमें पड़ा हूँ। मेरी इस समय बड़ी दुर्दशा है। इससे मैं अपना व्याख्यान नहीं तैयार कर सका। पर मैंने कहा था आऊंगा, आ गया। जो चीज सामने रखने का इरादा था, नहीं रख सका। यह भाषा का विषय बड़ा भारी और बड़ा

ही महत्वपूर्ण है। यदि सब नेता सब काम छोड़ कर केवल इसी विषय पर लगे रहें तो बस है। यदि हमलोग भाषा के प्रश्न को लेकर सम्मेलन से या इधर से मन हटा लेंगे तो इस समय लोगों में जो प्रवृत्ति चल रही है, लोगों के हृदयों में जो भाव उत्पन्न हो रहा है, वह निष्फल हो जायगा।"

"...भाषा माता के समान है। माता पर हमारा जो प्रेम होना चाहिए वह हम लोगों में नहीं है।..."

"विदेशी भाषा द्वारा आप जो स्वतंत्रता चाहते हैं वह नहीं मिल सकती क्योंकि उसमें हम योग्य नहीं है।...जैसे अंग्रेज अपनी मादरी जबान ही में बोलते हैं और सर्वथा उसे ही व्यवहार में लाते हैं वैसे ही मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का गौरव प्रदान करें। हिन्दी सब समझते हैं। इसे राष्ट्रभाषा बना कर हमें अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए।"

"...अंग्रेजी भाषा राष्ट्रीय भाषा क्यों नहीं हो सकती है। अंग्रेजी भाषा का बोझ प्रजा के ऊपर रखने में क्या हानि होती है। हमारी शिक्षा का माध्यम आज तक अंग्रेजी होने से प्रजा कुचल दी गयी है। हमारी जातीय भाषा क्यों कंगाल हो रही है—इन सब विषयों पर मैं अपनी राय कई जगह दे चुका हूँ।"...

इसी प्रकार गांधीजी ने अपने भाषण में राष्ट्रभाषा हिन्दी की क्षमता, उपयोगिता तथा सार्थकता के सम्बन्ध में अनेक तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किए और इस बात पर भी बल दिया कि हिन्दुओं की बोली से फारसी शब्दों का सर्वथा त्याग और मुसलमानों की बोली से संस्कृत शब्दों का सर्वथा त्याग अनावश्यक और कृत्रिम है। दोनों का स्वाभाविक संगम गंगा-यमुना के संगम की तरह सुशोभित और अचल रहेगा।...

अपने सभापतित्व के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए गांधीजी ने कहाकि "आपने मुझको इस सम्मेलन का सभापतिपद देकर कृतार्थ किया है। हिन्दी साहित्य की दृष्टि से मेरी योग्यता इस स्थान के लिए कुछ भी नहीं है। यह मैं खूब जानता हूँ। मेरा हिन्दी भाषा का असीम प्रेम ही मुझे यह स्थान दिलाने का कारण हो सकता है। मैं उम्मीद करता हूँ कि प्रेम की परीक्षा में मैं हमेशा उत्तीर्ण होऊँगा।"

गांधीजी के इस सहज, सरल तथा मार्मिक भाषण का श्रोतृवृन्द पर जादू का-सा प्रभाव पड़ा। इन्दौर के इस अधिवेशन में कुल १७ प्रस्ताव पास हुए थे। जिनमें से सर्वप्रथम प्रस्ताव में ब्रिटिश साम्राज्य को उस समय के भीषण संग्राम में स्वतंत्रता की रक्षा के लिए प्रयत्न करने हेतु सफलता प्रदान करने की ईश्वर से प्रार्थना की गयी थी और द्वितीय प्रस्ताव में दादा भाई नौरोजी, बाबू शारदाचरण मित्र, पंडित शिवकुमार शास्त्री, सर सुन्दरलाल प्रभृति उस वर्ष के दिवंगत हिन्दी सेवियों तथा देश-सेवियों के निधन पर शोक-प्रकाश और समवेदना प्रकट की गयी थी। इन दोनों ही प्रस्तावों को स्वयं गांधीजी ने सभापति-मंच से प्रस्तुत किया था। अधिवेशन में प्रस्तावों के बीच-बीच कविता-पाठ आदि भी हुआ करते थे। ब्रजकोकिल पं० सत्यनारायणजी कविरत्न उस अधिवेशन में स्वयं उपस्थित थे। उन्होंने गांधीजी पर अपनी स्वरचित

कविता सर्वप्रथम वहीं सुनायी थी। कविरत्न जी की कविता के अनन्तर प्रबल करतलध्वनि हुई।

इन्दौर अधिवेशन से सम्मेलन की महिमा बहुत बढ़ गयी और उसकी वित्तीय स्थिति भी बहुत सम्हल गयी। पण्डाल में जब काशी के बाबू शिवप्रसाद गुप्त जी ने अत्यन्त हृदयवेधी और ओजस्वी शब्दों में सम्मेलन को धन देने की अपील की और महात्मा गांधीजी ने जब उस अपील का समर्थन किया तो उसका उपस्थित जनसमूह पर गंभीर प्रभाव पड़ा। सेठ हुकुमचन्द जी ने दस हजार रुपये और महाराजा साहब ने दस हजार रुपये तथा अन्य उपस्थित सज्जनों ने दस हजार रुपये—कुल तीस हजार रुपये का चन्दा हुआ और आगामी पांच वर्षों तक एक-एक हजार रुपया वार्षिक का चन्दा बाबू शिवप्रसाद गुप्त के अनुरोध पर किसी अज्ञातनामा काशी निवासी सज्जन ने देने का वादा किया और इन्दौर के ही कुछ अन्य सज्जनों ने भी सौ-सौ रुपये प्रति वर्ष का निरन्तर पांच वर्षों तक दान देने के वचन दिये। फिर भी गांधीजी को यह धन अपर्याप्त मालूम पड़ा और उन्होंने इंग्लैण्ड की बाइबिल सोसायटी का उल्लेख करते हुए इंग्लैण्ड की जनता केस्वार्थ-त्याग की प्रशंसा की और सम्मेलन के कर्णधारों को यह सम्मति दी कि उन्हें डेपुटेशन बना कर नगर के धनी-मानी लोगों के पास चन्दे के लिए जाना चाहिए। उसी दिन संध्या समय साढ़े छै बजे गांधीजी ने इन्दौर के तुकोगंज मुहल्ले में मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति के भवन का शिलान्यास किया। इन्दौर का यह अधिवेशन सभी प्रकार से सफल रहा और इसके साथ ही सम्मेलन की प्रतिष्ठा और ख्याति देश के जन-जन के हृदय में बैठ गयी। पिछले सात अधिवेशनों में सम्मेलन का जो कुछ भी कार्य बढ़ा था, इन्दौर अधिवेशन के बाद वह द्विगुणित वेग से बढ़ने लगा।

इन्दौर के दूसरे अधिवेशन में सन् १९३५ में जब गांधी जी पुनः सभापति हुए तो सम्मेलन की प्रतिष्ठा और कार्य-सीमा बहुत व्यापक बन चुकी थी और उस समय तक महात्मा गांधी जी भी विश्व के सम्मान्य पुरुष बन चुके थे। फलतः इन्दौर का यह दूसरा अधिवेशन पिछले अधिवेशन की अपेक्षा बहुत विशाल और व्यापक रहा। अधिवेशन की तिथियां २०,२१,२२ और २३ अप्रैल, १९३५ थीं। गांधी जी दिनांक २० अप्रैल को प्रातःकाल लगभग ८ बजे ट्रेन से इन्दौर पधारने वाले थे, किन्तु दर्शनोत्सुक जनता की इतनी भीड़ थी कि गांधी जी को कष्ट न हो इस आशंका से उन्हें चौरला स्टेशन पर ही उतार लिया गया और वहां से वे मोटर द्वारा इन्दौर नगर में लाये गये। जहां मध्य-भारत हिन्दी साहित्य समिति भवन में ८।। बजे उनका सार्वजनिक स्वागत किया गया। अधिवेशन के विशाल पण्डाल के १६ विभाग थे जिनमें इन्दौर नगर तथा हिन्दी-जगत् के गण्यमान व्यक्ति उपस्थित थे। कुछ प्रमुख व्यक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—श्रीमती कस्तूरबा गांधी, महादेव जी देसाई, माननीय श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन, बाबू काशीप्रसाद जायसवाल, श्री सिरेमल जी बापना, होलकर राज्य की दोनों राजमाताएं, महाराज रघुवीर सिंह, पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल, सेठ हुकुमचन्द जी, सेठ जमनालाल जी, प्रिंसिपल स्काट महोदय, श्रीमती कमला बाई किबे, श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी, श्रीमती

लीलावती मुन्शी, श्री काका साहब कालेलकर, श्री मीरा बेन, श्री सियारामशरण गुप्त, श्री नाथू राम जी प्रेमी, श्री जैनेन्द्रकुमार जी, डा० मथुरालाल जी शर्मा, बाबू गुलाबराय जी तथा डा० सरयूप्रसाद तिवारी प्रभृति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस अधिवेशन में गांधी जी ने अपना लिखित भाषण पढ़ा हुआ मान कर उसके अतिरिक्त मौखिक भाषण दिया। अपने मौखिक भाषण में गांधी जी ने सम्मेलन को अधिकाधिक आर्थिक सहायता देने की अपील करते हुए स्वागताध्यक्ष महाराज इन्दौर को याद दिलाया कि जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आठवां अधिवेशन इन्दौर में हुआ था तो आपने दस हजार रुपये की रकम हिन्दी प्रचार के लिए दी थी और मैं उम्मीद करता हूं कि स्वागत समिति की ओर से जो प्रार्थना आपसे की गयी है उसको भी पूरी करने के लिए मदद मिलेगी। उस समय आपने युवराज की हैसियत से मदद की थी तो इस समय महाराजा की हैसियत से मदद करें। हमारे करोड़पति सेठ हुकुमचन्द जी भी यहीं मौजूद हैं। आपने प्रातःकाल मुझे हार पहनाया था। यद्यपि वह हार तो कच्चे सूत का था परन्तु उसकी कीमत पहनाने वाले की हैसियत से हो जाती है। रायबहादुर डा० सरयूप्रसाद भी यहीं मौजूद हैं। उनका हिन्दी भाषा अथवा सम्मेलन के प्रति प्रेम कम है, ऐसी कोई बात नहीं है। मुझे पूर्णतया आशा है कि जो काम करना है वह सफल हो जायगा। यह होते हुए भी हिन्दी संसार में कुछ हलचल मच गयी है। वर्धा में मुझे इस बात का पता चल गया था और यहां आने के बाद मैंने और भी अधिक समझ लिया है। यह हलचल कैसे मच गयी इस बात का पता भी अभी तक नहीं है।

"दक्षिण भारत से जो हिन्दी-प्रचार हुआ है उसका सम्बन्ध हिन्दी साहित्य सम्मेलन से हो ही नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं है, क्योंकि यह प्रचार हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अविभाज्य अंग है। इस प्रचार की माता या पिता, जो कहो--यह हिन्दी साहित्य सम्मेलन है। यदि ऐसा न माना जाय तो अब दक्षिण भारत में जो ६००००० अहिन्दी भाषी हिन्दी बोल या लिख सकते हैं वह नामुमिकिन बात थी। इस प्रचार के लिए भी धन्यवाद हिन्दी साहित्य सम्मेलन को ही है। इसके लिए मुझे धन्यवाद नहीं दिया जा सकता, क्योंकि इसके लिए मैंने जो कार्य किया था वह सम्मेलन के सभापति की हैसियत से किया था। उसमें मैं तो कहीं नहीं था। मैं तो इतना कह सकता हूं कि हिन्दी-प्रचार का यह कार्य सम्मेलन का अविभाज्य अंग है। यदि हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी भाषा का प्रचार न करके केवल साहित्य की वृद्धि करे तो हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा कैसे बन सकती है।"

अपने इस भाषण में गांधी जी ने देश की सभी भाषाओं के लिए एक लिपि की आवश्यकता बताते हुए कहा कि तमिल, तेलुगु, कनाड़ी आदि भाषाएं संस्कृत से भरी हुई हैं। बंगला भी संस्कृत से परिपूर्ण है। जब उनकी अपनी भाषा में कोई शब्द नहीं मिलता तो वे इससे शब्द लेते हैं और प्रयोग में लाते हैं। अतः सब भाषाओं की लिपि एक होना आवश्यक है। लिपि एक होने से सीखने और समझने में बड़ी सुगमता होगी।

इन्दौर के इस अधिवेशन में भी एक दर्जन से अधिक प्रस्ताव स्वीकार किये गये थे और

खुले अधिवेशन के साथ इतिहास परिषद्, विज्ञान परिषद्, साहित्य परिषद्, लिपि परिषद्, दर्शन-परिषद् और कवि सम्मेलन के आयोजन किये गये थे। इन परिषदों के अध्यक्ष अपने अपने विषयों के सुप्रसिद्ध विद्वान थे। यथा इतिहास परिषद् के अध्यक्ष थे बाबू काशीप्रसाद जायसवाल, साहित्य परिषद् के सभापति थे आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, विज्ञान परिषद् के डा० गोरखप्रसाद, लिपि परिषद् के आचार्य काका कालेलकर, दर्शन परिषद् के अध्यक्ष बाबू गुलाबराय और कवि सम्मेलन की अध्यक्षता महादेवी वर्मा ने की थी।

इन प्रकार इन्दौर में हुए इन दोनों अधिवेशनों में गांधी जी ने सम्मेलन का सभापतित्व ग्रहण कर उसे अनेक दृष्टियों से समृद्ध और शक्तिशाली बनाया और अपने दैनन्दिन व्यस्त जीवन में भी वे हिन्दी तथा सम्मेलन की प्रवृत्तियों के प्रति रुचि रखते रहे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की २४वीं स्थायी समिति का प्रथम अधिवेशन १८ मार्च, १९३५ को वर्धा में स्वयं गांधी जी के आश्रम में ही हुआ था। वर्धा की उस बैठक में गांधी जी ने प्रयाग से बाहर सम्मेलन की स्थायी समिति की उस बैठक को बुलाने का औचित्य प्रतिपादित करते हुए कहा था--"अब तक स्थायी समिति के अधिवेशन प्रयाग में ही होते रहे हैं। वर्धा में इसे मैं ने इसलिए बुलाया है कि प्रयाग से दूर रहनेवालों को भी इसमें शरीक होने का अवसर मिले और इसी प्रकार दूसरे-दूसरे स्थानों में अधिवेशन किये जायं तो इससे सम्मेलन का और हिन्दी का लाभ ही होगा। गांधी जी के सभापतित्व-काल में ही सम्मेलन की स्थायी समिति ने पं० बनारसीदास चतुर्वेदी का यह प्रस्ताव स्वीकार किया था कि सत्यनारायण कविरत्न की स्मृति में सम्मेलन सत्यनारायण कुटीर का निर्माण कराये। गांधी जी के सभापतित्व-काल में ही सम्मेलन ने अपनी परीक्षाओं में दक्षिण की भाषाओं को भी शामिल करने का निश्चय किया था।

सम्मेलन की स्थायी समिति का दूसरा अधिवेशन वर्धा में ही गांधी जी के आश्रम में ११ दिसम्बर, १९३५ में हुआ था। राजर्षि टण्डन ने इसी अधिवेशन में महात्मा गांधी जी से अनुरोध किया था कि वे हिन्दी-संग्रहालय भवन का उद्घाटन समारोह सम्पन्न करें और उसी अवसर पर सम्मेलन की रजत जयंती भी मनायी जाय, क्योंकि उसको कार्य करते हुए २५ वर्ष पूरे हो चुके थे। गांधी जी ने इन दोनों समारोहों में भाग लेने की स्वीकृति देते हुए बताया कि यदि अक्तूबर १९३६ में यह समारोह किये जायं तो मैं उपस्थित हो सकता हूं। फलस्वरूप महात्मा गांधी जी ने सम्मेलन के संग्रहालय-भवन का उद्घाटन दिनांक ५ अप्रैल, १९३६ ई० को सम्पन्न किया और सम्मेलन की दर्शक पुस्तिका में अपने हस्ताक्षरों से निम्नलिखित वाक्य उल्लिखित किया--
"आज उद्घाटन क्रिया की--मो० क० गान्धी।"

इस प्रकार गांधी जी का सम्मेलन पर इन्दौर अधिवेशन के बाद भी लगभग दस वर्षों तक पूर्ण प्रभुत्व रहा और वह सन् १९४५ ई० के मई मास तक सम्मेलन की गतिविधियों पर बराबर दृष्टि रखते और उसके महत्व के कार्यों में पथ-प्रदर्शन भी करते रहते थे। गांधी जी के बाद सम्मेलन का २५वां अधिवेशन नागपुर में हुआ जिसके अध्यक्ष देशरत्न डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद थे और २६वां

अधिवेशन मद्रास में हुआ, जिसके अध्यक्ष सेठ जमनालाल जी बजाज थे। इस प्रकार यह त्रिमूर्ति लगातार तीन वर्षों तक सम्मेलन के सभापति पद पर विराजमान रही।

इसके बाद गांधी जी की हिन्दी में फारसी लिपि में लिखी जाने वाली उर्दू का भी समावेश हुआ और बिहार राज्य के शिक्षा विभाग द्वारा कुछ ऐसी रीडरें प्रकाशित हुई जो दोनों लिपियों में थीं उसमें महारानी सीता को बेगम सीता और राजा राम को बादशाह राम कर के लिखा गया था। स्वभावतः हिन्दी-जगत् पर इसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई और सम्मेलन के अनेक अधिवेशनों में गांधी जी की भाषा-नीति से सम्मेलन का क्या सम्बन्ध है, इस प्रश्न पर हिन्दी जगत् की भावनाएं उग्र रूप से उठती रहीं किन्तु राजर्षि टण्डन जी के प्रयत्नों से खुल कर उभरने नहीं पाती थीं। अन्त में निरुपाय हो कर सम्मेलन के अबोहर अधिवेशन के पूर्व हिन्दी-जगत् की इस भावना को रोका नहीं जा सका और वह इस रूप में खुल कर सामने आयी कि डा० राजेन्द्रप्रसाद और डा० अमरनाथ झा इन दोनों ही के नाम अबोहर अधिवेशन के सभापति-पद के लिए जब आये तो हिन्दी-जगत् के बहुमत से डा० राजेन्द्रप्रसाद के स्थान पर डा०अमरनाथ झा ने ही सम्मेलन का सभापति बनाने में अपना हित समझा। फलतः डा० अमरनाथ झा के सभापति बनने के पश्चात् सम्मेलन के साथ गांधी जी की भाषा-नीति का विलगाव प्रकट रूप से सामने आ गया और उन्होंने २५-५-४५ को महाबलेश्वर से टण्डन जी को एक पत्र लिखा, जिसका निम्नलिखित उद्धरण-पठनीय है ––

"भाई टंडन जी,

मेरे पास उर्दू ख़त आते हैं, हिन्दी आते हैं और गुजराती। सब पूछते हैं, मैं कैसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन में रह सकता हूं और हिन्दुस्तानी सभा में भी? वे कहते हैं, सम्मेलन की दृष्टि से हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है जिसमें नागरी लिपि ही को राष्ट्रीय स्थान दिया जाता है, और जो भाषा न फारसीमयी है न संस्कृतमयी है। जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूं तब मुझे सम्मेलन से हट जाना चाहिए। ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है। इस हालत में क्या सम्मेलन से हटना मेरा फ़र्ज नहीं होता है? ऐसा करने से लोगों को दुविधा न रहेगी और मुझे पता चलेगा कि मैं कहाँ हूँ।

कृपया शीघ्र उत्तर दें। मौन के कारण मैंने ही पत्र लिखा है लेकिन मेरे अक्षर पढ़ने में सबको मुसीबत होती है इसलिए इसे लिखवा कर भेजता हूं।

आप अच्छे होंगे।

आपका

मो० क० गांधी"

टण्डन जी ने अत्यन्त विनम्र शब्दों में गांधी जी के उक्त पत्र में लिखी भावनाओं का आदर करते हुए बहुत युक्तियुक्त उत्तर दिया और उनसे निवेदन किया कि यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और आपका आत्मा यही कहता है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊँ

तो आप के अलग होने की बात पर बहुत खेद होते हुए भी नतमस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूंगा।

गांधी जी ने इसके बाद भी टंडन जी को दो पत्र लिखे। पहला १३-६-४५ को पंचगनी से तथा दूसरा २५-७-४५ को सेवाग्राम से और अपने दोनों ही पत्रों में उन्होंने अपने तर्कों को सबल बनाते हुए अन्त में लिखा कि––

"...मेरा ख़याल है कि सम्मेलन ने मेरी हिन्दी की व्याख्या अपनायी नहीं है। अब तो मेरे विचार इसी दिशा में आगे बढ़े हैं। राष्ट्रभाषा की मेरी व्याख्या में हिन्दी और उर्दू लिपि दोनों शैली का ज्ञान आता है। ऐसा होने से ही दोनों का समन्वय होने का है तो हो जायगा। मुझे डर है कि मेरी यह बात सम्मेलन को चुभेगी। इसलिए मेरा इस्तीफा कबूल किया जाय हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का कठिन काम करते हुए मैं हिन्दी की सेवा करूंगा और उर्दू की भी।"

टण्डन जी ने अपने ११-७-४५ तथा २-८-४५ के उत्तरों में गांधी जी से बहुत विनम्र शब्दों में अनुरोध किया कि "इन बातों से यह परिणाम नहीं निकलता कि आप अथवा हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के अन्य सदस्य सम्मेलन से अलग हों। सम्मेलन हृदय से आप सबों को अपने भीतर रखना चाहता है। आपके रहने से वह अपना गौरव समझता है। आप आज जो काम करना चाहते हैं वह सम्मेलन का अपना काम नहीं है किन्तु सम्मेलन जितना करता है वह आपका काम है। आप उससे अलग जो करना चाहते हों उसे सम्मेलन में रहते हुए भी स्वतंत्रता-पूर्वक कर सकते हैं।"

किन्तु जब टंडन जी ने देखा कि उनके इस अनुरोध के बाद भी गांधी जी अपने निश्चय पर अडिग हैं तो उन्होंने लिखा कि मैं आपकी आज्ञा के अनुसार खेद के साथ आपका पत्र स्थायी समिति के सामने रख दूंगा।

स्थायी समिति में गांधी जी का यह त्यागपत्र जब रखा गया तो बड़ी विचित्र स्थिति थी। किन्तु कर्त्तव्य भावना से सदैव ऊंचा रहा है। हिन्दी-जगत् ने बड़े ही खेद के साथ गांधी जी का यह त्यागपत्र निम्नलिखित प्रस्ताव के रूप में स्वीकार किया––

"महात्मा गांधी जी के त्यागपत्र के सम्बन्ध में निश्चय हुआ कि स्थायी समिति के सौर १२ संवत् २००२ के मंतव्य के उत्तर में महात्मा गांधी जी का जो उत्तर आया है उसे पढ़ने के बाद समिति अन्य कोई मार्ग न देख बहुत दुख और नम्रता के साथ महात्मा गांधी जी का त्यागपत्र स्वीकार करती है...।"

इस प्रकार गांधी जी सम्मेलन की स्थायी समिति से भी अलग हो गये जिसके वह पूर्व सभापति होने के कारण आजीवन सदस्य थे। किन्तु गांधी जी ने हिन्दी और सम्मेलन को कितना बढ़ाया और क्या दिया––इसका लेखा-जोखा लगाना बहुत सरल नहीं है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह गांधी जी के व्यक्तित्व और उनके चमत्कारी कर्तृत्व का ही प्रभाव रहा जो बहुत थोड़े ही दिनों में सम्मेलन को अपने उद्देश्यों में अपेक्षित सफलताएं मिलीं और वह अपनी सर्वांगीण प्रवृत्तियों को विकसित और शक्तिमान् बनाने में सफल हुआ।

डाक्टर देवराज उपाध्याय

साहित्य, आत्मतत्त्व और गांधी जी

विश्व आज जिन परिस्थितियों से होकर अपने विकास की मंजिलें पार कर रहा है--उसे देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है, चाहे जो कुछ हो, वह कितना ही आगे बढ़ने का दावा करे उसमें कहीं न कहीं त्रुटि अवश्य है। भले ही उसका स्वरूप हमें स्पष्ट न हो। इस त्रुटि को पहचानने और पहचानकर उसे दूर करने के लिये बहुत से मनिषीगण आगे बढ़े और यथाशक्ति उन्होंने इसे दूर करने के उपाय भी बताये। इस तरह के उपाय बतलाने वालों में आधुनिक युग के दो व्यक्तियों के नाम बहुधा लिये जाते हैं। मार्क्स और फ्रायड।

मार्क्स ने बतलाया कि मनुष्य की सारी विडम्बनाओं का उत्तरदायित्व पूंजीवाद की व्यवस्था पर है जिसके कारण सम्पत्ति कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित हो गयी है और अधिकांश व्यक्ति भूखों मर रहे हैं। यदि इस व्यवस्था में सुधार हो और सम्पत्ति का सन्तुलित वितरण हो तो विश्व की अनेक समस्याएं हल हो जा सकती हैं। आज विश्व में युद्ध की विभीषिका सबको आतंकित कर रही है। सब राष्ट्र अपनी अपनी सुरक्षा की दृष्टि से अस्त्र और शस्त्रों के उपकरण को अधिक से अधिक मात्रा में एकत्र कर रहे हैं। जो शक्ति जीवन को समृद्ध बनाने के लिए लगायी जा सकती है वह विध्वसंक अणुबमों के निर्माण में लगायी जा रही है। इसके मूल में आर्थिक विषमता है, यदि वह दूर कर दी जाय तो इस तरह की अशांति तथा अप्रतिद्वन्द्व का आधार ही नष्ट हो जाय। मतलब यह है कि मार्क्स की दृष्टि बाहर से अन्दर की ओर जाती थी। अर्थात् वे यह समझते हैं कि मनुष्य बाहरी परिस्थितियों की उपज है और उनमें सुधार करने से उसकी आन्तरिक परिस्थितियों में परिवर्तन होगा और सुख और शांति की उपलब्धि होगी जो हमारा ध्येय है। व्यवहारिक क्षेत्र में भी करीब ५० वर्षों से इस सिद्धांत को कार्यान्वित करने की चेष्टा हो रही है। एक बहुत बड़े राष्ट्र ने इसे अपने ढंग से प्रयोग में लाने की चेष्टा की है। परंतु हमने देख लिया है कि इससे समस्या के हल करने में यह तो नहीं कहा जा सकता कि हम आगे नहीं बढ़े हैं परन्तु उसका हल समीप नहीं नज़र आता।

दूसरा प्रयत्न फ्रायड प्रमुख मनोवैज्ञानिकों की ओर से हुआ। उन्होंने समस्या को अंदर की ओर देखा और बतलाया कि वह जीवन में जो कुछ भी विडम्बनायें उपस्थित है, मार-काट छीना झपटी दिखलायी पड़ती है, वह इसलिए है कि मनुष्य को अपनी सहज अभिव्यक्ति करने का अवसर नहीं मिलता। सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण उसकी भावनायें दमित हो गयी है और वे जब बाहर निकलने की कोशिश करती है तो विश्व में अवांछित हलचल होने लगती हैं। यह हलचल कभी तो

वैयक्तिक स्तर पर कभी सामाजिक स्तर पर, कभी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होती है। अत: मनुष्य के सहज होने में जितने प्रतिबंध हैं उन प्रतिबन्धों को हटा देना ही समाज के हित में कल्याणकारी है। कहना नहीं होगा कि समस्या के इस समाधान से भी विश्व की समस्याएं पूर्ण रूप से सुलझी नहीं है।

मतलब यह है कि अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री और मनोवैज्ञानिक सभी अपने अपने ढंग से इस सुधार में लगे हैं। गांधी जी ने भी अपने ढंग से इस समस्या का हल उपस्थित करने का प्रयत्न किया था और वे इस निर्णय पर पहुंचे थे कि चाहे जो कुछ हो दो बातें नहीं हो सकती हैं।

यदि मनुष्य की आत्मा शुद्ध नहीं है––वह स्वयं अंदर से पवित्र नहीं है उसमें आस्था नहीं है तो वह चाहे कितनी भी लम्बी चौड़ी बातें करें, उपदेश दें उससे कोई भी उपयोगी प्रभाव नहीं पड़ सकता। मनुष्य अंदर से जितना ही बड़ा होगा उसकी सिद्धि भी उतनी ही बड़ी होगी। चाहे उसको बाहरी साधन या सहायता कुछ भी प्राप्त न हो। वे कहा करते थे कि अकेला व्यक्ति दुनिया की सबसे बड़ी शक्ति होता है। दूसरी बात वह यह कहते थे कि बाहरी दृष्टि से दीखने वाली सफलता भ्रामक हो सकती है और वह असफलता का सबसे निकृष्टरूप हो सकती है, उसी तरह जिस तरह लोग बालू में गंगा की धारा अथवा सीपी में चांदी को देख लेते हैं। दूसरी ओर जिसे हम असफलता कहते हैं वह सबसे बड़ी सफलता हो सकती है। वास्तव में जीवन न तो तथाकथित सफलता से समृद्ध होता है और न बाहरी वस्तुओं की उपलब्धि से। जीवन की सफलता साधनों की उत्कृष्टता और स्वच्छता में है। यदि हमारे साधन पवित्र हैं तो सफलता स्वयं अपनी खोज कर लेगी। अथवा जो कुछ उपलब्ध होगा वह सफलता के सिवा और कुछ हो ही नहींसकता। सिद्धि या सफलता साधन से अलग होने के लिये नहीं है।

मतलब यह कि गांधी जी ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मतत्व को केन्द्र में रखा और कहा कि इस आत्मतत्व के व्यापकत्व की अनुभूति से ही मनुष्य में आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना जागृत होगी और तभी शान्ति की स्थापना होगी और शान्ति की स्थापना से जीवन समृद्ध होगा। मनुष्य के सारे व्यापार का उद्देश्य यही है। राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन, विज्ञान, सभी इसी उद्देश्य को लेकर अपने स्वरूप का विस्तार करते हैं। साहित्य भी यही करता है। सभी अपने को श्रेष्ठ कहते हैं। साहित्य भी अपने को इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अपनी श्रेष्ठता का दावा करता है। वह क्यों करता है यही हमें देखना है।

जब हमारे पुराने विचारकों के सामने यह प्रश्न आया कि साहित्य क्या है तो उन्होंने उसे दो तरह से इसे समझाया। सहितत्य भावः साहित्यम् अर्थात् साहित्य मानवता में पारस्परिक सहयोग, आत्मीयता, सौहार्द्र की भावना उत्पन्न करता है। दूसरा है हितस्य भाव साहित्यम् अर्थात् जिसके द्वारा हित के भावों का उन्मेष हो वह साहित्य है। चाहे कोई अर्थ लिया जाय दोनों में कोई अन्तर नहीं है। जीवन का कल्याण इसी में है कि उसमें पारस्परिक सहयोग का विकास हो, एक अखण्ड, व्यापक, चिन्मयतत्व की छत्र-छाया में उसका विकास हो। साहित्य का इष्ट है अखण्ड मानवता। साहित्य का इस अखण्ड मानवता में आस्था का प्रमाण यही है कि इसके लिए कोई

भी वह चीज त्याज्य नहीं है जो जीवन में पाई जाती है। यदि यहां श्रृंगार रस है तो वीभत्स एवं करुण रस का भी उतना ही महत्व पूर्ण स्थान है। संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों ने कहा कि--

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु।
यद्वा अवस्तु कवि-भावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभाव मुपैति लोके।

मतलब वर्ण्य-वस्तु कैसा भी हो रम्य हो, जुगुप्सित हो, उदार हो, नीच हो, यहां तक कि अवस्तु ही क्यों न हो पर संसार में वैसी कोई चीज़ नहीं जो कवि भावक द्वारा भाव्यमान होकर रस-भाव से पूर्ण न हो जाय। इन पंक्तियों को पढ़कर गांधी जी की बात याद आ जाती है। जब उग्र साम्यवादी हिंसा के बल पर पूंजीपतियों से सम्पत्ति को छीन कर सर्वहारा वर्ग को देने की बात कहते थे और कहते थे कि पूँजीपति वर्ग समाज की कोढ़ है जिसे साफ कर देना चाहिये उस समय गांधी जी हृदय-परिवर्तन की बात कहते थे। पूंजीपतियों का समाज की सम्पत्ति के ट्रस्टी रूप में अस्तित्व स्वीकार करते थे। अर्थात् गांधी जी समाज-व्यवस्था के केन्द्र में पैठ कर वहां से उसकी लड़ाई लड़ना चाहते थे। ऊपर से गोली दागना नहीं चाहते थे। साँप को मारना तो चाहते थे पर लाठी को तोड़ना नहीं। यही उनका हिंसात्मक दृष्टिकोण था। पता नहीं कि गांधी जी ने अहिंसा का यह सूत्र कहाँ से लिया, इसका cue कहाँ पाया पर साहित्य में इसी अहिंसक नीति का पालन होता रहा है। इतिहास की कुरूप से कुरूप घटना साहित्यकार के स्पर्श से सुन्दर से सुन्दर बन गई है। राम कोई असाधारण व्यक्ति न थे, उनमें वे सब गुण या दुर्गुण थे जो साधारण व्यक्ति में पाये जाते हैं पर वे इतने कीर्तिपात्र हो गये वह आदिकवि का प्रभाव है। यही बात गांधी जी ने की थी। आग्रह सदा होता रहा है, असहयोग भी कोई नई वस्तु नहीं थी पर गांधी जी ने इन सबों के साथ deal करते हुए उसी नीति से काम लिया जिसे साहित्यालोचन के क्षेत्र में प्रबंधवक्रता कहते हैं। कालिदास को एक साधारण सा, नातिस्पृहणीय पात्र दुष्यन्त तथा शकुन्तला के रूप में मिला था पर दुर्वाशा के शाप की कल्पना ने क्या से क्या नहीं बना दिया। गांधी ने साहित्यिक दृष्टिकोण का व्यावहारिक प्रयोग किया। थीं तो पुरानी बातें पर उन्होंने उन्हीं को सत्य और अहिंसा से जोड़ दिया और सारी दुनिया ही बदल गई। मैं इसे साहित्य की विजय मानता हूँ।

यह साहित्य के व्यापकत्व का सबसे बड़ा प्रमाण है। अन्य मानव व्यापार फिर भी कहीं न कहीं सीमित है। समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र इत्यादि में जीवन का कुछ न कुछ ऐसा क्षेत्र रह जाता है जो उसकी परिधि से बाहर पड़ता है पर साहित्य सबको अपनाता है, अपना संपोषण देता है। एक उदाहरण लीजिए। कांटा कितना तुच्छ पदार्थ समझा जाता है, घृण्य, त्याज्य निकाल कर बाहर फेंक देने के लायक। एक दिन वह राजनीति-व्याविहारिकता के पास गया। चाणक्य के पैरों में चुभ गया, चुभ क्या गया, कहिए कि उसने तो अपना प्यार ही प्रकट किया।

पर परिणाम जो हुआ वह सब को विदित है। चाणक्य ने विश्व के सारे कण्टकों की जड़ में मट्ठा डालकर खोद खोद कर उसको नेस्त-नाबूद करने की ही तैयारी की। यह तो यह कहिये कि एक कवि ने भी कांटे को देखा और कहा—

'हबीबों से रक़ीब अच्छे जो मर कर नाम लेते हैं,
गुलों से खार अच्छे है, जो दामन थाम लेते हैं।

तब वह जी उठा और इतना प्यारा हो उठा कि कहां तो पहले पैर में भी चुभता था और वह कलेजे में रखने के काबिल हो गया। 'मेघ 'तो' धूमज्योतिः सलिल मरुता सन्निपात' के सिवा अर्थात धुआं, अग्नि, जल और वायु के जोड़ के सिवा क्या है पर कवि ने उसे प्रेम की आंखों से देखा तो वह पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीय संदेशार्थ वाहन सामर्थ्य-सम्पन्न हो गया अर्थात् उसमें इतनी योग्यता आ गई कि वह उस संदेश के पहुंचाने में समर्थ हो गया जिसे चतुर लोग ही करने में समर्थ हो सकते हैं। दो विरोधी तत्वों की शाश्वतिक विरोधिताको हटाकर उनमें समान-धर्मित्व की स्थापना साहित्य के ही बूते की बात है।

हेरिक ने Daffodil पुष्प को देखा। हम सभी देखते हैं और आंख फेर कर चले जाते हैं। पर हेरिक ने देखा तो सारा दृश्य ही बदल गया और हम उसके सामीप्य की कामना करने लगे।

Fair daffodils, we weep to see
your haste away so soon :
As yet the early rising Sun
Has not allarived his so noon
Stay, stay
Until the hasting day
Has sun
But to the even song;
And, having prayed to gether, we
Will go with your along

अब तक हम अपने में ही दूसरों से कट कर जी रहे थे पर अब वह दुनिया ही बदल गई। हम एक साधारण पुष्प के साथ मिल कर प्रार्थना करने के लिए उत्सुक हैं। यदि साहित्य नहीं होता, कवि नहीं होता तो यह जादू किस तरह संभव होता।

अतः साहित्य की शरण में आकर व्यक्ति और समाज का सारा पार्थक्य नष्ट हो जाता है। आप साहित्य को व्यक्तिमूलक भले ही माने, उस पर व्यक्ति-हित की परिभाषा मानने पर समाजवाद के लिए इसे अनिष्ट मानने की आवश्यकता नहीं। अथवा साहित्य को आप समाज हिताय, बहुजन हिताय माने पर वह स्वान्तःसुखाय से भिन्न वस्तु, नहीं रह जाती। बाह्य दृष्टि से समाजवाद या आत्मवाद में जो भिन्नता दिखलाई पड़ती है वैसी विमुखता वहां है ही नहीं और इसे

स्पष्ट देखने का अवसर साहित्य में ही मिलता है। जिस परस्पराभिमुख, अहिंसक, शान्तिपूर्ण मानवता की हम कल्पना करते हैं उसकी नींव यहीं पड़ती है। शैक्सपियर, कालिदास, इकबाल के यहाँ आकर सारी विभिन्नताएँ नष्ट हो जाती है।

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ।।

ऐसा तपोवन जिसमें सब अपना विरोध भूल जायें, वह इसीं साहित्य के क्षेत्र में ही बनता है।

साहित्य के प्रति दो दृष्टिकोण हैं-समाजवादी और व्यक्तिवादी। मुझसे कोई वोट देने के लिए कहे तो मैं व्यक्तिवाद को ही वोट दूँगा। ब्रह्माण्ड की चिंता हम अपने ऊपर क्यों ओढ़ें। उसकी चिंता करनेवाला कोई दूसरा है। काजी शहर के अन्देशे क्यों मरे। वह अपनी फिक्र करे। स्वधर्माचरण करने के लिये हमारे पास अपने 'स्व' के अतिरिक्त और क्या है जिस पर हम भरोसा करें। हम अखण्ड की साधना करने में यदि अपने प्रति ईमानदार हैं तो कौन कह सकता है कि हमसे भूल सी होती हुई जो चीज़ लगती है वह अखण्ड का साधक नहीं हैं। वास्तव में यहीं पर साहित्य राजनीति से श्रेष्ठ हो जाता है। सभी राजनीति दुनिया की व्यवस्था पहले सँभालती है तब व्यक्ति को सुखी बनाती है, अर्थशास्त्र पहले पंचवर्षीय योजना बना लेता है, उसी ढाँचे में जीवन को ढालता है, मानो कल्याण मानवता के करने की चीज़ न हो, अर्थशास्त्रियों के द्वारा बनाई जानेवाली वस्तु हो, वह जीवन से सहज रूप से विकसित होनेवाली वस्तु न हो, hot-house plant हो। पर साहित्य व्यक्ति-चेतना को परिष्कृत कर, संस्कृत तथा संगठित कर विश्व की सुव्यवस्था में सहयोग देता है। अतः यह सहज होता है और हमारी कल्पना के समाज के निर्माण में सहायक होता है। उसके द्वारा जो कल्याण होता है, उसमें स्थायित्व होता है और वह विकासशील होता है। हम भावी अहिंसक समाज की स्थापना करना चाहते हैं तो इसके लिये मार्ग वही है जो साहित्य ने दिखलाया है। कवि ही सच्चा स्रष्टा है। जब किसी ने कहा था---

'अपारे खलु संसारे कविरेव प्रजापतिः'

तो हमने विश्वास नहीं किया था। अथवा हाल के एक शायर ने कहा--

खींचो न कमानों को न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल है तो अखबार निकालो।।

तो उसने झूठी बात नहीं कही थी। हम, जितना ही शीघ्र इसकी सत्यता को स्वीकार कर और इस पर अमल करें उतनी ही जल्दी विश्व को शान्ति के समीप लाने में सफल होंगे।

मानवता के विकास के इतिहास को देखा जाय तो पता चलेगा कि वह सदा ही अहिंसा की ओर बढ़ता रहा है। समाज का अर्थ ही है अहिंसा अर्थात् स्व का पर में विलयन तथा 'पर' का 'स्व' में स्वीकरण अर्थात् द्वैत भाव को मिटा कर अद्वैत चिन्मय तत्व की खोज। अहिंसा का प्रायः अभावात्मक अर्थ लिया जाता है कि हिंसा का अभाव। मतलब अहिंसा वह है जो हिंसा न हो। पर अहिंसा का एक भावात्मक पहलू भी होता है, उसका अपना स्वरूप भी होता है। वह हिंसा से ही रूप नहीं ग्रहण करता। प्रकाश केवल अंधकार का अभाव नहीं है। वह स्वयं में ही कुछ है।

डाक्टर लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

गांधी-टंडन और राष्ट्रभाषा की समस्या

हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में मान्यता देने का प्रश्न पहले-पहल भारत के अहिंदी-भाषी नेताओं ने ही उठाया। दक्षिण अफ्रिका के प्रवास से लौटकर जब श्री मोहनदास-कर्मचंद गांधी स्वदेश आए और एक बार सारे भारतका भ्रमण कर यहां की भाषासमस्यासे परिचित हो गए तब उन्होंने राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी का स्वर काफी ऊँचा किया। गांधी जी के प्रभाव के साथ-साथ हिंदी का राष्ट्रीय महत्व भी बढ़ता गया। स्थायी रूप से अफ्रिका-प्रवास से भारत आने के पूर्व भी उन्होंने १९०८ ई० में, अपने "हिंद-स्वराज्य" में राष्ट्रभाषा हिंदी के औचित्य का प्रतिपादन किया था। गांधी जी नागरी लिपि में लिखी हिंदी को ही भारत की राष्ट्रभाषा मानते थे, पर पीछे चलकर उन्होंने यह अनुभव किया कि मुसलमानों को मिलाये बिना भारत से अंग्रेजों को निकालना बड़ा कठिन है। अँगरेजों ने यह नीति बना रखी थी कि हिंदू और मुसलमानों दोनों को विभक्त बनाये रखना ही ब्रिटिश सरकार के लिए कल्याणकारी है। मुसलमानों ने उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि को सांप्रदायिक रूप दे दिया था। यों यह बात अलग थी कि पंजाब के हिंदू साधारणत उर्दू-फारसी का ही व्यवहार करते थे। यहाँ तक कि अपने धर्म-ग्रन्थों का पारायण भी वे उर्दू-फारसी के माध्यम से ही करते थे। स्वामी दयानंद के आर्य-समाज के प्रभाव के कारण आर्यभाषा-हिंदी का प्रचलन धीरे-धीरे पंजाब में बढ़ रहा था। यह बात समझ में आने लगी थी कि हिंदी हिंदुओं की भाषा है और उर्दू मुसलमानों की। इसके पूर्व भाषा को सांप्रदायिक आधार नहीं मिला था। बिना धार्मिक भेद-भाव के उर्दू-फारसी पंजाब में व्यपक रूप से प्रचलित थी, और दूसरी ओर भारत के पूरब बंगाल प्रदेश के मुसलमान संस्कृत-गर्भित बंगला भाषा को अपनी जातीय भाषा के रूप में मान्यता दे रहे थे। आज भी उनकी यह मान्यता कट्टर बनी हुई है। पाकिस्तान सरकार की राज-भाषा उर्दू अब तक वहाँ अच्छी तरह आदृत नहीं हो सकी है।

साहित्य समन्वयकारी होता है। उसमें जातिगत, धर्मगत, देशगत भेद नहीं होता। यही उसकी सच्ची कसौटी है और यही उसका साधारणीकरण भी है जिससे विश्व-साहित्य का निर्माण होता है। साहित्य का वाहक या माध्यम भाषा है। जब उस पर राजनीति हावी हो जाती है तब उसमें भेद पैदा हो जता है। किसी भी देश की राष्ट्रभाषा उस देश की राजनीति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती। यही स्थिति भारत की भी रही। गांधीजी ने स्वराज्य के लिए हिंदू-मुस्लिम एकता को अनिवार्य माना। इसलिए भारत की राष्ट्रभाषा के स्वरूप को उन्होंने हिंदी-

उर्दू तथा नागरी-फारसी से निर्मित करना चाहा। हिंदी का नाम बदलकर उन्होंने हिंदी-हिंदुस्तानी रखा। इतने से भी जब मुसलमानों को संतोष नहीं हुआ तब उन्होंने केवल हिंदुस्तानी को ही राष्ट्र भाषा के रूप में देश के सम्मुख प्रस्तुत किया। नाम में भी मतभेद था, पर उसके स्वरूप का विवाद नाम से भी बढ़ा-चढ़ा था। हिंद की भाषा हिंदी और हिंदुस्तान की भाषा हिंदुस्तानी, ये दोनों ही नाम विदेशी हैं, पर भारतीय जीवन के साथ इतने घुल-मिल गए हैं कि उनके विदेशीपन का बोध नहीं होता। जब हिंदी या हिंदुस्तानी भाषा के स्वरूप पर विचार किया जाता है तब अंतर स्पष्ट हो जाता है। हिंदी वह भाषा मानी गई जिसमें संस्कृत के तत्सम-तद्भव शब्दों का मिश्रण हो और हिंदुस्तानी भाषा वह हुई जिसमें अरबी-फारसी के शब्दों का बाहुल्य हो। मुसलमानों को संतुष्ट करने के विचार से गांधीजी ने भारत की राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संबंध में अपना यह विचार प्रकट किया——

"हिंदी भाषा वह भाषा है जिसको उत्तर में हिंदू व मुसलमान बोलते हैं और जो नागरी अथवा फारसी लिपि में लिखी जाती है। यह हिंदी एकदम संस्कृतमयी नहीं है, न यह एकदम फारसी शब्दों से लदी हुई है।. . . .भाषा वही श्रेष्ठ है जिसको जनसमूह सहज में समझ ले। देहाती बोली सब समझते हैं। भाषा का मूल करोड़ों मनुष्य रूपी हिमालय में मिलेगा, और उसमें ही रहेगा। हिमालय से निकली गंगाजी अनंत काल तक बहती रहेंगी। ऐसा ही देहाती हिंदी का गौरव रहेगा और जैसे छोटी-सी पहाड़ी से निकला झरना सूख जाता है वैसे ही संस्कृतमयी तथा फारसीमयी हिंदी की दशा होगी।

"हिंदू-मुसलमानों के बीच जो भेद किया जाता है वह कृत्रिम है। ऐसी ही कृत्रिमता हिंदी व उर्दू भाषा के भेद में है। हिंदुओं की बोली से फारसी शब्दों का सर्वथा त्याग और मुसलमानों की बोली से संस्कृत का सर्वथा त्याग अनावश्यक है। दोनों का स्वाभाविक संगम गंगा-यमुना के संगम-सा शोभित और अचल रहेगा। मुझे उम्मीद है कि हम हिंदी-उर्दू के झगड़े में पड़कर अपना बल क्षीण नहीं करेंगे।

"लिपि की कुछ तकलीफ जरूर है। मुसलमान भाई अरबी लिपि में ही लिखेंगे, हिंदू बहुत करके नागरी लिपि में लिखेंगे। राष्ट्र में दोनों को स्थान मिलना चाहिए। अमलदारों को दोनों लिपियों का ज्ञान आवश्यक होना चाहिए। इसमें कुछ कठिनाई नहीं है। अंत में जिस लिपि में ज्यादा सरलता होगी उसकी विजय होगी। व्यवहार के लिए एक भाषा होनी चाहिए, इसमें कुछ संदेह नहीं है।"

गांधी जी ने अपना यह विचार सन् १९१८ ई० में इंदौर में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से व्यक्त किया था। पुनः सन् १९३५ ई० में, सम्मेलन के इंदौर-अधिवेशन में ही उन्होंने लगभग ऐसा ही विचार व्यक्त किया था। मुसलमानों को भारत के स्वाधीनता-संग्राम में समभागी बनाये रखने के लिए गांधी जी राष्ट्रभाषा के स्वरूप-निर्माण के बारे में बहुत दूर तक आगे बढ़े। देश के दुर्भाग्य से मुसलमानों को वे अंततः मिला नहीं सके।

गांधीजी ने उर्दू को स्वतंत्र भाषा की मान्यता नहीं दी। वे उसे हिंदी की ही एक शैली मानते रहे, केवल लिपि की भिन्नता को स्वीकार किया। गांधी जी नागरी लिपि की विशिष्टता से परिचित थे। वे उसे देश की सभी प्रांतीय भाषाओं के लिए सामान्य लिपि बनाने पर जोर देते थे। उनका कहना था कि यूरोप विभिन्न राष्ट्रों का भू-भाग है, जब समूचे यूरोप में रोमन लिपि का ही प्रचलन है तब भारत-जैसे एक राष्ट्र में सभी भारतीय भाषाओं के लिए एक नागरी लिपि क्यों नहीं चल सकती ?

गांधीजी के सम्मुख केवल एक ही प्रश्न था--वे भारत की राष्ट्रीय एकता चाहते थे जिसके बिना स्वराज्य प्राप्त करना संभव नहीं था। इतना होने पर भी, गांधीजी के हर प्रयत्न को मुसलमान शंका की दृष्टि से देखते थे। उर्दू नाम को हटाने के लिए मुसलमान तैयार नहीं थे। इधर गांधीजी थे जो उर्दू भाषा तथा उसके नाम को हिंदुस्तानी में ही समाहित रखना चाहते थे। केवल उर्दू की पृथक् लिपि फारसी को उन्होंने स्वीकार किया। यह ध्यान देने की बात है कि फारसी भाषा तथा फारसी लिपि से मुस्लिम धर्म का कोई संबंध नहीं है। यदि मुसलमानों का कुछ संबंध हो सकता है तो वह अरबी भाषा तथा उसकी लिपि से ही है। एक समय भारत में फारसी भाषा तथा फारसी लिपि को मुस्लिम बादशाहों का राजकीय संरक्षण प्राप्त था, इसी कारण फारसी भाषा तथा फारसी लिपि से मुसलमानों ने अपना संबंध बनाये रखा है। फारसी आर्यकुल की भाषा है, पर वह विदेशी है। उर्दू की अपनी कोई लिपि नहीं थी, अतः उसने फारसी लिपि को अपना माध्यम बनाया। उर्दू भाषा भारतीय है, पर उसकी फारसी लिपि विदेशी है। यों कहा जाय तो इस्लाम भी एक विदेशी धर्म है, पर इतना मानना ही चाहिए कि जो मुसलमान भारत में जन्मे हैं, भारत के भूगोल, इतिहास, परंपरा, संस्कृति से संबंध बनाये हुए हैं वे शुद्ध रूप से भारतीय हैं। दुर्भाग्य की बात है कि भारत के अधिकांश मुसलमान द्विराष्ट्र का सिद्धांत मानते हैं और अपने को विजेता जाति की संतान समझते हैं।

गांधीजी ने द्विराष्ट्र के सिद्धांत को नहीं माना, पर उनके नहीं मानने पर भी द्विराष्ट्र-सिद्धांत की ही विजय हुई। भारत के दो खंड हुए--हिंदुस्तान तथा पाकिस्तान। और यह दुर्घटना गांधीजी के जीवन-काल में ही घटी, स्वराज्य-प्राप्ति के लिए उन्हें इतना अधिक मूल्य चुकाना पड़ा।

अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना सन् १९१०ई० में काशी में, महामना मालवीयजी की अध्यक्षता में हुई थी। सम्मेलन के स्थापना-काल से लेकर, अनेक वर्षों तक, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन उसके प्रधान मंत्री बने रहे। टंडन जी सम्मेलन के केवल प्रधान मंत्री ही नहीं थे, वे सम्मेलन के सब-कुछ थे और मृत्यु-पर्यन्त उसकी हित-साधना में साँस लेते रहे।

जब कर्मवीर गांधीजी ने भारत को पराधीनता के बंधन से मुक्त करने के लिए कांग्रेस की बागडोर अपने हाथ में ली तब देश के कुछ राष्ट्र-प्रेमियों के आग्रह से गांधीजी ने दो-दो बार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की अध्यक्षता की और सारे देश में सम्मेलन के तत्वावधान में राष्ट्र

भाषा हिंदी के प्रचार के लिए काम करना शुरू किया। हिंदी-प्रचार को वे स्वराज्य-प्राप्ति का ही साधन मानते थे। इस प्रचार-कार्य में टंडनजी उनके एक प्रमुख सहायक थे। सारे देश में हिंदी-प्रचार के-लिए सभा-समितियाँ गठित की गई। बड़े उत्साह से काम आगे बढ़ा। उस समय हिंदी पढ़ना-पढ़ाना एक राष्ट्रीय कर्त्तव्य माना जाता था। अपने बताये हुए रचनात्मक कामों की तालिका में गांधी जी ने हिंदी-प्रचार तथा मातृभाषा-प्रेम को बहुत महत्त्व दिया।

गांधी जी हिंदी भाषा या उसके साहित्य को मात्र भाषावैज्ञानिक या साहित्यिक दृष्टि से नहीं देखते थे। वे उसे स्वराज्य-प्राप्ति के एक साधन रूप में प्रयुक्त करना चाहते थे। अपनी मृत्यु के एक सप्ताह पूर्व उन्होंने ता० २५ जनवरी, '४८ ई० के 'हरिजन-सेवक' में लिखा—"लिपियों में मैं सबसे आला दरज़े की लिपि नागरी को ही मानता हूँ। यह कोई छिपी बात नहीं है। यहाँ तक कि मैंने दक्षिण अफ्रीका से गुजराती लिपि के बदले में नागरी लिपि में गुजराती खत लिखना शुरू किया था। इसे मैं समय न मिलने के कारण आज तक पूरा न कर सका। . . .

"हिंदुस्तानी के बारे में मेरा पक्षपात है सही। मैं मानता हूँ कि नागरी और उर्दू लिपि के बीच अंत में जीत नागरी लिपि की ही होगी। इसी तरह लिपि का ख्याल छोड़कर भाषा का ही ख्याल करें तो जीत हिंदुस्तानी की ही होगी।. . .

". . .खूबी यह है कि पहले-पहल जब हिंदी साहित्य-सम्मेलन में मैंने हिंदी की व्याख्या की तब उसका विरोध नहीं के बराबर था। विरोध कैसे शुरू हुआ, इसका इतिहास बड़ा करुणाजनक है। मैं उसे याद भी रखना नहीं चाहता। मैंने यहाँ तक बताया था कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन नाम ही राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए सूचक नहीं था, न आज भी है। लेकिन मैं साहित्य के प्रचार की दृष्टि से सदर नहीं बना था। स्व० भाई जमनालाल जी और दूसरे अनेक मित्रों ने मुझे बताया था कि नाम चाहे कुछ भी हो, उन लोगों का मन साहित्य में नहीं था; उनका दिल राष्ट्रभाषा में ही था और इसलिए मैंने दक्षिण में राष्ट्रभाषा का प्रचार बड़े जोरों से किया।

"उपवास के छठे दिन प्रातःकाल में प्रार्थना के बाद मैं यह लेटे-लेटे लिख रहा हूँ। कितने ही दुखदायी स्मरण ताजा होते हैं, पर उन्हें और बढ़ाना मुझे अच्छा नहीं लगता है।. . ."

राष्ट्रपिता बापू ने अपने जीवन-भर जिस विश्वास के साथ अपनी कल्पना को साकार करने के लिए काम किया उसकी पूर्ति नहीं हो सकी। हिंदू-मुस्लिम एकता के आधार पर भारत की अखंडता बनी नहीं रह सकी। नागरी-फारसी दोनों लिपियों में लिखी हिंदुस्तानी भारतीय राष्ट्र की संघीय भाषा नहीं बन सकी। भारतीय संविधान में नागरी लिपि में लिखी हिंदी को ही संघीय भाषा की मान्यता मिली। अरबी-फारसी मूल के शब्दों को छोड़कर केवल संस्कृत-मूल के शब्दों से ही संघीय भाषा के स्वरूप को निर्मित करने का निर्णय लिया गया। राष्ट्रपिता का स्वप्न भंग हुआ। अंगरेजी को भी न हिंदी भगा सकी, न हिंदुस्तानी। वह जमकर देश की छाती पर बैठी है।

इसी प्रसंग में एक दूसरे दृश्यपट की याद आती है। राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन परम देश-भक्त थे, उत्कट हिंदी-प्रेमी थे। इनका चारित्र्य गांधीजी के समान ही महान् था। जिस

प्रकार गांधीजी अपने विश्वास के साथ जिस वस्तु को पकड़ते थे उसे जल्दी छोड़ते नहीं थे, उसी प्रकार टंडन जी भी अपने विचारों में बड़ी दृढ़ता रखते थे। टंडन जी हिंदू-मुस्लिम एकता के बड़े हिमायती थे, वे गांधीजी की तरह भाषा के संबंध में मुसलमानों को लंबी डोर देने को तैयार नहीं थे। टंडन जी उर्दू भाषा के विरोधी नहीं थे, प्रत्युत उसके समुचित विकास को आवश्यक मानते थे। जैसा कि गांधीजी के विचारों से स्पष्ट है, गांधीजी राष्ट्रभाषा के स्वरूप को भारत के हिंदू-मुसलमानों की एकता के आधार पर निश्चित करना चाहते थे। परिवर्तित राजनैतिक परिस्थितियों के कारण गांधीजी को राष्ट्रभाषा के स्वरूप में परिवर्तन करना पड़ा। राजर्षि टंडन इससे पूर्णतः सहमत नहीं थे। वे हिंदी भाषा के वर्तमान स्वरूप को विकृत कर राष्ट्रभाषा बनाने के पक्षपाती नहीं थे।

सन् १९४०-४१ ई० से ही गांधी जी हिंदुस्तानी पर ज्यादा जोर देने लगे थे। हिंदी साहित्य सम्मेलन से अपना सम्बंध-विच्छेद करने के पूर्व उन्होंने इस बात की चेष्टा की कि सम्मेलन पर हिंदुस्तानी-विचारवालों का आधिपत्य हो जाय और इसीलिए देशरत्न राजेन्द्रप्रसाद को उन्होंने सम्मेलन के अध्यक्ष-पद के प्रत्याशी के रूप में खड़ा होने के लिए प्रेरित किया। राजेन्द्र बाबू को गांधीजी के आदेश को शिरोधार्य करना पड़ा, पर वे निर्वाचन में पराजित हो गए और हिंदी के नाम पर डॉ० अमरनाथ झा विजयी हुए। उसके बाद अगस्त-आंदोलन का सिलसिला तीन चार वर्षों तक चलता रहा। आंदोलन समाप्त होने पर गांधी जी ने ता० २८ मई' ४५ ई० को राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के नाम एक पत्र भेजकर अपना यह विचार व्यक्त किया कि "जब मैं सम्मेलन की भाषा और नागरी लिपि को पूरा राष्ट्रीय स्थान नहीं देता हूँ तब मुझे सम्मेलन में से हट जाना चाहिए, ऐसी दलील मुझे योग्य लगती है। इस हालत में क्या सम्मेलन से हटना मेरा फर्ज नहीं होता है? ऐसा करने से लोगों को दुविधा न रहेगी और मुझे पता चलेगा कि मैं कहाँ हूँ।"

टंडन जी ने ता० ८ जून' ४५ई० को गांधीजी के पत्र का उत्तर देते हुए उन्हें सूचित किया कि "हिंदी-साहित्य-सम्मेलन और हिंदुस्तानी-प्रचार-सभा के कामों में कोई मौलिक विरोध मेरे विचार में नहीं है। आपको स्वयं हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का सदस्य रहते हुए लगभग २७ वर्ष हो गए। इस बीच आपने हिंदी-प्रचार का काम राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया। वह सब काम गलत था, ऐसा तो आप नहीं मानते होंगे। राष्ट्रीय दृष्टि से हिंदी का प्रचार वांछनीय है, यह तो आप का सिद्धांत है ही। आप के नये दृष्टिकोण के अनुसार उर्दू-शिक्षण का भी प्रचार होना चाहिए। यह पहले काम से भिन्न एक नया काम है जिसका पिछले काम से कोई विरोध नहीं है। सम्मेलन हिंदी को राष्ट्रभाषा मानता है। उर्दू को वह हिंदी की एक शैली मानता है जो विशिष्ट जनों में प्रचलित है।"

टंडनजी ने अपना विचार व्यक्त करते हुए अपने पत्र के अंत में लिखा कि "मुझे जो बात उचित लगी, ऊपर निवेदन की। किंतु यदि आप मेरे दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं और आप की आत्मा यही कहती है कि सम्मेलन से अलग हो जाऊँ तो आप के अलग होने की बात पर बहुत खेद होते हुए भी नतमस्तक हो आपके निर्णय को स्वीकार करूँगा।"

जिस प्रकार गांधी जी हिंदुस्तानी भाषा, नागरी और फारसी लिपि पर अटल थे उसी प्रकार टंडन जी भी हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि पर दृढ़ बने हुए थे। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं है कि गांधी जी ने शुरू-शुरू में अपने प्रभाव से हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि को सारे देश में प्रचलित करने में सबसे अधिक हिस्सा लिया। यह सब उन्होंने भारत के स्वराज्य के लिए विश्वास-पूर्वक किया। टंडनजी ने भी हिंदी भाषा के वर्तमान स्वरूप तथा नागरी लिपि को अक्षुण्ण बनाये रखने की बड़ी सफल चेष्टा की। आज दोनों ही महापुरुष हमारे बीच में नहीं हैं, पर दोनों की महत्त्वपूर्ण सेवाओं से भारतीय राष्ट्र कृतज्ञ है।

डाक्टर निर्मला अग्रवाल

बापू को खड़ीबोली के कवियों की पुष्पांजलियाँ

भारत के सांस्कृतिक जीवन की जितनी सशक्त एवं सजीव अभिव्यक्ति वर्त्तमान युग में बापू के जीवन द्वारा हुई, अन्यत्र दुर्लभ है। बापू ने जीवन के मूल्यों का निर्धारण उस सांस्कृतिक रूप में किया था जिसमें सत्य, अहिंसा, आत्मबलिदान तथा आत्मत्याग की भावना सर्वोपरि है। सत्य, अहिंसा, करुणा, विश्वबन्धुत्व, विश्वकल्याण, विश्वशान्ति, समष्टिगत सहिष्णुता आदि मानव-जीवन को उदात्त भावनाओं को उन्होंने जिस व्यावहारिक रूपमें अपना कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में घटाया वह केवल भारत ही के लिये नहीं, समस्त विश्व के लिये एक आश्चर्यजनक वस्तु है। आत्म-सुख-अर्जन की महत्वाकांक्षाओं से अछूता बापू का जीवन इस पृथ्वी की अपेक्षा दिव्यलोक से उतरी किसी अवतार-आत्मा सा प्रतीत होने लगता है या किसी माण्डव ऋषि के शापवश मानों धर्मराज ही पुनः विदुर के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए हों। (सांसारिक आकर्षणों से निर्लिप्त रहते हुए धृतराष्ट्र के राजमंत्री महात्मा विदुर ने संपूर्ण जीवन कुरुराज्य की रक्षा-हित तथा उसकी निःस्वार्थ सेवा में समर्पित किया था।) तटस्थ दृष्टि से देखा जाय तो बापू के व्यक्तित्व में उपलब्ध मानवीय गुणों का चरमविकास कोई नवीन वस्तु नहीं है। भारतीय ऋषि-मुनियों के तपःपूत त्यागमय जीवन की अनेक दिव्य तथा परोपकार पूर्ण गाथायें इस पृथ्वी के वायुमण्डल में आज भी प्रवाहमान हैं। बापू के जीवन में जो आश्चर्यजनक है वह यह कि आकांक्षाओं तथा महत्वाकांक्षाओं से पूर्ण आधुनिक समाज में रहकर एवं मृत्यु पर्यन्त संघर्षमय कर्मरत जीवन जीते हुए भी इस वायुमण्डल की गन्ध से वे बिलकुल अछूते निकल गये। आत्मसुख या स्वं के नाम पर केवल राष्ट्रसुख या राष्ट्र-हित ही उनके प्राणों की ज्योति बने थे। राष्ट्र को अपनी आत्मा की पहचान मानकर देखने का वह भाव ही वस्तुतः अलभ्य है, अनमोल है। न यश की अभिलाषा, न ऐश्वर्य की चाह। श्वासों के झंकृत तारों में कोई गूंज थी तो वह थी एक सुखद 'स्वराज्य' जिसकी प्राप्ति और सेवा में ही बापू के जीवन की एक-एक बूंद चुक गई। मन की कितनी कठोर साधना एवं एकाग्रता का परिणाम बापू का यह तपःपूत जीवन था इसे बापू या उनके भगवान् के अतिरिक्त सम्भवतः कोई नहीं जान सकता।

सहज ही में उपलब्ध ऐसे देवपुरुष के जीवन से अनेक लेखक एवं कवि भाव विगलित हुए हैं। कहीं बापू की अहिंसा कवि के मन और प्राण को सुवासित कर रही है, कहीं उनका सत्य में अटल विश्वास काव्य में आलोकित हो रहा है। कहीं उनकी हुंकार काव्य का मेरुदण्ड बन रही है। कहीं

कवि का भाव-विह्वल हृदय ही युग-चरणों में समर्पित हो जाना चाहता है। तात्पर्य यह है कि कवियों की अंजलियों से अनेक छोटे बड़े भाव-सुमन बापू की काव्य-प्रतिभा के चरणों में झरे हैं।[1] सर्व-प्रथम कवि रामनरेश त्रिपाठी ने 'पथिक' काव्य में एक देश प्रेमी युवक के हृदय की तड़प को काव्य-कथा का आधार बनाया। कथा का रूपक देश की तत्कालीन अवस्था के अनुरूप है। अहिंसा, असहयोग, आत्मबल आदि उन सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति 'पथिक' के चरित्र द्वारा हुई है जो तत्काल गांधी जी के चरित्र में मूर्त हुई। 'पथिक' काव्य में महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन को मूर्तरूप दिया गया है। महात्मा गांधी ने इस काव्य को कई बार पढा, इस काव्य की कई लाख प्रतियां हिन्दी संसार में बिक्री हुई, इसीसे इसकी लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस काव्य की प्रत्येक पंक्ति में तत्कालीन वातावरण का चित्रण बड़ा ही अनूठा और चमत्कारिक ढंग से हुआ है।

राजनीतिक दृष्टि से गांधी जी का जीवन ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध अनेक ऐतिहासिक आन्दोलनों एवं सत्याग्रहों की कहानी है। गांधी जी के नेतृत्व में दासता के विरुद्ध राष्ट्र-प्रेम की ऐसी हिलोर भारतीय जन-मानस में उठी थी कि संपूर्ण भारतवर्ष विदेशी शत्ता से टक्कर लेने के लिए एक झण्डे के नीचे आ खड़ा हुआ था। जनसंगठन का वह चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि ने कृष्ण के रूप में बापू की कल्पना की——

आकर यहां वह मधुर उनकी सोहनी वंशी बजी।
सुनकर जिसे गिरिधारिणी गोपाल रण सेना सजी॥[2]

राष्ट्रनायक के गौरवमय व्यक्तित्व की कवि गोकुलचन्द्र शर्मा ने प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति की है। वंश-वर्णन तथा बाल्यकाल से लेकर सन् १९१९ तक की राजनीतिक जीवन की घटनाओं का सजीव वर्णन "गांधी गौरव' में हुआ है। दक्षिण अफ्रीका में गोरों के अन्यायों के विरुद्ध गांधी जी के अभियान की कहानी, जेल जीवन के कष्टों, गांधी जी के नेतृत्व में जनता के सत्याग्रहों तथा नर-नारियों के उत्साह का चित्रण गांधी जी के नायकत्व की पृष्ठभूमि में हुआ है। आस्था से पूर्ण उनकी टेक में कवि को राम के वन-गमन के महत्त्व की सी अनुभूति हुई——

---

१. प्रबन्ध काव्य——"महामानव" ठाकुरप्रसाद सिंह, "जननायक" रघुवीर शरण मित्र, "जगदालोक" गोपालशरण सिंह। खण्डकाव्य——, "गांधी गौरव" गोकुलचन्द्र शर्मा, "बापू" सियारामशरण गुप्त, "बापू" रामधारी सिंह, 'दिनकर" "मेरे बापू" तन्मय बुखारिया। स्फुट कविताओं की तो इयत्ता ही नहीं। सुमित्रानन्दन पन्त, हरिवंशराय बच्चन शान्तिप्रिय द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, नरेन्द्र शर्मा, "अंचल" आदि अनेक कवियों ने गांधी जी की महिमा तथा गुणों का गान अपनी कविताओं में किया है।

२. गांधी गौरव, पृ० ३७, गोकुलचन्द्र शर्मा।

गांधी, तुम्हारी टेक किस अविवेक को न विवेक है
श्रीराम के वनगमन से क्या प्रिय अधिक अभिषेक है।

युगनेता के उर्जस्वित चरित्र का गान कवि सियारामशरण गुप्त द्वारा "बापू" खण्डकाव्य में हुआ है। काव्य की इक्कीस कविताओं में घटना-वर्णन के साथ-साथ बापू के सर्वोच्च गुणों की प्रशस्ति में श्रद्धा एवं भावपूर्ण उद्‌गार उल्लेखनीय हैं। दया के दूत को पाकर भारतभूमि धन्य हो उठी--

धन्य भाग्य प्रभु की दया से हे दया-दूत
ऐसे में हुए तुम प्रादुर्भूत
लज्जा के निवारण-से
डूबते हुए में समुत्तारण-से।
हाथ में तुम्हारे प्रेम-मन्त्र-पूत
शोभित अमल सूत
देखकर नूतन अभय में
आशा बंधी विश्व के हृदय में[1]

वे निखिल बन्धु हैं, उनके स्वर की वीणा में केवल एक ही रसलीन है--वह रस है प्रेम-रस--अपने जीवन का स्वरस दान करके प्रेम के सुकोमल पुण्य को सींचा। वे लोक-गुरु हैं, लोक के पुंजीभूत अछूतपन के उद्धारक हैं, जीवन की रुचिरता का एक मात्र आधार हैं। इतना ही नहीं पूर्वजों के सभी गुण भी मानों बापू के व्यक्तित्व में समाहित हो गये हैं--

प्राप्त इसे दूर के अतल में
सत्य हरिश्चन्द्र की अटलता
श्री प्रहलाद की अनन्त-भक्ति-समुज्वलता
भीष्म की अनूठी ब्रह्मचरता।[2]

इसी भांति कवि की भावधारा अनेक स्थलों पर शतशः खण्डों में विभक्त होकर फूट पड़ी है।

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने गांधी जी को अतिमानवीय एवं अलौकिक मानकर उनके चरणों में ("बापू" काव्य में) पत्र-पुष्प चढ़ाये हैं। बापू मानवता के पुजारी, शान्तिदूत तथा वन्दनीय हैं। "बापू" खण्ड काव्य में जहाँ एक ओर विशाल मानवता के इतिहास के कुछ चित्र

---

१. बापू, पृ० ५० सियारामशरण गुप्त।
२. "बापू", पृ० ६५, ६६।

कवि ने मानवता के रक्षक के प्रति भावनामय उद्गार प्रकट किये हैं, वहां "महाबलिदान" के छन्दों में कवि के आकुल हृदय की छटपटाहट प्रकट हुई है।

महापुरुषत्व से आगे कवि बापू में देवत्व की प्रतिष्ठा करता है। उसका विराट् रूप जैसे कवि के छन्दों में समा ही नहीं पाता--

तू कालोदधि का महा स्तंभ
आत्मा के नभ का तुंग केतु
बापू ! तू मर्त्य-अमर्त्य
स्वर्ग-पृथ्वी भू नभ का महासेतु।[1]

राष्ट्रीय जन जागरण की ऐतिहासिक महागाथा के सूत्रों में अनुस्यूत गांधी के जीवन की सूक्ष्माभिव्यक्ति ठाकुरप्रसाद सिंह के प्रबन्ध काव्य 'महामानव' में हुई है। दक्षिण अफ्रीका संग्राम के प्रथम अभियान से लेकर रक्त-रंजित नौआखाली में बापू के जाने तक की ऐतिहासिक जीवन-घटनाओं का समावेश हुआ है। मध्ययुग में राजपूत वीरों की वीरता, शारीरिक शक्ति की वीरता-में थी। युद्ध-संघर्ष में प्राणोत्सर्ग करके जननी-जन्म-भूमि की रक्षा के संदर्भ में उनके वीरत्व की परख होती थी। किन्तु बापू ने युद्धीय संघर्ष की अपेक्षा कर्मरत संघर्ष एवं आत्म-शक्ति के द्वारा शत्रु पर विजय प्राप्ति का नारा दिया।[2] यह सर्वथा एक नवीन चेतना थी। साहस, आत्मशक्ति तथा दृढ़ता का अर्थ ही बापू के शब्द-कोष में सफलता एवं जीत थी। कवि ने इस विचारधारा को निम्न पंक्तियों में अभिव्यक्ति दी--

साहस दृढ़ता आत्मशक्ति
का अर्थ सफलता जीत
बढ़ो एक ही राह बची
मर मिटें न हों भयभीत।[3]

और बापू की यह ललकार ही तत्कालीन देशभक्तों की मानो जीवन-साधना बन गई थी। ब्रिटिश-शासकों का नृशंसतापूर्ण व्यवहार भी कृतसंकल्प इन वीरों के उत्साह को किसी प्रकार भी

---

१. "बापू", पृ० ३३।
२. कवि ने भी कविता में यह बात कही है--
आज शस्त्र साथ युद्ध, मानव का मानव मन का
बढ़ो विजय की राह गिर रहा खून जागरित जन का॥
--"महामानव" सर्ग छठवां
३. "महामानव"।

कम नहीं कर सका था। संगीनों के मुकाबले में खुली छातियां--कैसा रोमांचकारी अटल व्रत था इन सपूतों का--

ऊपर नीला आसमान
नीचे धरती असहाय
खड़े लिये तुम शान्त लहर सागर की
भर उन्मेष
उठने दो तुम उन्हें धरा पर
दुन्द बांध कर
शस्त्र हिलाते
घोष उठाते
खून गिराते
खड़े रहो तुम ओ मेरे आदर्श
कि जैसे गहन यह कांतार
उन्हें भोंकने दो संगीने
और चलाने दो मशीनगन
गोला गोली
किन्तु अचल तुम।[१]

ब्रिटिश सरकार परेशान थी। जितने गिरते हैं उनसे दूनों की कतार फिर सम्मुख आ अड़ जाती है। आखिर मंत्रदाता को जनता से अलग कर कठोर कारावास में रक्खा गया। न होगा बांस न बजेगी बांसुरी। किन्तु बापू के लिये बन्धन भी बन्धन नहीं रहे। करोड़ों भारतवासियों के प्राणों में उनके प्राण रहा करते थे। पवन की मुक्त सांसों में बापू की आवाज़ गूँजा करती थी। कवि शान्तिप्रिय द्विवेदी ने ऐसे बन्दी बापू को "मुक्त बंदी" कहकर पुकारा है।[२] अपने प्रेरक के दर्शनों

---

१. "महामानव", सर्ग नवां, ठाकुरप्रसाद सिंह।

२. बन्धन, उसको क्या बन्धन ? तन मन जिसका सकल समाज।
अरे उसे तो बांधे हैं बस इन झोपड़ियों की ही लाज।।
आज करोड़ों के प्राणों में करता है जो निशिदिन राज।
कौन उसे बांधेगा वह तो है सिरताजों का सिरताज।।
भुवन-भुवन में एक उसी के तो सब दुहराते हैं गान।
किसे किसे तू बांधेगा ओ मदमाते पशुबल नादान।।
चाह रहे हैं भारत भू के कण-कण भी होना आज़ाद।
विटप विटप में यही प्रतिध्वनि बांधेगा कैसे सैय्याद।।

के लिये भारतीय जनता बेचैन रहती थी। नगर-नगर ग्राम-ग्राम से आकर नर-नारी, बाल-वृद्ध घण्टों पूर्व अपने देवता के दर्शनों के लिये पथ के दोनों ओर बैठ जाया करते थे। एक ऐसे ही दृश्य का वर्णन सोहनलाल द्विवेदी ने अपनी एक लम्बी कविता में किया है—

जुड़ रात रात भर नारी नर
बैठे उत्सुक पथ में आकर
कब रथ निकले सज धज धारी
चल ग्राम ग्राम से नगर नगर से
वृद्ध बाल आए अगणित
करने को लोचन सफल आज
भर देश प्रेम से पावन चित।[1]

बापू का जीवन ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध अनेक ऐतिहासिक आन्दोलनों एवं सत्याग्रहों की कहानी है। इन सत्याग्रहों में दांडी का ऐतिहासिक अभियान बापू एवं भारतीय जनसंग्राम के राग का चरम स्वर है। अनेक काव्य-रचनाओं में डांडी यात्रा का वर्णन हुआ है।[2] गांधी जी की आत्मदृढ़ता एवं आत्मविश्वास की एक यह बहुत बड़ी विजय थी।

ऐसे अटल व्रतधारी के लिये कवि जन जो भी कह दे कम प्रतीत होता है। किस प्रकार वह अपने हृदय के उद्गार उसे अर्पण करे वह मानों यही सोचता सा बैठा रह जाता है और तभी उसे अपने संपूर्ण अतीत के दर्शन इस ज्योतिपुंज में होने लगते हैं। परमार्थ का आदर्श दधीचि मुनि ने प्रस्तुत किया था। कवि की वाणी में गांधी आधुनिक युग के दधीचि हुए—

मुनिवर दधीचि तपश्चरण से पूत पृथ्वी गोद में
त्यागी तपोघन के चरित देते निमग्न प्रमोद में।[3]

कवि "दिनकर" कृष्ण को ही बापू में खोज कर कह उठे—

बापू तू कलि का कृष्ण
विकल आया आंखों में नीर लिये

बन्द रहे वह वृद्ध तपस्वी चाहे जेलों में ही आज।
किन्तु पवन की मुक्त सांस में गूंजेगी उसकी आवाज़॥
—विशाल-भारत, मई, १९३०

१. 'सरस्वती', जुलाई, १९३९।
२. अनूप शर्मा, दण्डी-प्रयाण, सरस्वती, जनवरी, १९३९।
३. गांधी गौरव, पृष्ठ १२५, गोकुलचन्द्र शर्मा।

थी लाज द्रौपदी की जाती
केशव सा दौड़ा चीर लिये।[१]

राजा हरिश्चन्द्र का सत्य में ऐसा अटल विश्वास था कि उन्होने सर्वस्व न्योछावर कर दिया था। कवि ने गांधी जी में भी उसी अटल विश्वास की प्रतिध्वनि सुनी थी, और राम के अनन्य भक्त बापू की भक्ति का चरम रूप भी कितना आकर्षक है कि भक्त प्रह्लाद की कल्पना मानों उन्हीं में साकार हो उठती है—"श्री प्रह्लाद की अनन्तभक्ति-समुज्वलता" और साथ ही "भीष्म की अनूठी ब्रह्मचरता"। तन्मय 'बुखारिया' ने भी राम के सौम्य शुचि साधक, मर्यादा के पाषाण लेख, लक्ष्मण की दुर्धर्ष टेक, सत्य युधिष्ठिर के श्रीमुख, अर्जुन के गाण्डीव धनुष तथा युग दधीचि युग हरिश्चन्द्र[२] कहकर बापू का यशोगान किया है। माखनलाल चतुर्वेदी,[३] हरिवंशराय बच्चन[४] नरेन्द्र शर्मा[५] "अंचल"[६] डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन',[७] आनन्द मिश्र[८] आदि आदि अनेकानेक कवियों ने बापू की अर्चना की है। सुमित्रानन्दन पन्त ने "बापू"[९] "महात्मा जी के प्रति"[१०] "बापू के प्रति"[११] "अभिवादन"[१२] आदि कविताओं में गांधी जी के गुणों तथा आदर्शों का वर्णन किया है। सन्त महात्मा जग के बापू तथा हम दोनों के बापू[१३] कहकर मैथिलीशरण गुप्त ने भी बापू के व्यक्तित्व को वाणी प्रदान की।

वर्धा से दूर सेवाग्राम की स्थापना करके बापू ने अपने सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप दिया था। सेवा, आत्म निर्भरता, कर्ममय जीवन, एकता, पारस्परिक स्नेह यहाँ के जीवन में इस प्रकार घुल मिल गये थे कि मनुष्य-मनुष्य के बीच दूरी अथवा ऊंच-नीच का भाव ही विलुप्त हो गया था। घास फूस की बनी झोंपड़ियों में बैठकर राष्ट्र के कर्णधार देश की समस्याओं को

---

१. "बापू", पृष्ठ २१, रामधारी सिंह 'दिनकर'।
२: "मेरे बापू", पृष्ठ ४०, तन्मय बुखारिया।
३. हिमकिरीटिनी।
४. "सूत की माला", "खादी के फूल"।
५. "रक्त चन्दन"।
६. "विराम चिह्न"।
७. "पर आंखें नहीं भरीं"।
८. "हिमालय के आँसू"।
९. 'विशाल भारत', जुलाई १९३८।
१०. 'सरस्वती', मार्च १९४०।
११. 'सरस्वती' जनवरी १९४०।
१२. 'सरस्वती' फरवरी १९५५।
१३. 'विशाल-भारत', अक्तूबर १९३८।

सुलझाया करते थे। "सेवाग्राम" कविता में सोहनलाल द्विवेदी ने बापू के इस धाम की महिमा के गीत गाये हैं। आश्चर्य चकित हुआ कवि मानो अपने ही से पूछ उठता है--

कौन यह तीर्थ धाम
आते दर्शनार्थी जहाँ प्रतियाम
मन्दिर है कहाँ यहाँ?
प्रतिमा वह कौन कहाँ?
किसकी यहाँ महिमा है
किसकी यहाँ गरिमा है
लघिमा बनी जहाँ भूतल की सब विभूति।
कौन वह दिव्य मूर्ति
देती जो शक्ति-स्फूर्ति?[1]

और यह दिव्यमूर्ति वस्तुतः दिव्य थी, सर्वस्व त्याग कर जन सेवा में अर्पित हो जाने वाली। कवि "बच्चन' इस मूर्ति को सबसे ऊँचा आसन देते हुए कहते हैं --

बेशक वह सब से ऊंचे पद का अधिकारी
कर दे उस पर अपना सब वैभव बलिहारी,
रीझेगा, पर, उन पर कब तक यह संसारी।
उसने सीखा है
सुख संपति को
ठुकराना।[2]

और एक दिन वह सुबह भी आई, अश्रुपूर्ण नेत्रों से बापू के चरणों में, जिसने अपनी प्रथम किरण भेंट की। नियति की सूचना प्राप्त करके जब संपूर्ण प्रकृति हाहाकार कर उठी थी। दूसरी सुबह होने भी न पाई थी कि वह दिव्य आतमा अपने ज्योति पुंजमें विलीन हो गई। विश्व बंधुत्व की ज्योति जगाते-जगाते बापू अपनी ही संतान के हाथों अखण्ड समाधि बन गये। यहाँ भी मानो त्यागमय व्यक्तित्व की ही झलक दे गये। जिस पौधे को अपने रक्त से सींचा था, सहलाया था, कलियां फूटती हुई देखने से पूर्व ही किसी योगी की तरह नाता तोड़ कर चल दिये। संपूर्ण भू मण्डल किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गया और जब चेतना लौटी तो अश्रुओं का सागर ही उमड़ पड़ा। कवि का मन तो पुकार-पुकार कर इस महादेवता को महाप्राण के पथ से लौटा लाना चाहता है, नगराज उसका पन्थ

---

१. 'सेवाग्राम' कविता से।

२. सूत की माला से।

रोक ले, अंबर शून्य दृष्टि से क्या देख रहा है, भागते हुए बापू के चरणों को पकड़ कर रोक क्यों नहीं लेता।[1] करोड़ों मनुष्यों के प्राण, आशा, अभिमान सभी कुछ बापू में केन्द्रीभूत हुए चले जा रहे हैं किन्तु सभी मौन मूक भाव से व्यथा के कण बिखराते हुए खड़े हैं। मार्च १९४८ की "सरस्वती" में दिवंगत बापू के लिए अनेक करुणा विगलित श्रद्धांजलियाँ अर्पित हुई। पुण्य सलिला भागीरथी मां की गोद में अंतिम विश्राम के लिए बापू का निःशेष जा रहा है। कवि सुमित्रानन्दन पन्त ने यह कहकर कि—"राजकीय गौरव से जाता आज तुम्हारा अस्थि फूल रथ"[2] मानो बापू को अंतिम प्रणाम किया। इस प्रकार खड़ीबोली के आधुनिक कवियों ने जीवन-यात्रा से लेकर महाप्रयाण की परिधि तक के बापू के दिव्य जीवन से काव्य को महिमा-मंडित किया है।

---

१. पकड़ो, वे दोनों चरण पकड़ाकर
जिन्हें हमें सौभाग्य मिला
पकड़ो, वे दोनों चरण जिन्हें
छू कर जीवन का कुसुम खिला।

—रामधारी सिंह, 'दिनकर', "बापू" पृष्ठ ४२।

२. अस्थि-विसर्जन, मार्च १९४८, सरस्वती।

श्री जेठालाल जोशी

पूज्य बापू के पावन दर्शन

वह व्यक्ति भाग्यशाली है जिसने पूज्य बापू के दर्शन किये हैं। इस नश्वर देह में इतनी बड़ी आत्मा का निवास करना अपूर्व घटना है। मानव कितनी महान विभूति है उसका परिचय पूज्य बापू के दर्शनों से हो सकता था। देह वही थी जो जन साधारण की होती है। परन्तु उस देह में युगावतार की आत्मा निवास करती थी। उस युग का हर व्यक्ति पूज्य बापू के दर्शनों के लिए लालायित रहता था। सन् १९१९ के जलियाँवालाबाग के क्रूरकांड ने देशभर को झकझोर दिया था। ब्रिटिश शासकों की नृसंशता तथा पशुता का यह प्रत्यक्ष प्रमाण था। पूज्य बापू का हृदय इस प्रकोप से जल उठा। वे अमृतसर के लिये रवाना हुए थे परन्तु इन्हें अहमदाबाद लाया गया। सारा नगर जनता के विद्रोह का रूप धारण किये हुए था। ब्रिटिश फौजों ने सारे नगर पर कब्जा कर लिया था। मार्शल-लॉ जारी कर दिया गया था। पाँच व्यक्ति एक साथ कहीं फिर नहीं सकते थे। सारा शहर अंधकार की गहरी छाया में छिपा हुआ था। भयंकर आतंक छाया हुआ था। फौजी सार्जेंटों की गोलियों से मारे गये लोगों को घर के आंगन में जलाया जाता था। शव को श्मशान तक ले जाने की स्थिति नहीं थी।

पूज्य बापू ने सरकार को लिखा कि मार्शल-ला हटाया जाय। कोई ग्यारह बजे पेंफ्लेटों से सूचना प्रसारित की गई कि मार्शल-लॉ हटाया गया है और शाम को गांधीजी का एक भाषण चंद्रभागा नदी के पास वाले स्थान पर रखा गया था। हमारी जवानी के दिन थे। २०-२१ की मेरी आयु थी। पूज्य बापू को प्रत्यक्ष देखने की इच्छा प्रबल हो उठी। मार्शल-लॉ की परवाह किये बिना ही हजारों लोगों के साथ मैं भी भाषण सुनने चंद्रभागा के पासवाले मैदान में पहुँच गया। यहाँ बापू ने अपना भाषण दिया। छपा हुआ भाषण वितरित किया गया। इसका प्रधान स्वर था शांति रखो, किसी अंग्रेज की हत्या न हो। हमें अहिंसा का ही आश्रय लेना है। पूज्य बापू का शरीर सुंदर तो नहीं था। दुबला पतला शरीर। सिर तथा शरीर पर मोटी खादी की टोपी, कुर्ता, मोटी धोती लेकिन व्यक्तित्व और वाणी ने सबों के हृदय और मन को जीत लिया। यह था पूज्य बापू का मेरा पहला दर्शन!

पूज्य बापू ने असहयोग आन्दोलन शुरू कर दिया। असहयोग आन्दोलन में एक कार्य यह भी था कि सरकारी शिक्षण-संस्थाओं तथा सरकारी परीक्षाओं का परित्याग। मैं उस वर्ष मैट्रिक में पढ़ रहा था। परीक्षा मार्च में होनेवाली थी। मैंने सरकारी मान्य संस्था में पढ़ना तथा सरकारी परीक्षा न देने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। हमारी पढ़ाई और हमारी परीक्षाओं का प्रबंध

गुजरात विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा था। हमारी यह मैट्रिक की पहली ही परीक्षा थी। मार्च के अंतिम दिन थे। हम परीक्षार्थी प्रोप्रायटरी हाई स्कूल में परीक्षा दे रहे थे। पूज्य बापू, आचार्य गिडवानी स्कूल के आचार्य श्री बल्लुभाई, आचार्य श्री दीवान ये चारों परीक्षा भवन का निरीक्षण कर रहे थे। पूज्य बापू आगे थे। आचार्य गिडवानी उनके पीछे थे। मैंने पूज्य बापू के यहाँ दूसरी बार दर्शन किये। मैं हृदय में अपने को धन्य अनुभव कर रहा था कि यह जीवन का कितना बड़ा अवसर है कि पूज्य बापू हमें परीक्षा-भवन में देखने आये हैं और हम इनके दर्शन कर रहे हैं।

मैंने अपने जन्मस्थान कुशलगढ़ में स्कूल में नौकरी कर ली थी। देशी रियासत थी। खादी, चरखा, गांधीजी तथा उनके 'नवजीवन' और 'यंग इण्डिया' से रियासत के दीवान चौंकते थे। लेकिन ये सभी बातें हम नवयुवकों को तो जीवन-प्रेरणा देनेवाली थीं। मैं 'नवजीवन' और 'यंगइंडिया' दोनों का ग्राहक बन गया था। दोनों साप्ताहिक नियमित मिलते रहते थे। मैं इन्हें सरे बाजार में खड़े रहकर जोर-जोर से पढ़ा करता था। श्री रामजी मंदिर में कई सुननेवाले आया करते थे। वे दिन तो जीवन के मस्तीभरे चिरस्मरणीय दिन थे।

पूज्य बापू बेलगाँव कांग्रेस से सीधे दोहद भील सेवा मंडल में पधारनेवाले थे। पूज्य ठक्करबापा भील सेवा मंडल के संस्थापक, कर्णधार और सर्वेसर्वा थे। मैंने और कुछ युवकों ने दोहद पहुँचकर पूज्य बापू का दर्शन करना चाहा। आखिर सभी युवक डर गये। मैं और मेरे पिताजी के मित्र की पुत्री दोनों दोहद पहुंचे। पूज्य बापू के दर्शन किये। आपकी वाणी हृदय तक पहुंच जाती थी।

मैं देशी रियासत में कुछ बँधा सा जीवन बिता रहा था। चरखा, कातता था। खादी पहनता था। 'नवजीवन और 'यंगइंडिया', 'अभ्युदय', 'बाम्बे क्रोनीकल' नियमित पढ़ता था। स्कूल में नौकरी करता था फिर भी वहाँ का जीवन अति संकीर्ण और बँधा सा लगता था। दिल तो अब यहाँ से उचट ही गया था। आखिर मैं एक हिन्दी शिक्षक के रूप में अपने गुरु आचार्य श्री यल्लुभाई की कृपा से अहमदाबाद महिला विद्यालय में पहुँच गया। फिर तो प्रति सप्ताह पूज्य बापू के दर्शनार्थ हम पतिपत्नी सत्याग्रहाश्रम साबरमती चले जाया करते थे। बापू की प्रार्थना में जाना भी जीवन का धन्य अवसर था।

एक प्रसंग याद आता है। भगुभाई के अहाते में डा० ऐनीबेसेन्ट की शोकसभा थी। पूज्य ठक्करबापा भी उस सभा में उपस्थित थे। इस सभा के अध्यक्ष थे पूज्य बापू। उन दिनों दूरभाष-यंत्र नहीं थे। हजारों की भीड़ थी। व्याख्याता बीच में मेज पर खड़े होकर या बैठ कर भाषण देते थे। डा० नाणावटी नाम के एकवयोवृद्ध सज्जन भाषण देने खड़े हुए। उन्होंने सभा के एक सिरे पर बरामदे में जहाँ बैठे थे वहीं खड़े होकर भाषण देना शुरू किया। हम युवकों ने जोर से आवाज लगायी स्टेज स्टेज। पूज्य बापू ने सुना शेम शेम। पूज्य बापू जी ने श्री ठक्करबापा से पूछा कि ये युवक क्या चिल्ला रहे हैं। ठक्करबापा कुछ कानों से ऊँचा सुनते थे। उन्होंने भी बताया कि कुछ शेम शेम शब्द सुनायी पड़ रहा है। पूज्य बापू गुस्सा हो गये। गुस्से में भरे हुए अपने स्थान से उठे

और बड़ी तेजी से साथ स्टेज-मेज पर आ बैठे। सारी सभा सन्न रह गई। किसी में भी आवाज निकालने की हिम्मत नहीं थी। बापू ने कहा--"डा० नाणावटी भाषण शुरू करो।" डा० नाणावटी ने भाषण शुरू किया। अन्य वक्ताओं के भाषण के बाद पूज्य बापू ने अपना अध्यक्षीय भाषण शुरू किया। "मुझे बेहद दुःख और शर्म है कि ये युवक डा० नाणावटी जैसे के भाषण के समय शेम शेम की आवाज लगाते थे।" हम पास ही बैठे हुए थे। पूज्य बापू से निवेदन किया कि बापूजी यह शब्द शेम नहीं था। स्टेज था। यह सुनते ही बापू ने अट्टहास किया और कहा कि मैं तो नहीं सुन पाया था। परन्तु ठक्करबापा भी बहरे निकले। बापू ने युवकों को धन्यवाद दिया कि तुमने बड़ी आत्मीयता से मेरी रोष भरी बातों को बरदाश्त कर लिया। यहाँ हमने पूज्य बापू का गुस्सा, अट्टहास तथा अपनत्वभरा स्नेह देखा। यही तो बड़ों का बड़प्पन है।

पूज्य बापू नियमित रूप से शाम को घूमने जाया करते थे। सत्याग्रह आश्रम के पास ही उत्तर की ओर साबरमती जेल है। बापू उसी ओर घूमने जाया करते थे। दर्शनार्थी शाम को बापू के पीछे पीछे चलते थे। बापू अपने साथियों से या मिलने आये हुए व्यक्तियों से बातें करते हुए चलते थे।

एक बार का प्रसंग याद आता है। हम बापू के पीछे-पीछे चल रहे थे। पूज्य काका साहब भी साथ थे। उस वक्त एक दुष्ट व्यक्ति बुरी तरह से बापू को भद्दी गंदी गालियाँ देता हुआ साथ चल रहा था। और जोर जोर से चिल्लाता था। आखिर गंदी गालियाँ सुनकर मुझे गुस्सा आगया। मैंने पूज्य काका साहब से कहा कि इस आदमी को साथ चलने से रोक दिया जाना चाहिये। आज्ञा दें तो मैं उसे यहीं पर रोक लूं। काका साहब ने कहा--"कुछ मत बोलो, तुम देखते हो बापू इसकी आवाज को सुनते ही नहीं। ये तो शांति से मिलनेवालों से बातें करते हुए चल रहे हैं। यदि तुम गुस्से में आकर इस आदमी को डांटने के लिये बोलोगे तो बापू का ध्यान इस ओर हो जायगा और इनकी शांति में बाधा पहुँचेगी।" मैं मौन रहा। यह थी बापू की एकाग्रता।

एक बार बापू का स्वास्थ्य बिगड़ा। हृदयकुंज में बापू को देखने तीन चार डाक्टर शाम को पहुँचे। इन डाक्टरों में डा० कानूगो, डा० हरिप्रसाद देसाई, डा० हरिभाई देसाई भी थे। डाक्टरों ने बापू को देखा, जांचा और कुछ खान पान बदलने के बारे में परामर्श दिया। शायद अंडे लेने की सलाह दी गई हो पूज्य बापू ने इन डाक्टरों से कहा कि तुम डाक्टर लोग कोई नयी बात नहीं सोच पाते, क्या भारतीय अन्नाहार में रोग मिटाने की तथा शरीर स्वस्थ रखने की शक्ति नहीं है? तुम्हें आहार-बिहार के बारे में भारतीय ढंग से सोचने की आदत डालनी चाहिये। कुछ खोज करनी चाहिये।

एक बार पंडित मोतीलाल जी नेहरू बापू से मिलने सत्याग्रहाश्रम पहुंचे। उन दिनों बापू श्री मगनभाई गांधी (गांधी जी के भतीजे) के निवास-स्थान पर रहा करते थे। क्योंकि श्री मगनभाई गांधी के देहावसान से उनकी पत्नी को सान्त्वना मिलती रहे, इसलिए बापू ने हृदय-कुंज छोड़कर श्री मगनभाई के निवासस्थान पर रहना शुरू किया था। बापू पूर्वाभिमुख बैठे थे। चर्खा कात रहे थे। पंडित मोतीलाल जी नेहरू उत्तराभिमुख बैठे हुए थे। बापू खुले शरीर थे।

पंडित मोतीलाल जी खादी का कुर्ता पहने हुए थे। सिर खुला था, सिर के सफेद बाल संवारे हुए थे। छोटे से तकिये के सहारे बैठे थे। पंडित मोतीलाल जी कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये थे। उन दिनों पं० जवाहरलाल जी, श्री सुभाष बाबू तथा डा० आलम पूर्ण स्वाधीनता के पक्के समर्थक थे और कांग्रेस मंच पर से पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित कराने की पैरवी में थे। पंडित मोतीलाल जी बापू से परामर्श करने यहाँ आये थे, दोनों नेताओं की वातें सुनने का सुअवसर भी जीवन का अमूल्य अवसर था। पंडित मोतीलाल जी ने बापू से कहा कि "इस जवाहरलाल को कैसे समझाया जाय।" बापू ने कहा कि जवाहर को समझाने का काम मुझ पर छोड़ दो। पूज्य बापू जवाहरलाल को अपना राजनैतिक उत्तराधिकारी जो मानते थे।

पूज्य बापू विनोदप्रिय तो थे ही। एक बार बापू घूमने जा रहे थे। आश्रम की कुछ लड़कियाँ साथ चल रहीं थीं। एकाध ने कहा कि बापूजी––तुम्हारे कान बड़े हैं। बापू के कान शरीर के अनुपात में कुछ बड़े थे। बापू ने उत्तर दिया––हाँ, कान जरूर बड़े हैं पर मैं गधा नहीं हूँ।

पूज्य बापू को अपनी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्ति का पूरा भरोसा था। एक बार बापू अहमदाबाद से वर्धा जा रहे थे। बापू आश्रम से साबरमती स्टेशन तक हमेशा पैदल ही जाया आया करते थे। सुबह का समय था। बापू सौराष्ट्र एक्सप्रेस पकड़ने आश्रम से चल पड़े। मैं साबरमती स्टेशन प्रातः पहुंच गया गौर आश्रम की ओर चला। आधे रास्ते बापू के दर्शन हो गये। बापू ने समय पूछा कि मैंने अपनी घड़ी देखकर समय बताया और कहा कि मेरी घड़ी पाँच मिनट आगे हैं। बापू ने तुरन्त कहा कि––"पांच मिनट घड़ी आगे रखनी पड़ती है" हमने कहा कि बापू हम आपको उठा लें और आप जल्दी स्टेशन पहुंच जायें। गाड़ी का समय हो गया है। बापू ने कहा "अभी तो मैं इतनी ताकत रखता हूँ कि तुम जैसे दो को कंधे पर उठाकर चल सकता हूँ।" उन दिनों बापू साठ पार कर चुके थे।

बापू स्टेशन पर समय से एक मिनट पहले ही पहुँच गये। पूज्य कस्तूरबा पहले ही पहुंच गयीं थीं। गाड़ी आई, प्लेटफार्म पर रुकी। बापू तथा पूज्य कस्तूरबा गाड़ी में चढ़े। तीसरी श्रेणी का डिब्बा था। बापू और बा दोनों खड़े थे। लोगों में यह विवेक तो आया ही नहीं था कि इनके लिए जगह कर दें। पूज्य कस्तूरबा ने बापू से कहा कि मैं कहाँ बैठूँ। बापू ने अपनी तलपदी भाषा में कहा कि "क्यांक खडकाई जा ने।" कहीं जगह बना लो। मैं उसी गाड़ी में अहमदाबाद लौट रहा था। राष्ट्रपिता तथा राष्ट्रमाता की ये बातें कितनी प्रेरणादायी थीं।

मेरी ३२वीं वर्षगांठ थी। मैंने निश्चय किया कि मैं आज बिना कहीं रुके लगातार ३२ मील चलूं। मैं प्रातः घर से चल पड़ा। आश्रम पहुंच गया। पूज्य बापू के दर्शन किये। आशीर्वाद प्राप्त हुआ। पूज्य बापू ने सिर पर हाथ रखा। मैं धन्य अनुभव करता हुआ वहाँ से बिदा हुआ। ३२ मील चलकर शाम को घर पहुँचा। आज उपवास तो था ही।

मैं एक दिन प्रातः आश्रम चला गया। हृदयकुंज में एक किनारे बैठ गया। पूज्य बापू 'यंग इंडिया' तथा 'नवजीवन' के प्रूफ देखने में तल्लीन थे। बापू पूर्वाभिमुख जमीन पर एक आसन बिछाये बैठे थे। दीवाल के सहारे एक लकड़ी की पटरी रखी हुई थी। सामने लिखने के लिए

डेस्क था। बस कोई डेढ़ दो घंटे एकाग्रता से बापू प्रूफ देखने का कार्य करते रहे। मुझे देखा तक नहीं और टोका भी नहीं कि अभी बाहर बैठो। अपन कार्य पूरा करके बापू ने सिर उठाया और मेरी ओर देखा। मुझसे पूछा कबसे बैठे हो? उसी समय एक सज्जन बापू से मिलने कानपुर से आये थे। इन्होंने कानपुर के समाचार कह सुनाये। बाद में बापू केवल तीन वाक्य बोले––सरकार क्या करती है? लोगों की तैयारियाँ कितनी हैं? मुझे दिल्ली में फलाँ तारीख को मिलो। बापू की–– एकाग्रता ने तथा अत्यल्पमितभाषिता ने मन पर बड़ा प्रभाव डाला।

एक बार मैं महिला विद्यालय की करीब बारह-तेरह छात्राओं को साथ लेकर बापू के दर्शनार्थ आश्रम गया। अहमदाबाद में रहते हुए इन छात्राओं ने पूज्य बापू के दर्शन नहीं किये थे तथा आश्रम भी नहीं देखा था। वह जमाना ही कुछ और था। लड़कियों के बाहर आने जाने की बात ही नहीं सोची जा सकती थी। आचार्या ने स्वीकृति नहीं दी। मैंने छात्राओं से कहा कि रविवार के दिन हम चलेंगे। इन बहनों को साथ लेकर साबरमती पहुँचा। पूज्य बापू हृदयकुंज में बैठे हुए थे। दर्शन किये। पूज्य बा रसोई घर में थीं। उनके दर्शन किये। बा ने कुछ लड़कियों की पीठ पर हाथ फेरा और लड़कियों को खादी पहनने के लिए कहा। इन लड़कियों में से तीन चार ने आजीवन खादी पहनने का व्रत लिया और अभी तक उस व्रत का बराबर पालन करतीं हैं।

इन दिनों आश्रम में सेठ जमनालालजी बजाज, श्री मीराबहन, श्री नरहरिभाई पारीख भी थे। इनसे भी मिले। पूज्य बापू ने हम सबों को भोजन के लिए भी आग्रह किया कि भोजन का समय हो गया है, चलो, साथ बैठकर भोजन कर लो। ये छात्रायें अपने साथ पाथेय लायी थीं। अतः मैंने बड़ी विनम्रता से बापू से निवेदन किया कि ये बहनें साथ खाना लायी हैं, हम चाहते हैं कि हम भोजनालय में कुछ मिनटों के लिए बैठें। बापू ने यह व्यवस्था करवा दी। हम भोजनालय में गये और बापू वाली कतार में शांतिपूर्वक बैठ गये। भोजनालय में करीब १००-१५० व्यक्ति अपने-अपने स्थान पर शांतिपूर्वक बैठे थे। भोजन बिना नमक मिर्च का था। सभी को परोसा गया। फिर प्रार्थना हुई और सबों ने खाना शुरू किया। भोजनालय की शांति तथा शुद्धता-पवित्रता का क्या कहना! हम शांति से भोजनालय से बाहर आये। हृदयकुंज के पास ही एक पेड़ के नीचे बैठ कर जो साथ लाये थे वह खाया। श्री नरहरिभाई नें पानी के बरतन वगैरा का तो प्रबंध कर ही दिया था। बापू की आत्मीयता हृदय को जीत लेनेवाली थी।

दांडी-कूच के दिनों में आश्रम के रास्ते पर काफी चहल-पहल थी। आदमियों तथा मोटरों का तांता लगा रहता था। सारा नगर एक तरह के चिन्ता-भार से दबा हुआ था। वह दिन भी आ पहुँचा जिस दिन बापू अपने साथियों के साथ दांडी के लिए पैदल कूच करनेवाले थे। नगर के करीब-सभी नरनारी लाखों की संख्या में आश्रम के मार्ग पर आ बैठे थे। सभी मौन थे। लाखों की भीड़ थी लेकिन सभी सड़क के दोनों ओर चुपचाप बापू के इस महाभिनिष्क्रमण से भयाक्रान्त स्थिति में खड़े थे। न कोई किसी से बात करता था न कुछ बोलता था। बहुतेरों की आँखों में आँसू थे।

सबेरे प्रार्थना के बाद कोई साढ़े पाँच बजे बापू की यह टोली आश्रम से बिदा हुई। पूज्य बा ने बापू के ललाट में कुम् कुम् लगाया। इस टोली में कोई अठहत्तर भाई थे। श्री नारायण मोरेश्वर खरे हाथ में तंबूरा लिये आगे थे। बाद में पूज्य बापू की यह टोली आश्रम से चल पड़ी। बापू की चाल तेज थी। लोगों की आँखें आँसूओं से भींगी थीं। ये सभी मौन धारण किये हुए थे। सबके हृदय भयाक्रान्त तथा शोकविह्वल थे। सारा हृदय करुणा से भरा था। ब्रिटिश शासकों के उच्च पदाधिकारियों की दौड़धूप भी कुछ कम न थी। बापू की यह टोली ने सप्तर्षि के श्मशान गृह के पास वाले रास्ते से साबरमती नदी पार की। श्री जगन्नाथ जी के मंदिर के पास से होते हुए चंडोला तालाब पहुँचे। सबेरे का ८ बजे का समय था। दांडी कूच के सभी लोगों ने चंडोला तालाब में हाथ मुँह धोये। पाँच सात मिनट बैठे। पूज्य बापू ने यहाँ आखिरी संदेश दिया। बहनों और भाइयो तुम सब लौट जाओ। मेरा मार्ग दूसरा है। आपका मार्ग नगर की ओर है। जाओ शक्तिभर स्वराज्य प्राप्ति के आंदोलन के कार्य में लग जाओ। राम बनवास गये और सारे नगरजन मन मलीन उदास चेहरे लिये हुए लाचार नगर को लौटे थे, वही यह दृश्य था।

पूज्य बापू, सारे संसार को भगवान् बुद्ध, भगवान् श्रीराम, महान पैगंबर, क्राइस्ट की याद दिलानेवाले युगावतार महान् पुरुष सदियों के बाद मानव जाति को शांति का, सत्य और अहिंसा का संदेश देने आये थे। भारत भूमि धन्य है। भारतीय धन्य हैं कि यहाँ सत्य और अहिंसा का ऐसा महान् पुजारी उत्पन्न हुआ।

आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी

महात्मा गांधी और हिन्दी

सन् १८८५ में जब कांग्रेस का श्रीगणेश हुआ उस समय भारत के सभी हितचिन्तकों का एक मात्र उद्देश्य था राष्ट्र की प्रगति के काम में जी जान से लगे हुए लोगों को एक दूसरे से परिचित कराना अर्थात् भारत की आकांक्षाओं की पूर्ति और समस्याओं के समाधान के लिये ऐसा मंच तैयार करना जहाँ भारत के सब प्रदेशों के नेता एकत्र होकर भारत की प्रगति पर विचार करते हुए तत्कालीन ब्रिटिश शासकों से प्रार्थना करके भारतीय जनता के लिये वे सभी सुविधाएँ प्राप्त कर सकें जिनके अभाव में भारतीय जनता के अनेक प्रकार के कष्ट और असुविधाएँ हो रही थीं और अपमानित भी होना पड़ रहा था।

इस राजनैतिक मंच की कार्य-व्यवहार-भाषा अँगरेज़ी थी जो निरन्तर लगभग ४० वर्षों तक उस मंच पर निर्बाध गति से चलती रही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अँगरेज़ी के अत्यन्त प्रभावशाली वक्ताओं का जैसा विशाल यूथ उस युग में विद्यमान था उस टक्कर के क्या उससे उन्नीस पड़नेवाले भी हिन्दी के प्रभावशाली वक्ता महामना मालवीय जी—जैसे इनेगिने दो-चार ही महापुरुष हो पाए। क्योंकि धारा-प्रवाह सभाशीलयुक्त (पार्लमेंटरी) अंगरेज़ों के भाषण में पटुता, दक्षता और कौशल प्राप्त करने के लिये जो साधना और अभ्यास उस समय किया जाता था और जिसकी वरिष्ठ परम्परा अंगरेज़ी शिष्ट-समाचार से उन मनीषियों को सुलभ थी वह साधना, वह अभ्यास और उस प्रकार की कोई परम्परा हिन्दी को सुलभ न हो सकी जिसके कारण आज हमारी विधान सभाओं और संसद् में इस प्रकार के अभद्र दृश्य और भाषा-प्रयोग के ऐसे जुगुप्सा-जनक कांड पढ़ने को मिलते हैं कि लज्जा भी आँचल में मुँह छिपाकर भाग खड़ी होती है।

स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् राष्ट्र-भाषा या भारत की सर्व-व्यवहार-भाषा का प्रश्न राजनीति के ऐसे भीषण वात्याचक्र में डाल दिया गया कि वह उसीमें पड़ा हुआ वेग से ऐसा चक्कर काटता हुआ घूमे जा रहा है कि अब उसमें स्थिरता आ पाने की कोई शक्ति शेष नहीं रह गई है। इस विपन्न और अनिश्चित अवस्था में हिन्दी को पुनः अपनी सात्विक ऊर्जस्विता के साथ अपनी नैसर्गिक सार्वजनीन क्षमता के बलपर अपना महत्व प्रतिष्ठित करना होगा और राजकीय आश्रय का भरोसा पूर्णतः छोड़ देना होगा।

सन् १९०५ में बंग-भंग के समुज्ज्वाल के समुचित अवसर पर विदेशी शासन को भारत से उखाड़ फेंकने के लिये स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का जो आन्दो-

लन चलाया गया उसी समय यदि विदेशी भाषा के बहिष्कार और स्वदेशी भाषा के प्रयोग का आन्दोलन भी छेड़ दिया जाता तो संभवत: राष्ट्रभाषा की समस्या उतनी जटिल न हो पाती जितनी अब 'अपनी ढपली अपना राग' गाने की वैधानिक सुविधा के कारण राजनीतिक अधिनायकों और सामन्तों ने बना दी है, जो राष्ट्र के हित की तनिक भी चिन्ता न करके अपनी गोटी लाल करने, अपना उल्लू सीधा करने और अपनी कुर्सी बनाए रखने के लिये जनता के यूथ-मानस को भड़काने का सूत्र ढूँढ़ते रहने की ताक में लगे रहते हैं। यजमान चाहे स्वर्ग में जाय या नरक में, हमें अपने मालपूए से काम, यही उनका जीवन-मन्त्र है।

राजनीतिक नेताओं में सर्वप्रथम गाँधीजी ने ही यह अनुभव किया कि अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये व्यवहार में आनेवाले मंच पर और अपने अन्त:प्रादेशिक व्यवहार के लिये विदेशी भाषा का व्यवहार करना नितान्त लज्जाजनक तथा दासता और परतन्त्रता का दरिद्र लक्षण है। अत: भारत की ही किसी सर्वाधिक प्रचलित, सरल और सर्वबोध भाषा को ही अन्त:प्रादेशिक व्यवहार और अपने देश की सर्व-व्यवहारशील भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना नितान्त आवश्यक है। यह गुण एक मात्र हिन्दी में ही था क्योंकि वह धर्मप्रचारकों और व्यापारियों के द्वारा बहुत पहले से ही भारत के अधिकांश भू भाग में व्यवहृत होने लगी थी। फलत: अहमदाबाद कांग्रेस में महात्मा गांधी की प्रेरणा से यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया गया कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा होगी। गांधी जी अपनी बात के धनी थे। अपने इस संकल्प को दृढ़ और सशक्त करने के लिये गाँधी जी ने इन्दौर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता इसी आधार पर स्वीकार की कि दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार के लिये एक लाख रुपया मिले। संयोगवश एक लाख रुपया भी मिल गया और गांधी जी ने उस निधि से मदरास में दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा (अब हिन्दी प्रचार सभा) की स्थापना करके दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार का श्रीगणेश कर दिया।

उस समय के हिन्दी प्रचारकों ने किस निष्ठा, लगन, त्याग और तपस्या के साथ दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार किया उसका विवरण देना यहाँ असंगत न होगा। क्योंकि उससे यह समझने में सुविधा होगी कि हिन्दी के लिये गाँधी जी के हृदय में कितनी निष्कपट निष्ठा थी और हिन्दी प्रचारकों ने कितनी त्याग-भावना से अनेक असुविधाएँ सहकर और अनेक कठिनाइयाँ झेल कर निश्छल सेवाभाव से हिन्दी का प्रचार किया।

गाँधीजी ने अपने भेजे हुए हिन्दी प्रचारकों को आदेश दे रक्खा था कि अपनी पुस्तक, अपनी चटाई और अपनी लालटेन लेकर सूर्योदय से पूर्व किसी भी शिक्षित परिवार के द्वार पर पहुँच जाओ और द्वार खुलने पर गृहपति, गृहलक्ष्मी या गृहकन्या से निवेदन करो कि 'गाँधीजी ने हिन्दी सिखाने के लिये भेजा है, कृपया आध घंटा समय देकर हिन्दी सीखने का कष्ट कीजिए।' गाँधी जी का यह भी आदेश था कि किसी भी गृहस्थ के घर न रहना, न किसी के यहाँ चाय-काफी पीना, न भोजन करना और न किसी प्रकार का पुरस्कार लेना; मन्दिर, मसजिद, विद्यालय आदि किसी भी सार्वजनिक स्थान पर या पेड़ के नीचे पड़े रहना अर्थात् कभी किसी पर भार न बनना।

इतना कठिन व्रत लेकर प्रचार-कार्य करनेवाले को केवल पाँच रुपए मासिक दक्षिणा दी जाती थी। आज कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि दक्षिण भारत में हिन्दी का प्रचार कितनी तपस्या के साथ किया गया।

मेरे अपने अनुभव की बात है कि एक सहस्र से भी अधिक परिवारों से सम्पर्क करने पर एक भी परिवार का एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला जिसने हिन्दी सीखने में तनिक भी आलस्य, अरुचि या क्षोभ का परिचय दिया हो। इतना ही नहीं, प्रचारकों के जाने पर घर के सभी बच्चे, बूढ़े, युवक, पुरुष, स्त्री सब बड़े चाव, रुचि और श्रद्धा से बैठकर हिन्दी पढ़ते थे। यह दुर्भाग्य की ही बात है जिस प्रदेश में लोगों ने इतनी निष्ठा के साथ हिन्दी पढ़ी और पढ़ाई उसीमें आज हिन्दी का विरोध हो रहा है।

इसी बीच अकस्मात् ऐसी चिन्तनीय घटना हो गई जिसने हिंन्दी की इस वर्धमान प्रगति और वेग को झकझोर कर पंगु बना दिया। जिस हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के गाँधीजी अध्यक्ष रहे उससे उन्होंने सम्बन्ध-विच्छेद करने का दृढ़ निश्चय करके त्यागपत्र दे दिया। उनके इस निश्चय के कारण हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की प्रतिष्ठा को जो धक्का लगा वह तो लगा ही, हिन्दी के प्रचार का समग्र आवेग भी शिथिल पड़ गया। गाँधीजी की यह चारित्रिक विशेषता थी कि वे जिस बात को स्वतः ठीक समझ बैठते थे उसके लिये वे अंगद का पैर रोप देते थे और किसी भी प्रकार किसी के कहने पर भी वे तबतक टस से मस नहीं होते थे जब तक वे स्वयं उसकी व्यर्थता का अनुभव नहीं कर लेते थे और फिर महापुरुषों के समान वे अपनी भूल स्वीकार भी कर लेते थे। कृत्रिम हिन्दुस्तानी भाषा के प्रति उनका आग्रह भी उनकी उसी दृढ़ निष्ठा का परिणाम था। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि उन्हें कुछ दिन और जीवित रहने दिया जा सकता तो अपनी स्वाभाविक सत्यनिष्ठा के कारण शीघ्र ही हिन्दुस्तानी भाषा के प्रति वह अपनी आस्था समाप्त कर देते और अपने तद्विषयक आग्रह को भूल मानकर उसका परिहार कर देते क्योंकि कोई भी भाषा अपनी प्रकृति के अनुसार अपना रूप-निर्माण करती चलती है, उसे किसी नियम और सिद्धान्त के अनुसार गढ़ा नहीं जा सकता।

जो भी हो, यह तो निर्विवाद ध्रुव सत्य है कि भारत में हिन्दी के प्रचार को वेग, गति और व्यापकता प्रदान करने का श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को दिया जा सकता है तो एक मात्र महात्मा गाँधी को।

श्री द्वारकाप्रसाद शास्त्री

गांधी-साहित्य : एक परिचय

विश्वबन्धु महात्मा गांधी युगपुरुष थे। उनका जन्म २ अक्टूबर १८६९ ई० में हुआ था और मृत्यु ३० जनवरी, १९४८ ई० में हुई। अपने इतने वर्षों के जीवन काल में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की, गार्हस्थ्य धर्म का पालन किया और सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करके देश में नई चेतना का संचार किया। उनके नेतृत्व में देश स्वाधीन हुआ। गांधी जी अपने जीवन भर जो कुछ कहते रहे और लिखते रहे वह सब समवेत रूप में साहित्य बन गया। वह विश्व के लिए आज चिन्तन और मनन का विषय है और आगे भी रहेगा। हम सब गांधी जी के उस साहित्य को 'गांधी साहित्य' कहते हैं। इसमें गांधी जी द्वारा लिखित ग्रन्थ, पत्र, भाषण, प्रवचन, वार्तालाप, डायरी और साक्षात्कार आदि सभी प्रकार की अध्ययन सामग्री अन्तर्भूत है। गांधी साहित्य में गांधी जी के स्वलिखित ग्रन्थ हैं और कुछ अन्य लेखकों द्वारा अनूदित, संकलित अथवा सम्पादित ग्रन्थ भी हैं जिनमें मूल रूप में गांधी जी के ही विचार हैं। गांधी साहित्य का प्रकाशन गांधी जी के समय से ही अंग्रेज़ी में तथा अनेक भारतीय भाषाओं में होता रहा है। इधर सम्पूर्ण गांधी साहित्य का प्रकाशन, 'गांधी वाङमय' के नाम से भारत सरकार की ओर से हो रहा है। इसके अबतक अनेक खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं।

गांधी जी के जीवन-काल में प्रकाशित हिन्दी में गांधी-साहित्य

जीवनी

१९२८ आत्म कथा खण्ड १, २।
१९३१ भारत के प्राण महात्मा गांधी की जीवन-कथा (आत्मकथा का सम्पूर्ण सारांश)
१९३९ मेरे जेल के अनुभव।
१९३९ संक्षिप्त आत्मकथा (सम्पादक महादेव देसाई और हरिभाऊ उपाध्याय)

सत्याग्रह और अहिंसा

१९२२ गांधी जी का बयान या सत्याग्रह मीमांसा।
१९२१ गांधी सिद्धान्त (ल० न० गर्दे द्वारा सम्पादित)
१९४० युद्ध और अहिंसा।
१९४० सत्याग्रह क्यों ? कब ? और कैसे ?

१६३० सत्याग्रह युद्ध ।

१६४१ एक सत्यवीर की कथा ।

१६२४ दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह ।

१६४४ मेरा जीवन या अहिंसा की परीक्षा (सम्पादक—रवीन्द्रनाथ अग्निहोत्री)

धर्म और नीति

१६३० अनासक्ति योग (गीता भाषा टीका सहित)

१६३१ अनासक्ति योग (अनुवादक काशिनाथ त्रिवेदी)

१६३७ अनीति की राह पर अनुवादक बाबू मृत्युंजय प्रसाद)

१६३२ कुत्सित जीवन और दाम्पत्य विमर्श द्वि० सं०।

१६३८ गीता बोध द्वि० सं०।

१६४८ दिल्ली डायरी (१०-६-४७ से ३०-१-४८ तक के प्रार्थना प्रवचनों का संग्रह)

१६३७ धर्मपथ।

१६४७ धर्म पालन (सं० प्रभुदास गांधी) नयी दिल्ली में एक अप्रैल से १६ अप्रैल १६४७ के प्रार्थना प्रवचनों का संग्रह)

१६२१ नीतिधर्म अथवा धर्मनीति (अनुवादक, कृष्णलाल वर्मा)

१६३६ ब्रह्मचर्य (संयम तथा ब्रह्मचर्य पर गांधी जी के लेखों का संग्रह)

१६३८ ब्रह्मचर्य और आत्मसंयम ('ब्रह्मचर्य के अनुभव' का संशोधित संस्करण)

१६३२ ब्रह्मचर्य के अनुभव

१६३६ ब्रह्मचर्य पर महात्मागांधी जी के अनुभव, द्वितीय संस्करण

१६३६ भाइयों और बहिनों (प्रार्थना सभाओं में गांधी जी के भाषण ३ अंकों में)

१६३८ मंगल प्रभात (द्वि० सं०) (प्रवचन)

१६३१ यरवदा मन्दिर से।

१६३६ विवाह समस्या ।

१६३२ सन्त महाव्रत (अनुवादक काशिनाथ त्रिवेदी, द्वि० स०, ७ प्रवचनों का संग्रह)

१६४८ हृदय मंथन के पाँच दिन (सम्पादक—यशपाल जैन) महात्मा गांधी के उपवास के दिनों के भाषणों का संग्रह।

१६४६ पूज्य बापू जी की प्रार्थना

समाज विषयक : सामान्य

१६३१ बहिनों से (मद्य निषेध और धरना के विषय में ५ लेखों का संग्रह)

१६४२ रचनात्मक कार्यक्रम (अनुवादक, शंकरलाल वर्मा)

१६४६ रचनात्मक कार्यक्रम (अनुवादक, काशिनाथ त्रिवेदी द्वि० सं०)

१६३६ हमारा कलंक (अस्पृश्यता पर गांधी जी के लेखों का संग्रह)
१६३३ मन्दिर प्रवेश और अस्पृश्यता निवारण ।
१६२४ हिन्दू मुसलमानों का तनाजा : उसका कारण और उपाय, साम्प्रदायिक विद्वेष पर बापू के विचार (सं० एन० आर० मेहता)

राजनीति

--आगा खां महल से गांधी जी का पत्रव्यवहार (अनुवादक--कालीचरण पाण्डेय)
१६३४ महात्मा गांधी के कांग्रेस से अलग होने का कारण (१७अगस्त और १५ अक्टूबर को प्रकाशित वक्तव्यों का अनुवाद) ।
१६१७ स्वराज्य पर गांधी जी (गांधी जी का एक भाषण)
१६३८ हिन्द स्वराज्य (नवीन संस्करण)
१६४७ यूरोपीय युद्ध गौर भारत (सहलेखक नेहरू जी)
१६४६ गो सेवा (अनुवादक--काशिनाथ त्रिवेदी)
१६४६ नमक-कर
१६४६ यन्त्रों की मर्यादा (यन्त्रों के विषय में गांधी जी के विचार और लेख)
— सर्वोदय (अनुवादक, कृष्णलाल वर्मा)
— स्वदेशी और वहिष्कार

खादी : अर्थशास्त्र

१६४५ अहिंसक स्वराज्य साधना (सम्पादक, कनु गांधी)
एक मात्र उद्योग-चर्खा
गांधी जी के लेख ('खादी जगत' में प्रकाशित जुलाई १६४१ से जून १६४२ तक के लेखों का संग्रह)
१६३८ ग्रामसेवा (ग्रामसेवा सम्बन्धी लेखों का संग्रह)
१६३६-स्वदेशी और ग्रामोद्योग (गांधी साहित्य माला १)

शिक्षण

१६४६ विद्यार्थियों से (सम्पादक--अनंत प्रसाद विद्यार्थी) सामयिक समस्याओं का विवेचन

राष्ट्रभाषा

१६४३ राष्ट्रभाषा का प्रश्न
१६४७ राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी (अनुवादक, काशिनाथ त्रिवेदी)

आरोग्य

१९२० आरोग्य दिग्दर्शन (अनुवादक, पं० गिरिधर शर्मा 'नवरत्न') तृ० सं०
१९३५ आरोग्य दिग्दर्शन।
१९२२ आरोग्य साधन।

अन्य

१९४४ अमृतवाणी (जीवन-पथ का प्रदर्शन करने वाले ९० निजी पत्रों का संग्रह)
१९४२ गांधी-वाणी
——तीन रत्न (टालस्टाय की तीन कथाओं का गांधी जी द्वारा-कृत गुजराती अनुवाद का हिन्दी अनुवाद)
१९२२ पञ्चरत्न (पांच निबन्धों का संग्रह)
—— पूर्व और पश्चिम ('चीन की आवाज' का गांधी जी—कृत सारांश)
१९२३ महात्मा गांधी के निजी पत्र (१९०८-१९१७) तक के ८१ पत्रों का संग्रह, अनुवादक, लक्ष्मीधर वाजपेयी)
१९४७ स्त्रियों की समस्याएं, खण्ड १ और २।

विषय-विश्लेषण

गांधीजी के सम्पूर्ण वाङमय में निम्नलिखित मुख्य विषय हैं—कृषि, अहिंसा, अरब-इजराइल प्रश्न, आश्रम, अणुबम, भगवद्गीता, चरखा, बिहार-भूकम्प, संतति-निरोध, बहिष्कार, ब्रह्मचर्य, बुद्ध-धर्म, कैबिनेटमिशन, साम्प्रदायिकता, चीन, ईसाईमिशन, ईसाइयत, साम्प्रदायिक प्रश्न, साम्यवाद, कुटीर-उद्योग, रचनात्मक कार्यक्रम, क्रिप्समिशन, चेक समस्या, फूटडालो और राज्य करो, नशाबंदी और जुआ, शिक्षा, उपवास, अधिनायकवाद, भारत में अन्न-संकट और नियंत्रण, आर्थिक सिद्धान्त, नैतिक और दार्शनिक सिद्धान्त, समाजवाद, ईश्वर, हरिजन, स्वास्थ्य और सफाई, हिन्दी या हिन्दुस्तानी का प्रश्न, हिन्दू-मुस्लिम एकता, हिन्दुत्व, भारतीय सभ्यता, बालविवाह, भारतीय विदेश नीति, भारत विभाजन, राष्ट्रीय आन्दोलन, भारतीय राजनीतिक दल, प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, भारत के राजे-महाराजे और उनके राज्य, भारतीय सुधार, भारतीय औद्योगिक सम्बन्ध, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीयता, इस्लाम, जलियावालांबाग काण्ड, जिन्ना-वार्ता, कस्तूरबा गांधी, खिलाफत आन्दोलन, मजदूर और उचित मजदूरी, यंत्र या मशीनरी, चिकित्सा, अल्पसंख्यक समस्या, मोपला विद्रोह, 'मदर इंडिया' ग्रन्थ पर विचार, राष्ट्रभाषा का प्रश्न, पाकिस्तान, शरणार्थी, धर्म और नीति, गोलमेज कांफ्रेंस, सर्वोदय, सत्याग्रह सविनय अवज्ञा, भारत छोड़ो, साइमन कमीशन, दक्षिण अफ्रीका की समस्या, हड़ताल और तालाबन्दी, विद्यार्थियों और स्त्रियों की समस्यायें, स्वदेशी, स्वराज्य, अस्पृश्यता, शाकाहार, ग्रामोत्थान आदि।

मूल 'गांधी साहित्य' पर आधारित 'गांधी विषयक साहित्य' का सर्जन विपुल मात्रा में हुआ है। ऐसे साहित्य में गांधी जी की जीवनी और संस्मरण, उनके विचारों के पोषक ग्रन्थ, उनके विचारों के समालोचनात्मक ग्रन्थ, अभिनन्दन ग्रन्थ एवं श्रद्धांजलियाँ आदि हैं। गांधी जी के जीवन पर आधारित काव्य और नाटक आदि भी लिखे गये हैं।

गांधी जी महामानव थे। उनके विचारों को 'गांधीवाद' की संज्ञा दी गई। संसार की सभी प्रमुख और प्रसिद्ध भाषाओं में उनके विषय में बड़े-बड़े विद्वानों एवं विचारकों ने ग्रन्थ एवं लेख लिखे। इस प्रकार गांधी जी के निधन से पूर्व उन पर पर्याप्त अध्ययन-सामग्री प्रकाशित हो चुकी थी। यहाँ पर हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, कन्नड़, संस्कृत और अंग्रेजी में प्रकाशित कुछ ग्रन्थों की सूची दी जा रही है जो गांधी जी के जीवन चरित्र और उनके विचारों पर सामान्य रूप से लिखी गई है।

हिन्दी

अग्रवाल, रुद्रनारायण और व्यास दीनानाथ	टालस्टाय और गांधी
कन्हैयालाल बाबू	सत्याग्रही महात्मा गांधी
खंडेलवाल, दामोदरदास	बापू की बात
गांधी, प्रभुदास	महात्मा गांधी क्या कहते हैं? और क्या चाहते हैं?
त्रिपाठी, कमलापति	बापू और भारत
" "	बापू और मानवता
त्रिपाठी, रामनरेश	गांधी जी कौन हैं?
त्रिपाठी, सुन्दरलाल	लंदन में लँगोटीवाला
दवे, जुगतराम (अनुवादक, काशिनाथ त्रिवेदी)	गांधी जी
देसाई, महादेवभाई (अनुवादक शंकरलाल वर्मा)	इंगलैण्ड में महात्मा जी
द्विवेदी, सोहनलाल (सम्पादक)	गांधी अभिनन्दन-ग्रन्थ
पाण्डेय, छविनाथ (सम्पादक),	संसार का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष
फिशर, लुई (अनुवादक, सुदर्शन और कुलभूषण)	गांधी जी के साथ सात दिन
बाघेलाल, महाबलिसिंह	गांधी-गौरव
बिडला, घनश्यामदास	डायरी के कुछ पन्ने
"	बापू
भण्डारी, सुखसम्पतिराय	महात्मा गांधी
भवानीदयाल संन्यासी	सत्याग्रही महात्मा गांधी
भावे, विनोबा	गांधी जी को श्रद्धांजलि

मालवीय, राधाकिशोर	महात्मा गांधी की नोआखाली यात्रा
राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली (सम्पादक) (अनुवादक जैनेन्द्र कुमार)	महात्मा गांधी अभिनन्दनग्रंथ
रामचन्द्र जी	गांधी गाथा
रामनाथ 'सुमन'	गांधीवाद की रूपरेखा
—	युगाधार गांधी
रोलां, रोमां	महात्मा गांधी विश्व के अद्वितीय पुरुष
लीस्टर, क्युरियल	गांधी जी की यूरोपयात्रा।
वर्मा, मुकुन्दीलाल	कर्मवीर गांधी
" "	श्रद्धास्पद मोहनदास करमचन्द गांधी का जीवन-चरित
वर्मा, रामचन्द्र	महात्मा गांधी
विद्यार्थी, प्रभुदयाल	गांधी जी
शर्मा, गोकुलचन्द्र	गांधी-गौरव
शुक्ल, चन्द्रशंकर (सम्पादक)	गांधीजी के सम्पर्क में
साहित्य मन्दिर (प्रकाशक)	महात्मा गांधी का विश्वव्यापी प्रभाव
कालेलकर काका (सम्पादक)	गांधीवाद-समाजवाद
तिवारी, रामदयाल	गांधी-मीमांसा
पालीवाल, श्रीकृष्णदत्त	गांधीवाद और मार्क्सवाद
फिशर, लुई	गांधी और स्टालिन
यशपाल	गांधीवाद की शव परीक्षा
सदानन्द भारतीय	गांधी बनाम साम्यवाद

गुजराती

कृष्णमूर्ति, वाई० जी०	युगपुरुष गांधी
केलकर, केशव सदाशिव (अनुवादक)	उदयचन्द्र वैद्य : महात्मा गांधी
गांधी, मोहनदास करमचन्द	सत्य का प्रयोग अथवा आत्मकथा
चितलिया, करसनदास मूलजी	महात्मा गांधी
दवे, कपिलाप्रसाद महासुखभाई	यीशु और गांधी
दवे, जुगतराम	गांधी जी
दिवेटिया, नरसिंह भो०	महात्मा गांधी जी नुं जीवन रहस्य
देसाई, डाह्या भाई म०	मोहनदास करमचन्द गांधी
देसाई पाण्डुराव जी०	कर्मवीर मोहनदास करमचन्द गांधी

पटेल, राव जी भाई म०	गांधी जी नी साधना
पाठक रामनारायण न०	गांधी बापू
,,	युगावतार गांधी
बुच, पुरातन	आपणा गांधी जी
बोडीवाला, नन्दलाल (सम्पा०)	महात्मा गांधी जी नुं जीवनवृतान्त
याज्ञिक, इन्दुलाल	महात्मा गांधी जी ना सहवास मां
वर्मा, जयकृष्ण नागरदास	महात्मा गांधी जी नुं जीवन

मराठी

केलकर, माधव सदाशिव	महात्मा गांधी
गांवकर, गो० उ०	महात्मा (महात्मा गांधी चें चित्रमय चरित)
गोखले, अवन्तिका वाई	महात्मा गांधी यांग चें चरित, विशेष परिचय लेख व व्याख्यानें
जावडेकर, शंकर दत्तात्रेय	लोकमान्य तिलक व महात्मा गांधी
जावडेकर, शंकर, द०	गांधीवाद
दामले, सीताराम के०	महात्मा गांधी
दीवाण, प्रभाकर—	गांधी जीच्यां सान्निव्यांत
धर्माधिकारी, दादा	गांधी जी
शिखरे, दा० न०	महात्मा गांधी यांचें चरित्र
साने गुरुजी, पां०स०	गोष्ठी रूप गांधी जी

बंगला

गंगोपाध्याय, विनयकुमार	मृत्युञ्जय गांधी जी
चट्टोपाध्याय, हरपद	गांधी जी के जानते हले
चौधरी, मणीन्द्रभूषण	महात्मा गांधी
ठाकुर, रवीन्द्रनाथ	महात्मा गांधी
दत्त, सत्येन्द्रनाथ	गांधी कीर्तन (काव्य)
वसु, रवीन्द्रकुमार	आमादेर बापूजी
मित्र, खगेन्द्र	महात्मा गांधी
मित्र, सुधीर कुमार	आमादेर बापू जी
राय, सुबोध कुमार	महात्मा गांधी (नाटक)
मुखोपाध्याय, योगेशचन्द्र	महात्मा गांधी
स्टेण्डर्ड बुक कम्पनी (प्रकाशक)	नेताजीर पथ ओ गांधीजीर मत

कन्नड़

कृष्णयंगार, डी०	गांधीजिय हास्य प्रकृति
गोवर्द्धन,राव, यन०	गांधियवर चरित्रे
नारायणराव वी० एस०	गांधीवाद

संस्कृत

चारुदेव शास्त्री	श्री गान्धीचरितम् (काव्य)
भगवदाचार्य स्वामी जी	भारतपारिजातम् (काव्य)
शर्मा, डी० एस०	गान्धी-सूत्राणि

अंग्रेजी

अग्रवाल, ए० एन०	गांधिज्म-ए ससिलिस्ट एप्रोज़
अम्वेदकर, बी० आर०	रानाड़े, गांधी ऐण्ड जिन्ना
एन्ड्रयूज़, सी० एफ०	महात्मा गांधी हिज ओन स्टोरी
एन्ड्रयूज, सी० एफ०	महात्मागांधीज आइडियाज़
कानेटकर, एम० जे०	तिलक ऐण्ड गांधी
कृपलानी, के० आर०	टैगोर गांधी ऐण्ड नेहरू
केटलिन, जार्ज	इन दि पॉथ आफ महात्मा गांधी
गुप्ता, नगेन्द्रनाथ	गांधी एण्ड गांधिज्म
जार्ज, पी० वी०	दि यूनिक क्राइस्ट एण्ड दि माइस्टिक गांधी
डांगे, एस० ए०	गांधी वर्सस लेनिन
देसाई, महादेव	गांधी जी इन इंडियन विलजेज़
धवन, जी० एन०	दि पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गांधी
नटराजन्, के०	महात्मा गांधी
नेहरू, जवाहरलाल	नेहरू आन गांधी
पोलक, हेनरी, एस० एल०	महात्मा गांधी
फिशर, लुइस	गांधी ऐण्ड स्टालिन
फिशर, लुइस	एक वीक विद गांधी
फुलुप, मिलर, आर०	लेलिन ऐण्ड गांधी
वसु, निर्मल कुमार	स्टडीज़ इन गांधीज्म
वैरनाय, रावर्ट	दि नेकेटु फकीर
वेरोस, जान (सम्पादक)	महात्मा गांधी

ब्राइट, जे० एस०	गांधी इज इंडिया
मुंगु, के० एम०	गांधी दि मास्टर
मेहता, अशोक	सोसलिज्म ऐण्ड गांधी जी
याज्ञिक, इन्द्रलाल	गांधी ऐंड आई नो हिम
राधाकृष्णन् एस० (सम्पादक)	महात्मा गांधी एसेज एण्ड रेफलेशंस आन हिज वर्क
रुथन स्वामी, एम०	दि पोलिटक्ल फिलासफी आफ गांधी
रोलां, रोमां	महात्मा गांधी
लीस्टर, म्यूरियल	गांधी—वर्ल्ड सिटीजन
वाडिया, पी० ए०	महात्मा गांधी
श्रीधराणी, कृष्णलाल	दि महात्मा एण्ड दि वर्ल्ड
सीतारामैय्या, पट्टाभि	गांधी एण्ड गांधीज्म
सीतारामैय्या, पट्टाभि	सोशलिज्म एण्ड गांधीज्म
सुबेदार, मनु०	गांधिज्म ऐज० आई० अंडरस्टुड इट
सेठ, एच० एल०	गांधी नेशलिस्ट आर० इन्टरनेशनलिस्ट
सेन, इला	गांधी, ए बाइग्रैफिक्ल स्टडी
सेन गुप्ता एण्ड चौधरी	महात्मा गांधी एण्ड इंडियाज स्टगिल फार स्वराज्य
हिन्दुस्तान टाइम्स (प्र०)	मेमोरीज आफ बापू
हुसेन, सैय्यद	गांधी दि सेन्ट ऐण्ड स्टेट्स मैन
होम, जे० एच०	दि क्राइस्ट आफ टुन्डे

गांधी साहित्य और गांधी विषयक साहित्य की परिचायक दो ग्रंथ-सूचियाँ अच्छी हैं—

(१) गांधी साहित्य—सूची :

श्री चाए कुरंग गणेश देशपाण्डे द्वारा सम्पादित और नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद द्वारा १९४८ ई० में प्रकाशित।

(२) महात्मा गांधी : ए डिस्क्रिटिव बिब्जियोग्रैफी।

डा० जगदीशशरण शर्मा को इस ग्रंथ पर पी-एच० डी० की उपाधि मिचिगन यूनिवर्सिटी द्वारा दी गई है। इस ग्रंथ का प्रकाशन सन् १९५५ ई० में एस० चांद ऐण्ड कं० दिल्ली से हुआ था।

उक्त दोनों ग्रंथ-सूचियों के संशोधित और परिवर्द्धित नये संस्करण प्रकाशित होने चाहिए क्योंकि उनके प्रकाशन के बाद गांधी विषयक साहित्य का प्रकाशन विपुल मात्रा में हुआ है।

श्री कैलाशनाथ मेहरोत्रा

राष्ट्रपिता गांधी जी को 'महात्मा' की उपाधि

सन् १९१५ में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने पर हिन्दी तथा संस्कृत में प्रथम अभिनंदनपत्र समर्पण करने की रोचक कहानी

इतिहास का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि संसार में समय-समय पर महान् आत्माओं ने जन्म लेकर अपनी अमृतवाणी से जगत् को प्रेम और शान्ति का सन्देश दिया। बीसवीं शताब्दी में गांधीजी का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने युग को नया मोड़ दिया, जो विश्व के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनके विचारों का अनेक देशों के राजनीतिक विकास में प्रभाव पड़ा है।

इंग्लैण्ड से भारत लौटने पर गांधीजी ने बैरिस्टरी आरम्भ की। सन् १८९३ में एक मुक़दमे की पैरवी के सिलसिले में उन्हें दक्षिण अफ्रीका जाना पड़ा। वहाँ रहते हुए, प्रवासी भारतीयों की दयनीय दशा देख कर उन्हें बड़ा कष्ट पहुँचा। उनकी दशा सुधारने के लिए उन्होंने सत्याग्रह के द्वारा जो महत्वपूर्ण कार्य किया उससे वे प्रसिद्धि में और सन् १९१४ के मध्य तक एक सत्याग्रही नेता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये।

भारत में बुद्धिजीवी लोग उन्हें साधारण श्रेणी के मनुष्यों से भिन्न एक कल्याणकारी सन्त के रूप में मानने लगे। १८ जुलाई १९१४ को गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका को छोड़ दिया और अपने गुरु गोखले से मिलने इंग्लैण्ड गये। वहाँ कई मास ठहरने के पश्चात वह ९ जनवरी १९१५ को बम्बई आये। जनवरी के द्वितीय सप्ताह में वह काठियावाड़ गये। वहाँ राजकोट, पोरबन्दर और धोराजी की दस दिवसीय यात्रा करते हुए उन्होंने २४ जनवरी को गोंडल (काठियावाड़ की एक रियासत) पहुँच कर वहाँ चार दिनों तक ठहरने का निश्चय किया।

गांधीजी के गोंडल पहुँचने की पूर्व-सूचना, राज्य के दीवान श्री रणछोड़दास वृन्दावनदास पटवारी तथा वैद्यराज श्री जीवराम कालीदास शास्त्री (वर्तमान आचार्य श्री चरणतीर्थ जी महाराज) को यथासमय प्राप्त हो गई।

जिस प्रकार गांधीजी ने अपने असीम साहस, त्याग, एवं विजय-दृढ़ता आदि गुणों से दक्षिण अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के प्रति अन्याय के विरुद्ध संघर्ष कर, राजनीति क्षेत्र में सफलता प्राप्त की, उसी प्रकार वह भविष्य में, भारतवर्ष में महान कार्य साधेंगे और देश के भाग्य को विश्व के भाग्य के साथ जोड़ कर, देश का गौरव बढ़ायेंगे, ऐसी अन्तःप्रेरणा उत्पन्न होने पर

आचार्य श्री चरणतीर्थ जी महाराज ने गांधीजी को 'युग का महापुरुष' मानकर, शीघ्र ही, उन्हें 'महात्मा' की पदवी से विभूषित करना समायोचित समझा। इसी भावना से प्रेरित हो कर उन्होंने गांधीजी का विशेष रूप से सम्मान करने के लिए अभिनंदनपत्र छपवाया, जिसमें 'महात्मा' पदवी का समावेश किया। यह निश्चय हुआ कि यह अभिनंदनपत्र गांधीजी को रसशाला औषधाश्रम में एक स्वागत समारोह में ता० २७ जनवरी १९१५ को भेंट किया जाये।

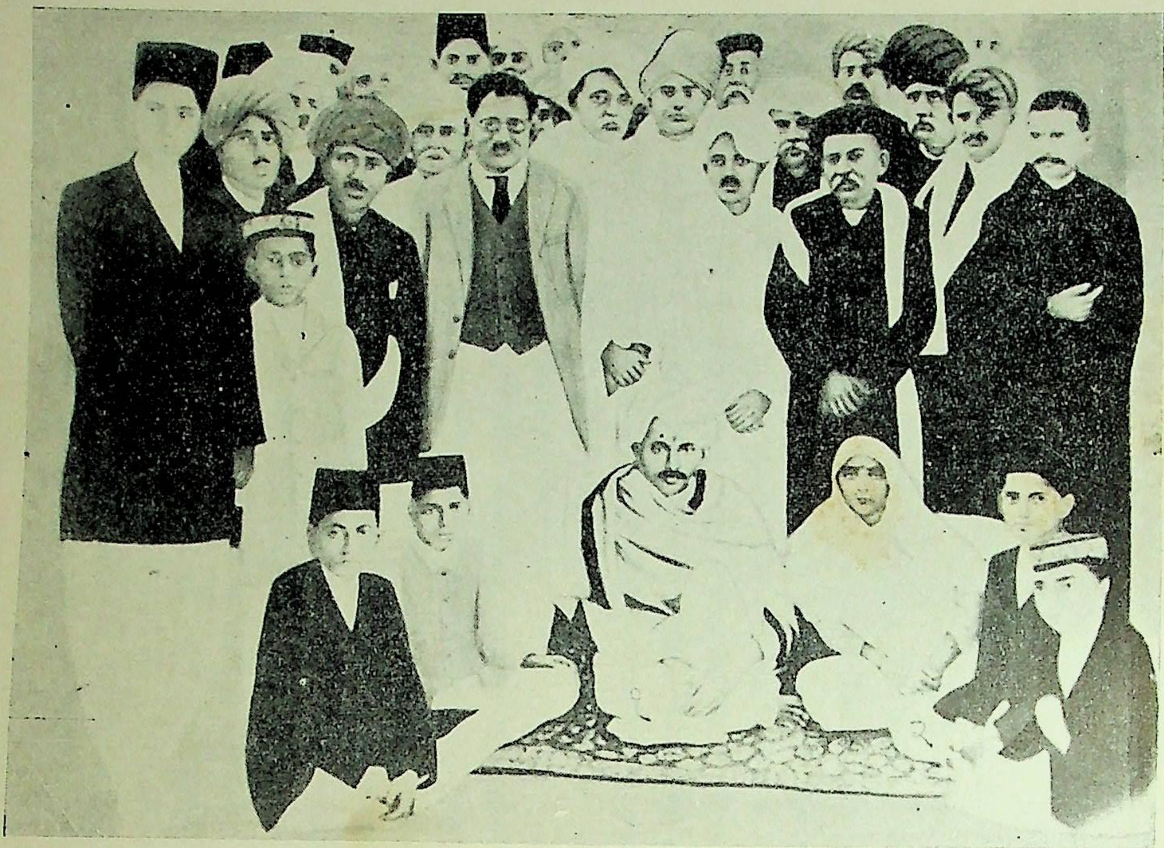
ता० २४ जनवरी १९१५ को गोंडल रेलवे स्टेशन पर दर्शकों की अपार भीड़ थी। डिब्बे से उतरते ही गांधीजी को पुष्पमाला पहनायी गई। स्टेशन से बाहर आकर वह अपनी पत्नी कस्तूरबा और बच्चों के साथ, चार घोड़ोंवाली बग्घी में बैठ गये। कोचवान ने घोड़े हाँके। राज्य के बैंड बजानेवाले, बैंड बजाते हुए और पुलिस आगे चल रही थी। दल मुख्य सड़कों पर होता हुआ गर्ल्स स्कूल के समीप आ कर रुका जहाँ गोंडल के महाराज श्री भगवत सिंह जी गांधीजी से मिलने आये थे। गांधीजी और महाराज साहब अपनी-अपनी बग्घियों से उतर पड़े और परस्पर गले मिले। कुछ मिनटों तक वार्तालाप होने के पश्चात् दल पुनः चला और डेढ़ घण्टे में दीवान साहब पटवारी के बँगले पर पहुँच गया। गांधीजी ने उपस्थित जन-समुदाय की ओर मुस्कराते हुए देखा और हाथ जोड़ कर नमस्कार किया। तदोपरान्त दल विर्सजित हुआ। ता० २५ जनवरी को राज्य के उच्च कर्मचारियों और विशिष्ट व्यक्तियों ने गांधीजी से भेंट की। ता० २६ जनवरी को महाराज साहब ने गांधीजी को राजमहल में दावत दी। इसी दिन सायंकाल छह बजे दीवान श्री पटवारी जी के बंगले पर गोंडल राज्य और जनता की ओर से गांधीजी का अभिनन्दन समारोह सपन्न हुआ।

ता० २७ जनवरी १९१५ को गोंडल की सुप्रसिद्ध रसशाला औषधाश्रम में गांधीजी के अभिनन्दन और उनको मानपत्र भेंट करने का कार्यक्रम आयोजित हुआ। पाँच हजार श्रद्धालु जन, जिनमें एक हजार महिलाएं भी सम्मिलित थीं, रसशाला औषधाश्रम के प्रांगण में एकत्र हुए। जैसे ही घड़ी में दस बजे चारों ओर शान्तमय वातावरण छा गया। गांधी जी अपनी पत्नी और बच्चों के साथ सभा में पधारे। पटवारी जी की अध्यक्षता में सभा के कार्य का समारम्भ हुआ। पहले पटवारी जी ने गांधीजी के आगमन पर स्वागत भाषण दिया, उन्होंने कहा––

"दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के प्रति रंगभेद की भावना प्रबल है। उसके विरुद्ध संघर्ष कर गांधीजी ने अपने देश का गौरव बढ़ाया है। इस संघर्ष में श्रीमती कस्तूर बा ने भी उन्हें सहायता पहुँचाई है। गोंडल की प्रजा को गर्व है कि महाराज साहब ने ३५०००, रुपये की रक़म इस आन्दोलन के सहायतार्थ भेजी। दक्षिण अफ्रीका के इस संघर्ष ने विश्व के लोगों का ध्यान आकर्षित किया है, और इस प्रकार गांधीजी ने भारत और विशेष रूप से काठियावाड़ के गौरव को बढ़ाया है।"

"वैद्यराज जीवराम भाई संस्कृत और आयुर्वेद के विद्वान् हैं। गोंडल राज्य की प्रजा के लिए यह शोभनीय बात है कि उन्होंने आज गांधीजी को अभिनंदनपत्र और 'महात्मा' पदवी समर्पण करने का आयोजन किया है।"

गोंडल (सौराष्ट्र) में सन् १९१५ में परिवार के साथ महात्मा गांधी



२७ जनवरी सन १९१५ को 'महात्मा' उपाधि के प्रदत्त होने के अवसर पर रसशाला औषधालय, गोंडल (सौराष्ट्र) में यह चित्र लिया गया था। अगली पंक्ति में गांधीजी कस्तूरबा तथा परिवार के बच्चों के साथ बैठे हैं।

तत्पश्चात् श्री गौरीशंकर प्राणशंकर व्यास तथा अन्य सम्मान्य व्यक्तियों ने भाषण दिये।

इसके पश्चात् वैद्यराज जीवराम कालीदास शास्त्री ने निम्नलिखित मानपत्र पढ़ा —

ता० २७वीं जनवरी १९१५

महात्मा

की पदवी और अभिनन्दनपत्र

॥ हरिहरौ कुरुतां भवतां शिवम् ॥

भारतभूषण, दीन-दुःख-हर, पुण्यश्लोक महात्मा श्री मोहनदास करमचंद गांधी जी के चरण कमलों में समर्पित।

जगद्वंदनीय महात्मा !

आप तथा आपकी अखंड सौभाग्यवती धर्मपत्नी श्री कस्तूर बा इस संस्था में पधारे, जिससे रसशाला और विशेष रूप से आयुर्वेद को बड़ा मान प्राप्त हुआ। इस हेतु आप श्रीमान् का तथा पूज्य श्री कस्तूर बा का अन्तःकरण से उपकार मानता हूँ। इस प्रसंग में लम्बा भाषण दे कर आपका समय नष्ट करना अभीष्ट नहीं है। आपका पराक्रम, आत्मयोग, और आपके जीवन के प्रत्येक प्रसंग का अवलोकन तथा मनन करने से ज्ञात होता है कि पूर्व काल के हरिश्चन्द्र, श्रीराम, श्रीकृष्ण, महाराणा प्रताप, शिवाजी महाराज आदि शिरसावंद्य विभूतियों का गुण गान भारतवासी किया करते हैं, उन्हीं में आपका एक चरित्र उभरता है। भारत में दश दिशाओं में आपका जीवन-चरित्र गाया जा रहा है। इतना ही नहीं, संसार के प्रत्येक देश में आपके चरित्र को आदर मिला है। इस छोटे से मानपत्र में इसका वर्णन कैसे कर सकता हूँ ? भारत की सारी प्रजा आपकी ऋणी है, यह कहने को स्थान नहीं है। मैं आपके गुणों से प्रभावित हो कर संस्कृत में श्लोक-रचना कर आपका गुणानुवाद कर ब्राह्मण रूप से आपको आशीर्वाद देता हूँ।

पुण्यश्लोक देशवत्सल "महात्मा" श्री मोहनदास करमचन्द गांधी महोदयानां सपत्नीकानां चरणकमलेषु सम्मानपत्रकम्।

[१]

मल्लीमंगलमाल्यवत्तव यशो दिक्केलिहास्यायितं
कण्ठे खेलति विश्वतो नवगुणस्यूतं गिरां शिल्पिनाम्।
दग्ध्वा शङ्करभालदृष्टिवदथोत्तेजश्छटैषा शुभा
विद्वन् काममरीन्करोत्यदयितास्तेषां स्त्रियः सत्वराः॥

[२]

कुसुमम्भिनवं वा भाति यद्वद्वसंतेऽ
सितरजनिमुखे वा चन्द्रिकोदेति यद्वद्।
स्फुरति शुचि यशस्ते कर्मचन्द्रात्मजन्मन्,
परमविमलधाम्ना गान्धि ! तादृग् दिगन्ते ॥

[३]

माधुर्येण सुधारसं परिमलेनामोदिना सारसं
वैमल्येन विधोः करं तरलया कान्त्या च मुक्तारसम्।
क्षुद्रे कर्णबिले नृणां तव यशो जित्वा कथं लीयते
गान्धीमोहनदासनामविदुषे वीराय पत्नीसखे ॥

[४]

स्वर्गात्पीयूषधारा क्षरति किमथवा स्वर्गिणां पीतशेषा
स्रस्तो गंगाप्रवाहः शिशिरयति धरामीशमौलेः किमेषः।
किं वा श्चोतन्ति कल्पद्रुमकुसुमरसास्तुण्डतः षट्पदानाम्—
इत्थं नानाविकल्पान् विदधति कवयः स्वादयन्तो यशस्ते ॥

[५]

यथा शीतभानुं हि दृष्ट्वा चकोरा
यथा चण्डभानुं च कोकाः प्रहृष्टाः।
तथा गान्धिराजं हि दृष्ट्वा भवन्तं
परानन्दसिन्धौ निमग्ना मनुष्याः ॥

[६]

महाभाग्यमेतद्धि गान्धी-जि-नृणां
सुविख्यात-सौराष्ट्र-खण्डस्थितानाम्।
यतः शौर्य-धैर्याद्युपेतोऽनवद्यः
सदा भारतीयाऽवने लब्धदीक्षः ॥

[७]

यावदस्ति त्रयी लोके चतुर्मुखमुखोद्गता।
यावद्वा रामचरितं वाल्मीकि-कवि-चित्रितम् ॥

[८]

व्यासस्य सूक्तयो यावच्छ्रीकृष्णचरितामृताः।
वाग्देव्याः श्रेष्ठपुत्रस्य कालिदासस्य वा गिरः॥

[९]

यावच्च वंशोऽस्त्यार्याणां सतीनां चरितानि च।
तावत्सुकीर्तिरमला देशसेवोद्भवास्तु ते॥

इस प्रकार रसशाला औषधाश्रम और "आयुर्वेद रहस्यार्क" मासिक के हजारों ग्राहक, मैं और गोंडल की प्रजा परमात्मा से प्रार्थना करती है और आज आपके महान् कार्यों से प्रेरित हो कर, मैं अपनी संस्था की ओर से आपको "महात्मा" की पदवी और मानपत्र समर्पित करता हूँ।

महात्मा गांधी, आपके शरीर का स्वास्थ्य ठीक नहीं है, किन्तु फिर भी यहाँ पधारने का कष्ट किया। इसका मैं आपका उपकार मानता हूँ।

इस अवसर पर आपके अभिनन्दन-कार्य में सहयोग देने पर दीवान साहब श्री पटवारी जी, महाराज साहब के सेक्रेटरी श्री प्राणशंकर भाई जोशी, प्राइवेट सेक्रेटरी श्री पानाचन्द भाई, श्रीमान् देवचन्द भाई पारिख बैरिस्टर, श्री गौरीशंकर प्राणशंकर व्यास एवं अन्य व्यक्तियों का आभार मानता हूँ। आपको मानपत्र और 'महात्मा' की पदवी के साथ संस्था की ओर से औषधियों की पेटी और पुस्तकें भी समर्पित करता हूँ।

आज मैं इस बात से गर्व और गौरव प्रतीत करता हूँ कि दक्षिण अफ्रीका में आपका अभियान सफल हुआ। इससे भारत के यश और सन्मान में अभिवृद्धि हुई है। अब स्वदेश लौट आने पर आप अपना शेष जीवन देश-सेवा और कल्याण में व्यतीत करें।

भारत वापस आने पर आपको सर्वप्रथम अभिनंदनपत्र समर्पित करने में मैं अपने को भाग्यशाली मानता हूँ। और भी आपके इस देश-हितकारिणी संस्था रसशाला में पहले-पहल पधारने पर मैं आपका और श्री कस्तूर बा का आभारी हूँ।

आपका
राजवैद्य जीवराम कालीदास शास्त्री
अध्यक्ष, रसशाला औषधाश्रम
और 'आयुर्वेद रहस्यार्क'

विक्रम संवत् १९७१
माघ शुदी १२
ता० २७ जनवरी १९१५
बुधवार, प्रातः ९-३० बजे

जब वैद्यराज ने मानपत्र पढ़ कर उसे चांदी की मंजूषा में रख कर गांधीजी के हाथों में अर्पित किया, तो उपस्थित जन समुदाय हर्षनाद कर 'गांधीजी की जय' बोल पड़ा।

अभिनंदनपत्र समर्पण करने के उपरान्त गांधीजी सब का उपकार मानते हुए बोले —

"मैं गोंडल से थोड़ा परिचित हूँ, किन्तु अपने घनिष्ठ मित्र रणछोड़दास भाई और अपने

सहाध्यायी प्राणशंकर भाई जोशी के सम्पर्क से विदेश में गोंडल की याद बनी रहती थी। वहाँ रहते हुए धन की अत्यन्त आवश्यकता के समय महाराज साहब की भेजी हुई रक़म हजार गुणा उपयोगी सिद्ध हुई। दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष में जो सफलता मिली उसका श्रेय गोंडल महाराज को है। आपकी मदद मुझे समय पर न मिली होती तो परिणाम क्या होता, मैं कह नहीं सकता। यह देशसेवा का उज्ज्वल उदाहरण है जिसका अनुकरण अन्य राजाओं महाराजाओं को करना चाहिए। मैं पटवारी जी, प्राणशंकर भाई और वैद्यराज के मेरे अफ्रीका-प्रवास में सहायक होने पर, उनको धन्यवाद देता हूँ।"

"वैद्यराज संस्कृत और आयुर्वेद के प्रकांड विद्वान हैं। उनके द्वारा स्थापित रसशाला, आयुर्वेद के द्वारा जनता की सेवा कर रही है। रसशाला की ओर से प्रकाशित साहित्य जनता के लिए बहुत उपयोगी है। मैं कुछ साहित्य अफ्रीका में पढ़ता रहा। ऐसे प्रकांड विद्वान ने मानपत्र में मेरे लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया है, उनसे मुझे बहुत आनन्द प्राप्त हुआ है। उन्हें मैं सदा याद रखूँगा। आयुर्वेद के लिए मेरे मन में बड़ा स्थान है। यह भारत की प्राचीन विद्या है, जो भारत के लाखों ग.वों में बसनेवाले करोड़ों मनुष्यों को नीरोग बनानेवाली विद्या है। मैं जनता को आयुर्वेद के अनुसार जीवन बिताने के लिए आह्वान करता हूँ। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि रसशाला औषधाश्रम और वैद्यराज, आयुर्वेद के द्वारा अधिकाधिक सेवा करने में समर्थ हों।"

इसके पश्चात् श्री पटवारी जी के समयोचित समापन भाषण के उपरान्त सभा विसर्जित हुई।

श्री लक्ष्मीशंकर व्यास

गांधी जी का वह ऐतिहासिक भाषण !

भारत की सांस्कृतिक राजधानी वाराणसी प्राचीनकाल से देश को नवीन सिद्धांतों का दर्शन कराती और राष्ट्र का नैतिक नेतृत्व करती रही है। देश के प्रमुख आध्यात्मिक, धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों का श्रीगणेश यहीं से हुआ। इस पृष्ठभूमि में यह सर्वथा उचित था कि युग-पुरुष महात्मा गांधी भी यहीं से राष्ट्रीय आन्दोलन का शंखनाद करते। वस्तुतः बापू ने यही किया। काशी में आपने अनेक बार क्रान्तिकारी भाषण किए किन्तु १० फरवरी, १९२१ ई० को काशी विद्यापीठ की स्थापना के अवसर पर आपने जो उद्घाटन भाषण किया, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। देश में मातृभाषा हिन्दी में अध्ययन-अध्यापन को इसमें जहाँ अत्यन्त आवश्यक बताया गया है, वहीं राष्ट्रीय शिक्षा के निमित्त आपने देश के युवक और प्रबुद्ध समाज का मार्ग-दर्शन किया था। शिक्षा के राष्ट्रीय स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए आपने देश के आर्थिक पक्ष का भी ध्यान रखा है तथा तत्सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण संकेत किये हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना में महात्मा गांधी का यह उद्देश्य निहित रहा है कि ऐसे शिक्षालयों से राष्ट्र की सेवा करने के लिए युवक निकल सकें। सरकारी झण्डे के अन्तर्गत चलनेवाले विद्यालयों में अध्ययन को आपने अनुचित बताया और विद्यार्थी समाज से कहा कि सरकारी सहायता से चलनेवाले विद्यालयों में पढ़ना पाप है। उद्घाटन भाषण में महात्मा गांधी ने कहा—"कल मेरे पास कानपुर के कई विद्यार्थी आये। वहाँ से वे पढ़ाई छोड़ कर आये हैं। मैंने उनसे पूछा—आप लोग पढ़ना छोड़ कर क्यों आये?"

उन्होंने उत्तर दिया—"हम लोग चाहते हैं कि इससे बढ़ कर कोई अच्छा राष्ट्रीय काम कर सकते।"

मैंने उनसे कहा यह समय अच्छा नहीं। यदि आप इस ख्याल से पढ़ाई छोड़ कर आये होते कि सरकारी सहायता से चलनेवाले विद्यालयों में पढ़ना पाप समझते हैं तभी अधिक लाभ होता। मेरी बात को वे कुछ समझ गये पर उनकी मुखाकृति से स्पष्ट छलकता था कि उनके हृदय में अभी कुछ संशय रह गया है क्योंकि उन्होंने प्रश्न किया कि परीक्षा को केवल दो ही मास रह गये हैं और यदि हम लोग उपाधि लेकर असहयोग करें तो अच्छा है। मैंने कहा कि "यह ठीक नहीं है। जब हमें दृढ़ हो गया कि इन विद्यालयों में शिक्षा लेना पाप है तो इसे त्यागना ही उचित होगा।"

महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय शिक्षापीठों में अध्ययन-अध्यापन को बल देते हुए सरकारी अथवा सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों के त्याग के लिए जो तर्क दिया था, वह भी विलक्षण

और मार्मिक रहा है। इस सम्बन्ध में आपने कहा कि--'हमारे विस्तरे के नीचे पचासों वर्षों से सांप छिपा है। हमें उसका पता नहीं। आज हमें एकाएक इसका पता लगता है। हम उस विस्तरे पर कभी नहीं रह सकते। चाहे हमारे पिता उसको छोड़ने के लिए हमें मना करें और चाहे वे उसके लिए हमें गाली दें पर हम उस विस्तरे पर कभी नहीं रह सकते। मैं पिता की आज्ञा नहीं मान सकता क्योंकि पिता को यह बात मालूम नहीं। विस्तरे पर मेरी शान्ति नहीं रह सकती। यही खयाल कर विद्यालयों को छोड़िये। यह समय परीक्षा का प्रश्न उठाने का नहीं है। यही बात हमें यहाँ के विद्यार्थियों से भी कहनी है।'

देश में राष्ट्रीय विद्यापीठों की स्थापना तथा शिक्षा की उस समय क्या स्थिति थी और कौन लोग महात्माजी से इस दिशा में सहयोग कर रहे थे, इसका भी उक्त भाषण में उल्लेख हुआ है। महात्मा जी ने कहा--'कल हमें हमारे भाई एण्ड्रूज का पत्र मिला। उन्होंने लिखा है कि जिस तरह यह चल रहा है उस तरह सफलता की आशा उन्हें गुजरात में भी नहीं है, जो हमारा घर है। पर दो स्थानों के लिए वे निश्चिन्त हैं--पटना और काशी। पटना में इसका भार बाबू राजेन्द्रप्रसाद के हाथ में है और काशी का भार बाबू भगवानदास के हाथ में है। इन पर सबका पूरा एतबार है, बाबू भगवान दास ने शिक्षा के लिए बहुत काम किया है। अन्य प्रान्तों में काम करने वालों में राजनीतिक प्रवृत्ति अधिक है। इसीलिए वे शिक्षा में भी भाग ले रहे हैं। काशी और पटना के लिए मैं भी निश्चिन्त हूँ। पर श्री एण्ड्रूज के उत्तर में यह कहना चाहता हूँ कि और स्थानों में भी यह काम राजनीतिक दृष्टि से नहीं किया जा रहा है पर धार्मिक दृष्टि से हम लोगों को असहयोग को सफल करने में अपना चित्त रखना चाहिये। हम लोग विद्या भी ऐसी ही चाहते हैं कि एक वर्ष तक स्वराज्य का काम हो सके। विचार करने की बात है कि स्वराज्य कैसे मिल सकता है। सरकारी सहायता से चलाने वाले विद्यालयों का त्याग सम्भव है। लोग कहते हैं कि सरकार के असर में अनाज का त्याग क्यों न करो। मैं इससे सहमत हूँ पर यह सहज नहीं है। विद्या की प्राप्ति अन्य स्थानों में भी हो सकती है। बाबू भगवानदास ने अभी सीता के हरण की कहानी कह सुनायी है। भूमि की सरकारी अपने हाथ में नहीं है। यह अपरिहार्य है। अपरिहार्य को परिहार्य न करना क्षम्य है। पर शिक्षा परिहार्य नहीं। यदि इसके बदले में हमें कुछ भी न मिले तो भी सरकारी विद्यालय छोड़ देने चाहिये।'

गांधी जी ने अंगरेजों की शिक्षा-नीति तथा शासन को रावण-राज्य की संज्ञा दी थी। आपने इस सन्दर्भ में उक्त भाषण में कहा--'आज हमको रावण-राज के नेता क्या सुनाते हैं। वे कहते हैं कि हम आपको साथ रख कर चलना चाहते हैं। वर्मा से केडाक साहब कहते हैं कि हम शस्त्र नहीं चलाते। हमको उन्हें कह देना चाहिये कि हम आपके साथ नहीं रहना चाहते, केवल मजबूरी से ही आपका साथ दे रहे हैं। अली भाइयों का कहना है कि यदि हमें यहां कुरान पढ़ने के लिए भी शुद्धहृदयता नहीं मिल सकती तो हमें हिजरत करना चाहिये अर्थात् राज्य का त्याग करना चाहिये। तुलसीदास ने भी मलिन राज्य को त्याग करने के लिए कहा है। पर हम अभी उसका सर्वथा त्याग नहीं कर रहे हैं। उनको अभी मौका देंगे। हम अपने चित्त को समझावें कि

क्या इस राज्य को मिटाने या दुरुस्त करने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि है तो ३० करोड़ के हिजरत की क्या आवश्यकता है। थोड़ा यत्न ही काफी है। इसीलिए इस विद्यापीठ की स्थापना हो रही है। हमें विद्या ऐसे पुण्यदान को मैले हाथों से नहीं लेना चाहिये। जितने विद्यालय सरकार के असर में हैं, उनसे हमें विद्या नहीं लेनी चाहिये। जिस विद्यालय पर उनकी ध्वजा फहराती है, वहां विद्यादान लेना पापकर्म है। आपको निमन्त्रण है कि यदि आप उसे पाप समझते हैं तो यहां चले आइये। केवल इस खयाल से न आइये कि वहां शिक्षा बुरी है और यहां अच्छी मिलेगी। इससे आपको पाश्चात्ताप होगा।'

इस प्रकार अंग्रेजों की चलायी हुई शिक्षा तथा संरक्षित स्कूलों के बहिष्कार का आह्वान आपने काशी से ही बड़ी ओजस्विता तथा प्रभविष्णुता से किया।

मातृभाषा में अध्ययन-अध्यापन को भी महात्मा गांधी बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। आपकी स्पष्ट मान्यता थी कि मातृभाषा में शिक्षा की व्यवस्था के बिना सच्चा स्वराज्य स्थापित नहीं हो सकता। इस प्रसंग में उस समय महात्मा गांधी ने कहा—'वहां की शिक्षा की बुराई हम भी मानते हैं। एक तो वहां अंग्रेजी में शिक्षा दी जाती है। अंग्रेजी हमारी मातृभाषा नहीं है। हमारी राष्ट्रीय भाषा हिन्दुस्तानी है। जिसे २१ करोड़ आदमी बोलते हैं। अंग्रेजी को हम मातृभाषा का स्थान नहीं देना चाहते पर उसे त्यागना भी नहीं चाहते। वह बड़ी ओजस्वी भाषा है। उसमें व्यापार बहुत चढ़ा-बढ़ा है। उसे सीखिए। हमारी मातृभाषा स्थान-च्युत हो गयी है और उसका स्थान दूसरी भाषा ने ग्रहण कर लिया है। ऐसी ही और बहुत-सी त्रुटियां हैं पर उन्हें दूर करने और नई कार्यप्रणाली स्थिर करने के लिए हम ठहर नहीं सकते। हम उस झण्डे के नीचे नहीं रह सकते जिसकी सलामी करने के लिए हमारे लड़के मजबूर किये गये थे।

महात्मा गांधी ने उस समय मातृभाषा की उन्नति के लिये जो सुझाव दिये थे, वे भी ध्यान देने योग्य हैं। कारण स्वाधीनता के बाइस वर्षों के बाद भी मातृभाषा हिन्दी की समुचित प्रतिष्ठा नहीं हो पायी है। उस समय महात्मा जी ने कहा था—मातृभाषा को पढ़ाना हमारा कर्तव्य है। इसे लिख-पढ़ न सकना शर्म की बात है। जो कुछ अंग्रेजी में तालीम मिली है उसे मातृभाषा में हजम कीजिये। हिन्दू-मुसलमानों की कैसे सेवा हो सकती है, इसे सीखना है। हमें उर्दू और देवनागरी सीखनी चाहिये। हमें वह हिन्दी चलानी है जिसमें संस्कृत और उर्दू मिली हो, जिससे हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के हृदय में प्रवेश कर सकते हैं। अंगरेज कहते हैं कि यह मेल दिखावा मात्र है। हिन्दू-मुसलमानों का मेल कभी हो नहीं सकता। यह केवल अपने-अपने मतलब के लिए है। जहां मतलब सिद्ध हुआ कि फिर वही हालत हो जायगी। पर यह व्यर्थ है। यदि हिन्दू और मुसलमान परस्पर रक्षा के लिए कटिबद्ध हैं तो यह नहीं हो सकता।

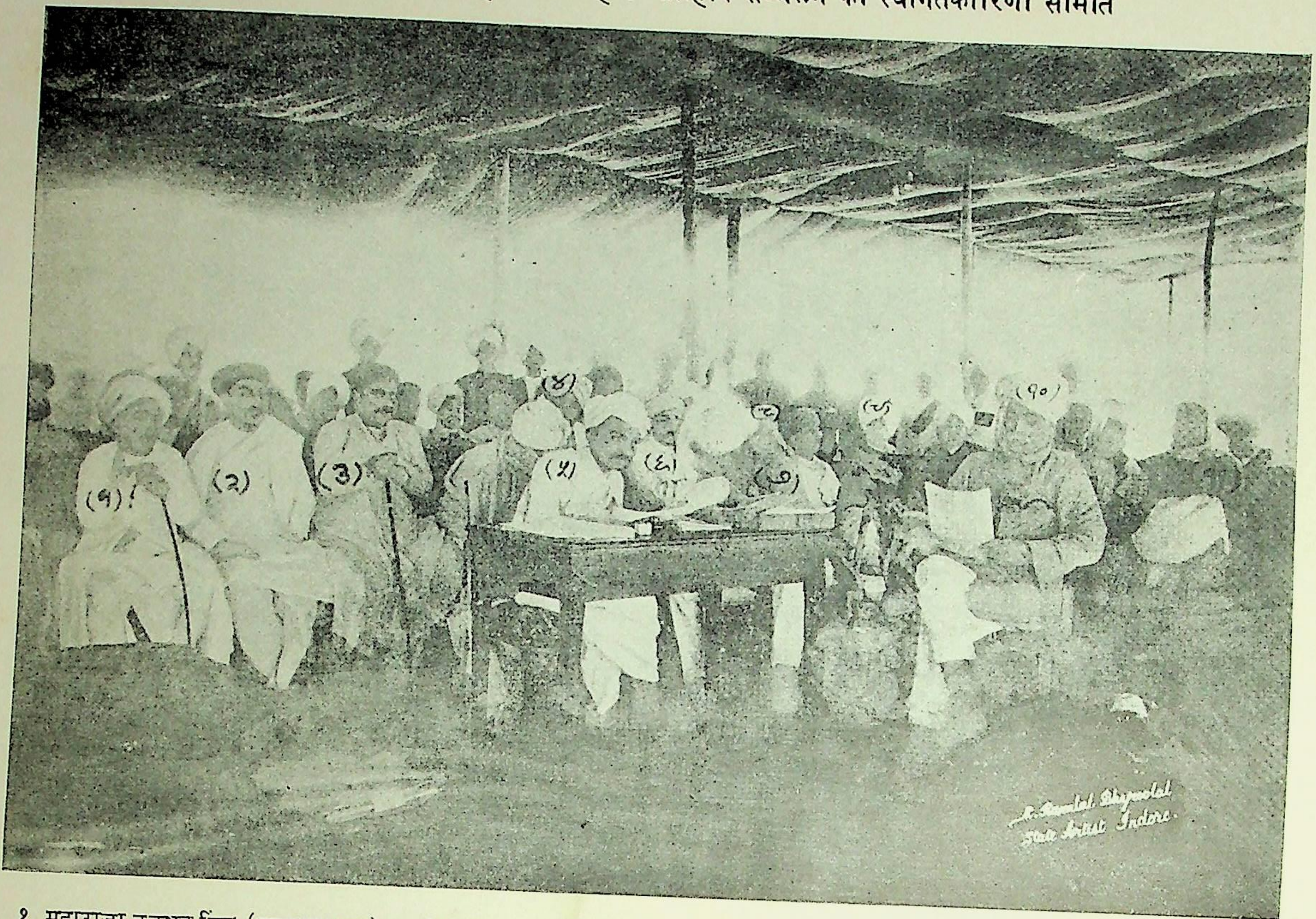
काशी विद्यापीठ की स्थापना के माध्यम से महात्माजी ने देश को राष्ट्रीयता का अभिनव मन्त्र दिया और स्वराज्य प्राप्ति का रचनात्मक कार्यक्रम। काशी विद्यापीठ की स्थापना का उद्देश्य असहयोग आन्दोलन को अग्रसर करना रहा है। इस प्रसंग में गांधी जी ने कहा—'अगर हिन्दू-मुसलमान यहाँ मिल कर काम करेंगे तो हमारा स्वराज्य आपके मारफत आ जायगा।

इसी अभिलाषा से मैंने शिवप्रसाद और जवाहरलाल से कहा था कि इस कार्य का आरम्भ मेरे हाथ से कराइये। प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि दिन प्रतिदिन इसकी वृद्धि हो और यह विद्यालय राक्षसी सम्मत मत को मिटाने या दुरुस्त करने में हिस्सा ले।'

इस प्रकार गांधीजी हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे। साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए आपने जो व्यावहारिक सुझाव रखे उन्हें आज के सन्दर्भ में भी समझने-परखने की आवश्यकता है। गांधीजी ने अंग्रेजी राज्य को राक्षसी राज्य अथवा रावण राज्य कहा है। इसे मिटा कर अथवा ठीक कर आप रामराज्य की स्थापना करना चाहते थे। देश के युवकों के सम्मुख राष्ट्रीयता के आदर्श को उपस्थित कर आपने मातृभाषा के विकास को राष्ट्रीय उन्नति का मूल माना है। असहयोग आन्दोलन को अग्रसर करने के लिए आपने श्री शिव प्रसाद जी गुप्त तथा डाक्टर भगवानदास जी के सहयोग से काशी विद्यापीठ की स्थापना करायी। इसी समय महात्मा जी ने विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का भी आन्दोलन शुरू किया था। आपका कथन था कि हमें प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि विदेशी वस्त्र धारण करना महापाप है। इसलिये आपने सबसे पहला धर्म चरखा चलाना बताया। आपने कहा—'असहयोग ही हमारे लिए एक शस्त्र है। दूसरे तत्त्वज्ञान मजहबी लाभ आदि शस्त्र नहीं हैं। यहां वणिक् बुद्धि का काम नहीं है। उसे हम हटाना चाहते हैं, उच्च करना चाहते हैं। अगर हम आज सेवा करते हैं तो स्वार्थ से, अपने स्त्री-बच्चों को सुख पहुँचाने की लालसा से, हमको राष्ट्र की सेवा करनी चाहिये। राष्ट्र के लिये हम सब काम करेंगे। हमें व्यापार में जूआ नहीं खेलना है। हम हिन्दोस्तान को पुण्यभूमि बनावेंगे। यहां से हर साल ६० करोड़ रुपये कपड़ों के लिए विदेश चले जाते हैं। इसको रोकने का तरीका यहां बताया जायगा। सीता (भूमि) की स्थापना तो लंका से लाकर करना है पर यदि वस्त्र के हरण को नहीं रोक सकते तो क्या कर सकते हैं? भूमि को अपना करना नामुमकिन है पर वस्त्र नहीं छिनने देना चाहिये। हम सबको प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि विदेशी वस्त्र धारण करना महापाप है। हिन्दू मुसलमानों को यह बात सुनाने में बड़ा सुभीता है; क्योंकि दोनों का संयम और त्याग धर्म है। विदेशी कपड़ा पहनना पाप है। पहला धर्म चरखा चलाना है। विद्यालय के चलाने वाले इसे याद रखेंगे। हम लोग विद्यार्थियों के जरिये ६० करोड़ रुपया बचा सकते हैं। इसको बचाइये। विद्यार्थी यही करें। इसी से हमारी आर्थिक शुद्धि होगी।'

सन् १९२१, फरवरी में काशी विद्यापीठ की स्थापना के अवसर पर महात्मा गांधी का यह शुभारम्भ भाषण हमारे राष्ट्रीय जागरण, नवचेतना, नवसंस्कार तथा आर्थिक क्रान्ति का सूत्रपात करने वाला है। मातृभाषा की उन्नति तथा हिन्दी के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से इसका ऐतिहासिक मूल्य है। गांधी शती जयन्ती के अवसर पर बापू के ये विचार आज भी हमारे उद्-बोधन एवं उत्थान की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

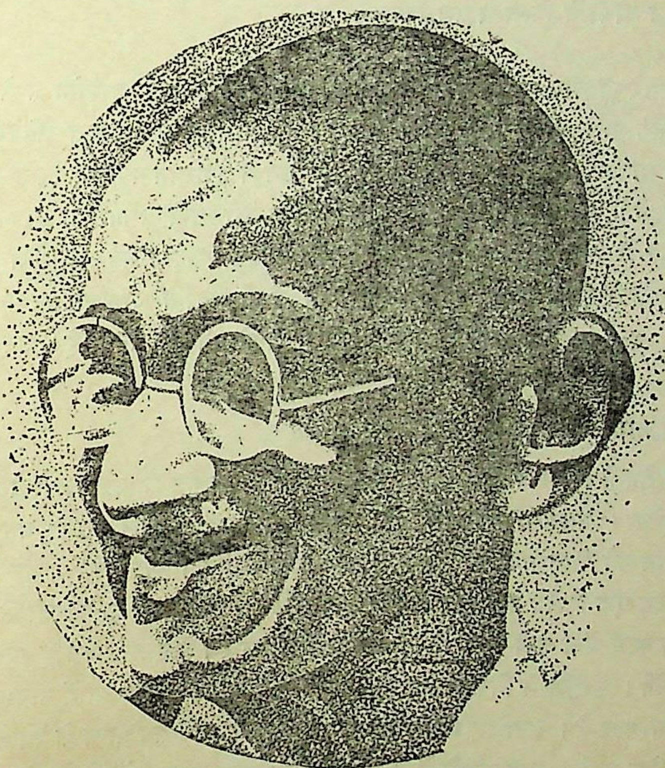
सन् १९१८ में इंदौर में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्वागतकारिणी समिति



१. महाराजा बलभद्र सिंह (झालरापाटन) २. पं० मुकुन्दराज त्रिवेदी, ३. रायबहादुर सर सेठ हुकुमचंदजी (सभापति स्वागतकारिणी समिति) ४. रायबहादुर पंडित विष्णुदत्त शुक्ल, ५. महात्मा गांधी (सम्मेलन के सभापति), ६. रायबहादुर सेठ जमनालाल बजाज, ७. बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन (सम्मेलन के प्रधानमंत्री) ८. रायबहादुर सरदार माधवराव विनायक किबे, ९. पं० शंकरप्रसाद दुबे, १०. रायबहादुर डाक्टर सरजूप्रसाद (मंत्री, स्वागतकारिणी समिति) ११. पंडित रामजीलाल शर्मा।

महात्मा गांधी

इन्दौर में होनेवाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनों के अध्यक्षीय भाषण



राष्ट्रभाषा और हिन्दी-प्रसार-प्रचार के संबंध में सार्वजनिक सभाओं, बैठकों, समितियों में प्रकट किये गये तथा 'यंग इंडिया' 'नवजीवन' 'हरिजन सेवक' आदि पत्रों में प्रकाशित गांधी जी के भाषण, विचार, वक्तव्य और मंतव्य।

इंदौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आठवाँ अधिवेशन

महात्मा गांधी का अध्यक्षीय भाषण

इंदौर में होनेवाले अष्टम हिन्दी साहित्य सम्मेलन में, जो २९ मार्च १९१८ में हुआ था, महात्मा गांधी ने निम्न भाषण दिया—

हमारे पूजनीय और स्वार्थत्यागी नेता पं० मदनमोहन जी मालवीय सम्मेलन में नहीं आ सके। मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि जहाँ तक बने सम्मेलन में उपस्थित रहियेगा। उन्होंने वचन दिया था कि जरूर आयेंगे। पण्डित जी सम्मेलन में उपस्थित नहीं हुए पर उन्होंने एक पत्र भेज दिया है। मैं उम्मेद करता था कि यदि पण्डित जी नहीं आयेंगे तो उनका पत्र अवश्य आयेगा और मैं उसे आप लोगों के सामने उपस्थित कर सकूंगा। यह पत्र मुझे आज मिला है। मैंने स्वागतकारिणी सभा को हिन्दी के विषय में विद्वानों से दो प्रश्नों पर सम्मति लेने के लिए कहा था, उन्हीं का उत्तर पण्डितजी ने अपने पत्र में दिया है। उनका पत्र इस प्रकार है—

"प्रिय भाई गांधी जी,

मुझे खेद है कि मैं अब तक हिन्दी के विषय के आपके पत्र का उत्तर नहीं दे सका। मुझे क्षमा कीजियेगा। अवकाश नहीं मिला था। आपको तो मालूम ही है कि मेरा यह मत है कि हिन्दी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हो सकती है और होनी चाहिए। बहुत अंश में वह अब भी है। उर्दू हिन्दी का एक विशेष रूप मात्र है और यदि कठिन संस्कृत, अर्बी या फारसी के शब्द उसमें बहुतायत से काम में न लाये जायं तो जो लोग उसको एक रूप में समझ सकते हैं वह दूसरे रूप में भी समझ लेंगे। संस्कृत से निकली मराठी, गुजराती, बंगाली, उड़िया आदिं भाषाओं से इसका निकट का सम्बन्ध है। इसलिए मद्रास प्रान्त को छोड़कर और सब प्रान्त के लोगों को उसका समझना कठिन नहीं। कुछ पादरियों ने लिखा है कि मध्य एशिया में भी बहुत दूर तक हिन्दी अथवा सरल उर्दू, जिसे हिन्दुस्तानी कहते हैं, समझी जाती है।

पुराने समय में, जब हिन्दुस्तान में स्वदेशी राजाओं का राज्य था, संस्कृत राष्ट्रभाषा थी, पीछे प्राकृत थी। यदि इस देश में फिर स्वराज्य स्थापित होना है—जैसा कि हम आशा करते हैं कि शीघ्र होगा—तो यह आवश्यक है कि वह देशी भाषा, जिसको देश के सबसे अधिक लोग समझ सकते हैं, राष्ट्रभाषा मान ली जाय और दिन दिन सब प्रान्तों के पढ़े-लिखे लोग उसमें लिखने और बोलने का अभ्यास करें। संसार की वर्तमान राजनीतिक दशा में जब 'जिसका लोहा उसका देश' यह सिद्धांत प्रचण्ड रूप से गरज रहा है। हिन्दुस्तान अपनी रक्षा और उन्नति तभी कर सकेगा

जब इसका शासन वर्तमान के समान राष्ट्र के रूप में रहेगा। प्रान्तीय बातों में प्रांत का शासन अलग और स्वतंत्र रहना ठीक है, किन्तु उनके ऊपर जैसा अब है वैसा ही आगे भी एक राष्ट्रीय शासन रहना चाहिए। और यदि वर्तमान के स्थान में स्वराज्य की रीति का शासन स्थापित होना है तो उसकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कार्रवाई देशी भाषा में हो, जिसमें देश के सर्व साधारण लोग उसको समझ सकें और उसका समर्थन या खण्डन कर सकें। मेरी राय में हर एक स्वराज्य के चाहने वाले देशभक्त का यह कर्त्तव्य है कि वह सब प्रान्तों में पढ़े लिखें लोगों को हिन्दी बोलने और लिखने का अभ्यास बढ़ाने के लिए प्रेरणा करे।

हमारे देश की दशा के सुधार और उन्नति के लिए हमारा सबसे बड़ा साधन विद्या है। यही अमृत है कि जिसके सेवन करने से हमारे भाई-बहन फिर बलवान, धर्मवान्, ज्ञानवान्, धनवान् हो सकते हैं। प्रजा में विद्या का प्रचार उनकी मातृभाषा ही के द्वारा हो सकता है। जिस प्रान्त में जो भाषा प्रचलित है उस प्रान्त में उसी भाषा के द्वारा ऊंची से ऊंची शिक्षा देने का प्रबन्ध होना चाहिए। अंग्रेजी के द्वारा हमारा बहुत उपकार हुआ है, किन्तु हम अंग्रेजी पढ़े लोगों को उचित था कि अबतक प्रत्येक प्रान्त की भाषा की ऐसी उन्नति करते कि उसके द्वारा ऊंची से ऊंची शिक्षा हमारे भाई और बहनों को दी जाती होती। विदेशी भाषा का ज्ञान मात्र प्राप्त करने में जितना समय हमारे युवकों को लगाना पड़ता है उतने ही समय में उनको बहुत से विषयों का बहुत ऊँचा ज्ञान प्राप्त हो सकता है। हर प्रांत में मातृभाषा के द्वारा ऊंची शिक्षा का अधिक प्रचार करना चाहिए। जहाँ जहाँ हिन्दी प्रचलित है वहाँ वहाँ उसी के द्वारा ऊंची से ऊंची शिक्षा देने का यत्न करना उचित है। वर्तमान समय में अंग्रेजी बहुत उपकारी भाषा है। इसलिए जहाँ सुविधा हो वहाँ उसको दूसरी भाषा के रूप में पढ़ाना उचित है। इस घोर महाभारत का अन्त होने के बाद इससे भी भयंकर एक व्यापक-युद्ध प्रारंभ होगा। उसमें हमें अपना जातीय जीवन और धन बचाने के लिए यह आवश्यक है कि हम देश की कलाकौशल और वाणिज्य व्यापार सम्बन्धी शिक्षा फैलाने का प्राणपन से यत्न करें। यह यत्न भी मातृभाषा के ही द्वारा हो सकता है, विदेशी भाषा के द्वारा जाति की शिक्षा नहीं हो सकती और बिना ऐसी शिक्षा के जातीय जीवन का वृक्ष न हरा-भरा और न पुष्ट हो सकता है, और न रक्षित रह सकता है। इसीलिए सब प्रकार से देशी भाषाओं और विशेष कर हिन्दी भाषा का प्रचार और उन्नति करना हमारा धर्म है। जो लोग कहते या समझते हैं कि हिन्दी भाषा द्वारा ऊँची से ऊँची शिक्षा नहीं दी जा सकती, उनका यही प्रयोजन हो सकता है कि इस भाषा में आधुनिक ऊंचे से ऊँचे विषय के ग्रंथ अभी नहीं लिखे गये। यह कमी अवश्य है किन्तु इसको पूरा करने का यत्न हो रहा है। मुझे निश्चय है कि यत्न शीघ्र ही सफल होगा। ऐसा ही और और देश भाषाओं के विषय में भी है। हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा बनाने की आवश्यकता और उसके दूरतक पहुँचाने वाले लाभों को अभी हमारे पढ़े लिखे भाइयों में भी थोड़े ही लोगों ने समझा है। मैं आशा करता हूँ कि आपके शान्त और गम्भीर नाद को सुनकर हमारे भाई सचेत होंगे और इस परम उपकारी कार्य में सहायक होंगे। जैसा कि आपको दूसरे पत्र में लिख चुका हूँ, मुझे खेद है कि मैं सम्मेलन में उपस्थित नहीं हो सकूंगा।

आषाढ़–मार्गशीर्ष, शक १८९१]

किन्तु जैसा आप जानते हैं इस कार्य में मेरी आशा आपके साथ है और मैं अपनी गति से उसकी सिद्धि के लिए यत्न कर रहा हूँ।" मालवीय जी का पत्र पढ़कर गांधीजी ने पुनः कहा—

मैं दिलगीर हूँ कि जो व्याख्यान सम्मेलन में देने का मेरा इरादा था वह आपके सामने नहीं रख सका हूँ। मैं बड़ी झंझटों में पड़ा हूँ। मेरी इस समय बड़ी दुर्दशा है। इससे मैं यह काम नहीं कर सका। पर मैंने वादा किया था कि आऊंगा आ गया, जो चीज सामने रखने का इरादा था, नहीं रख सका।

यह भाषा का विषय बड़ा भारी और बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यदि सब नेता सब काम छोड़कर केवल इसी विषय पर लगे रहें तो बस हैं। यदि हम लोग भाषा के प्रश्न को गौण समझेंगे या इधर से मन हटा लेंगे तो इस समय लोगों में जो प्रवृत्ति चल रही है, लोगों के हृदयों में जो भाव उत्पन्न हो रहा है, वह निष्फल हो जायगा।

भाषा माता के समान है। माता पर हमारा जो प्रेम होना चाहिए वह हम लोगों में नहीं है। मुझे तो सम्मेलन से भी वास्तविक प्रेम नहीं है। तीन दिन का जलसा होगा। तीन दिन कह-सुन कर हमें जो करना होगा उसे भूल जायेंगे। सभापति के भाषण में तेज नहीं है, जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह उसमें नहीं है। इससे भारी कंगालियत मैं नहीं जान सकता। हम पर और हमारी प्रजा के ऊपर एक बड़ा आक्षेप है कि हमारी भाषा में तेज नहीं है। जिनमें विज्ञान नहीं है उनमें तेज नहीं है। जब हममें तेज आयेगा तभी हमारी प्रजा में और हमारी भाषा में तेज आयेगा। विदेशी भाषा द्वारा आप जो स्वातंत्र्य चाहते हैं वह नहीं मिल सकता, क्योंकि इसमें हम योग्य नहीं हैं। प्रसन्नता की बात है कि इन्दौर में सब कार्य हिन्दी में होता है, पर क्षमा कीजियेगा प्रधान मंत्री साहेब का जो पत्र आया है वह अंग्रेजी में है। इन्दौर की प्रजा यह बात नहीं जानती होगी, पर मैं उसे बतलाता हूँ कि यहाँ अदालतों में प्रजा की अर्जियाँ हिन्दी में ली जाती हैं पर न्यायाधीशों के फैसले पर वकील बैरिस्टरों की बहस अंग्रेजी में होती है। मैं पूछता हूँ कि इन्दौर में ऐसा क्यों होता है? हाँ यह ठीक है, यह मैं मानता हूँ कि अंग्रेजी राज्य में यह आन्दोलन सफल नहीं हो सकता है, पर देशी राज्यों में तो सफल होना ही चाहिए। शिक्षित वर्ग, जैसा कि माननीय पंडित जी ने अपने पत्र में दिखाया है, अंग्रेजी के मोह में फँस गया है और अपनी राष्ट्रीय मातृभाषा से उसे अविश्वास हो गया है। पहली माता से जो दूध मिलता है उसमें जहर और पानी मिला हुआ है और दूसरी माता से शुद्ध दूध मिलता है। बिना इस शुद्ध दूध के मिले हमारी उन्नति होना सम्भव नहीं है। पर जो अंधा है वह देख नहीं सकता और गुलाम नहीं जानता कि अपनी बेडियाँ किस तरह तोड़ूं। ५० वर्ष से हम अंग्रेजी के मोह में फँसे हैं, हमारी प्रजा अज्ञान में डूब रही है। सम्मेलन को इस ओर विशेष रूप से ख्याल करना चाहिए। हमें ऐसा उद्योग करना चाहिए कि एक वर्ष में राजकीय सभाओं में, कांग्रेस में, प्रान्तीय सभाओं में और अन्य सभा-समाज और सम्मेलनों में एक भी अंग्रेजी का शब्द सुनाई न पड़े,हम बिलकुल अंग्रेजी का व्यवहार त्याग दें। अंग्रेजी सर्व व्यापक भाषा है, पर यदि अंग्रेज सर्व व्यापक न रहेंगे तो अंग्रेजी भी सर्व व्यापक न रहेगी। अब हमें अपनी मातृभाषा को और नष्ट करके उसका खून नहीं करना चाहिए। जैसे अंग्रेज मादरी जबान

अंग्रेजी में ही बोलते और सर्वथा उसे ही व्यवहार में लाते हैं, वैसे ही मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का गौरव प्रदान करें। हिन्दी सब समझते हैं। इसे राष्ट्रभाषा बनाकर हमें अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। अब मैं अपना लिखा हुआ भाषण पढ़ता हूँ।

लिखित भाषण

आपने मुझको इस सम्मेलन का सभापतित्व देकर कृतार्थ किया है। हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से मेरी योग्यता इस स्थान के लिए कुछ भी नहीं है, यह मैं खूब जानता हूँ। मेरी हिन्दी भाषा का असीम प्रेम ही मुझे यह स्थान दिलाने का कारण हो सकता है। मैं उम्मीद करता हूँ कि प्रेम की परीक्षा में मैं हमेशा उत्तीर्ण होऊँगा।

साहित्य का प्रदेश भाषा की भूमि जानने पर ही निश्चित हो सकता है। यदि हिन्दी भाषा की भूमि सिर्फ उत्तर प्रान्त होगी तो साहित्य का प्रदेश संकुचित रहेगा। यदि हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा होगी तो साहित्य का विस्तार भी राष्ट्रीय होगा। जैसे भाषक वैसी भाषा। भाषा-सागर में स्नान करने के लिए पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर से पुनीत महात्मा आयेंगे तो सागर का महत्व स्नान करनेवालों के अनुरूप होना चाहिए। इसलिए साहित्य की दृष्टि से भी हिन्दी भाषा का स्थान विचारणीय है।

हिन्दी भाषा की व्याख्या का थोड़ा सा ख्याल करना आवश्यक है। मैं कई बार व्याख्या कर चुका हूँ कि हिन्दी भाषा वह भाषा है जिसको उत्तर में हिन्दू व मुसलमान बोलते हैं और जो नागरी अथवा फारसी लिपि में लिखी जाती है। यह हिन्दी एकदम संस्कृतमयी नहीं है, न वह एकदम फारसी शब्दों से लदी हुई है। देहाती बोली में जो माधुर्य मैं देखता हूँ वह न लखनऊ के मुसलमान भाइयों की बोली में, न प्रयाग के पंडितों की बोली में पाया जाता है। भाषा वही श्रेष्ठ है जिसको जन-समूह सहज में समझ ले। देहाती बोली सब समझते हैं। भाषा का मूल करोड़ों मनुष्य रूपी हिमालय से मिलेगा, और उसमें ही रहेगा। हिमालय में से निकलती हुई गंगा जी अनन्त काल तक बहती रहेंगी। ऐसे ही देहाती हिन्दी का गौरव रहेगा और जैसे छोटी सी पहाड़ी से निकलता हुआ झरना सूख जाता है वैसे ही संस्कृतमयी तथा फारसीमयी हिन्दी की दशा होगी।

हिन्दू मुसलमानों के बीच में जो भेद किया जाता है वह कृत्रिम है। ऐसी ही कृत्रिमता हिन्दी व उर्दू भाषा के भेद में है। हिन्दुओं की बोली से फारसी-शब्दों का सर्वथा त्याग और मुसलमानों की बोली से संस्कृत का सर्वथा त्याग अनावश्यक है। दोनों का स्वाभाविक संगम गंगा-यमुना के संगम सा शोभित अचल रहेगा। मुझे उम्मीद है कि हम हिन्दी-उर्दू के झगड़े में पड़कर अपना बल क्षीण नहीं करेंगे। लिपि की तकलीफ कुछ जरूर है। मुसलमान भाई अरबी लिपि में ही लिखेंगे, हिन्दू बहुत कर नागरी लिपि में लिखेंगे। राष्ट्र में दोनों को स्थान मिलना चाहिए। अमलदारों को दोनों लिपि का ज्ञान आवश्यक होना चाहिए। इसमें कुछ कठिनाई नहीं है। अन्त में जिस लिपि में ज्यादा सरलता होगी उसी की विजय होगी।

भारतवर्ष में परस्पर व्यवहार के लिए एक भाषा होनी चाहिए, इसमें कुछ संदेह नहीं है। यदि हम हिन्दी-उर्दू का झगड़ा भूल जायँ तो हम जानते हैं कि मुसलमान भाइयों की तो उर्दू ही राष्ट्रीय भाषा है। इस बात से यह सहज में सिद्ध होता है कि हिन्दी या उर्दू मुगलों के जमाने में राष्ट्रीय भाषा बनती जाती थी।

आज भी हिन्दी से स्पर्धा करनेवाली दूसरी कोई भाषा नहीं है। हिन्दी उर्दू का झगड़ा न छेंड़ने से राष्ट्रीय भाषा का सवाल सरल हो जाता है। हिन्दुओं को फारसी शब्द थोड़ा-बहुत जानना पड़ेगा। इसलामी भाइयों को संस्कृत-शब्द का ज्ञान संपादन करना पड़ेगा। इससे हिन्दी भाषा का बल बढ़ जायगा, और हिन्दू-मुसलमानों में एकता का एक बड़ा साधन हमारे हाथ में आ जायगा। अंग्रेजी भाषा का मोह दूर करने के लिए इतना अधिक परिश्रम करना पड़ेगा कि हमें लाजिम है कि हम हिन्दी-उर्दू का झगड़ा न उठायें। लिपि की तकरार भी हम को न उठानी चाहिए।

अंग्रेजी भाषा राष्ट्रीय भाषा क्यों नहीं हो सकती है, अंग्रेजी भाषा का बोझा प्रजा के ऊपर रखने से क्या हानि होती है, हमारी शिक्षा का माध्यम आजतक अंग्रेजी होने से प्रजा कैसी कुचल दी गई है। हमारी जातीय भाषा क्यों कंगाल हो रही है, इन सब बातों पर मैं अपनी राय भागलपुर और भरुच के व्याख्यानों में दे चुका हूँ। इसीलिए मैं यहाँ फिर नहीं देना चाहता। इन दोनों व्याख्यानों में से भाषा सम्बन्धी भाग में इस व्याख्यान के परिशिष्ट रूप में रख दूँगा। हकीकत में इस बात में संदेह नहीं हो सकता है। हमारे कविवर सर रवीन्द्रनाथ टागोर, विदुषी बेसेंट, लोकमान्य तिलक और अन्यान्य प्रतिष्ठित और अन्य व्यक्तियों का मंतव्य इस विषय में ऐसा ही है। कार्य की सिद्धि में कठिनाइयाँ तो होंगी ही, किन्तु उसका उपाय करना इस सभा पर निर्भर है। लोकमान्य तिलक महाराज ने अपना अभिप्राय कार्य करके बता दिया है। उन्होंने 'केसरी' में और 'मराठा' में हिन्दी विभाग शुरू कर दिया है। भारतरत्न पण्डित मदनमोहन मालवीय जी का अभिप्राय भी हिन्दुस्तान में अज्ञात नहीं है। तो भी मुझे मालूम है कि हमारे कई विद्वान नेताओं का अभिप्राय है कि कुछ वर्षों तक तो सिर्फ अंग्रेजी ही राष्ट्रीय भाषा रहेगी। इन नेताओं से हम विनयपूर्वक कहेंगे कि अंग्रेजी के इस मोह से प्रजा पीड़ित हो रही है। अंग्रेजी शिक्षा पानेवालों के ज्ञान का लाभ प्रजा को बहुत ही कम मिलता है और अंग्रेजी शिक्षित वर्ग और आम लोगों के बीच बड़ा दरियाव आ पड़ा है।

कहना आवश्यक नहीं है कि मैं अंग्रेजी भाषा से द्वेष नहीं करता हूँ। अंग्रेजी साहित्य भण्डार से मैंने भी बहुत रत्नों का उपयोग किया है। अंग्रेजी भाषा के मार्फत हमको विज्ञान इत्यादि का खूब ज्ञान लेना है। अंग्रेजी का ज्ञान कितने भारतवासियों के लिए आवश्यक है। लेकिन इस भाषा को उसका उचित स्थान देना एक बात है, उसकी जड़-पूजा करनी दूसरी बात है।

हिन्दी-उर्दू राष्ट्रीय भाषा होनी चाहिए, इस बात को सिर्फ स्वीकार करने से हमारा मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता है, तो किस प्रकार हम सिद्धि पा सकेंगे ? जिन विद्वानों ने इस मण्डप

को विभूषित किया है वे भी अपनी वक्तृता से हमको इस विषय में जरूर कुछ सुनायेंगे। मैं सिर्फ भाषा-प्रचार के बारे में कुछ कहूँगा। भाषा-प्रचार के लिए हिन्दी-शिक्षक होना चाहिए। हिन्दी बंगाली सीखनेवालों के लिए एक छोटी सी पुस्तक मैंने देखी है। वैसी ही मराठी में भी है। अन्य भाषाभाषियों के लिए ऐसी कितावें देखने में नहीं आई हैं। यह काम करना जैसा सहल है वैसा ही आवश्यक है। मुझे उम्मीद है कि यह सम्मेलन इस कार्य को शीध्रता से अपने हाथ में लेगा। ऐसी पुस्तकें विद्वान् और अनुभवी लेखकों के द्वारा बनवानी चाहिए।

सबसे कष्टदायी मामला द्रविड़ भाषाओं के लिए है। वहाँ तो कुछ प्रयत्न ही नहीं हुआ है। हिन्दी भाषा सिखानेवाले शिक्षकों को तैयार करना चाहिए। ऐसे शिक्षकों की बहुत ही कमी है। ऐसे एक शिक्षक प्रयाग से आपके लोकप्रिय मंत्री भाई पुरुषोत्तमदास जी टण्डन के द्वारा मुझे मिले हैं।

हिन्दी भाषा का एक भी संपूर्ण व्याकरण मेरे देखने में नहीं आया है। जो हैं सो अंग्रेजी में विलायती पादरिओं के बनाये हुए हैं। ऐसा एक व्याकरण डाक्टर कैलाग का रचा हुआ है। संशोधन से बनाया हुआ है। हिन्दुस्तान की अन्यान्य भाषाओं का मुकाबला करनेवाला व्याकरण हमारी भाषा में होना चाहिए। हिन्दी प्रेमी विद्वानों से मेरी नम्र विनंती है कि वे इस त्रुटि को दूर करें। हमारी राष्ट्रीय सभाओं में हिन्दी भाषा का ही इस्तेमाल होना आवश्यक है। कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं और प्रतिनिधियों द्वारा यह प्रयत्न होना चाहिए। मेरा अभिप्राय है कि यह सभा ऐसी प्रार्थना आगामी कांग्रेस के कर्मचारियों के सम्मुख उपस्थित करे।

हमारी कानूनी सभाओं में भी राष्ट्रीय भाषा द्वारा कार्य चलना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक प्रजा को राजनीतिक कार्यों में ठीक तालीम नहीं मिलती है। हमारे हिन्दी अखबार इस कार्य को थोड़ा सा करते तो हैं लेकिन प्रजा को तालीम अनुवाद से नहीं मिल सकती है। हमारी अदालतों में जरूर राष्ट्रीय भाषा और प्रांतीय भाषा का प्रचार होना चाहिए। न्यायाधीशों की मार्फत जो तालीम हमको सहज ही मिल सकती है उस तालीम से आज प्रजा वंचित रहती है।

भाषा की सेवा जैसी हमारे राजा-महाराजा लोग कर सकते हैं वैसी अंग्रेज सरकार नहीं कर सकती। महाराजा होलकर जी की काउन्सिल में, कचहरी में और हर एक कामों में हिन्दी का और प्रान्तीय बोली का ही प्रयोग होना चाहिए। उनके उत्तेजन से भाषा और बहुत ही बढ़ सकती है। इस राज्य की पाठशालाओं में शुरू से आखिर तक सब तालीम मादरी जबान में देने का प्रयोग होना चाहिए। हमारे राजा-महाराजाओं से भाषा की बड़ी भारी सेवा हो सकती है। मैं उम्मीद रखता हूँ कि होलकर महाराज और उनके अधिकारी वर्ग इस महान् कार्य को उत्साह से उठा लेंगे।

ऐसे सम्मेलन से हमारा सब कार्य सफल होगा, ऐसी समझ भ्रम ही है। जब हम प्रति दिन इसी कार्य की धुन में लगे रहेंगे तब ही इस कार्य की सिद्धि हो सकेगी। सैंकड़ों स्वार्थ-त्यागी विद्वान् जब ही इस कार्य को अपनायेंगे तब ही सिद्धि सम्भव है।

मुझे खेद तो यह है कि जिन प्रान्तों की मातृभाषा हिन्दी है वहाँ भी उस भाषा की उन्नति करने का उत्साह नहीं दिखाई देता है। उन प्रान्तों में हमारे शिक्षित वर्ग आपस में पत्र-व्यवहार और बातचीत अंग्रेजी में करते हैं। एक भाई लिखते हैं कि हमारे अखबार चलानेवाले अपना व्यवहार अंग्रेजी के मारफत से करते हैं, अपने हिसाब किताब वे अंग्रेजी में ही रखते हैं। बात छोटी है, लेकिन उसमें रहस्य बहुत है। फ्रांस में रहनेवाले अंग्रेज अपना सब व्यवहार अंग्रेजी ही में रखते हैं, हम अपने देश में अपने महत् कार्य विदेशी भाषा में करते हैं। मेरा नम्र, लेकिन दृढ़ अभिप्राय है कि जबतक हम हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय और अपनी अपनी प्रांतीय भाषाओं को उनका योग्य स्थान नहीं देंगे तब तक स्वराज्य की सब बातें निरर्थक हैं। इस सम्मेलन द्वारा भारतवर्ष के इस बड़े प्रश्न का निराकरण हो जाय, ऐसी मेरी आशा और प्रभु प्रति प्रार्थना है।

इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का चौबीसवाँ अधिवेशन

इंदौर में २० अप्रैल सन् १९३५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का चौबीसवां अधिवेशन हुआ। अध्यक्ष पद से महात्मा गांधी ने निम्न भाषण दिया—

ईश्वर की गति गहन है। अक्तूबर मास से मैं इस बोझ को टाल रहा था। यह पद पूजनीय मालवीय जी महाराज का था। पर उनका स्वास्थ्य बिगड़ने के कारण, और उनको विदेश जाना था इसलिए उन्होंने त्याग पत्र भेजा। दूसरा सभापति चुनने में आपको कुछ मुसीबत थी। मेरा नाम तो स्वागत समिति के सामने था ही। मुझको जब स्वागत समिति का संकट बताया गया तो मैं विवश हो गया और पद-ग्रहण करना स्वीकार कर लिया।

स्वीकृति देने का मेरे लिये अन्य कारण तो था ही। गत वर्ष जब मेरे पास इस अधिवेशन के सभापतित्व का प्रस्ताव आया तब मैंने दक्षिण-भारत हिन्दी प्रचार के लिए दो लाख रुपये माँगे। भला आजकल दो लाख इस काम के लिए कौन दे? हाँ, हम प्रयत्न करेंगे। आपके पद स्वीकार करने से सफल होंगे—समिति की ऐसी बातों में फँस जाऊँ ऐसा भला मैं कब था? मैंने तो दो लाख की गारण्टी माँगी। मैंने समझा कि इस पर मित्रों ने मुझे छोड़ दिया।

लेकिन ईश्वर को दूसरी ही बात करनी थी। उसे मेरे मार्फत हिन्दी-प्रचार की कुछ और सेवा लेनी थी। मालवीय जी महाराज न आ सके। उनको ईश्वर शतायु करे। मैंने आपके अधिवेशनों की रिर्पोर्ट कुछ अंशों में देखी है। सबसे पहला अधिवेशन सन् १९१० में हुआ था। उसके सभापति मालवीय जी महाराज ही थे। उनसे बढ़ कर हिन्दी-प्रेमी भारत वर्ष में हमें कहीं नहीं मिलेंगे। कैसा अच्छा होता यदि वे आज भी इस पद पर होते। उनका हिन्दी प्रचार-क्षेत्र भारतव्यापी है, उनका हिन्दी-ज्ञान उत्कृष्ट है।

मेरा क्षेत्र बहुत मर्यादित है। मेरा हिन्दी भाषा का ज्ञान नहीं के बराबर है। आपकी प्रथमा परीक्षा में मैं उत्तीर्ण नहीं हो सकता हूँ। लेकिन हिन्दी भाषा का मेरा प्रेम किसी से कम नहीं ठहर सकता है। मेरा क्षेत्र दक्षिण में हिन्दी-प्रचार है। सन् १९१८ में जब आपका अधिवेशन यहाँ हुआ था, तब से दक्षिण में हिन्दी-प्रचार के कार्य का आरम्भ हुआ है। वह कार्य तब से उत्तरोत्तर बढ़ ही रहा है। धनाभाव के कारण वह रुकना नहीं चाहिए। पं० हरिहर शर्मा धन के लिये मुझे नित्य सताते हैं। उनसे मैं कहता हूँ कि अब मुझे मत सताओ। दक्षिण से ही आपको पैसे मिलने चाहिए। इतना भी करने की शक्ति यदि आपमें नहीं है तो आप अपना प्रयत्न निष्फल समझिये। कहने को तो मैं यह कह देता हूँ, पर इतनी बड़ी संस्था को २१ वर्ष तक नाबालिग रहने का भी तो हक होना चाहिए। इसलिये जब मौका आया तब मैंने

दो लाख की माँग की। इतना द्रव्य अधिक भी नहीं है। लेकिन जो सज्जन मेरे पास आये उन्होंने रूई का दाम एक दम गिर जाने से दो लाख के लिये अपनी असमर्थता प्रकट की। बात भी ठीक थी। जमनालाल जी ने भी उन भाइयों का पक्ष लिया। मैंने भी हार मान ली और एक लाख की शर्त कबूल कर ली। अब किसी न किसी तरह से पर सचाई के साथ आपको मुझे एक लाख देना है।

आप पूछ सकते हैं कि केवल दक्षिण ही में हिन्दी प्रचार के लिये क्यों? मेरा उत्तर यह है कि दक्षिण भारत कोई छोटा मुल्क नहीं है। वह तो एक महाद्वीप सा है। वहाँ चार प्रान्त और चार भाषाएँ हैं—तामिल, तेलुगु, मलयाली और कानडी। आबादी करीब सवा सात करोड़ है। इतने लोगों में यदि हम हिन्दी-प्रचार की नींव मजबूत कर सके तो अन्य प्रांतों में बहुत ही सुभीता हो जायगा।

यद्यपि मैं इन भाषाओं को संस्कृत की पुत्रियाँ मानता हूँ, तो भी ये हिन्दी, उड़िया, बंगला, आसामी, पंजाबी, सिन्धी, मराठी, गुजराती से भिन्न हैं। इनका व्याकरण हिन्दी से बिल्कुल भिन्न है। इनको संस्कृत की पुत्रियाँ कहने से मेरा अभिप्राय इतना ही है कि इन सब में संस्कृत शब्द काफी हैं, और जब संकट आ पड़ता है तब ये संस्कृत माता को पुकारती हैं और उसका नये शब्द रूपी दूध पीती हैं। प्राचीन काल में भले ही ये स्वतंत्र भाषाएँ रहीं हों, पर अब तो ये संस्कृत में से शब्द लेकर अपना गौरव बढ़ा रही हैं। इसके अतिरिक्त और भी तो कई कारण इनको संस्कृत की पुत्रियाँ कहने के हैं, पर उन्हें इस समय जाने दीजिये।

जो भी हो, इतनी बात तो निर्विवाद है कि दक्षिण में हिन्दी-प्रचार सबसे कठिन कार्य है। तथापि १८ वर्षों से हम व्यवस्थित रूप में वहाँ जो कार्य करते आये हैं उसके फल-स्वरूप इन वर्षों में छः लाख दक्षिणवासियों ने हिन्दी में प्रवेश किया, ४२००० परीक्षा में बैठे, ३२००० स्थानों में शिक्षा दी गई, ६०० शिक्षक तैयार हुए और आज ४५० स्थानों में कार्य हो रहा है। सन् ३१ से स्नातक परीक्षा का भी आरम्भ हुआ, और आज स्नातकों की संख्या ३०० है। वहाँ हिन्दी की ७० किताबें तैयार हुईं और मद्रास में उनकी आठ लाख प्रतियाँ छपीं। सत्रह वर्ष पूर्व दक्षिण के एक भी हाई स्कूल में हिन्दी की पढ़ाई नहीं होती थी, पर आज सत्तर हाई स्कूलों में हिन्दी पढ़ाई जाती है। सब मिलाकर वहाँ ७० कार्यकर्त्ता काम कर रहे हैं और आज तक इस प्रयास में चार लाख रुपया खर्च हुआ है, उसमें से आधे से कुछ कम रुपये दक्षिण में ही मिले हैं। यहाँ एक और बात कह देना जरूरी है। काका साहब अपने निरीक्षण के बाद कहते हैं कि दक्षिण में बहनों ने हिन्दी प्रचार के लिये बहुत काम किया है। वे इसकी महिमा समझ गई हैं। वे यहाँ तक हिस्सा ले रही हैं कि कुछ पुरुषों को यह फिक्र लग रही है कि यदि स्त्रियाँ इस तरह उद्यमी बनेंगी तो घर कौन सँभालेगा।

क्या इतनी प्रगति सन्तोषजनक नहीं मानी जा सकती? क्या ऐसे वृक्ष को हमें और भी न बढ़ाना चाहिये? आज जब कि मुझे यह स्थान दिया गया है तब भी मैं इस संस्था को चिरस्थायी बनाने का यत्न न करूँ तो मेरे जैसा मूर्ख कौन माना जा सकता है? मुझको यदि दुबारा यह पद

लेने का कुछ भी अधिकार है तो सिर्फ मेरे दक्षिण हिन्दी-प्रचार के कार्य के कारण ही। भले ही उस कार्य में मैंने कोई पद लेकर काम न किया हो, पर हर हालत में उस वृक्ष को स.चने में तो मैंने काफी हिस्सा लिया ही है। उसके संरक्षक श्री जमनालाल बजाज, श्री राजगोपालाचारी, श्री रामनाथ गोयनका, श्री पट्टाभि सीताराममैया और श्री हरिहर शर्मा हैं। इसका कौड़ी-कौड़ी का हिसाब रक्खा गया है, जो समय-समय पर प्रकाशित होता रहता है।

मैंने आपको इस संस्था का उज्ज्वल पक्ष ही दिखाया है। इसका यह मतलब नहीं है कि उसका काला पक्ष है ही नहीं।

जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार।।

निष्फलता भी काफी हुई है। सब कार्यकर्त्ता अच्छे ही निकले, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यदि सब कार्य आरम्भ से अंत तक अच्छा ही रहता तो अवश्य और भी सुन्दर परिणाम आ सकता था। पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि यदि अन्य प्रान्तों के हिन्दी-प्रचार से इसकी तुलना की जाय तो यह काम अद्वितीय ठहरेगा।

रही एक लाख के व्यय की बात। क्या यह व्यय सम्मेलन के प्रयागस्थ केन्द्र से होना आवश्यक नहीं है? यदि ऐसा न किया गया तो क्या इससे सम्मेलन का अपमान नहीं होगा? इन प्रश्नों के उत्तर में मेरा नम्र निवेदन यह है कि इसमें अपमान की कोई बात नहीं है। सम्मेलन न होता तो दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा भी न होती। सन् १६१८ में इसी शहर में इसी सम्मेलन की छाया में इस संस्था का उद्भव हुआ। बाद के इतिहास में जाना अनावश्यक है। अंत में इस संस्था को सम्मेलन ने स्वतंत्र कर दिया, या यों कहिए कि 'डोमीनियन स्टेट्स' दे दिया। इससे सम्मेलन का गौरव बढ़ा ही है, कम नहीं हुआ। यदि सम्मेलन से सम्बन्धित सब संस्थाएँ स्वावलम्बी बन जायँ तो इससे ज्यादा हर्ष की बात सम्मेलन के लिए कौन-सी हो सकती है? आप से जो एक लाख रुपये की भिक्षा माँगी जा रही है वह इस स्वतंत्र संस्था के लिए है। उसको भी झंडा तो सम्मेलन का ही फहराना है।

पर तब प्रश्न उठ सकता है कि क्या अन्य प्रान्तों की बात छोड़ दी जाय? क्या अन्य प्रांतों में हिन्दी-प्रचार की आवश्यकता नहीं है? अवश्य है। मुझे दक्षिण का पक्षपात नहीं है, और न अन्य प्रान्तों से द्वेष! मैंने अन्य प्रान्तों के लिए भी काफी प्रयत्न किया है, लेकिन कार्यकर्त्ताओं के अभाव के कारण वहाँ इतनी क्या थोड़ी भी सफलता नहीं मिल सकी। बेचारे बाबा राघवदास उत्कल, बंगाल और आसाम में हिन्दी-प्रचार के लिए अथक प्रयत्न कर रहे हैं। कुछ सफलता भी मिली है लेकिन उसे नहीं के बराबर ही मानना चाहिए। जो कुछ भी सहायता मैं उनको दिला सकता था वह दिलाने की चेष्टा भी मैंने की है। बाबा जी के मार्फत आसाम में गोहाटी, जौरहट, शिवसागर और नौगांव में प्रयत्न हो रहा है। वहाँ १६० विद्यार्थी पढ़ रहे हैं। दो छात्रों और दो छात्राओं को छात्रवृत्ति देकर काशी विद्यापीठ और प्रयाग महिला विद्या-

पीठ में पढ़ाया जा रहा है। एक आसामी भाई बरहज (गोरखपुर) में हिन्दी पढ़ रहे हैं और वहाँ वालों को आसामी पढ़ा रहे हैं। आसामी प्रतिष्ठित लोग इस प्रचार-कार्य में कम रस लेते हैं। जो मदद बाबा जी को मिली भी है वह एक ही वर्ष के लिए है।

उत्कल में कटक पुरी और बरहमपुर में कुछ प्रयत्न हो रहा है। उत्कल के बारे में एक बड़ी आशाजनक बात यह है कि श्री गोपबन्धु चौधरी और उनकी धर्मपत्नी रमा देवी हिन्दी-प्रचार में बहुत दिलचस्पी लेती है। अपने परिवार को भी उन्होंने हिन्दी का काफी ज्ञान प्राप्त करा दिया है। वे सब आजकल एक देहात में रहते हुए ऐसी ही क्रियात्मक सेवा कर रहे हैं। ऐसे ही कुछ दूसरे भी त्यागी कार्यकर्त्ता उत्कल में हैं। इसलिए उत्कल में हिन्दी-प्रचार की आशा अवश्य रखी जा सकती है।

बंगाल में तो एक समिति भी बन गयी थी, सब कुछ हुआ था, हिन्दी पर प्रेम रखने वाले बंगाली भी काफी हैं। श्री रामानंद बाबू, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी की मदद से 'विशाल भारत' निकाल रहे हैं। यह कोई छोटी बात नहीं है। कलकत्ते में हिन्दी प्रेमी-मारवाड़ी सज्जन भी कम नहीं हैं। तो भी बंगाल में जितना कुछ हो रहा है वह बहुत ही कम समझा जाना चाहिए।

पंजाब की बात मैं छोड़ देता हूँ, क्योंकि पंजाब में उर्दू तो सब समझते हैं। वहाँ तो केवल लिपि की बात रह जाती है। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए काका साहब की अध्यक्षता में लिपि-परिषद् हो रही है, इसलिए मैं इस बारे में कुछ नहीं कहना चाहता। अब रहे सिंध, महाराष्ट्र और गुजरात। इन तीनों प्रान्तों में जो कुछ हो रहा है वह शायद ही उल्लेख योग्य हो। पर मेरी उम्मीद है कि इसी सम्मेलन में हम वहाँ के लिए भी कुछ न कुछ रचनात्मक कार्य करने का निश्चय करेंगे।

सारी मुश्किल तो यह है कि सम्मेलन के उद्देश्यों में तो अन्य प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार का खासा स्थान रहता है, लेकिन मेरा यह कहना अनुचित न होगा कि सम्मेलन ने इस प्रचार कार्य पर उतना जोर नहीं दिया है जितना कि परीक्षाओं पर। मेरा निवेदन है कि इस सम्मेलन में हम इस बारे में ध्यानपूर्वक विचार करके इस संबंध में कोई स्पष्ट नीति ग्रहण करें।

मेरी राय में अन्य प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार, सम्मेलन का मुख्य कार्य बनना चाहिए। यदि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना है तो प्रचार-कार्य सर्वव्यापी और सुसंगठित होना ही चाहिए। हमारे यहाँ शिक्षकों का अभाव है। सम्मेलन के केन्द्र में हिन्दी-शिक्षकों के लिए एक विद्यालय होना चाहिए जिसमें एक ओर तो हिन्दी प्रांतवासी शिक्षक तैयार किये जायँ और उनको जिस प्रांत के लिए वे तैयार होना चाहें उस प्रांत की भाषा सिखायी जाय, और दूसरी ओर अन्य प्रांतों के भी छात्रों को भरती करके उन्हें हिन्दी शिक्षा दी जाय। ऐसे प्रयास दक्षिण के लिए तो किया भी गया था, जिसके फलस्वरूप हमको पं० हरिहर शर्मा और हृषीकेश मिले।

आप जानते हैं कि मेरी सलाह से काका साहब कालेलकर दक्षिण में प्रचार कार्य का निरीक्षण करने और पं० हरिहर शर्मा को मदद देने के लिए गये थे। उन्होंने तामिलनाड, मलाबार, त्रावणकोर, मैसूर, आंध्र और उत्कल तक भ्रमण किया, हिन्दी-प्रेमियों से मिले और कुछ

चन्दा भी इकट्ठा किया। इस भ्रमण में उनका अनुभव यह हुआ कि कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि हम प्रान्तीय भाषाओं को नष्ट करके हिन्दी को सारे भारतवर्ष की एक मात्र भाषा बनाना चाहते हैं। इस गलतफहमी से भ्रमित होकर वे हमारे प्रचार का विरोध भी करते हैं। मेरा ख्याल है कि हमें इस बारे में अपनी नीति स्पष्ट करके ऐसी गलतफहमियाँ दूर करनी चाहिए। मैं हमेशा से यह मानता रहा हूँ कि हम किसी हालत में भी प्रान्तीय भाषाओं को मिटाना नहीं चाहते। हमारा मतलब तो सिर्फ यह है कि विभिन्न प्रान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए हम हिन्दी भाषा सीखें। ऐसा कहने से हिन्दी के प्रति हमारा कोई पक्षपात नहीं प्रगट होता। हिन्दी को हम राष्ट्र-भाषा मानते हैं। वह राष्ट्रीय होने के लायक है। वही भाषा राष्ट्रीय बन सकती है जिसे अधिक संख्यक लोग जानते और बोलते हों और जो सीखने में सुगम हो। ऐसी भाषा हिन्दी ही है, यह बात यह सम्मेलन सन् १६१० से बता रहा है और इसका कोई वजन देने लायक विरोध तक सुनने में नहीं आया है। अन्य प्रान्तों ने भी इस बात को स्वीकार कर ही लिया है।

काका साहब ने कुछ लोगों में दूसरी गलतफहमी यह देखी कि वे समझते हैं कि हम हिन्दी को अंग्रेजी भाषा का स्थान देना चाहते हैं। कुछ तो यहाँ तक समझते हैं कि अंग्रेजी ही राष्ट्रभाषा बन सकती है, और बन भी गयी है।

यदि हिन्दी अंग्रेजी का स्थान ले तो कम से कम मुझे तो अच्छा ही लगेगा। लेकिन अंग्रेजी भाषा के महत्व को हम अच्छी तरह जानते हैं। आधुनिक ज्ञान की प्राप्ति, आधुनिक साहित्य के अध्ययन, सारे जगत् के परिचय, अर्थ-प्राप्ति, राज्याधिकारियों के साथ सम्पर्क रखने और ऐसे ही अन्य कार्यों के लिए अंग्रेजी ज्ञान की हमें आवश्यकता है। इच्छा न रहते हुए भी हमको अंग्रेजी पढ़नी होगी। यही हो भी रहा है। अंग्रेजी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है।

लेकिन अंग्रेजी राष्ट्रभाषा कभी नहीं बन सकती। आज इसका साम्राज्य-सा जरूर दिखायी देता है। इससे बचने के लिए काफी प्रयत्न करते हुए भी हमारे राष्ट्रीय कार्यों में अंग्रेजी ने बहुत स्थान ले रक्खा है। लेकिन इससे हमें इस भ्रम में कभी न पड़ना चाहिए कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा बन रही है। इसकी परीक्षा प्रत्येक प्रान्त में हम आसानी से कर सकते हैं। बंगाल अथवा दक्षिण भारत को ही लीजिये, जहाँ कि अंग्रेजी का प्रभाव सबसे अधिक है। वहाँ यदि जनता की मार्फत हम कुछ भी काम करना चाहते हैं तो वह आज हिन्दी द्वारा भले ही न कर सकें। पर अंग्रेजी द्वारा तो नहीं ही कर सकते। हिन्दी के दो चार शब्दों से हम अपना भाव कुछ तो प्रगट कर ही देंगे। पर अंग्रेजी से तो इतना भी नहीं कर सकते। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता है कि अब तक हमारे यहाँ एक भी राष्ट्रभाषा नहीं बन पायी है। अंग्रेजी राज-भाषा है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। अंग्रेजी का इससे आगे बढ़ना मैं असम्भव समझता हूँ, चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय। हिन्दुस्तान को अगर सचमुच एक राष्ट्र बनाना है तो—चाहे कोई माने या न माने राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही बन सकती है, क्योंकि जो स्थान हिन्दी को प्राप्त है वह किसी दूसरी भाषा को कभी नहीं मिल सकता। हिन्दू मुसलमान दोनों को मिलाकर, करीब बाईस करोड़ मनुष्य की भाषा थोड़े बहुत फेरफार से—हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही

है। इसलिए उचित और सम्भव तो यही है कि प्रत्येक प्रान्त में उस प्रान्त की भाषा, सारे देश के पारस्परिक व्यवहार के लिए हिन्दी, और अन्तर्राष्ट्रीय उपयोग के लिए अंग्रेजी का व्यवहार हो। हिन्दी बोलनेवालों की संख्या कुछ लाख से आगे कभी नहीं बढ़ सकेगी। इसका प्रयत्न भी करना जनता के साथ अन्याय करना होगा।

मैंने अभी 'हिन्दी-हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग किया है। सन् १८ में जब आपने यही पद दिया था तब भी मैंने यही कहा था, हिन्दी उस भाषा का नाम है जिसे हिन्दू और मुसलमान कुदरती तौर पर बगैर प्रयत्न के बोलते हैं। हिन्दुस्तानी और उर्दू में कोई फर्क नहीं है। देवनागरी लिपि में लिखी जाने पर वह हिन्दी और अरबी में लिखी जाने पर उर्दू कही जाती है। जो लेखक या व्याख्यानदाता चुन-चुन कर संस्कृत या अरबी-फारसी के शब्दों का ही प्रयोग करता है वह देश का अहित करता है। हमारी राष्ट्रभाषा में वे सब प्रकार के शब्द आने चाहिए जो जनता में प्रचलित हो गये हैं। श्री घनश्यामदास बिड़ला ने ठीक ही कहा है कि राष्ट्रभाषावादियों को चाहिए कि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में जो शब्द रूढ बन गये हैं और जो राष्ट्रभाषा में आने के लायक हैं उन्हें वे ले लें। हर व्यापक भाषा में यह ग्राहक शक्ति रहती ही है। इसी लिए तो वह व्यापक बनती है। अंग्रेजी ने क्या नहीं किया है? लैटिन और ग्रीक में से कितने ही मुहावरे अंग्रेजी में लिए गये हैं। आधुनिक भाषाओं को भी वे लोग नहीं छोड़ते। इस बारे में उनकी निष्पक्षता सराहनीय है। हिन्दुस्तानी शब्द अंग्रेजी में काफी आ गये हैं। कुछ अफ्रीका से भी लिए गये हैं। इसमें उसका 'फ्री ट्रेड' कायम ही है। पर मेरे यह सब कहने का मतलब यह नहीं है कि वगैर अवसर के भी हम दूसरी भाषाओं के शब्द लें, जैसा कि आज-कल अंग्रेजी पढ़े-लिखे युवक किया करते हैं। इस व्यापार में विवेक-दृष्टि तो रहती ही होगी। हम कंगाल नहीं हैं पर कंजूस भी नहीं बनेंगे। कुरसी को खुशी से कुरसी कहेंगे, उसके लिए 'चतुष्पाद पीठ' शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे।

इस मौके पर अपने दुख की भी कुछ कहानी कह दूं। हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा बने या न बने, मैं उसे छोड़ नहीं सकता। तुलसीदास का पुजारी होने के कारण हिन्दी पर मेरा मोह रहेगा ही। लेकिन हिन्दी बोलनेवालों में रवींद्रनाथ कहाँ हैं? प्रफुल्लचन्द्र राय कहाँ हैं? जगदीश बोस कहाँ हैं? ऐसे और भी नाम मैं बता सकता हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरी अथवा मेरे जैसे हजारों की इच्छामात्र से ऐसे व्यक्ति थोड़े ही पैदा होनेवाले हैं। लेकिन जिस भाषा को राष्ट्रभाषा बनना है उसमें ऐसे महान् व्यक्तियों के होने की आशा रक्खी ही जायगी।

वर्धा में हमारे यहां एक अन्धा-आश्रम है। वहाँ सम्मेलन की परीक्षा के लिए कई लड़कियाँ तैयार हो रही हैं। शिक्षक वर्ग और लड़कियाँ भी शिकायत करती हैं कि जो पाठ्य-पुस्तकें नियत की गयी हैं उनमें से सब पढ़ने लायक नहीं हैं। शिकायत के लायक पुस्तकें शृंगार रस से भरी हैं। हिन्दी में शृंगार-साहित्य काफी है। इस ओर कुछ वर्ष पूर्व श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने मेरा ध्यान खींचा था। जिस भाषा को ही राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं उसका साहित्य स्वच्छ, तेजस्वी और उच्चगामी होना चाहिए। हिन्दी-भाषा में आजकल गन्दे साहित्य का काफी प्रचार

हो रहा है। पत्र-पत्रिकाओं के संचालक इस बारे में असावधान रहते हैं, अपनी गन्दगी को पुष्टि देते हैं। मेरी राय में सम्मेलन को इस बारे में उदासीन न रहना चाहिए। सम्मेलन की तरफ से अच्छे लेखकों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। लोगों को सम्मेलन की तरफ से पुस्तकों के चुनाव में भी कुछ सहायता मिलनी चाहिए। इस कार्य में कठिनाई है, लेकिन कठिनाई से हम थोड़े भाग सकते हैं।

परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकों में से एक पुस्तक के बारे में एक मुसलमान की भी, जो देवनागरी लिपि अच्छी तरह जानते हैं, शिकायत है। उसमें मुगल बादशाह के लिए भली बुरी बातें हैं, वे ऐतिहासिक भी नहीं हैं। मेरा नम्र निवेदन है कि पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव विवेक और सूक्ष्मदृष्टि के साथ होना चाहिए और उसमें राष्ट्रीय दृष्टि रहनी चाहिए, और पाठ्यक्रम भी आधुनिक आवश्यकताओं को ख्याल में रख कर निश्चित करना चाहिए। मैं जानता हूँ कि मेरा यह सब कहना मेरे क्षेत्र के बाहर है। लेकिन मेरे पास जो शिकायतें आई हैं उन्हें आपके सामने रखना मैंने अपना धर्म समझा।

गांधी जी का मौखिक भाषण

मैं आपकी तरफ से और मेरी तरफ से भी इस उद्घाटन के लिए महाराजा साहब को धन्यवाद देता हूँ। और आपका आभार मानता हूँ। मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ कि जब मैं पहले इन्दौर सम्मेलन के सभापति का स्थान ग्रहण करने के लिए आया था तब आप युवराज थे। उस पदवी से आपने उस सम्मेलन का उद्घाटन किया था और अब आप महाराज हैं और इस हैसियत से सम्मेलन का उद्घाटन करते हैं। उनका व्याख्यान आप लोगों ने भी सुना है और मैंने भी बहुत ध्यान से सुना है। मैं उसके लिए कुछ दे सकता हूँ तो धन्यवाद ही दे सकता हूँ। महाराजा साहब ने हिन्दी भाषा के लिए जो भाव प्रदर्शित किए हैं यदि उनको सारे भारत-वर्ष में अमल में लाना है तो ऐसे महाराजाओं को भी कुछ असली काम करना होगा। स्वागताध्यक्ष ने अपने भाषण में यह याद दिला दिया है कि जब आठवां अधिवेशन इन्दौर में हुआ था तो आपने १००००) की रकम हिन्दी-प्रचार के लिए दी थी और इसी तरह से अब भी मैं उम्मीद करता हूँ कि स्वागत-समिति की और से जो प्रार्थना की गयी है उसको पूर्ण करने के लिए पूरी सहायता मिलेगी। मैं तो इस बात के लिए सद्भाग्य समझता हूँ कि उस समय आपने युवराज की हैसियत से मदद की थी तो इस समय महाराज की हैसियत से मदद करेंगे। हमारे करोड़-पति सेठ हुकमचंदजी भी यहीं मौजूद हैं। आपने प्रातःकाल मुझे हार पहनाया था। यद्यपि वह हार तो सूत का था परन्तु उसकी कीमत पहनानेवाले की हैसियत से हो जाती है। रायबहादुर डा० सरजूप्रसाद जी भी यहाँ मौजूद हैं। वे बीमार हैं, इसके लिए जैसा आप लोगों को दुःख है वैसे ही मुझे भी दुःख है। उनका हिन्दी भाषा अथवा सम्मेलन के प्रति प्रेम कम है, ऐसी तो काई बात नहीं है। मुझे पूर्णतया आशा है कि जो काम करना है वह सफल हो जायगा। यह होते हुए भी हिन्दी संसार में कुछ हलचल मच गयी है। वर्धा में मुझे इस बात का पता चल गया था

और यहाँ आने के बाद मैंने और कुछ अधिक समझ लिया है। यह हलचल कैसे मच गयी इस बात का पता भी अभी तक नहीं है। दक्षिण भारत में जो हिन्दी-प्रचार हुआ है उसका सम्बन्ध हिन्दी-साहित्य सम्मेलन से है ही नहीं ऐसी तो कोई बात नहीं है, क्योंकि वह प्रचार हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का अविभाज्य अंग है। इस प्रचार की माता या पिता जो कहो यह साहित्य-सम्मेलन है। यदि ऐसा न माना जाय तो अब दक्षिण भारत में जो ६००००० आदमी हिन्दी बोल या लिख सकते हैं, यह नामुमकिन बात थी। इस प्रचार के लिए भी धन्यवाद साहित्य-सम्मेलन को ही है। इसके लिए मुझे धन्यवाद नहीं दिया जा सकता क्योंकि इसके लिए मैंने जो काम किया था वह सम्मेलन के सभापति की हैसियत से ही किया था। उसमें मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं था। मैं तो इतना कह सकता हूँ कि हिन्दी-प्रचार का यह कार्य सम्मेलन का अविभाज्य अंग है। यदि हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी भाषा का प्रचार न करके केवल साहित्य की वृद्धि करे तो हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा कैसे बन सकती है? हाँ, साहित्य की वृद्धि करना हमारा परम कर्त्तव्य है, किन्तु साहित्य की वृद्धि से यह भाषा राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती। क्योंकि साहित्य तो बंगला में भी इतना है कि उसके बराबर किसी दूसरी भाषा में नहीं। साहित्य में दूसरा स्थान मराठी रखती है। हिन्दी को तो शायद तीसरा या चौथा नम्बर मिल सकता है, इसमें भी मुझे तो शक है। किन्तु हिन्दी भाषा को बहुत से आदमी बोलते हैं और यह भाषा सीखने और पढ़ने में सरल है। इसलिए यही राष्ट्र-भाषा होने का अधिकार रखती है। यदि हिन्दी-प्रचार इस हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अंग न हो तो मेरे सरीखे व्यक्ति को इसका सभापति बनाना योग्य नहीं। क्योंकि हिन्दी के साहित्य के विषय में तो मैंने कुछ भी नहीं क़िया है। मैं अपने लिखे हुए भाषण को पढ़ना चाहता था किन्तु वक्ताओं ने प्रस्ताव आदि रख कर वह समय ले लिया। प्रस्ताव रखना व्यर्थ था क्योंकि मेरे अधिकार तो कोई छीन नहीं सकता था। सम्मेलन का कार्य-क्रम कुछ मिनट का बँधा हुआ है। इस लिए ७-३० बजे तक मैं इसे खतम कर देना चाहता हूँ। हिन्दी साहित्य की दृष्टि से तो मैं बहुत कम योग्यता रखता हूँ। जो चंद लड़कियाँ यहाँ बैठी हुई हैं उसमें बहुत सी प्रथमा उत्तीर्ण हो चुकी हैं और मध्यमा की तैयारियाँ कर रही हैं। यदि मैं प्रथमा में ही बैठ जाऊँ तो ये पुरुषोत्तमदास जी मुझे उत्तीर्ण होने लायक नम्बर ही न देंगे, क्योंकि मैं व्याकरण तो जानता ही नहीं। जायसवाल जी ने जैसा कहा है वैसा मानने में मुझे भी कोई एतराज नहीं। मुझे गुजराती से कोई पक्षपात नहीं। मुझे जो सभापति बनाया गया है वह इसलिए कि मेरे द्वारा हिन्दी का कुछ प्रचार हो। योग्यता की ही कोई बात होती तो एक लड़की को भी यहाँ बिठा दिया जा सकता था, जैसा महारानी विक्टोरिया के लिए हुआ था। सचिव ने कह दिया था कि सारा काम तो मैं कर लिया करूँगा, आप तो केवल सही कर दें। परन्तु ऐसा नहीं है। मुझे सभापति चुना है और एक लाख रुपये देने की जो शर्त मंजूर की है, वह इसलिए है कि मेरे द्वारा हिन्दी का अच्छा प्रचार हो। काव्य के कई विभाग हो गये हैं। उनकी बातें तो कवियों से भरपेट सुन सकते हैं, किन्तु मेरे द्वारा तो आप केवल हिन्दी-प्रचार की बात सुन सकते हैं। क्योंकि दूसरे पर मेरा अधिकार ही नहीं है।

जब मैं इन्दौर में यही सभापतिपद लेने के लिए पहले आया था, तो पुण्यश्लोक मालवीय-जी महाराज से आशीर्वाद की भिक्षा माँगी थी। तब उन्होंने एक लम्बा पत्र लिख कर मुझे आशीर्वाद भेज दिया था। अब तो वे बीमार पड़े हैं और उनके पास काम भी बहुत है। मैं केवल आप लोगों से आशीर्वाद चाहता हूँ। मालवीय जी की शारीरिक स्थिति भी बिगड़ गयी है और उनको बाहर भी जाना था इसलिए उन्होंने यह पद ग्रहण नहीं किया, तब मजबूर होकर स्वागत समिति ने मुझे चुन लिया।

मालवीय का भी तार आ गया है जिसमें उन्होंने मुझे आशीर्वाद भी दिया है। बाकी तार का तरजुमा करने की आवश्यकता नहीं है। हमारी प्रार्थना है कि भगवान उनको शतायु बनावें और सौ वर्ष तक क्षेम-कुशल रखें। उनकी उम्र सत्तर वर्ष की है और जब वे काम करते हैं तो सत्रह वर्ष के जवान की तरह करते हैं। अतः उनको भगवान् दीर्घायु करे। वे हिन्दुस्तान की जैसी अविच्छिन्न सेवा कर रहे हैं वैसी ही करते रहें। मैं तो उनका आशीर्वाद लेकर उनका प्रतिनिधि बन कर आया हूँ। उन्होंने दक्षिण भारत तथा अन्य प्रान्तों में जो हिन्दी-प्रचार किया है वह किसी से छिपा नहीं है। इसके लिए उनके हृदय में उतना ही प्रेम है जितना आप में और मुझमें है। आज हमारे सामने जो बातें उपस्थित हैं उनका खुलासा कर देना आवश्यक है। पैसा देनेवालों के लिए तीन बातें उपस्थित हैं। पहली बात विश्वविद्यालय की है जिसका उल्लेख महाराजा साहब ने अपने भाषण में किया है और प्रसन्नता भी प्रकट की है। उसके लिए भी भिक्षा माँगनी है। लोग उसमें पैसा देवें या प्रचार कार्य में देवें। जिसके पास तीन कौड़ी देने को है उसके लिए तो कोई बाधा नहीं, परन्तु जिसके पास एक ही कौड़ी है वह किसको दे? क्योंकि एक कौड़ी के टुकड़े तो नहीं हो सकते। यहाँ पर महाराजा साहब, सेठ हुकमचंद जी और डाक्टर सरजूप्रसाद जी आये हुए हैं। वे भी ऐसा कह दें तो भी मैं कह सकता हूँ कि इन्दौर-वासियों को पहले विश्वविद्यालय को सहायता देनी चाहिए। यदि उनको भली प्रकार विश्वास हो जाय कि यह कार्य अच्छा है, कार्यकर्त्ताओं में शक्ति है तथा उसमें असली काम करने की इच्छा है। कई लोग तो कई प्रकार की बातें सुना देते हैं, परन्तु जब उनसे पूछते हैं कि आप क्या करते हैं तब वे कह देते हैं कि हममें तो कवित्व-शक्ति है। परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए। आपको विश्वास हो जाय कि विश्वविद्यालय के सब साधन तो तैयार हैं केवल धन की ही कमी है, तो आपको सब से पहले उसमें योग देना चाहिए। इसके बाद हिन्दी साहिन्य सम्मेलन और फिर दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का प्रश्न है। यह बात मैं सभापति की हैसियत से कहता हूँ। क्योंकि इस सम्मेलन का सभापति रहते हुए उसको कोई हानि पहुँचे, अर्थ-संग्रह में धक्का आवे, ऐसा कार्य मेरे हाथ से नहीं हो सकता और ऐसा कार्य मैं करूँगा भी नहीं जो आपकी नियमावली के विरुद्ध हो। क्योंकि इस पद से मैंने अपने सिर पर बड़ी भारी जिम्मेदारी ले ली है जिसका मैंने चन्द घण्टों में ज्ञान कर लिया है, उसको सफल बनाना मेरा काम है। इसलिए मुझमें जितनी शक्ति है और भगवान् जितनी शक्ति देगा उसका इश्तेमाल इस कार्य को सफल बनाने में करूँगा ऐसा आप विश्वास रखो। हिन्दी-प्रचार के लिए लिपि का एक होना भी आवश्यक है। इसके

लिए भी एक लिपि-परिषद् होनेवाली है जिसके लिए विशेष आपको काका साहब सुनावेंगे। हिन्दी भाषा संस्कृत से पैदा हुई है। आसाम और बंगाल भी इसी से बहुत संबंधित हैं। दक्षिण भाषा द्राविड़ी भाषा मानी जाती है। मैं तो यह मानता हूँ कि वह संस्कृत से पैदा हुई है। द्राविड़ी लोगों के विषय में कुछ लोगों का कथन है कि पहले वे अनार्य थे पीछे से आर्य बनाये गये। परन्तु तामिली लोगों का कथन है कि हम जंगली नहीं थे। हममें आर्यता और संस्कृत मौजूद थी। तामिल, तेलुगु, कनाड़ी आदि भाषाएँ संस्कृत से भरी हुई हैं। बंगला भी संस्कृत से परिपूर्ण है। जब उनको अपनी भाषा में कोई शब्द नहीं मिलता तो वे इससे शब्द लेते और उसका प्रयोग करते हैं। अतः सब भाषाओं की लिपि एक होना आवश्यक है। इसके लिए हिन्दी में शायद संशोधनों की आवश्यकता है। परन्तु मैं इस झंझट में नहीं पड़ना चाहता। मैंने तो एक सवाल आपके सामने रख दिया है क्योंकि लिपि के एक होने से सीखने में बड़ी सुगमता और सरलता होगी। इसकी बागडोर काका साहब ने अपने हाथ में ली है सो वे चलावेंगे। जब काका साहब दक्षिण भारत से आसाम और उत्कल गये तो उनके सामने एक बड़ी भारी कठिनाई विंध्याचल के समान खड़ी हो गयी। वहां के लोग कहने लगे कि ये हमारे प्रान्त की भाषा को मिटा कर हिन्दी का प्रचार करने आये हैं परन्तु वास्तव में बात यह नहीं है। अपने प्रांत में वह भाषा तो चले किन्तु हिंदी का प्रचार विशेष हो जिससे यह राष्ट्रभाषा बन सके। यों तो बंगला का साहित्य भी बहुत है, परन्तु वह राष्ट्रभाषा कभी नहीं बन सकती। परन्तु मैं तो इसकी भी मर्यादा रख देना चाहता हूँ, जिससे हिन्दी अन्य प्रान्तों की भाषाओं का स्थान न ले ले। इसके लिए साहित्य सम्मेलन में प्रस्ताव रख कर इस बात को साफ कर देना होगा।

हिन्दी भाषा हमारी राष्ट्रभाषा है। उसमें संस्कृत के शब्द भर-पेट रख दिये जावें ऐसा नहीं हो सकता। कई एक गद्य भी ऐसे आगे हैं जो संस्कृत के शब्दों से भरे रहते हैं, जिसको ग्रामीण लोग बिल्कुल नहीं समझ सकते। सात करोड़ मुसलमान भाइयों को छोड़ कर हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहें यह बात भी ख-पुष्प के समान होगी याने आकाश में पुष्प लगाकर उससे सुगन्ध लेने के समान है। ग्रामीण लोग बहुत भोले-भाले हैं। उनके समझने के लिए सीधी और सरल भाषा होनी चाहिए। यहाँ जो प्रदर्शिनी की गयी है उसमें भी यह बताया गया है कि इन्दौर स्टेट में क्या होता है। आपके देहाती भाई क्या चीज बनाना चाहते हैं। वे चीजें हमारे लायक हैं या नहीं। हमारा याने शहरी लोगों का संपर्क देहाती लोगों से है या नहीं यह बात जानना आवश्यक है। बहुत से शहरी लोग जानते हैं कि हमारा ग्रामीणों से बहुत कम संबंध है परन्तु मुझे तो जितना ज्यादा ज्ञान होता जाता है, मैं जानता हूँ कि शहरी लोगों का देहातियों से घनिष्ठ संबंध है। मैं तो कहूँगा कि जो कुछ हिन्दुस्तान को मिलता है वह किसानों की मार्फत ही मिलता है। यदि वे लोग इन्कार कर दें कि हम आप का कार्य नहीं करेंगे तो हमें भूखा रहना पड़ेगा और उसमें महाराजा साहब का भी नम्बर आ जाय और सेठ हुकम-चन्द जी का भी नम्बर हो जाय। क्योंकि कोई भी चाँदी या सोने से पेट नहीं भर सकता। यह

मेरी तरह सत्याग्रह करके नहीं किन्तु यह कह कर कि हमें भर-पेट भोजन नहीं मिलता तो हम भूखे रह कर काम कैसे करें, शहरी लोगों को बड़ी मुसीबत उठाना पड़े। भारतवर्ष में सारा कार्य देहातियों पर ही निर्भर है। इसलिए वे समझ सकें कि ऐसी भाषा का प्रयोग करने की आवश्यकता है। अरबी का या फारसी का कोई शब्द आ जाय तो उसका हम एक दम तिरस्कार कर दें यह ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा करने से हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा नहीं बना सकते, मैं तो इस कार्य के लिए आप लोगों से भिक्षा प्राप्त करना चाहता हूँ। यह कार्य महाराजा साहब के आशीर्वाद से चल सकता है। किसी को महात्मा कहो या कुछ कहो काम करने पर ही यह कार्य सफल हो सकता है। मैं आपका एक लाख रुपया ले कर भाग नहीं जाऊँगा। किन्तु इस कार्य को विशेष विभूषित करने के लिए प्रयत्न करूँगा।

हरिहर शर्मा प्रयाग से कुछ हिन्दी सीख कर मद्रास गये थे और वहाँ जाकर उन्होंने हिन्दी साहित्य का प्रचार किया जिसका छोटा सा प्रदर्शन यहाँ लाये हैं। आप लोग देखना चाहते हैं तो आज भी देख सकते हैं, उस ओर आपका ध्यान खींचना मेरा काम था। दस मिनिट में कितना कार्य करना है और अब समाप्त करना है, यह तो महाराजा साहब की बात है, मेरे हाथ की बात नहीं।

दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव

इन्दौर के अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन में कुछ खास उपयोगी प्रस्ताव स्वीकृत हुए। एक में तो हिन्दी भाषा की परिभाषा बताई गई है, और दूसरे में यह मत प्रकट किया गया है कि उन समस्त भाषाओं को देवनागरी लिपि में ही लिखना चाहिए, जो या तो संस्कृत से निकली हैं या संस्कृत का जिनके ऊपर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। पहला प्रस्ताव इस तथ्य पर जोर देता है कि हिन्दी प्रान्तीय भाषाओं को नष्ट नहीं करना चाहती, किन्तु उनकी पूर्तिरूप बनना चाहती है, और अखिल भारतीयता के सेवा-क्षेत्र में हिन्दी बोलनेवाले कार्यकर्त्ताओं के ज्ञान तथा उपयोगिता को बढ़ाती है। वह भाषा भी हिन्दी है, जो लिखी तो उर्दू लिपि में जाती है, पर जिसे मुसलमान और हिन्दू दोनों ही समझ लेते हैं। इस बात को स्वीकार करके सम्मेलन ने इस सन्देह को दूर कर दिया है कि उर्दू लिपि के प्रति सम्मेलन की कोई दुर्भावना है। तो भी सम्मेलन की प्रामाणिक लिपि तो देवनागरी ही रहेगी। पंजाब तथा दूसरे प्रान्तों के हिन्दुओं के बीच देवनागरी लिपि का प्रचार अब भी जारी रहेगा। यह प्रस्ताव किसी भी प्रकार देवनागरी लिपि के महत्व को कम नहीं करता, वह तो मुसलमानों के इस अधिकार को स्वीकार करता है कि अब तक जिस उर्दू लिपि में वे हिन्दुस्तानी भाषा लिखते आ रहे हैं, उसमें अब भी लिख सकते हैं।

दूसरे प्रस्ताव को व्यावहारिक रूप देने की दृष्टि से एक समिति बना दी गई है, जिसके अध्यक्ष और संयोजक श्री काका साहब कालेलकर हैं। यह समिति देवनागरी लिपि में यथासम्भव ऐसे परिवर्तन और परिवर्द्धन करेगी, जो उसे और भी आसानी के साथ लिखने के लिये

आवश्यक होंगे, और मौजूदा अक्षरों से जो शब्दध्वनि व्यक्त नहीं हो सकती, उसे व्यक्त करने के लिए देवनागरी लिपि को और भी पूर्ण बनायेंगे ।

अगर हमें अन्तर्प्रान्तीय संपर्क बढ़ाना है, और यदि हिन्दी को प्रान्त-प्रान्त के बीच लिखा-पढ़ी का माध्यम बनाना है, तो उसमें इस प्रकार का परिवर्तन आवश्यक है। फिर इधर गत २५ वर्ष से हिन्दी साहित्य सम्मेलन की उद्देश्य-पूर्ति में योग देनेवाले सज्जनों का यह निश्चित कर्त्तव्य भी रहा है। इस लिपि-सम्बन्धी प्रश्न पर चर्चा तो अक्सर हुई, पर गम्भीरता पूर्वक वह कभी हाथ में नहीं लिया गया। अन्य प्रान्तीय भाषाओं का ज्ञान आज असम्भव-सा है। बंगाली लिपि में लिखी हुई 'गीतांजलि' को सिवा बंगालियों के और पढ़ेगा ही कौन ? पर यदि वह देवनागरी लिपि में लिखी जाय, तो उसे सभी लोग पढ़ सकते हैं। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द उसमें बहुत अधिक हैं, जिन्हें दूसरे प्रान्तों के लोग आसानी से समझ सकते हैं। मेरे इस कथन की सत्यता को हर एक जाँच सकता है। हमें अपने बालकों को विभिन्न प्रान्तीय लिपियां सीखने का व्यर्थ कष्ट नहीं देना चाहिये। यह निर्दयता नहीं तो और क्या है कि देव-नागरी के अतिरिक्त तामिल, तेलगु, मलयाली, कानड़ी, उड़िया और बंगाली इन छः लिपियों को सीखने में दिमाग खपाने को कहा जाय ? हाँ, यह जानने के लिये कि हमारे मुसलमान भाई क्या कहते और लिखते हैं, हम उर्दू लिपि सीख सकते हैं। जो अपने देश का या मनुष्यमात्र का प्रेमी है, उसके सामने मैंने कोई बहुत प्रचण्ड प्रोग्राम नहीं रखा है। अगर आज कोई प्रान्तीय भाषायें सीखना चाहें ? और प्रान्तीय भाषा-भाषी हिन्दी पढ़ना चाहें, तो लिपियों का यह अभेद्य प्रतिबन्ध ही उसके मार्ग में कठिनाई उपस्थित करता है। काका साहब की यह समिति एक ओर तो इस सुधार के पक्ष में लोकमत तैयार करेगी, और दूसरी ओर सक्रिय उद्योग के द्वारा इसकी इस महान् उपयोगिता को प्रत्यक्ष करके दिखायेगी कि जो लोग हिन्दी या प्रान्तीय भाषाओं को सीखना चाहते हैं, उनका समय और उनकी शक्ति बच सकती है। किसी को भूलकर भी यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि यह लिपि-सुधार प्रान्तीय भाषाओं के महत्व को कम कर देगा। सच पूछिए तो वह उनकी उस प्रकार श्री-वृद्धि ही करेगा, इस प्रकार एक सामान्य लिपि स्वीकार कर लेने के फलस्वरूप प्रान्तीय व्यवहार-विनिमय सरल हो जाने से यूरोप की तमाम भाषायें समृद्ध हो गई हैं।

(हरिजन सेवक, १०-५-३५)

अखिल भारतीय साहित्य-परिषद्, नागपुर

नागपुर में परिषद् की पहली बैठक के सभापति-पद से गांधी जी ने लिखित भाषण दिया जो इस प्रकार है—विद्वान् लोग एक दूसरे के साहित्य का कुछ ज्ञान प्राप्त करें, इसी से हमें कोई सन्तोष नहीं हो सकता। हमें तो देहाती साहित्य की भी दरकार हैं, और देहातियों में आधुनिक साहित्य के प्रचार की भी। शरम की बात है कि आज चैतन्य की प्रसादी भारतवर्ष के सभी भाषा-भाषियों को अप्राप्य है। तिरूवेल्लुवर का नाम तक शायद हम सब नहीं जानते होंगे। उत्तर भारत की जनता तो उस सन्त का नाम जानती ही नहीं। उसने थोड़े शब्दों में जैसा ज्ञान दिया है, वैसा बहुत कम सन्त लोग दे सके हैं। इस बारे में इस वक्त तो तुकाराम का ही दूसरा नाम मेरे ख्याल में आता है।

अगर हम सारे हिन्दुस्तान के साहित्य के विशाल क्षेत्र में प्रवेश करें, तो क्या उसकी कुछ सीमा-मर्यादा होनी चाहिये? मेरी राय में अवश्य होनी चाहिये। मुझे पुस्तकों की संख्या बढ़ाने का मोह कभी नहीं रहा। मैं इसे आवश्यक नहीं मानता कि प्रत्येक प्रान्त की भाषा में लिखी और छपी प्रत्येक पुस्तक का परिचय दूसरी सब भाषाओं में कराया जाय। ऐसा प्रयत्न सम्भव भी हो, तो उसे मैं हानिकर ही समझता हूँ। जो साहित्य ऐक्य का, नीति का, शौर्यादि गुणों का और विज्ञान का पोषक है उसका प्रचार प्रत्येक प्रान्त में होना आवश्यक और लाभदायक है।

आजकल शृंगारयुक्त अश्लील साहित्य की बाढ़ सब प्रान्तों में आ रही है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि एक शृंगार को छोड़कर और कोई रस है ही नहीं। शृंगार-रस को बढ़ाने के कारण ऐसे सज्जन दूसरों को 'त्यागी' कहकर उनकी उपेक्षा और उपहास करते हैं। जो सब चीजों का त्याग कर बैठते हैं, वे भी रस का त्याग तो नहीं कर पाते। किसी न किसी प्रकार के उससे हम सब भरे हैं। दादाभाई ने देश के लिये सब-कुछ छोड़ा था, फिर भी वे बड़े रसिक थे। देश-सेवा को ही उन्होंने अपना रस बना रखा था। उसी में उन्हें प्रसन्नता मिलती थी। चैतन्य को रसहीन कहना रस ही को न जानना है। नरसिंह मेहता ने अपने को भोगी बताया है, यद्यपि वे गुजरात के भक्त-शिरोमणि थे। अगर आपको मेरी बात न अखरे, तो मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि मैं शृंगार रसको तुच्छ रस समझता हूँ, और जब उसमें अश्लीलता आती है, तब उसे सर्वथा त्याज्य मानता हूँ। यदि मेरी चले तो मैं इस संस्था में ऐसे रस को त्याज्य मनवा दूँ। इसी तरह जो साहित्य कौमी भेदों को, धर्मान्धता को तथा प्रजा में अथवा व्यक्तियों में वैमनस्य को बढ़ाता है, उसका भी त्याग होना आवश्यक है।

यह कार्य कैसे किया जाय? मुंशी जी और काका साहब ने हमारा मार्ग एक हद तक साफ कर रखा है। व्यापक साहित्य का प्रचार व्यापक भाषा में ही हो सकता है। ऐसी भाषा अन्य भाषा की अपेक्षा हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही है। हिन्दी को हिन्दुस्तानी कहने का मतलब यह है कि उस भाषा में फारसी मुहावरों का त्याग न किया जाये।

अंग्रेजी भाषा कभी सब प्रान्तों के लिये वाहन या माध्यम नहीं हो सकती, यदि सच-मुच ही हम हिन्दुस्तान के साहित्य की वृद्धि चाहते हैं। और भिन्न-भिन्न भाषाओं में जो रत्न छिपे पड़े हैं, उनका प्रचार भारतवर्ष के करोड़ों मनुष्यों में करना चाहते हैं, तो यह सब हम हिन्दुस्तानी की मारफ़त ही कर सकते हैं।

इस परिषद् का उद्देश्य यह है कि सब प्रान्तीय साहित्यों की सारभूत बातें संग्रह करके हिन्दी में उन्हें उपलब्ध किया जाय। इसके लिये मैं आपसे एक प्रार्थना करूँगा। निस्सन्देह हरएक आदमी को अपनी मातृभाषा अच्छी तरह जाननी चाहिये, और इसके साथ ही हिन्दी के द्वारा अन्य भाषाओं के महान् साहित्य का भी उसे ज्ञान होना चाहिये। लेकिन साथ ही, परिषद् का यह भी उद्देश्य है कि वह हम लोगों में अन्य प्रान्तों की भाषायें जानने की इच्छा को प्रोत्साहन दे। जैसे, गुजराती लोग तामिल जानें, बंगाली गुजराती जानें, और दूसरे प्रान्तों के लोग भी ऐसा ही करें। मैं तजरबे के साथ आपसे कहता हूं कि दूसरी देशी भाषा सीख लेना कोई मुश्किल बात नहीं है। लेकिन इसके साथ एक सर्वमान्य लिपि का होना आवश्यक है। तामिलनाड में ऐसा करना कुछ मुश्किल नहीं है। क्योंकि इस सीधी-सादी बात पर ध्यान दीजिये कि ९० फीसदी से भी ज्यादा हमारे देशवासी अशिक्षित हैं। हमें नये सिरे से उनकी शिक्षा शुरू करनी होगी। तब सामान्य लिपि के द्वारा ही हम उन्हें शिक्षित बनाने की शुरुआत क्यों न करें? यूरोप में वहाँ वालों ने सामान्य लिपि का प्रयोग किया और वह बिल्कुल सफल रहा। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि हम भी यूरोप की रोमन लिपि को ही ग्रहण कर लें। लेकिन फिर वाद-विवाद के बाद यह विचार बन चुका है कि हमारी सामान्य लिपि देवनागरी ही हो सकती है, और कोई नहीं। उर्दू को उसका प्रतिस्पर्द्धी बताया जाता है, लेकिन मैं समझता हूँ कि उर्दू या रोमन किसी में भी वैसी संपूर्णता और ध्वन्यात्मक शक्ति नहीं है, जैसी देवनागरी में है। याद रखिये कि आपकी मातृभाषाओं के खिलाफ मैं कुछ नहीं कह रहा हूँ। तामिल, तेलुगू, मलयालम, कन्नड़ तो जरूर रहनी चाहियें और रहेंगी, लेकिन इन प्रदेशों के अशिक्षितों को हम देवनागरी लिपि के द्वारा इन भाषाओं के साहित्य की शिक्षा क्यों न दें? हम जो राष्ट्रीय एकता हासिल करना चाहते हैं, उसकी खातिर देवनागरी को सामान्य लिपि स्वीकार करना आवश्यक है। इसमें कोई कठिनाई नहीं है। बात सिर्फ यह है कि हम अपनी प्रान्तीयता और संकीर्णता छोड़ दें। तामिल और उर्दू लिपियाँ मुझे पसन्द न हों, सो बात नहीं है। मैं इन दोनों को जानता हूँ। लेकिन मातृभूमि की सेवा ने, जिसके लिये मैंने अपना सारा जीवन अर्पण कर दिया है, और जिसके बिना मेरा जीवन निरर्थक होगा, मुझे सिखाया है कि हमारे देश के लोगों पर जो आनावश्यक बोझ है, उनमें उन्हें मुक्त करने की कोशिश हमें करनी चाहिए। तमाम लिपियों को जानने का बोझ अनावश्यक है, और उससे आसानी से बचा जा सकता है। इसलिये सभी प्रान्तों के साहित्यिकों से मैं प्रार्थना करूँगा कि वे इस सम्बन्ध के अपने भेद-भावों को भुलाकर इस अत्यन्त आवश्यक विषय पर एक मत हो जायँ। तभी भारतीय साहित्य-परिषद् अपने उद्देश्य में सफल हो सकती है।

आज का हमारा साहित्य कुछ ही लोगों के काम का है, यानी जो लोग शिक्षित है, उन्हीं

के मतलब का है। यहाँ तक कि शिक्षितों में भी ऐसे थोड़े ही होंगे, जिनकी साहित्य में दिलचस्पी हो। गाँवों में तो हम बिलकुल गये ही नहीं। सेवाग्राम के लोगों में एक फीसदी भी ऐसे नहीं हैं, जो साहित्य पढ़ सकें। हमारी रात्रिशाला में नियमित रूप से अखबार सुनने के लिये भी आधे दर्जन से ज्यादा आदमी नहीं आते। इस अज्ञान को दूर करने का महान् कार्य हमें करना है। क्या मुट्ठी भर आदमियों के सहारे हम इसे कर सकेंगे? हमें तो आप सबके सहयोग की जरूरत है।

मैं साहित्य के लिये साहित्य का रसिक नहीं हूँ। यह जरूरी नहीं कि बौद्धिक विकास के जो अनेक साधन है, उनमें साक्षरता को भी एक साधन माना ही जाय। हमारे प्राचीन काल में ऐसे-ऐसे बुद्धिशाली महापुरुष हुए हैं, जो बिलकुल अशिक्षित थे। यही कारण है कि हमने अपने को ऐसे ही साहित्य तक सीमित रखा है, जो अधिक-से-अधिक स्पष्ट और हितकर हो। जब तक हमें आपका हार्दिक सहयोग नहीं मिलता, और आप अपनी-अपनी भाषा में उपयुक्त साहित्य चुनने के लिये तैयार नहीं होते, तब तक हमें इसमें सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है?

(हरिजन सेवक, ३-४-३७)।

× × ×

राष्ट्रभाषा

बंगलौर में हिन्दी के उपाधि-वितरण-समारोह के अवसर पर गांधी जी ने निम्न भाषण दिया—

आज जिन्हें उपाधि और प्रमाण-पत्र मिले हैं, उन्हें मैं धन्यवाद देता हूँ, और आशा रखता हूँ कि वे रोज अपना अभ्यास चालू रख कर अपना ज्ञान बढ़ाते रहेंगे। साधारण स्कूलों और कालेजों में पढ़नेवाले लोग 'केरियर' के खयाल से पढ़ते हैं, परीक्षा के लिये पढ़ते हैं, और परीक्षा भवन से निकलते ही अपनी पुस्तकों को और उनसे प्राप्त ज्ञान को भूल जाते हैं। अधिकांश लोगों को ज्ञान की अपेक्षा उपाधि की चिन्ता विशेष होती है। किन्तु जिन्हें आज यहाँ उपाधि मिली है, उन्होंने उपाधि के लिये उपाधि नहीं ली है। जिसका सीधा-सादा कारण यह है कि हिन्दी-प्रचार सभा का उद्देश्य नौकरी दिलाना नहीं है। आपको मिली हुई यह उपाधि उस ज्ञान का चिह्नमात्र है, जो आपको अपने शिक्षक से मिला है। अलबत्ता, यह हो सकता है कि आप में से कुछ अपने इस हिन्दी ज्ञान की मदद से थोड़ा कमा सकें, किन्तु निश्चय ही वह आपका उद्देश्य नहीं।

मुझे यह देखकर खुशी होती है कि आज के सफल विद्यार्थियों में अधिक संख्या बहनों की है। यह भारतमाता के और हिन्दी प्रचार के उज्ज्वल भविष्य की एक निशानी है, क्योंकि मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हिन्दुस्तान की मुक्ति उसके स्त्री-समाज के त्याग और ज्ञान पर निर्भर है। स्त्रियों की सभा में मैं यह बात हमेशा जोर देकर कहता रहा हूँ कि जब हम अपने देवों, देवियों

या प्राचीन वीर स्त्री-पुरुषों के बारे में कुछ कहते हैं, तो हम स्त्री का नाम पहले लेते हैं। जैसे, सीताराम, राधाकृष्ण आदि। हम रामसीता या कृष्णराधा कभी नहीं कहते। यह प्रथा निरर्थक नहीं है। हमारे यहाँ स्त्री का आदर किया जाता था, और स्त्रियों के कार्यों और उनकी योग्यता की खास कदर की जाती थी। हमें यह पुराना रिवाज अक्षरशः और अर्थशः जारी रखना चाहिये।

इस अवसर पर मैं आपको इस बात के कुछ स्पष्ट कारण समझाऊँगा कि हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही राष्ट्रभाषा क्यों होनी चाहिए। जब तक आप कर्नाटक में रहते हैं और कर्नाटक से बाहर आपकी दृष्टि नहीं दौड़ती, तब तक आपके लिये कन्नड़ का ज्ञान काफी है। लेकिन अगर आप अपने किसी गाँव को देखेंगे, तो फौरन ही आपको पता चलेगा कि आपकी दृष्टि और उसके क्षेत्र का विस्तार हुआ है। आप कर्नाटक की दृष्टि से नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान की दृष्टि से सोचने लगे हैं। कर्नाटक के बाहर की घटनाओं में आपकी दिलचस्पी बढ़ी है। लेकिन अगर भाषा का कोई सर्व-साधारण माध्यम या वाहन न हो, तो आपकी यह दिलचस्पी बहुत आगे नहीं बढ़ सकती। कर्नाटक वाले सिन्ध या संयुक्त प्रांतवालों के साथ किस तरह अपना सम्बन्ध कायम कर सकते हैं या उनकी बाते सुन और समझ सकते हैं? हमारे कुछ लोग मानते थे, और अब भी मानते होंगे, कि अंग्रेज़ी ऐसे माध्यम का काम दे सकती है। अगर यह सवाल हमारे कुछ हजार पढ़े-लिखे लोगों का ही सवाल होता, तो जरूर ऐसा हो सकता था। लेकिन मुझे विश्वास है कि इससे हममें से किसी को सन्तोष न होगा। हम और आप चाहते हैं कि करोड़ों लोग अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध स्थापित करें। ऐसा सम्बन्ध कभी अंग्रेजी द्वारा स्थापित हो भी सके, तो भी स्पष्ट है कि अभी कई पीढ़ियों तक वह मुमकिन नहीं। कोई वजह नहीं कि वे सब अंग्रेजी ही सीखें। और, अंग्रेजी जीविका का अचूक और निश्चित साधन तो हरगिज नहीं। अगर उसकी ऐसी कोई कीमत कभी रही भी होगी, तो जैसे-जैसे अधिक संख्या में लोग उसे सीखने लगेंगे, वैसे-वैसे उसकी वह कीमत कम होगी। फिर, अंग्रेजी सीखना जितना कठिन है, हिन्दी-हिन्दुस्तानी सीखना उतना कठिन है ही नहीं। अंग्रेजी सीखने में जितना समय लगेगा, उतना हिन्दी-हिन्दुस्तानी सीखने में कभी नहीं लग सकता। कहा जाता है कि हिन्दी-हिन्दुस्तानी बोलने और समझनेवाले हिन्दू-मुसलमानों की संख्या २० करोड़ से ज्यादा है। क्या १ करोड़ १० लाख कर्नाटक के भाई-बहन अपने इन २० करोड़ भाई-बहनों की भाषा सीखना पसन्द न करेंगे? और क्या वे उसे बहुत आसानी से सीख नहीं सकते? अभी ही जिस एक घटना ने मेरा ध्यान खींचा है, उससे इस सवाल का जवाब मिल जाता है। आपने अभी-अभी लेडी रमण के हिन्दी व्याख्यान का कन्नड अनुवाद सुना है। उसे सुनते समय इस बात की तरफ आपका ध्यान अवश्य आकर्षित हुआ होगा कि लेडी रमण के बहुत से हिन्दी शब्द भाषान्तर में ज्यों के त्यों बरते गये थे—जैसे, प्रेम, प्रेमी, संघ, सभा, अध्यक्ष, पद, अनन्त, भक्ति, स्वागत, अध्यक्षता, सम्मेलन आदि। ये शब्द हिन्दी-कन्नड़, दोनों में प्रचलित है। अब मान लीजिये कि यदि कोई अंग्रेजी में इसका उल्था करता, तो क्या वह इनमें से एक भी शब्द का उपयोग कर सकता? कभी नहीं? इनमें से हरएक शब्द का अंग्रेजी पर्याय श्रोताओं के लिये बिलकुल नया होता। इसलिये

जब हमारे कुछ कर्नाटकी मित्र कहते है कि हिन्दी उन्हें कठिन मालूम होती है, तो मुझे हँसी आती है, साथ ही गुस्सा और बेसब्री भी कुछ कम नहीं मालूम होती। मेरा यह विश्वास है कि रोज कुछ घण्टे लगन के साथ मेहनत करने से एक महीने में हिन्दी सीखी जा सकती है। मैं ६७ साल का हो चुका हूँ। लोग कहेंगे कि नया कुछ सीखने की मेरी उमर नहीं रही। लेकिन आप यह सच मानिये कि जिस समय मैं कन्नड़ अनुवाद सुन रहा था, उस समय मैंने यह अनुभव किया कि अगर मैं रोज कुछ घण्टे अभ्यास में दूँ, तो कन्नड़ सीखने में मुझे आठ दिन से ज्यादा समय न लगे। माननीय शास्त्री जी और मेरे जैसे दस-पाँच को छोड़कर बाकी के आप सब तो बिलकुल नौजवान हैं। क्या हिन्दी सीखने के लिये आप एक महीने तक रोज के चार घण्टे भी नहीं दे सकते ? अपने २० करोड़ देशबन्धुओं के साथ संबंध स्थापित करने के लिये क्या इतना समय देना आपको ज्यादा मालूम होता है ? अब मान लीजिए कि आप में से जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते, वे उसे सीखने का निश्चय करते हैं। क्या आप मानते हैं कि प्रतिदिन चार घण्टों की मेहनत से आप एक महीने में अंग्रेजी सीख सकेंगे ? कभी नहीं। हिन्दी इतनी आसानी से इसलिये सीखी जा सकती है कि दक्षिण भारत की चार भाषाओं के सहित हिन्दुस्तान के हिन्दू जो भाषायें बोलते हैं, उन सब में संस्कृत के बहुत से शब्द हैं। हमारा इतिहास कहता है कि पुराने जमाने में उत्तर-दक्षिण के बीच का व्यवहार संस्कृत द्वारा चलता था। आज भी दक्षिण के शास्त्री उत्तर के शास्त्रियों के साथ संस्कृत में बातचीत करते हैं। अनेक प्रान्तीय भाषाओं में मुख्य भेद व्याकरण का है। उत्तर भारत की भाषाओं का तो व्याकरण भी एक-सा है। अलबत्ता, दक्षिण भारत की भाषाओं का व्याकरण भिन्न है, और संस्कृत से प्रभावित होने के पहले उनके शब्द भी भिन्न थे। लेकिन अब उन्होंने भी बहुत से संस्कृत शब्द ले लिये हैं, और वे इस हद तक लिये गये हैं कि जब मैं दक्षिण में घूमता हूँ, तो यहाँ की चारों भाषाओं में जो कुछ कहा जाता है, उसका सार समझ लेने में मुझे कोई कठिनाई नहीं मालूम होती।

आप अपने मुसलमान मित्रों की बात लीजिये। वे अपने-अपने प्रान्त की भाषा तो स्वभावतः जानते ही हैं, इसके अलावा वे उर्दू भी जानते हैं। दोनों का व्याकरण एक सा है, लिपि के कारण दोनों में जो फर्क है, सो है, और इस पर विचार करने से मालूम होता है कि हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू, ये तीनों शब्द एक ही भाषा के सूचक है। इन भाषाओं के शब्द-भण्डार को देखने से हमें पता चलता है कि इनके अधिकांश शब्द एक से हैं। इसलिये एक लिपि के सवाल को छोड़ दें, तो इसमें मुसलमानों को कोई कठिनाई नहीं हो सकती। और, लिपि का सवाल तो अपने-आप हल हो जायगा।

इसलिये फिर अपनी शुरू की बात पर लौटकर मैं कहता हूँ कि अगर आपकी दृष्टि-मर्यादा उत्तर में श्रीनगर से दक्षिण में कन्याकुमारी तक और पश्चिम में कराँची से पूर्व में डिब्रूगढ़ तक पहुँचती हो—और इतनी वह पहुँचनी भी चाहिये—तो उसके लिये आपके पास हिन्दी को छोड़कर और कोई साधन नहीं। मैं आपको समझा चुका हूँ कि अंग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती। अंग्रेजी से मुझे नफरत नहीं। थोड़े पंड़ितों के लिये अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है, अन्तर्राष्ट्रीय

सम्बन्धों के लिये और पश्चिमी विज्ञान के ज्ञान के लिए उसकी जरूरत है । लेकिन जब उसे वह स्थान दिया जाता है, जिसके योग्य वह है ही नहीं, तो मुझे दुःख होता है । मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसा प्रयत्न विफल ही हो सकता है। अपनी-अपनी जगह ही सब शोभा देते हैं ।

आपके दिमाग़ में व्यर्थ ही जो एक डर घुस गया है, उसे मैं निकाल डालना चाहता हूँ। क्या हिन्दी कन्नड़ की जगह सिखाई जायगी ? क्या यह कन्नड़ को उसके स्थान से हटा देगी ? नहीं, उलटे मेरा दावा तो यह है कि जैसे-जैसे हम हिन्दी का अधिक प्रचार करेंगे, वैसे-वैसे हम अपनी प्रान्तीय भाषाओं के अभ्यास को न केवल विशेष प्रोत्साहन देंगे, बल्कि उनकी शक्ति भी बढ़ायेंगे। यह बात मैं भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अपने अनुभव से कहता हूँ।

दो शब्द लिपि के बारे में। जब मैं दक्षिण अफ्रीका में था, तब भी मैं मानता था कि संस्कृत से निकली हुई सभी भाषाओं की लिपि देवनागरी होनी चाहिये, और मुझे विश्वास है कि देवनागरी के द्वारा द्राविड़ी भाषायें भी आसानी से सीखी जा सकती हैं । मैंने तामिल-तेलगू को और कुछ दिन तक कन्नड़ व मलयालम को भी उनकी अपनी लिपियों द्वारा सीखने का प्रयत्न किया है । मैं आपसे कहता हूँ कि मुझे यह साफ दिखाई पड़ रहा था कि अगर इन चारों भाषाओं की लिपि देवनागरी ही होती, तो मैं इन्हें थोड़े ही समय में सीख सकता था, लेकिन जब मैंने देखा कि मुझे चार-चार लिपियाँ सीखनी होंगी, तो मैं मारे डर के घबरा उठा। मेरी तरह जिसे चारों भाषायें सीखने का उत्साह है, उसके लिये यह कितना बड़ा बोझ है ? और क्या यह समझाने के लिये भी किसी दलील की जरूरत है कि दक्षिणवालों के लिये अपनी मातृभाषा के सिवा दूसरी तीन भाषायें सीखने के लिये देवनागरी लिपि अधिक-से-अधिक सुविधाजनक हो सकती है ? राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रश्न के साथ लिपि का प्रश्न मिलाना न चाहिये। मैंने यहाँ उसका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिये किया है कि हिन्दुस्तान की सभी भाषायें सीखनेवाले को लिपि के कारण कितनी कठिनाई होती है।

(ह० से०, ५-७-३६)

० ० ०

राष्ट्रभाषा के पद पर हिन्दी

महात्मा गाँधी ने दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा के पदवीदान-समारम्भ के अवसर पर दीक्षान्त भाषण दिया था। उसका एक अंश इस प्रकार है--

मैंने अपने मनमें कहा, गुजराती मेरी मातृभाषा है, पर वह राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। देश की ३०वें हिस्से से अधिक जन-संख्या गुजराती भाषा-भाषी नहीं है। उसमें मुझे तुलसीदास की रामायण कहाँ मिलेगी ? तो क्या मराठी राष्ट्रभाषा हो सकती है ? मराठी भाषा से मुझे प्रेम है। मराठी बोलनेवाले लोगों में मेरे साथ काम करनेवाले कुछ बड़े पक्के और सच्चे साथी हैं। महाराष्ट्रियों की योग्यता, आत्मबलिदान की उनकी शक्ति और उनकी विद्वत्ता का मैं कायल हूँ। तो भी जिस मराठी भाषा का लोकमान्य तिलक ने गजब का उपयोग किया, उसे राष्ट्रभाषा बनाने की कल्पना मेरे मन में नहीं उठी। जिस वक्त मैं इस प्रश्न पर अपने दिल में दलीलें कर रहा

था——मैं आपको बता दूं कि उस वक्त मुझे हिन्दी भाषा-भाषियों की ठीक-ठीक संख्या भी मालूम नहीं थी——उस वक्त भी मुझे खुद-ब-खुद यह लगा था कि राष्ट्रभाषा की जगह एक हिन्दी ही ले सकती है——दूसरी कोई जबान नहीं। क्या मैंने बँगला की प्रशंसा नहीं की? मैंने की है, और चैतन्य, राममोहन राय, रामकृष्ण, विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मातृभाषा होने के कारण मैंने उसे सम्मान की दृष्टि से देखा है। फिर भी मुझे लगा कि बँगला को हम अन्तर्प्रान्तीय आदान-प्रदान की भाषा नहीं बना सकते। तो क्या दक्षिण भारत की कोई भाषा बन सकती है? यह बात नहीं कि मैं इन भाषाओं से बिलकुल ही अनभिज्ञ था। पर तामिल या दूसरी कोई दक्षिण भारतीय भाषा राष्ट्रभाषा कैसे हो सकती है? तब हिन्दी जबान, बाद को जिसे हम हिन्दुस्तानी या उर्दू भी कहने लगे हैं, और जो देवनागरी और उर्दू लिपि में लिखी जाती है, वही माध्यम हो सकती है, और है।

(हरिजन सेवक, ३–४–३७)

० ० ०

बंबई के हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बैठक में

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नवें अधिवेशन की तैयारी के सिलसिले में आयोजित एक बैठक में गांधी जी ने निम्न भाषण दिया था। उनका भाषण गुजराती में था, भाषण का अनुवाद इस प्रकार है——

आज हम जिस कार्य के लिए एकत्रित हुए हैं उसकी दृष्टि से मुझे हिन्दी में बोलना चाहिए। लेकिन इस समय मैं जान-बूझकर हिन्दी में नहीं बोल रहा हूँ, क्योंकि मैं इस भाषा की खूबियां आपको समझाना चाहता हूं, ये खूबियां मैं आपको गुजराती में समझाऊंगा। मेरा ख्याल है कि गुजराती भाषा में इन्हें बता सकने की मुझमें विशेष शक्ति है। हिन्दुस्तान में इस समय जो सत्याग्रह आन्दोलन चल रहा है, हिन्दी भाषा का आग्रह भी उसमें आ जाता है। सत्य का आग्रह करना, सत्याग्रह की मुख्य बात है। और यदि हम इस पर विचार करने बैठें तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि इस विचार से राष्ट्रीय भाषा के रूप में हमें हिन्दी में ही बोलना पड़ेगा। ऐसी एक भी अन्य देशी भाषा नहीं है जो हिन्दी के साथ स्पर्धा कर सके।

हिन्दी भाषा क्या है, हमें इस बात पर थोड़ा विचार करना होगा। मैं यह नहीं मानता कि हिन्दी अर्थात् वह भाषा जिसमें संस्कृत के शब्द आते हैं, कृत्रिम भाषा है। इसी तरह उर्दू भी, जिसमें फारसी के शब्द आते हैं। हम राष्ट्रीय भाषा के रूप में जिस भाषा को बोलना चाहते हैं वह हिन्दी और उर्दू का मिलाजुला रूप है। बहुत करके यह भाषा इस समय बिहार, दिल्ली तथा पंजाब में बोली जाती है। हिन्दू और मुसलमान दोनों एक नहीं हैं, जब यह भावना लोगों के दिलों में घर करने लगी और जब दोनों के बीच द्वेष-भाव उत्पन्न हुआ तब इन दोनों भाषाओं में रस्साकशी होने लगी। कुछ-एक लोगों ने, जिसमें संस्कृत के शब्द होते हैं उस भाषा को ही हिन्दी कहा तथा कुछ ने फारसी और अरबी भाषा से युक्त भाषा को ही उर्दू कहा। लेकिन सामान्य हिन्दू

और मुसलमान जो बोलते हैं, वह भाषा तो ऐसी नहीं है । हम चाहे जिस जगह जायें और हिन्दू-मुसलमानों को बोलते हुए सुनें तो देखेंगे कि उसमें संस्कृत, फारसी तथा अरबी के शब्द आते हैं, और हिन्दू हो अथवा मुसलमान, कोई भी इनका त्याग नहीं करते । ऐसी मिश्रित भाषा को स्वीकार करने से हम हिन्दू और मुसलमानों का हृदय स्वच्छ हो जायेगा । इस तरह की जिस भाषा की मैं चर्चा कर रहा हूँ उसे उत्तर अथवा दक्षिण का प्रत्येक मुसलमान भाई समझ सकता है, हालांकि उसे अपने प्रान्त की भाषा आती है। (भारत के) मानचित्र पर दृष्टिपात करते समय (आप देखेंगे कि) मद्रास के थोड़े से हिस्से को छोड़कर शेष भागों के हिन्दू भी इस भाषा को समझते हैं। और फिर, उनको भी यदि भागों में विभाजित करने बैठें तो महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल, और सिन्ध के अलावा दूसरे अन्य प्रान्तों में यह भाषा बोली जाती है । गुजरात आदि प्रान्तों में भी मौलवी और हिन्दू धर्मगुरुओं ने दोनों भाषाओं का प्रचार किया है। तुलसीकृत 'रामायण' से कदाचित् ही कोई अनभिज्ञ होगा। हिन्दी कहिए अथवा उर्दू दोनों का व्याकरण एक ही है। हिन्दुस्तान में यदि कोई भाषा राष्ट्रभाषा हो सकती है तो वह यही हिन्दी-उर्दू है । इससे किसी को यह अर्थ नहीं लगाना है कि हम अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाएँ भुला दें । राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए हमें ऐसी भाषा निश्चित करनी चाहिए कि जिसका अन्तर्प्रान्तीय उपयोग हो सके । इसलिए हिन्दी-उर्दू मिश्रित जिस भाषा की मैंने चर्चा की है उस भाषा को हमारे शिक्षित वर्ग को तो सीख ही लेना चाहिए । मैं अपनी अल्प-बुद्धि के अनुसार इस बात से अवगत हूँ कि इस देश में बड़े-बड़े विद्वान् यह मानते हैं कि (अन्तर्प्रान्तीय उपयोग के योग्य भाषा तो) अंग्रेजी भाषा ही है । लेकिन वह भाषा कदापि राष्ट्रभाषा नहीं हुई है। क्योंकि उसमें और हिन्दी भाषा में किसी प्रकार की भी समानता नहीं है। राष्ट्रभाषा ऐसी सहल होनी चाहिए कि जिसे कोई भी सीख सके । यदि हम पराधीनता से ग्रस्त न हों तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि ऐसी सामान्य भाषा की आवश्यकता है। अंग्रेजी सीखने के पीछे लाखों रुपया खर्च करने के बावजूद गिने-चुने लोग ही इस भाषा को सीख सके हैं और ऐसा होने पर भी उस भाषा पर पूर्ण अधिकार रखनेवाले लोग तो इक्के-दुक्के ही होते हैं। इस भाषा को सीखने के लिए जो प्रयत्न करना पड़ता है उसे देखता हूँ तो मुझे तो ऐसी प्रतीति होती है कि उससे देश का तेज क्षीण होता जा रहा है।

इस प्रश्न के भीतर भारत की उन्नति के बीज निहित हैं। जिस राष्ट्र ने अपनी भाषा का अनादर किया है उस राष्ट्र के लोग अपनी राष्ट्रीयता खो बैठते हैं। हममें से अधिकांश लोगों की यही हालत हो गई है। पृथ्वी पर हिन्दुस्तान ही एक ऐसा देश है जहां मां-बाप अपने बच्चों के साथ मातृभाषा में न बोलकर अंग्रेजी में बोलते हैं। मैं अंग्रेजी से द्वेष नहीं करता। मुझे यह भी लगता है कि कुछ कामों के लिए कुछ लोगों को अंग्रेजी सीखनी है। हम लोगों में दुभाषिये का काम करने के लिए (कुछ लोगों को) अंग्रेजी सीखनी चाहिए। और मैं इस बात को स्वीकार करता हूँ कि इसके लिए अंग्रेजी का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। लेकिन हमारे अन्य कार्यों के लिए, अदालतों और केन्द्रीय विधानसभा में राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी होनी चाहिए। इसके अलावा दूसरी भाषा में कामकाज चलाने से राष्ट्र को नुकसान पहुंचता है। जब तक हम इस तत्त्व को ग्रहण नहीं कर

लेते तब तक हमारी सारी मेहनत बेकार जायेगी। इसी से मैंने पिछले वर्ष यह कहा था कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन बम्बई में किया गया होता तो अच्छा होता। हम देखते हैं कि ऐसा किया गया है। अधिवेशन इस मास की १८, १९ और २० तारीख को होगा। पंडित मालवीय जी ने अधिवेशन की अध्यक्षता करना स्वीकार किया है। इसलिए आप लोग अधिवेशन की मदद करें। मंत्रियों ने बताया है कि इस अधिवेशन पर १०,००० रुपया खर्च होगा। इसमें आप जितनी सहायता देंगे वह सम्मेलन को दी गई सहायता मानी जायेगी। वैसे यह कोई ऊंचे दर्जे की सहायता नहीं है। ऊंचे दर्जे की मदद तो वह कही जायेगी कि जो लोग यहाँ उपस्थित हैं वे जल्दी ही इस भाषा को सीख लें। रात को एक-एक घंटे किसी शिक्षक के पास बैठकर सीखने से (कुछ ही समय में) यह भाषा सीखी जा सकती है। मैं अब अधिक समय नहीं लेना चाहता।

मुझे उम्मीद है कि आप मेरे विचारों पर मनन करेंगे और उचित जान पड़ने पर उन पर अमल करेंगे। अनेक बार यह देखने में आता है कि हम कोई बात सुनते और पसन्द तो करते हैं परन्तु उस पर अमल नहीं करते। पसन्द की हुई वस्तु के सम्बन्ध में तुरन्त कार्रवाई करने का परिणाम अच्छा होता है। ऐसा करने से हम आगे बढ़ेंगे।

गुजराती २०-४-१९१९

० ० ०

विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम

कलकत्ता में एक सभा में गांधी ने कहा—

हाल में हुए साहित्य-सम्मेलनों की कार्यवाही की खोज खबर रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को यह स्पष्ट हो गया होगा कि हमारी राष्ट्रीय जाग्रति केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं है। इन जलसों में जो उत्साह देखने में आया वह एक शुद्ध परिवर्तन का द्योतक है। वैचारिक रूप से हम अपने राष्ट्रीय जीवन में मातृभाषाओं को उनका उचित स्थान देने लगे हैं। हमारे देश में कई ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं जो जल्दबाज़ी में अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा बनाने के पक्ष में अपना मत व्यक्त कर देते हैं। अदालती भाषा के रूप में अंग्रेजी का वर्तमान दर्जा उनके विचार में जरूरत से ज्यादा महत्व रखता है। वे नहीं समझ पाते कि अंग्रेजी का वर्तमान दर्जा हमारे लिए कोई गौरव की बात नहीं है और न वह एक सच्ची जनतान्त्रिक भावना के विकास में सहायक ही है। करोड़ों आदमी कुछ सौ अधिकारियों की सुविधा के लिए एक विदेशी भाषा सीखें, यह पहले दर्जे की हिमाकत है। देश की केन्द्रीय सरकार को मजबूत करने के लिए एक सर्वसामान्य माध्यम की आवश्यकता प्रमाणित करने के हेतु बहुधा हमारे विगत इतिहास से उदाहरण पेश किया जाता है। एक सामान्य माध्यम की आवश्यकता पर किसी को आपत्ति नहीं। परन्तु वह माध्यम अंग्रेजी हो नहीं सकती। अधिकारियों को देशी भाषाओं को मान्यता देनी पड़ेगी। अंग्रेजी के पक्षपातियों को जो दूसरी बात अपील करती है वह है साम्राज्य में भारत की स्थिति। सीधे शब्दों में कहा जाये तो उनके तर्क का अर्थ यही निकलता है कि साम्राज्य के अन्य

हिस्सों के लाभार्थ—जिनकी जनसंख्या १२ करोड़ से अधिक नहीं—३१ करोड़ भारतीयों को अपनी सामान्य भाषा के रूप में अंग्रेजी को ही स्वीकार करना चाहिए।

इस समस्या पर विचार करनेवाले प्रत्येक अध्येता के लिए प्रथम विचारणीय तथ्य तो यह है कि भारत में १५० वर्षों से ब्रिटिश शासन रहने पर भी अंग्रेजी एक सर्वसामान्य माध्यम का स्थान ग्रहण नहीं कर सकी। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि एक तरह की टूटी-फूटी अंग्रेजी हमारे नगरों में माध्यम बनने में सफल हो गई प्रतीत होती है। परन्तु यह तथ्य केवल उन्हीं लोगों को चकित कर सकता है जो बम्बई और कलकत्ता जैसे बड़े शहरों में हमारी राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करने की बात करते हैं। किन्तु उनकी आबादी ही कितनी है? वह भारत की कुल आबादी का केवल २.२ प्रतिशत है। दूसरा तथ्य जिसे अंग्रेजी के हिमायती अनदेखा करते हैं यह है कि हमारी देशी भाषाओं में से बहुतेरी एक दूसरे से मिलती-जुलती हैं और इसके कारण हिन्दी एक सामान्य माध्यम के रूप में मद्रास प्रान्त के अलावा सभी प्रान्तों को अनुकूल पड़ती है। हिन्दी के पक्ष में इस लाभ को ध्यान में रखते हुए तथा हमारी वर्तमान राष्ट्रीय चेतना को देखते हुए हम अंग्रेजी को सर्वसामान्य माध्यम के रूप में कैसे स्वीकार कर सकते हैं?

इस समस्या का हल ही देशी भाषाओं के भाग्य का निर्णय करेगा। हमारी शिक्षा प्रणाली में अंग्रेजी को देशी भाषाओं की तुलना में अस्वाभाविक प्रधानता दी जाती है। अंग्रेजी के कट्टर हिमायतियों का कहना है कि यथासम्भव छोटी से छोटी उम्र में ही अंग्रेजी का प्रयोग शिक्षा के माध्यम की तरह होना चाहिए। यह तर्क इस तथ्य पर आधारित है कि विदेश में बच्चे छोटी उम्र में ही उस देश की भाषा बिना कठिनाई के सीख लेते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने इस तर्क का खण्डन करते हुए कहा है:

> "विदेशों में तो बच्चे के चारों ओर लोग उसी देश की भाषा बोलते हैं, पर कक्षा में वह ऐसे लोगों के बीच होता है जो शिक्षक के अलावा सभी भाषा के नये माध्यम से उतने ही अनभिज्ञ होते हैं जितने कि बच्चे। इस कक्षा में एक व्यक्ति अनेक को पढ़ाता है, न कि अनेक एक को, और यहाँ केवल प्रयोगों द्वारा ही कक्षा में शिक्षण देने के तरीके निकालने में सफलता मिल सकती है।"

आयोग ने शिक्षा-प्रणाली में देशी भाषाओं के प्रचलन से होनेवाली शैक्षणिक (समय इत्यादि की) बचत के लाभ को मान्यता प्रदान की है। इसके बाद लाजिमी कदम यही होगा कि विश्वविद्यालयों में भी माध्यम के रूप में देशी भाषाओं के व्यवहार की सिफारिश की जाये। सैडलर आयोग ने माध्यमिक स्कूलों और कालेज के विभागों में शिक्षा के माध्यम के रूप में देशी भाषाओं के प्रयोग के लिए मैट्रिक को ही सीमा माना है। भविष्य के लिए एक द्वैभाषिक शिक्षा प्रणाली की बात उसने अपनी राय के रूप में रखी है। परन्तु उसने यह भी कहा है—

> "भविष्य के बारे में अभी से कोई राय नहीं देना चाहते। यह भविष्यवाणी करना हमारा काम नहीं कि आगे चलकर कभी भविष्य में बंगला के ही अधिकतम प्रयोग की स्वाभाविक अभिलाषा अन्ततः इतनी बलवती हो जाये कि जिसके परिणामस्वरूप

हम एक ऐसी सर्व सामान्य भाषा के माध्यम को छोड़ने के लिए तैयार हो जायें— जो केवल भारत के शिक्षित वर्ग की ही नहीं बल्कि अन्य किसी भाषा की अपेक्षा जनसमूह द्वारा अधिक व्यवहृत हो और जिसके जरिये हम विश्व के साहित्य और वैज्ञानिक प्रगति के क्षेत्र में सहज ही प्रवेश पा सकें।"

यद्यपि आयोग के सामने प्रस्तुत साक्ष्य को देखते हुए आयुक्तों को विश्वविद्यालयों में भी देशी भाषाओं के प्रयोग के पक्ष में भावी नीति निर्धारित करने के लिए तो राजी नहीं किया जा सका, लेकिन यह भी इतना ही सही है कि साक्ष्य में उनको ऐसा कुछ नहीं मिला जो अंग्रेजी के हिमायतियों या द्विभाषा-समर्थकों की दलीलों का समर्थन करता हो। इस प्रकार यद्यपि आयुक्तों के प्रश्नों के उत्तर भविष्य का निर्णय आप नहीं करते फिर भी वे यह तो प्रकट करते हैं कि विश्वविद्यालयों के कुछ कामों में तुरन्त और सभी कामों में अन्ततोगत्वा बँगला का प्रयोग शुरू करने के पक्ष में एक प्रबल आन्दोलन मौजूद है, एक ऐसा आन्दोलन जिसका कोई आभास १६१५ की शाही विधान परिषद् की बहस में नहीं मिलता।

आयुक्तों ने उत्तरों की जो व्याख्या की यदि उसका अध्ययन करें तो उनके कथन को अधिक सही रूप में पूरी तरह समझ सकेंगे। गवाहों से प्रश्न किया गया था, क्या आपका विचार है कि मैट्रिक से ऊपर विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में हर स्तर पर प्रशिक्षण और परीक्षा का माध्यम अंग्रेजी को बनाना चाहिए ? प्राप्त उत्तरों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) १२९ का जवाब निश्चय ही स्वीकारात्मक है।

(२) २९ का जवाब स्वीकारात्मक तो है पर कुछ किन्तु-परन्तु के साथ है।

(३) ६८ ने एक ही शिक्षा संस्था में एक साथ या दो समान संस्थाओं में अंग्रेजी और देशी भाषा के संयुक्त प्रयोग के पक्ष में मत दिया।

(४) ३३ उत्तरों में देशी भाषाओं को क्रमशः अंग्रेजी के स्थान में रखने का उद्देश्य रखने की बात सुझाई गई है।

(५) ३७ उत्तर विरोध में हैं, और

(६) ९ उत्तर किसी वर्ग में नहीं रखे जा सकते।

इस प्रकार १५५ जवाब अंग्रेजी माध्यम के पक्ष में हैं और लगभग १३८ देर-सवेर देशी भाषा और शिक्षा का माध्यम बनाने के विरुद्ध नहीं हैं। निश्चय ही यह अनुपात देशी भाषाओं के हिमायतियों का उत्साह बढ़ानेवाला है। इसके अलावा अंग्रेजी माध्यम की हिमायत करने-वाले लोगों का काफी बड़ा भाग ऐसा है जो विदेशी माध्यम की सलाह सिर्फ इसलिए देता है कि विभिन्न विषयों पर सही किस्म की यथेष्ट पाठ्यपुस्तकों की व्यवस्था नहीं है। ये शिक्षा-शास्त्री भी सिद्धान्तः देशी भाषाओं के माध्यम के विरोधी नहीं हैं। वे नहीं चाहते कि हम तैरना सीखे बिना ही पानी में उतर पड़ें। बाकी गवाही का साक्ष्य इसी तरह का अधिक निश्चायात्मक है जो अंग्रेजी माध्यम का समर्थन करता है। शेष साक्ष्य देशी भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अनुपयुक्त करार देता है। ये गवाह हमारी देशी भाषाओं के इतिहास से अनभिज्ञ

प्रतीत होते हैं। एक समय था जब समस्त हिन्दू-दर्शन का एकमात्र माध्यम संस्कृत थी। परन्तु कुछ उत्साही विद्वानों ने अपनी देशी भाषाओं का भण्डार दर्शन-साहित्य के सुन्दर ग्रंथों से समृद्ध किया और वे हिन्दू-दर्शन को आम जनता के निकट ले आये। क्या हम संगठन सम्बन्धी आधुनिक कल्पनाओं का सहारा लेकर या उनके बिना ही देशी भाषाओं में विज्ञान के क्षेत्र में भी वही काम नहीं कर सकते जो किसी समय दर्शन के क्षेत्र में देशी भाषाओं के उन विद्वानों ने किया था? इन गवाहियों की शंकाओं के विरोध में देशी भाषाओं के पक्षपाती जापान का उदाहरण पेश कर सकते हैं। सेंट पाल्स केथिड्रल कालेज, कलकत्ता के प्रिंसिपल रेवरेंड डब्ल्यू० ई० एस० हालेंड अपनी गवाही में लिखते हैं कि—

जापान ने अपनी भाषा के प्रयोग से एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली खड़ी कर दी है जिसका पाश्चात्य जगत् सम्मान करता है।

'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक बाबू रामानन्द चटर्जी की गवाही और भी अधिक विश्वासोत्पादक है। वे कहते हैं:

> "विश्वविद्यालय की शिक्षा के सभी स्तरों पर देशी भाषाओं का प्रयोग अपरिहार्य है। इसके विरुद्ध जितनी भी आपत्तियाँ हैं उनका महत्व अस्थायी ही है, क्योंकि अत्यन्त विकसित आधुनिक भाषाएँ और साहित्य अपने प्रारम्भिक चरण में बंगला से किसी भी तरह बेहतर नहीं थे। सतत प्रयोग से ही वे विकसित हुई हैं और हम भी उसी तरह प्रयोग से ही अपनी भाषा का विकास कर सकेंगे।"

इस प्रकार हम पाते हैं कि यद्यपि आज डॉ० सैडलर के आयोग के भी समक्ष प्रस्तुत साक्ष्य विश्वविद्यालय की रक्षा के लिए देशी भाषा का माध्यम अपनाने के पक्ष में नहीं है, फिर भी वह भविष्य में देशी भाषा को माध्यम बनाने के हित में बड़ी आशा बँधाता है। एक समय था जब देशी भाषा के पक्षपातियों के उद्देश्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। अब उसे सन्देह की ृष्टि से नहीं देखा जाता। इतना ही नहीं सन्देह का स्थान विश्वास ने ले लिया है। हाल में दो महत्वपूर्ण संस्थाएँ इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सक्रिय हो गयी हैं। पूना का महिला विश्वविद्यालय और हैदराबाद का उस्मानिया विश्वविद्यालय, दोनों ही माध्यम के रूप में केवल देशी भाषाओं का व्यवहार कर रहे हैं। उनकी प्रगति पर बहुत लोगों की आँखें जमी हुई हैं और जैसा कि जस्टिस सर अब्दुला रहीम ठीक ही कहते हैं कि इन संस्थाओं की सफलता देशी भाषाओं की समस्या का हल आसान बना देंगी। हिन्दू विश्वविद्यालय के पिछले दीक्षान्त समारोह के दौरान माननीय पंडित मदनमोहन मालवीय ने देशी भाषाओं के सभी प्रमुख विद्वानों को एक सम्मेलन के लिए आमंत्रित किया था। आशा है कि ऐसे सुनियोजित प्रयत्नों से देशी भाषाएँ शीघ्र ही शिक्षा के माध्यम के रूप में मान्यता पा लेंगी।

'देशी भाषाओं के हित को प्रान्तों के वर्तमान विभाजन ने भी किसी अन्य चीज से कम नुकसान नहीं पहुँचाया है। भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनर्विभाजन करने के बाद विश्वविद्यालयों की व्यवस्था एक नये सिरे से करनी होगी।

ऊपर हमने देशी भाषाओं के हित के लिए तीन परस्पर मिले-जुले कार्यक्षेत्र बतलाये हैं। जाहिर है कि जबतक हम इस हित को आगे नहीं बढ़ायेंगे तबतक हम अपने देश के विभिन्न स्त्री-पुरुषों और विभिन्न वर्गों और जनता के बीच निरन्तर चौड़ी होती हुई बौद्धिक और सांस्कृतिक खाई को पाट नहीं सकेंगे। यह भी निश्चित है कि केवल देशी भाषा के माध्यम से ही अधिकांश लोगों में वैचारिक मौलिकता पैदा की जा सकती है।

यंग इंडिया, २१-४-१९२

० ० ०

हिन्दी नवजीवन

बहुत से हिन्दी-भाषी मित्र इस बात के लिए उत्सुक थे कि मैं 'नवजीवन' के हिन्दी संस्करण के प्रकाशन का दायित्व अपने ऊपर ले लूँ। मैं स्वयं भी उसके लिए उत्सुक था। किन्तु यह अब तक सम्भव नहीं हो सका। 'नवजीवन' और 'यंगइंडिया' के सम्पादन का काम सँभालना काफी कठिन होता है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं अपने विचारों और सिद्धान्तों को पसन्द करता हूँ। मेरी पक्की राय है कि वे भारत के लिए हितकर हैं। और यदि मुझे पूर्ण विनम्रता से इतना कहने की अनुमति हो तो वे सभी के लिए हितकर हैं, इस कारण मैं मित्रों और कार्यकर्त्ताओं के हिन्दी संस्करण निकालने के दबाव के आगे झुक रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि भारत के विभिन्न भागों में मेरे लेखों के अनेक हिन्दी अनुवाद छपते हैं। किन्तु सभी चाहते थे कि 'नवजीवन' और 'यंग इंडिया' के चुने हुए लेखों का एक अधिकृत स्वतन्त्र अनुवाद एक जगह छपे। यह कार्य अब किया जा रहा है। इस संस्करण की हिन्दी वस्तुतः हिन्दुस्तानी होगी जो ऐसे हिन्दी और उर्दू सरल शब्दों से बनी मिली-जुली भाषा होगी जिन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों समझते हैं। प्रयत्न यह किया जायेगा कि इसमें कोई सजावट न की जाये। असल बात तो यह है कि मैं चाहता था कि इसका उर्दू रूप भी साथ ही निकले। किन्तु अभी यह नहीं निकाला जा सकता। मैं पाठकों से यह भेद भी छिपाना नहीं चाहता कि 'हिन्दी नवजीवन' के प्रकाशन में जो यह जल्दी की गई है उसके पीछे मेरा अपने मारवाड़ी भाइयों और खासतौर से जमनालाल जी के प्रति आदरभाव है। जमनालाल जी ने प्रकाशक के रूप में और श्री शंकरलाल बैंकर ने मुद्रक के रूप में अपने नाम की सूचना अदालत में दे दी है। गुजराती और अंग्रेजी संस्करणों की तरह 'हिन्दी नवजीवन' में भी विज्ञापन नहीं रहेंगे। इसे उन दोनों की तरह स्वालम्बी भी बनाना होगा, इसलिए इसे जो सहायता मिलेगी इसका अस्तित्व उसी पर कायम रहेगा। हिन्दी संस्करण का चन्दा ४ रुपये वार्षिक होगा और ६ मास का २ रुपये होगा। जो लोग ग्राहक बनना चाहते हैं उनको मेरी सलाह है कि वे अभी आधे साल का चन्दा भेजें। 'हिन्दी नवजीवन' का प्रकाशन अभी परीक्षण के रूप में किया जा रहा है। मेरे पास कार्यकर्त्ता सीमित हैं। यदि मुझे स्वामी आनन्दानन्द की अथक शक्ति और सूझबूझ का सहारा न मिलता तो मैं इस जिम्मेवारी को उठाने से इनकार कर देता। हमने यह देख लिया है कि सबसे अच्छा काम वे लोग ही करते हैं जो स्वेच्छा

से काम करते हैं। और इस प्रकार का शारीरिक या मानसिक श्रम करनेवाले लोगों को ढूंढ़ना आसान नहीं है। इसलिए मैं उन हिन्दी प्रेमियों का, जिन्होंने असहयोग को जीवन का सिद्धान्त बना लिया है, आह्वान करता हूँ कि वे 'नवजीवन' को परीक्षण के रूप में छः मास तक अपना संरक्षण द। यह कहने की जरूरत नहीं कि ये पत्र मुनाफा कमाने के लिए नहीं निकाले गये हैं। इसलिए यदि कोई बचत होगी तो वह तीनों संस्करणों के विकास में लगाई जायेगी। पाठकों की दिलचस्पी यह जानने में भी होगी और उन्हें इससे प्रसन्नता होगी कि मौलाना मुहम्मद अली ने अपनी 'कामरेड' की मशीनें, टाइप और अन्य सामग्री बिना कुछ लिये हमें दे दी हैं। इस प्रकार अशुभ शक्तियों से असहयोग की लड़ाई शुभ शक्तियों के निकटतम सहयोग पर निर्भर है। मैं सरकार की शक्तियों की अशुभ शक्तियों को अशुभ शक्तियाँ और असहयोग की शक्तियों को असहयोगियों की समस्त त्रुटियों और सीमाओं के बावजूद शुभ मानता हूँ।

१८-८-२१

o o o

राष्ट्रीय शिक्षा

अब रही शिक्षा के माध्यम की बात। इस विषय पर मेरे विचार इतने विदित हैं कि यहाँ उनके दुहराने की जरूरत नहीं। इस विदेशी भाषा के माध्यम ने लड़कों के दिमाग को शिथिल कर दिया है और उनकी दिमागी शक्तियों पर अनावश्यक बोझ डाला है। उन्हें रट्टू और नकलची बना दिया है। मौलिक विचारों और कार्यों के लिए अयोग्य कर दिया है और अपनी शिक्षा का सार अपने परिवार वालों तथा जनता तक पहुँचाने में असमर्थ बना दिया है। इस विदेशी माध्यम ने हमारे बच्चों को अपने ही घर में पूरा-पक्का परदेशी बना दिया है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का यह सबसे बड़ा दुःखान्त दृश्य है: अंग्रेजी भाषा के माध्यम ने हमारी देशी भाषाओं के विकास को रोक दिया है। यदि मेरे हाथ में मनमानी करने की सत्ता होती तो मैं आज से ही विदेशी भाषा के द्वारा अपने देश के लड़के-लड़कियों की पढ़ाई बन्द करवा देता। और सारे शिक्षकों और अध्यापकों से यह माध्यम तुरन्त बदलवाता या उन्हें बरखास्त करा देता। मैं पाठ्य-पुस्तकों की तैयारी का इन्तजार न करता। वे तो परिवर्तन के पीछे-पीछे चली आयेंगी। यह खराबी तो ऐसी है, जिसके लिए तात्कालिक इलाज की जरूरत है।

१-९-१९२१

o o o

मारवाड़ी भाइयों और बहिनों से

आपके प्रेमवश होकर मैंने 'हिन्दी नवजीवन' निकालने का साहस किया है। जबसे मैं भारतवर्ष में आया हूँ, तब से मेरा आपका सम्बन्ध निकट आता जा रहा है। आपने मेरी प्रवृत्ति को प्रेम भाव से देखा है और मुझे सहायता दी है। आपने हिन्दी-प्रचार में खूब मदद की है। आपकी

ही सहायता से आज द्राविड़ प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार अच्छी तरह हो रहा है। आप भाई और बहनें असहयोगी हैं। आप राष्ट्रीय जीवन में रस लेते हैं। आपने देख लिया है कि धनी पुरुष और स्त्रियाँ राष्ट्रीय जीवन के पराङ्मुख नहीं रह सकते।

आप धर्मप्रेमी हैं। धर्म के लिए आप लाखों रुपया देते हैं। आपमें साहस भी है। द्रव्योपार्जन आपका प्रधान क्षेत्र है। (तथापि) धनिकवर्ग के अलग रहते हुए इस धर्म में, जो आज भारत वर्ष में छिड़ रहा है, सफलता मिलना मुझे बहुत ही कठिन दिखाई देता है।

अखिल भारत की राष्ट्रीय समिति ने स्वराज्य प्राप्ति के लिए अब जो कदम उठाया है. उसमें आप लोगों की ओर से सहायता मिलने पर ही सम्पूर्ण सफलता मिल सकती है। उक्त समिति ने निश्चय कर लिया है कि आगामी ३० सितम्बर तक विदेशी कपड़ों का पूरा बहिष्कार कर दिया जाये। मैंने आपके ही विश्वास पर सितम्बर मास की अवधि रखने की सलाह दी। अतएव इस स्वदेशी आन्दोलन को प्रबल बनाने के समय 'हिन्दी नवजीवन' का प्रकाशित होना उचित ही है।

'हिन्दी-नवजीवन' १९-८-१९२१

० ० ०

कलकत्ता की सार्वजनिक सभा में

मैं हिन्दुस्तानी में काफी बोल चुका हूँ और मुझे आशा है कि काफी श्रोताओं ने मेरी टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी समझ भी ली है। मुझे इस बात से हार्दिक वेदना होती है कि जब कभी मैं दक्षिण में या बंगाल में आता हूँ तो मुझे शिक्षित भाइयों को अपनी बात समझाने के लिए अंग्रेजी में बोलने पर मजबूर होना पड़ता है। मैं चाहता हूँ कि दक्षिण और बंगाल के लोग आलस्य छोड़ दें और अपनी मातृभाषा के ज्ञान के साथ-साथ हिन्दी या हिन्दुस्तानी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त करने का संकल्प कर डालें। हिन्दी, केवल हिन्दी ही भारत में अन्तर्प्रान्तीय विनिमय की भाषा बन सकती है। अंग्रेजी को, जैसा कि उसे होना चाहिए, अन्तर्राष्ट्रीय राजनयिक भाषा, और संसार के विभिन्न राष्ट्रों की पारस्परिक विचार-विनिमय की भाषा रहने दिया जाये। किन्तु जो विशेष काम हिन्दी या हिन्दुस्तानी से सध सकता है, वह अंग्रेजी से कभी सम्भव नहीं है। आपको यह जानना चाहिए कि भारत के करीब २० करोड़ लोग मेरी टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी समझ लेते हैं। लोगों को ऐसा कहने का अवसर मत दीजिए कि भारत के १० करोड़ लोग भारत के २० करोड़ लोगों पर अपनी भाषा या अंग्रेजी भाषा लादना चाहते हैं।

० ० ०

ढाका की सार्वजनिक सभा में

मुझ बंगाल आने पर बंगला भाषा की सुन्दर ध्वनि सुनने को मिलती रही है। इसलिए चाहे कितना ही शानदार क्यों न हो, अंग्रेजी के धाराप्रवाह भाषण से मेरी रक्षा करें। यदि आप

हिन्दुस्तानी में अपनी बात न कह सकें तो शुद्ध बंगला में ही कहें। शायद बंगाल सारे भारत को एक यही सन्देश देना चाहता है मेरा खयाल है कि अब बहुत आवश्यक हो गया है कि हम अपनी कार्यवाहियाँ, विशेषकर ऐसी कार्यवाहियाँ, प्रान्तीय भाषाओं या हिन्दुस्तानी में ही चलायें। एक समय ऐसा आयेगा जब हम सब अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करने से शर्म मानेंगे। मेरा खयाल है कि यह बात मैं पहले भी कह चुका हूँ।

१७ मई, १९२५

० ० ०

हिन्दी प्रचार कार्यालय, मद्रास में

यह जगह ऐसी है जहाँ माना जाता है कि लोग हिन्दी समझ लेंगे। फिर भी मुझे यहाँ आपके सम्मुख अंग्रेजी में बोलना अजीब लगता है। चूंकि उपस्थित लोगों से अधिकांश आज हिन्दी नहीं जानते, अतः मैं अपना भाषण अंग्रेजी में ही दूँगा। मेरी राय में भारत में सच्ची राष्ट्रीयता के विकास के लिए हिन्दी का प्रचार एक जरूरी बात है, विशेष रूप से इसलिए कि हमें उस राष्ट्रीयता को आम जनता के अनुरूप साँचे में ढालना है। आज से पाँच वर्ष से कुछ पहले इसकी कल्पना इन्दौर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में की गई थी जिसकी अध्यक्षता मैंने की थी। उस समय ऐसा सोचा गया था कि प्रचार का सारा काम मद्रास अहाते से बाहर के क्षेत्रों में इकट्ठे किये हुए धन से चलाया जाये क्योंकि उस दिन के अधिकांश वक्ता मारवाड़ी सज्जन थे और उन्हें हिन्दी से प्रेम है। इस बात को पाँच साल हो चुके हैं और इस प्रकार-कार्य को आत्म--निर्भर बनाने की दिशा में कुछ काम भी किया गया है। इसलिए मैं इस अवसर पर फिर कहना चाहता हूँ कि इस अहाते को इस काम का बोझ उत्तर भारत के कन्धों से हटाकर अब खुद अपने कन्धों पर लेना चाहिए। ऐसा करना उसका कर्त्तव्य ही है। बहुत थोड़े से नौजवान हैं जो हिन्दी सीखते और उसका अध्ययन करते हैं। जब इस योजना को रूप दिया गया था तब मैंने सोचा था कि इन निःशुल्क हिन्दी कक्षाओं में नौजवान कांग्रेस के नाम पर बड़ी संख्या में यथासम्भव जायेंगे। लेकिन मुझे और इन कक्षाओं को चलानेवाले लोगों को यह देखकर बड़ी निराशा हुई है कि इनमें बहुत ही कम नौजवान आये हैं। लेकिन हमें हताश नहीं होना चाहिए। जबतक हिन्दी सीखने का इच्छुक एक भी तमिलभाषी रहेगा तबतक यह संस्था बनी रहेगी, जिन लोगों ने अपने ऊपर यह भार लिया है उन्हें अपने-आप पर पूरा भरोसा है। साथ ही तमिल लोगों को उनके प्रान्त में आकर हिन्दी सिखाने का काम जिन हिन्दी-प्रेमियों ने उठाया है, वे उनसे यह कहे बिना न रहेंगे कि तमिल लोगों ने पर्याप्त उत्साह नहीं दिखाया है।

२४ मार्च, १९२५

० ० ०

देवनागरी का प्रयोग

मैं ज्यों ज्यों ज्यादा घूमता हूँ त्यों त्यों यही देखता हूँ कि अगर हिन्दुस्तान की सारी भाषाएँ देवनागरी लिपि में लिखी जाया करें तो इससे हमारी राष्ट्रीयता को बहुत बड़ी ताकत मिले। असमिया, बँगला, पंजाबी, सिन्धी इत्यादि भाषाएँ यदि देवनागरी में लिखी जायँ, तो उनके समझने में बहुत ही थोड़ी दिक्कत हो। इसमें कोई शक नहीं। ऐसा होने से इन सब भाषाओं के पढ़ने वालों का बहुत-सा समय बच जाये और भाषा बड़ी आसान मालूम होने लगे।

४-६-१९२१

० ० ०

श्रीरंगम् की सार्वजनिक सभा में

श्रीरंगम् की सार्वजनिक सभा में महात्मा गांधी को जनता की ओर से मानपत्र समर्पित किया गया। मानपत्र का उत्तर देते हुए गांधी जी ने कहा—

इस सुन्दर मानपत्र के लिए मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ। मैंने इसे सुन्दर इसलिए कहा कि यह पत्रों पर छपा हुआ है। लेकिन मैं आपको यह बता दूँ कि एक कारण से इसकी सुन्दरता में कमी आ गई है। वह यह है कि आपने मानपत्र अपनी मातृभाषा या राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी के बजाय एक ऐसी भाषा में लिखा या छापा है जिसका हमारे राष्ट्रीय सम्पर्क की भाषा के रूप में कोई महत्व नहीं है। अंग्रेजी कूटनीति और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की भाषा है। मैं जानता हूँ कि अगर मैं आपसे अंग्रेजी का प्रयोग एक महानतम विश्वभाषा के रूप में ही करने का अनुरोध करूँ तो आप मुझे गलत न समझेंगे। मैं समझता हूँ, अंग्रेजी साहित्य में ऐसा बहुत कुछ है, जिसका अध्ययन करके हम लाभ उठा सकते हैं। लेकिन जैसे गलत स्थान में रखी गई चीजों को कचरा कहते हैं, वैसे ही जहाँ अंग्रेजी के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता, जैसा कि यहाँ हुआ, वहाँ उसका प्रयोग गर्हित है, जब जब मुझे अपने देशभाइयों को अपने विचारों से अवगत कराने के लिए अंग्रेजी का प्रयोग करना पड़ता है। जब जब मुझे हमारी आपसी बातचीत में अंग्रेजी सुनने को मिलती है, तब तब इस उत्तरोत्तर बढ़ते हुए अपमान का दंश मुझे और अधिक चुभने लगता है। इसलिए जैसा कि आप जानते हैं, आपके प्रान्त में हिन्दी के प्रचार के लिए मारवाड़ी भाइयों से मैंने ५०,००० रुपया चन्दा इकट्ठा किया है। अतः मुझे पूरी आशा है कि अंग्रेजी भाषा में महारत हासिल करने की बेकार कोशिश के बजाय हम ईमानदारी के साथ अपनी-अपनी मातृभाषा और राष्ट्रभाषा में कुशलता हासिल करने की कोशिश करेंगे।

० ० ०

हिन्दुस्तानी

अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति में हिन्दुस्तानी—अर्थात् सर्व-साधारण भाषा—बड़ी तेजी से विचार-प्रकाशन का माध्यम होती जा रही है। समिति के बहुत से सदस्य अंग्रेजी का

एक भी शब्द नहीं समझते और मद्रास प्रान्त के सदस्य हिन्दुस्तानी नहीं समझते। बंगाल के सदस्य कठिनाई से हिन्दुस्तानी समझते हैं। वे हिन्दी-भाषा में बोलने की आवश्यकता को मानते हैं और जब समिति की कार्यवाही हिन्दुस्तानी में चल रही थी तब उन्होंने उस पर नाक-भों नहीं चढ़ाई। किन्तु द्रविड़ भाइयों के लिए तो वह एक प्रकार का सचमुच त्याग ही था। गत अधिवेशन में मद्रास का सिर्फ एक ही सदस्य था और मलाबार से भी अधिक लोग नहीं आ सके थे। किन्तु जब सब द्रविड़ सदस्य उपस्थित होंगे तब तो सचमुच बड़ी मुश्किल होगी। परन्तु फिर भी उसे दूर करने का इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग ही दिखाई नहीं देता कि द्रविड़ भाई जितनी जल्दी हो सके काफी हिन्दुस्तानी सीख लें। जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते उनसे तो यह अपेक्षा की नहीं जा सकती कि वे अंग्रेजी पढ़ लेंगे और अब तो लोक-संस्थाओं की नीति अधिकाधिक यही होनी चाहिए कि उनमें ऐसे ही सदस्य रहें जो अंग्रेजी न जानते हों। इसलिए, हिन्दुस्तानी के भावनात्मक अथवा राष्ट्रीय महत्त्व की बात छोड़ दें तो भी यह दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक आवश्यक मालूम होता जा रहा है कि तमाम राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं को हिन्दुस्तानी सीख लेनी चाहिए और राष्ट्र की तमाम कार्यवाही हिंदी में ही की जानी चाहिए। किन्तु, यद्यपि गत अधिवेशन में यह बात तय हुई थी, तथापि द्रविड़ और बंगाली सदस्य यह बात सुनना ही नहीं चाहते थे कि उसके अनुसार समिति कोई बड़ा नियम बना दे। हाँ, वे इतना तो खुशी से सहन कर लेते हैं कि जिसका जी चाहे वह हिन्दुस्तानी में बोलें, परन्तु वे यह पसन्द नहीं करते कि समिति ऐसा प्रस्ताव स्वीकार करके लोगों को उसके लिए मजबूर करे। आखिर यह बात कार्यकारिणी समिति पर छोड़ दी गई। किन्तु इस दुविधा के होते हुए ऐसें कोई सुझाव देना कार्यकारिणी समिति के लिए बहुत कठिन है जिसे सदस्य एकमत से मंजूर कर लें।

१०-११-१९२१

o o o

प्राथमिक शिक्षा और अंग्रेजी

मैं प्राथमिक शिक्षा की किसी भी योजना में अंग्रेजी का ज्ञान शामिल करने के औचित्य पर आपत्ति करता हूँ। मेरी राय में इस देश के हजारों लड़के-लड़कियों को अंग्रेजी जानने की कतई जरूरत नहीं है। उन्हें भाषाओं के बजाय विचारों की ज्यादा जरूरत है। अंग्रेजी के प्रति हममें अंधा मोह पैदा हो गया है।

यंग इंडिया, २४-११-१९२०

o o o

राष्ट्रभाषा

भाषा पर विचार करते समय मुझे हिन्दुस्तानी का अपना अनुभव याद आता है। मेरी हिन्दुस्तानी में व्याकरण सम्बन्धी दोष बहुत होता है। तथापि लोग मेरी हिन्दुस्तानी प्रेमपूर्वक

सुनते हैं। अनेक स्थानों पर मैंने विद्यार्थियों से कहा है कि मैं अंग्रजी में बोलने के लिए तैयार हूँ, तब भी वे लोग मेरा हिन्दुस्तानी में ही बोलना पसन्द करते हैं। ऐसे प्रसंग विशेष रूप से तीन-जगह——इलाहाबाद, पटना और नागपुर में आये हैं। मेरे वैकल्पिक प्रस्ताव पर भी विद्यार्थियों ने हिन्दुस्तानी में ही बोलने की माँग की। सब लोगों की धारणा थी कि ढाका में अंग्रेजी बोले विना मेरा निस्तार नहीं होगा, लेकिन वहाँ भी लोगों ने हिन्दुस्तानी में ही बोलने की मांग की और मेरे हिन्दुस्तानी भाषण को ध्यानपूर्वक सुना। मैं देखता हूँ कि मेरे जैसे सार्वजनिक कार्य करनेवाले लोगों के लिए, जो हिन्दी अच्छी तरह बोल लेते हैं, सारे हिन्दुस्तान में कार्य करने का मार्ग सरल हो जाता है। सिर्फ बंगाल और मद्रास प्रदेश में ही थोड़ी मुश्किल होती है। जैसे-जैसे सामान्य वर्ग में जागृति होती जायगी वैसे-वैसे सार्वजनिक वक्ताओं का अपने-अपने प्रान्तों से बाहर हिन्दुस्तानी बोले बिना काम नहीं चलेगा, यह बात अनुभव से सिद्ध होती जाती है। गुजरात के उन वक्ताओं के लिए, जो सारे हिन्दुस्तान में काम करना चाहते हों, हिन्दुस्तानी सीखना नितान्त आवश्यक है।

२६-१२-१९२०

० ० ०

कलकत्ता में राष्ट्रीय महाविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर

मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जब आप हिन्दुस्तानी पढ़ना आरम्भ करेंगे तब आपमें से कुछ को वह बहुत सरल और सुगम मालूम होगी। आपमें से कुछ को उसके शब्द बिलकुल स्वाभाविक लगेंगे, क्योंकि बँगला, हिन्दी और भारत की अधिकांश भाषाओं की शब्दावली एक है। केवल द्रविड़ देश की भाषाएँ अपवाद हैं। आप यह भी देखेंगे कि इससे आपको मानसिक खूराक मिलेगी और इससे पढ़े-लिखे बंगालियों की बौद्धिक आवश्यकताएँ पूरी होंगी। यदि आप साहित्य पढ़ना चाहेंगे तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि हिन्दी और उर्दू दोनों में से जिस लिपि को आप सीखेंगे और पहले-पहल जिन किताबों को आप पढ़ेंगे उन्हीं में आपको ज्ञान का छिपा हुआ भंडार मिलेगा। आप हिन्दी भाषा की साहित्यिक दरिद्रता की बात कहते हैं——आप वर्तमान हिन्दी की गरीबी की बात कहते हैं, किन्तु यदि आप तुलसीदास की 'रामायण' को गहराई से पढ़ें तो शायद आप मेरी इस राय से सहमत होंगे कि संसार की आधुनिक भाषाओं के साहित्य में उसके मुकाबिले में कोई दूसरी किताब नहीं ठहरती। उस एक ही ग्रन्थ ने मुझे जितनी श्रद्धा और आशा दी है उतनी किसी दूसरी किताब से मुझे नहीं मिली। मेरा खयाल है वह हर तरह की आलोचना और छानबीन के बाद साहित्यिक सौन्दर्य, अलंकार और धार्मिक प्रेरणा——सभी दृष्टियों से खरी उतरेगी।

० ० ०

स्वामी सत्यदेव को पत्र

आपका पत्र मिला। आप सच कहते हो देवदास के साथ भेजा हुआ पेगाम से आप सन्तुष्ट नहीं हो सकते। पत्र नहीं लिखने का सबब सिर्फ मेरा आलस्य ही है। मुझे क्षमा कीजियेगा।

देविदास को मैंने कहा था कि आप सन्तुष्ट न होंगे तो मैं अवश्य लेखित उत्तर भेज देऊँगा। हिन्दी शिक्षा के लिए मद्रास प्रान्त में आप सब योग्य प्रबन्ध कर सकते हो। सारा इलाका में गुम सकते हो। जग जग हिन्दी पाठशाला निश्चित कर सकते हो। पाठशालाओं के लिये आपने चुने हुए शिक्षकों आप ही निर्मित कर सकते हो। आप पढ़ाने का कार्य न करें परन्तु सब पाठशालाओं का निरीक्षण योग्य समय पर करते रहे। जब सारे इलाके में आपको संतोष मिले, ऐसी पाठशाला खुल जाये और आपके सिवाय इन पाठशाला चल सके, ऐसा आप निश्चितता से कह सके, उस वखत आप मद्रास इलाका छोड़ शकते हो। इस प्रवृत्ति में आप दश हजार रुपैया तक खर्च कर शकते हो। आपको पैसा भेजने की जवाबदारी मेरे शीर पर है। आपको प्रयाग जी की साहित्य कमिटी से कुच्छ बी संबंध नहि रहेगा। परन्तु मैं सब पैसा प्रयाग जी से मांगना चाहता हूँ। उसमें कुछ आपत्ति आ जायेगी तो मैं दूसरा प्रबंध कर लोगा। अब मुझे पता लगता है आपका सब प्रश्न का उत्तर मैंने दे गया। यदि कुच्छ त्रुटि हो तो आप कहेंगे। सुरेन्द्र के लिये मैं कल देविदास कुलंवा पत्र लिखा है। इस समय सुरेन्द्र मानसिक व्याधि से ग्रस्त है। उसको इंग्रेजी पाठशाला का प्रबंध पर मोह उत्पन्न हुआ है। इस मोह में उसकु छोड़ाना आवश्यक मालुम पड़ता है। आप उसको शांति दे सकेंगे। यदि आप उसका विचार की पसंद करते होंगे तो आप मुझे समजायेगा।

(हस्तलिखित दफ्तरी प्रति (एस० एन० ६४३८) की फोटो-नकल से।)

० ० ०

हमसे गलतियां हो जाती हैं

मैं सोचता हूँ कि अपने ३५ वर्ष के जीवन में राष्ट्रीय कांग्रेस ने अंग्रेजी के बजाय, जिसे हमारे देशवासियों का एक अत्यन्त छोटा वर्ग ही समझता है, यदि अपनी कार्यवाही हिन्दुस्तानी में ही की होती तो क्या से क्या हो गया होता।

'यंग इंडिया', ८-१०-१९१९

० ० ०

संकलन: श्री प्रह्लादनारायण खन्ना

गांधी : राष्ट्र-वाणी

(१)

सन् १९२७ ई० दिसम्बर में कोयले की खानों मजदूरों ने गाँधी जी को एक अभिनंदन पत्र अंग्रेजी में प्रस्तुत किया। अंग्रेजी के प्रति गांधी की क्या प्रतिक्रिया हुई, वह इस प्रकार है—

"उन हजार लोगों में जो सभा में आये थे, मुश्किल से शायद पचास अंग्रेजी जानते होंगे। भारी बहुसंख्या उनकी थी जो हिन्दी आसानी से समझ सकते थे, और एक बड़ी संख्या उनकी थी जो बंगाली जानते थे। उक्त संगठन के अगुआ बंगाली व्यक्ति थे। यदि अंग्रेजी का प्रयोग मेरे लिए किया गया था तो मैं कहूँगा कि वह व्यर्थ था। वे अभिनन्दन-पत्र बंगला में लिख सकते थे और मुझे उसका हिन्दी या अंग्रेजी-अनुवाद दे सकते थे। परन्तु यदि अंग्रेजी अभिनन्दन-पत्र उस बड़ी सभा पर थोपा गया तो नेताओं का अनादर ही होगा। मैं आशा करता हूँ कि शीघ्र ही वह समय आ रहा है जब श्रोतागण ऐसी सभाएँ छोड़कर चले जाएँगे, जहाँ सभा की कार्यवाही उस भाषा में की जाती है जिसे अधिकांश लोग नहीं समझ सकते।"

('यंग इंडिया', २०-१-१९२८)

(२)

"मैं अपने देश के बच्चों के लिए यह जरूरी नहीं समझता कि वे अपनी बुद्धि के विकास के लिए एक विदेशी भाषा का बोझ अपने सिर ढोएं और अपनी उगती हुई शक्तियों का ह्रास होने दें। आज जिस अस्वाभाविक परिस्थिति में रह कर हमें अपनी शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है, उस परिस्थिति का निर्माण करने वालों को मैं जरूर गुनहगार मानता हूँ। दुनिया में और कहीं ऐसा नहीं होता। इसके कारण देश का जो नुकसान हुआ है, उसकी तो हम कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि हम खुद उस सर्वनाश से घिरे हुए हैं। मैं उसकी भयंकरता का अन्दाजा लगा सकता हूँ, क्योंकि मैं निरन्तर देश के करोड़ों मूक, दलित और पीड़ित लोगों के सम्पर्क में आता रहता हूँ।"

(३)

"मुझसे अंग्रेजी का या दूसरे पश्चिमी लोगों का द्वेष न कभी था न आज है। उनका कल्याण मुझे उतना ही प्रिय है जितना कि हमारे देश का। इसलिए मेरे छोटे से ज्ञान-भण्डार में से अंग्रेजी का बहिष्कार कभी नहीं होगा। मैं उस भाषा को भूलना नहीं चाहता, न चाहता हूँ कि सारे हिन्दुस्तानी अंग्रेजी भाषा को छोड़ें या भूलें। मेरा आग्रह हमेशा अंग्रेजी को उसकी

योग्य जगह से बाहर न ले जाने का रहा है। वह कभी राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकती और न हमारी तालीम का जरिया।''

(१-१-४८)

(४)

''विभिन्न प्रदेशों में अंग्रेजी बोलनेवाले लोग काफी मिल जाते हैं, किन्तु उनकी संख्या ब्रहुत ही थोड़ी है और हमेशा थोड़ी ही रहेगी। इसका मुख्य कारण यह है कि यह भाषा कठिन और विदेशी है। साधारण मनुष्य इसे ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए यह सम्भव नहीं कि अंग्रेजी के जरिये भारत एक राष्ट्र बन जाए। अतः भारतीयों को भारत की ही कोई भाषा पसन्द करनी होगी।''

(गुजराती, से १८-८-१९०६)

(५)

''...जो स्थान इस समय अनुचित ढंग से अंग्रेजी भोग रही है वह स्थान हिन्दी को मिलना चाहिए।...शिक्षित वर्ग की एक भाषा अवश्य होनी चाहिये और वह हो सकती है हिन्दी। हिन्दी के द्वारा करोड़ों व्यक्तियों में आसानी से काम किया जा सकता है। इसलिए उसे उचित स्थान मिलने में जितनी देर हो रही है उतना ही देश का नुकसान हो रहा है।''

(चम्पारन : १८-७-१९१७

(६)

''यदि हम मातृ-भाषा की उन्नति नहीं कर सकें और हमारा सिद्धान्त यह हो कि अंग्रेजी ही के द्वारा हम अपने ऊँचे ख्यालात बना सकेंगे और बढ़ा सकेंगे तो हम हमेशा गुलाम बने रहेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं। जब तक हमारी मादरी जबान में हमारे सब ख्यालात को जाहिर करने की ताकत नहीं आ जाएगी, जब तक हम वैज्ञानिक शास्त्र मातृ-भाषा में नहीं समझा सकेंगे, तब तक कौम को नये ज्ञान की प्राप्ति नामुमकिन है।''

(भागलपुर : १५-१०-१९१७)

(७)

''अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा में कम-से-कम सोलह वर्ष लगते हैं। यदि इन्हीं विषयों की शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम से दी जाय, तो ज्यादा-से-ज्यादा दस वर्ष लगेंगे। यह राय बहुत से अनुभवी शिक्षकों ने प्रकट की है। हजारों विद्यार्थियों के छः-छः वर्ष बचने का अर्थ यह होता है कि कई हजार वर्ष जनता को मिल गये।''

(द्वितीय गुजरात शिक्षा सम्मेलन, १९१७ में दिया गया भाषण)

(८)

''संस्कृत हमारी भाषा के लिए गंगा नदी है। मुझे लगता है कि वह सूख जाए तो भाषाएँ निर्माल्य बन जाएँगी। मुझे यह महसूस होता है कि उसका साधारण ज्ञान आवश्यक है।''

(३-५-३५)

(९)

"हमारा जीवन अपने इन किसानों और मजदूरों के ऊपर निर्भर करता है और हमारी संस्कृति भी इस चीज को स्वीकार करती है। इन किसानों और मजदूरों की भाषा–ऐसी भाषा जिसे वे सहज ही समझ सकें–हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही है। वही हमारी राष्ट्र-भाषा हो सकती है।"

(३-५-३५)

(१०)

"जिस तरह हमारी आजादी को जबर्दस्ती छीननेवाले अंग्रेजों की सियासी हुकूमत को हमने सफलतापूर्वक इस देश से निकाल दिया, उसी तरह हमारी संस्कृति को दबानेवाली अंग्रेजी जवान को भी हमें यहाँ से निकाल बाहर करना चाहिये। हाँ, व्यापार और राजनीति में अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के नाते अंग्रेजी का अपना स्वाभाविक स्थान हमेशा कायम रहेगा।"

(२१-९-४७)

(११)

"हर एक पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा का, हिन्दू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को पार्शियन का और सबको हिन्दी का ज्ञान होना चाहिये। कुछ हिन्दुओं को अरबी और कुछ मुसलमानों को और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिये। उत्तर और पश्चिम में रहनेवाले हिन्दुस्तानी को तमिल सीखनी चाहिये। सारे हिन्दुस्तान के लिए तो हिन्दी ही होनी चाहिए।...हिन्दू-मुसलमान के विचारों को ठीक रखने के लिए वहुतेरे हिन्दुस्तानियों को दोनों लिपियाँ (उर्दू और नागरी लिपि) जानना जरूरी है। ऐसा होने पर हम अपने आपस के व्यवहार से अंग्रेजी को बाहर कर सकेंगे।"

('हिन्द स्वराज्य' १९०९)

(१२)

"अंग्रेजी राष्ट्रीय-भाषा नहीं बन सकती, क्योंकि राष्ट्रीय-भाषा होने के लिए ५ लक्षणों का होना अनिवार्य है और वे अंग्रेजी में नहीं हैं :

(१) अमलदारों के लिए वह भाषा सरल होनी चाहिये।

(२) उस भाषा के द्वारा भारतवर्ष का आपसी, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार हो सकना चाहिये।

(३) यह जरूरी है कि भारतवर्ष के बहुत से लोग उस भाषा को बोलते हों।

(४) राष्ट्र के लिए वह भाषा आसान होनी चाहिये।

(५) उस भाषा का विचार करते समय किसी क्षणिक या अल्पस्थायी स्थिति पर जोर नहीं देना चाहिये। हिन्दी भाषा में ये सब लक्षण हैं।"

(भड़ोंच, गुजरात-शिक्षा-परिषद, १९१७)

(१३)

"मुझे अंग्रेजी भाषा से नफरत नहीं है। अटूट भाण्डारमयी यह भाषा है। ज्ञान-द्रव्य से भरी हुई है। तथापि मेरा मन्तव्य यह है कि सभी हिन्दुस्तानियों को यह भाषा सीखने की जरूरत नहीं है।"

(बारहवाँ बिहारी छात्र-सम्मेलन, १५-१०-१७)

(१४)

"अंग्रेजी शिक्षा पानेवालों के ज्ञान का लाभ प्रजा को वहुत ही कम मिलता है, और अंग्रेजी शिक्षित वर्ग और आप लोगों के बीच बड़ा दर्याव आ पड़ा है। इस भाषा को उसका (विज्ञान आदि के अध्ययन के सम्वन्ध में) उचित स्थान देना एक बात है, उसकी जड़-पूजा करनी दूसरी बात है।"

(अ० भा० हिन्दी सा० स० इन्दौर, २८-३-१९१८)

(१५)

"द्राविड़ों और अन्य भारतीयों के बीच लगभग न पटनेवाली खाई पड़ गयी है। निश्चय ही हिन्दी भाषा इसे पाटनेवाला छोटे-से-छोटा और कारगर सेतु है। अंग्रेजी कभी उसका स्थान नहीं ले सकती। जब सुसंस्कृत लोगों की साधारण भाषा हिन्दी हो जाएगी तब शीघ्र ही हिन्दी का शब्द-भाण्डार आम जनता में भी फैल जाएगा।"

(हनुमन्तराव को लिखे गये पत्र का अंश, २५-५-१८)

(१६)

"मुझे पूर्ण विश्वास है कि अन्य कई क्षेत्रों की तरह हिन्दी को एक सामान्य माध्यम बनाने तथा इस प्रकार अंग्रेजी प्रयोग में लगनेवाली मानसिक शक्ति की हानि से देश को बचाने के क्षेत्र में भी दक्षिण ही हमारी अगुआई करेगा।"

(नडियाड, १०-४-१८)

(१७)

"हमारी वहुत सी देशी भाषाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती हैं, और इसलिए सब प्रान्तों के लिए राष्ट्र-भाषा के नाते हिन्दी अनुकूल है।"

('यंग इंडिया' २१-५-१९२०)

(१८)

"अंग्रेजी जानने से उन थोड़े लोगों के साथ ही विचार-विनियम के द्वार खुलते हैं। इसके विपरीत हिन्दुस्तानी का कामचलाऊ ज्ञान अपने देश के बहुत ही ज्यादा भाई-बहनों के साथ बातचीत करने की शक्ति प्रदान करता है।"

('यंग इंडिया', २-२-१९२१)

(१९)

"देशी भाषाओं को अपनी जगह से हटाकर अंग्रेजी को बैठाने की प्रक्रिया अंग्रेजों के साथ हमारे सम्बन्ध का एक सबसे दुखद प्रकरण है।"

('यंग इंडिया', २७-४-२१)

(२०)

"हिन्दुस्तानी के सिवा दूसरी भाषा राष्ट्र-भाषा नहीं हो सकती, इसमें कुछ भी शक नहीं। जिस भाषा को करोड़ों हिन्दू-मुसलमान बोल सकते हैं वही अखिल भारतवर्ष की सामान्य भाषा हो सकती है।"

('हिन्दी-नवजीवन', १९-८-२१)

(२१)

"जहाँ तक हो सके, कांग्रेस में हिन्दी-उर्दू का इस्तेमाल किया जाए, यह एक महत्त्व का प्रस्ताव माना जाएगा। अगर कांग्रेस के सभी सदस्य इस प्रस्ताव को मानकर चलें, इस पर अमल करें, तो कांग्रेस के काम में गरीबों की दिलचस्पी बढ़ जाय।"

(२२)

(नवजीवन, ३-१-२६)

"मैं अंग्रेजी से नफरत नहीं करता। पर मैं हिन्दी से अधिक प्रेम करता हूँ, इसलिए मैं हिन्दुस्तान के शिक्षितों से कहता हूँ कि वे हिन्दी को अपनी भाषा बना लें।"

(हिन्दी नवजीवन, १५-१२-२७)

(२३)

"भारत की तमाम भाषाओं के लिए एक ही लिपि का होना फायदेमन्द है, और वह लिपि देवनागरी ही हो सकती है। . . .हमें एक ऐसी सर्व-सामान्य लिपि की जरूरत है, जो जल्दी-से-जल्दी सीखी जा सके। और, देवनागरी के समान सरल, जल्दी सीखने योग्य और तैयार लिपि दूसरी कोई है ही नहीं।"

(हिन्दी नवजीवन, २१-७-२७)

(२४)

"मैं हिन्दी के जरिये प्रान्तीय भाषाओं को दबाना नहीं चाहता, किन्तु उनके साथ हिन्दी को भी मिला देना चाहता हूँ, जिससे एक प्रान्त दूसरे के साथ अपना सजीव सम्बन्ध जोड़ सके। इससे प्रान्तीय भाषाओं के साथ हिन्दी की भी श्री-वृद्धि होगी।"

(नवजीवन, २३-८-२८)

(२५)

"देशवासियों के इस संघ में जब आपको देशवालों के साथ ही काम-काज करना है, और मौजूदा वातावरण अपना असर आप पर डाल रहा है, तब आपका धर्म है कि आप अपना काम-काज राष्ट्र-भाषा में करें।"

(नवजीवन, १२-४-३१)

(२६)

"हिन्दी-भाषी लोगों को दक्षिण की भाषा सीखने की जितनी जरूरत है, उसकी अपेक्षा दक्षिणवालों को हिन्दी सीखने की आवश्यकता ही अधिक है। सारे हिन्दुस्तान में हिन्दी बोलने

और समझनेवालों की संख्या, दक्षिण की भाषा बोलनेवालों से दुगुनी है।... एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त से सम्बन्ध जोड़ने की भाषा तो हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।"

(नवजीवन, २१-६-३१)

(२७)

"अगर हिन्दुस्तान को सचमुच एक राष्ट्र बनाना है, तो चाहे कोई माने या न माने राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही बन सकती है; क्योंकि जो स्थान हिन्दी को प्राप्त है, वह किसी दूसरी भाषा को कभी नहीं मिल सकता।...हम किसी भी हालत में प्रान्तीय भाषाओं को मिटाना नहीं चाहते। हमारा मतलब तो सिर्फ यह है कि विभिन्न प्रान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए हम हिन्दी भाषा सीखें।"

(सम्मेलन, ८ वाँ महाधिवेशन इन्दौर, २०-४-३५)

(२८)

"वह भाषा भी हिन्दी ही है, जो लिखी तो उर्दू लिपि में जाती है, पर जिसे मुसलमान और हिन्दू दोनों ही समझ लेते हैं।"

(हरिजन सेवक, १०-५-३५)

(२९)

"हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू एक ही भाषा के मुख्तलिफ़ नाम हैं। हमारा मतलब आज एक नई भाषा बनाने का नहीं है, बल्कि जिस भाषा को हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू कहते हैं, उसे अन्तर्प्रान्तीय भाषा बनाने का हमारा उद्देश्य है।"

(हरिजन सेवक, २३-५-३६)

(३०)

"अंग्रेजी से मुझे नफरत नहीं। थोड़े पण्डितों के लिए अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है; अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए और पश्चिमी विज्ञान के ज्ञान के लिए उसकी जरूरत है। लेकिन जब उसे वह स्थान दिया जाता है, जिसके योग्य वह है ही नहीं, तो मुझे दुःख होता है।"

(हरिजन बन्धु, ५-७-३६)

(३१)

"हमारी सामान्य लिपि देवनागरी ही हो सकती है, और कोई नहीं। उर्दू को उसका प्रतिस्पर्द्धी बताया जाता है, लेकिन मैं समझता हूँ कि उर्दू या रोमन किसी में भी वैसी सम्पूर्णता और ध्वन्यात्मक शक्ति नहीं है, जैसी देवनागरी में है।"

(हरिजन सेवक, ३-४-३७)

(३२)

'हिन्दी' शब्द हिन्दुओं का गढ़ा हुआ नहीं है। यह तो इस मुल्क में मुसलमानों के आने के बाद उस भाषा को बतलाने के लिए बनाया गया था, जिसे उत्तर में हिन्दू बोलते और लिखते-पढ़ते थे।"

(हरिजन सेवक, १०-४-३७)

(३३)

"किसी प्रान्त या जिले अथवा जनता पर एक भाषा या हिन्दी के एक रूप को लादने का जतन करना देश के सर्वोत्तम हित की दृष्टि से घातक है।"

(हरिजन सेवक, ३-७-३७)

(३४)

"रोमन लिपि न तो हिन्दुस्तान की सामान्य लिपि हो सकती है, और न होनी चाहिये। यह तो हमारी फारसी और देवनागरी के बीच ही हो सकती है। और इसके अपने मौलिक गुणों को अलग रख दें, तो भी देवनागरी ही सारे हिन्दुस्तान की सामान्य लिपि होनी चाहिये।"

(हरिजन सेवक, ३-७-३७)

(३५)

"प्रान्तीय भाषाओं से समृद्ध, एक उन्नतिशील राष्ट्र की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इस हिन्दुस्तानी को अनेक पर्यायवाची मुहैया करने पड़ेंगे। बंगाल या दक्षिण के श्रोताओं के सामने जो हिन्दुस्तानी बोली जाएगी, उसमें स्वभावतः संस्कृत से उत्पन्न शब्दों का प्राचुर्य होगा। वही भाषण जब पंजाब में किया जायगा, तो उसमें अरबी-फारसी से पैदा हुए शब्दों की काफी मिलावट होगी।"

(हरिजन सेवक)

(३६)

"मैं सभी भारतीय भाषाओं का प्रेमी हूँ। यथासम्भव अधिक-से-अधिक लिपियों को सीखने की मैंने कोशिश भी की है।...जहाँ तक देवनागरी का सवाल है, सौन्दर्य या सजावट की दृष्टि से लज्जित होने जैसी कोई बात उसमें नहीं है। अगर देवनागरी लिपि को ग्रहण कर लिया जाए, तो निश्चय ही भावी सन्तति के परिश्रम और समय की बचत करके उनसे दुआएं पायी जा सकेंगी।"

(हरिजन सेवक, ५-८-३९)

(३७)

"मेरी राय में अंग्रेजी एक खुली खिड़की है, जिसकी राह हम पश्चिमवालों के विचारों और वैज्ञानिक कार्यों से परिचित रह सकते हैं। यह काम भी मैं कुछ चुनिन्दा लोगों को ही सौंपना चाहता हूँ,और उनके जरिये यूरोप के ज्ञान का प्रचार देश में देशी भाषाओं द्वारा करना चाहता हूँ।"

(हरिजन सेवक, १-२-४२)

(३८)

"बहुतेरी प्रान्तीय भाषाएँ संस्कृत से निकट सम्बन्ध रखती हैं, और यह भी सच है कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों के मुसलमान अपने-अपने प्रान्त की ही भाषाएँ बोलते हैं। इसलिए यह ठीक है ही कि उनके लिए देवनागरी लिपि और हिन्दी आसान रहेगी।"

(हरिजन सेवक, २६-४-४२)

(३९)

"राष्ट्र-भाषा की मेरी कामना में महान् प्रान्तीय भाषाओं को उनके स्थान से भ्रष्ट करने का समावेश नहीं होता, बल्कि उसके अनुसार तो मातृ-भाषा का ज्ञान प्रान्तीय भाषा के ज्ञान के उपरान्त प्राप्त करने की बात है।"

(हरिजन सेवक, १७-५-४२)

(४०)

"मेरी अपनी राय तो यह है कि जो भी कोई लड़का या लड़की हिन्दुस्तान की भाषाएँ न जाने, मानना चाहिये कि उसके संस्कार और शिक्षण में कमी रही है।"

(हरिजन सेवक, १७–५–४२)

(४१)

"हिन्दुस्तानी वह भाषा है, जिसे उत्तर हिन्दुस्तान के शहरों और गाँवों में हिन्दू, मुसलमान आदि सब लोग बोलते हैं, समझते है और अपने कारोबार में बरतते हैं, और जिसे नागरी और फारसी दोनों लिखावटों में लिखा पढ़ा जाता है और जिसके साहित्यिक रूप आज हिन्दी और उर्दू नाम से पहचाने जाते हैं।"

(हरिजन सेवक, ९–८–४२)

(४२)

"हिन्दी और उर्दू एक ही राष्ट्र-भाषा की दो साहित्यिक शैलियों को एक-दूसरी के नजदीक लाना जरूरी है।"

(सेवाग्राम, २७-११-४४)

(४३)

"अगर हिन्दी और उर्दू मिल जाएँ, तो गंगा-यमुना से बड़ी सरस्वती हुगली की तरह बन जाएगी। हुगली तो गंदी है। मैं इसका पानी नहीं पीता। पर अगर यह हुगली बन गई, तो यह बड़ी खूबसूरत होगी।"

(वर्धा, २७-२-४५)

(४४)

"लोग जिसे अपनावेंगे, वही उनकी भाषा बन सकती है। अगरचे अंग्रेजी तेजस्वी भाषा है, तो भी वह राष्ट्र-भाषा तो बन ही नहीं सकती। अगर अंग्रेजों का राज्य जब तक सूरज और चाँद है तब तक रहने वाला है, तो वह उनके अमलों की भाषा जरूर होगी, लेकिन आम जनता की कभी नहीं।"

(हरिजन सेवक, १०-२–४६)

(४५)

"नये विचारों को समझने की मेरी पूरी तैयारी के रहते भी नागरी और उर्दू लिपि के बजाय रोमन वर्णमाला फैलाने के लिए लोगों को उकसाने का क्या खास कारण हो

सकता है, सो मैं नहीं समझ पाया हूँ।...नागरी या उर्दू अक्षरों को सीखने में अंग्रेजी अफसरों की सुस्ती ही शायद उर्दू को रोमन में लिखने का कारण हो।"

(हरिजन सेवक, २१-४-४६)

(४६)

"मेरी मातृभाषा में कितनी ही खामियाँ क्यों न हों मैं उससे उसी तरह चिपटा रहूँगा जिस तरह अपनी माँ की छाती से। वही मुझे जीवन प्रदान करने वाला दूध दे सकती है।"

(हरिजन सेवक, २५-८-४६)

(४७)

"राष्ट्रभाषा दो नहीं, एक ही हो सकती है। वह संस्कृत से भरी हिन्दी या फ़ारसी से भरी उर्दू नहीं हो सकती। वह तो दोनों के सुन्दरसंगम से ही बन सकती है, और उर्दू या नागरी किसी भी लिपि में लिखी जा सकती है।"

(हरिजन सेवक, १०-८-४७)

(४८)

"हिन्दुस्तानी की खूबी ही यह है कि उसे न संस्कृत से बैर है, न अरबी-फारसी से। हिन्दुस्तानी तो ताकतवर तब बनेगी, जब वह अपनी मिठास को कायम रखकर दुनिया की सब भाषाओं का सहारा लेगी। लेकिन उसका व्याकरण तो हमेशा हिन्दी ही रहेगा।"

(हरिजन सेवक, ९-११-४७)

(४९)

"लिपियों में मैं सबसे आला दरजे की लिपि नागरी को ही मानता हूँ। यह कोई छिपी बात नहीं है। (फिर) नागरी लिपि यदि सम्पूर्ण है—दूसरी लिपियों के मुकाबले में पूर्ण है, तो उसी का साम्राज्य अंत में होगा।"

(हरिजन सेवक, २५-१-४८)

(५०)

"जैसे तमिल आदि सूबाई भाषाएँ हैं और हिन्दुस्तानी राष्ट्र-भाषा, ठीक उसी तरह अंग्रेजी विश्व-भाषा है—जगत् की भाषा है, इससे कौन इन्कार कर सकता है? अंग्रेजों का साम्राज्य जाएगा, क्योंकि यह दूषित था और है; लेकिन अंग्रेजी भाषा का साम्राज्य कभी नहीं जा सकता।"

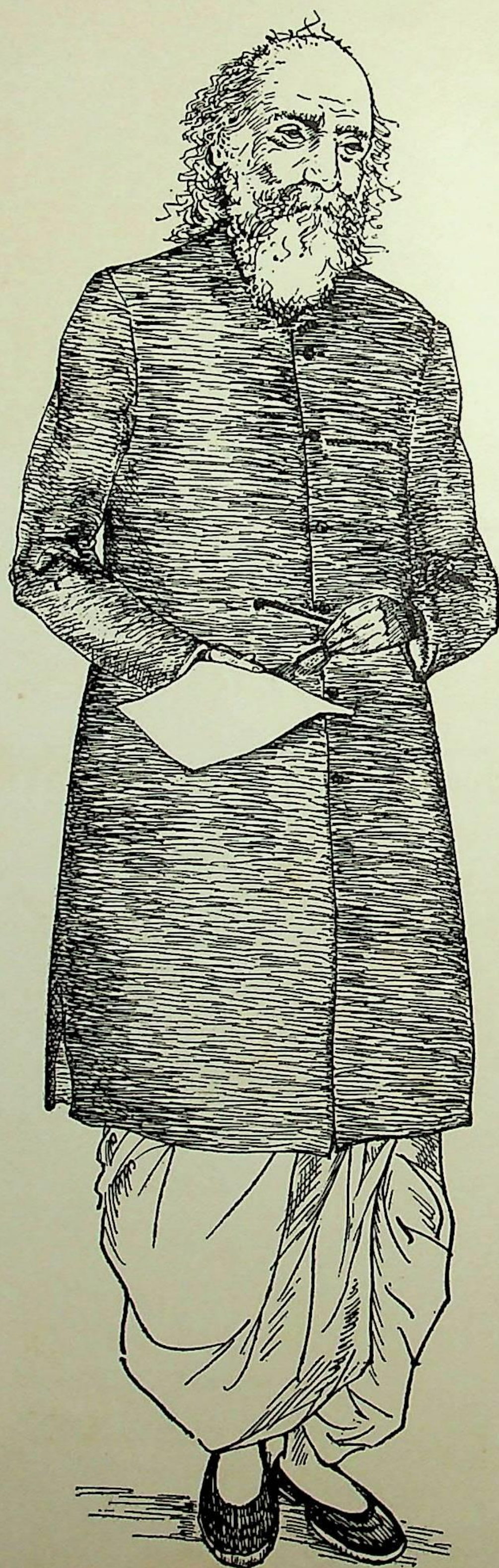
(हरिजन सेवक, २५-१-४८)

(५१)

"हिन्दुस्तानी के बारे में मेरा पक्षपात है सही। मैं मानता हूँ कि नागरी और उर्दू लिपि के बीच अन्त में जीत नागरी लिपि की ही होगी। इसी तरह लिपि का खयाल छोड़कर भाषा का खयाल करें, तो जीत हिन्दुस्तानी की ही होगी।"

(हरिजन सेवक, २५-१-४८)

राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन



जन्म : १ अगस्त १८८२

निधन : १ जुलाई १९६२

राजर्षि टण्डनजी : राष्ट्रभाषा हिन्दी

व्यक्तित्व, कृतित्व और जीवन-संस्मरण

(द्वितीय खण्ड)

मान्नीया श्रीमती मदालसा नारायण

श्रद्धांजलि



हिन्दी साहित्य सम्मेलन के निकट स्थापित राजर्षि टंडन जी की पूर्णाकार कांस्य-प्रतिमा, जिसका अनावरण-समारोह गत २० दिसम्बर सन् १९६८ ई० को आचार्य विनोबा के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुआ था। प्रस्तुत कविता उसी पावन स्मृति-दिवस के उपलक्ष में लिखी गई है।

आज सजा शुभ साज,
प्रयागराज की महिमा !
स्मरण हुआ पावन दर्शन
चिन्तन गुण-गरिमा !
प्रकट हुआ राजर्षि रूप
पुरुषोत्तम पावन !
सेवक दास बने अब सेव्य
सदा प्रेरक सब जन !
गुणमय रत्नाकर
प्रशान्त सागर लहराया,
ऋषि-प्रतिमा के अनावरण
का अवसर आया !
हिन्द हमारा देश-वतन है
हिन्दी फल-फुलवारी,
सन्तों ने अपनाया है यह
सबकी बोली प्यारी !
सत्य-प्रेम करुणास्वरूप
श्री सन्त विनोबा !
स्वयं पधारे संवर्धित
नगरी की शोभा !
दर्शनराज-ऋषि-प्रतिमाका
ब्रह्म-ऋषि के द्वारा,
यहां हो रहा आज संगठित
सकल समाज हमारा !
जनसमाज में आज
नया उत्साह समाया,
गांधी-स्मृति अन्तर्गत
धन्य दिवस यह आया !
श्रद्धांजलि अर्पण करने का
अवसर आज मिला है,
बालक,युवक सभी शामिल
ये स्वजनों का मेला है !

महामहिम श्री श्रीमन्नारायण

राजर्षि टण्डनजी और राष्ट्रभाषा

जब मैं राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा का पाँच वर्ष तक प्रधानमंत्री था, उस समय श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास जी टण्डन से काफी नज़दीक का सम्बन्ध आया और उनके व्यक्तित्व के कई उज्ज्वल गुण देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। वे कई बार पूज्य गांधी जी से मिलने के लिए वर्धा पधारे थे। उनकी उत्कट इच्छा थी कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार सभी अहिन्दी प्रान्तों में तेज़ी से हो, ताकि सारे राष्ट्र को एक प्रेम-सूत्र में बाँधा जा सके।

कुछ वर्ष बाद हिन्दी और हिन्दुस्तानी सम्बन्धी मतभेद के कारण पूज्य बापू जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन से त्यागपत्र दे दिया। जब सन् १९४२ में हिन्दुस्तानी-प्रचार सभाकी स्थापना वर्धा में हुई तब गांधी जी ने मुझे ही उसका प्रधानमंत्री नियुक्त किया। ऐसी अवस्था में मुझे वर्धा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रधानमंत्री पद से हटना पड़ा। फिर भी मैं राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के कार्य में सदा दिलचस्पी लेता रहा और मेरा यह निरन्तर प्रयत्न रहा कि हिन्दी और हिन्दुस्तानी मतभद के कारण राष्ट्रभाषा-प्रचार की गति धीमी न पड़े।

यद्यपि राजर्षि टंडन जी की मातृभाषा हिन्दी थी, फिर भी मैंने हमेशा पाया कि राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति उनका प्रेम राष्ट्रीयता से ओतप्रोत था। उसमें संकुचित दृष्टि नहीं थी। श्रद्धेय टण्डन जी दिन-रात इसी का चिन्तन करते थे कि किस तरह सारे देश को राष्ट्रभाषा-प्रचार द्वारा एकता के धागे में बाँधा जा सके। पूज्य टण्डन जी स्वयं फारसी और उर्दू के अच्छे विद्वान् थे। उनके मन में देश की प्रादेशिक भाषाओं के प्रति भी गहरा आदर था। लेकिन उनका दृढ़ मत था कि भारत की राष्ट्रभाषा अंग्रेजी नहीं किन्तु एक स्वदेशी भाषा ही बन सकती है और वह हिन्दी ही हो सकती है। राष्ट्रभाषा हिन्दी संस्कृतनिष्ठ ही हो ऐसा उनका आग्रह नहीं था। हां, क्योंकि विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में संस्कृत का प्राचुर्य है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि राष्ट्रभाषा में अधिकतर संस्कृत के ही शब्द हों ताकि वह सारे देश में आसानी से समझी जा सके। किन्तु उर्दू-शब्दावली से टंडन जी को कोई विद्वेष नहीं था और उनकी दृष्टि शुद्ध राष्ट्रीयता से भरी थी।

कभी-कभी टीका की जाती है कि श्रद्धेय टण्डन जी में हिन्दू साम्प्रदायिकता का आभास था। लेकिन जहां तक मैं समझ सका यह धारण नितान्त भ्रामक है। जब उन्होंने पाकिस्तान के निर्माण का भी तीव्र विरोध किया तब भी उनकी दृष्टि राष्ट्रीय ही थी और वे समझते थे कि देश के दो टुकड़े होने से हिन्दू और मुससमान दोनों को ही भयंकर कष्ट सहने पड़ेंगे।

मुझे यह जानकर खुशी हुई कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा गांधी-शताब्दी के अवसर पर एक विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है। मैं आशा करता हूं कि इस विशेषांक द्वारा, महात्मा गांधी और राजर्षि टण्डन ने राष्ट्रभाषा हिन्दी की जो बहुत वर्षों तक भगीरथ-सेवा की, उस पर समुचित प्रकाश डाला जा सकेगा।

डाक्टर रामकुमार वर्मा

पूज्य बाबू जी

[१]

वाणी और विराट् व्यक्तित्व से जिन्होने राष्ट्रीयता के क्रोड़ में हिन्दी को अंकुरित किया वे हमारे पूज्य बाबू जी थे। अखिल भारतीय संस्था के रूप में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रतिष्ठा उनके जीवन की संचित साधना थी और उन्होंने उस साधना को राजनीति के क्षेत्र में भी क्रियाशील किया। उनके जीवन का उपसंहार इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने हिन्दी के लिये अपनी राजनीतिक प्रतिष्ठा को भी नगण्य समझा और सदैव इस बात की घोषणा की कि भारती (हिन्दी) के बिना भारत की स्थिति अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चिन्त्य है। भाषा और साहित्य के प्रति उनकी दृष्टि सांस्कृतिक ही थी और वे बिना राष्ट्रभाषा के राष्ट्र की कल्पना भी नहीं करना चाहते थे। उनके सांस्कृतिक 'महायान' में राजनीति 'हीनयान' ही बन कर रह गई थी। भारत के 'पुरुषोत्तम' को 'भाषोत्तम' की भावना अनिवार्य थी। ऐसा अनुभव होता था कि उनकी वाणी में सत्य का सहज साक्षात्कार है।

[२]

मैं बीमार पड़ा हूँ। सम्मेलन की परीक्षा-समिति की बैठक में अनुपस्थित हूँ। परीक्षा-मन्त्री कभी बीमार हो तो परीक्षा-समिति की बैठक कैसे हो ? बाबू जी को सूचना मिलती है। वे परीक्षा समिति में स्वयं जाते हैं और अनौपचारिक ढंग से सभी महत्वपूर्ण विषयों का निर्णय कर देते हैं। सम्मेलन के प्रत्येक कार्यकर्त्ता का उत्तरदायित्व सम्हालना बाबूजी का सहज स्वभाव था। बैठक के उपरान्त वे सीधे मेरे घर चले आते हैं। साथ में सम्मेलन के सभापति पंडित माखनलाल चतुर्वेदी जी भी हैं। उनका स्वागत करने के लिये घर के बाहर कोई नहीं है। नौकर दवा लेने के लिये बाजार चला गया है। मैं बिस्तर पर पड़ा हूँ और मेरी पत्नी मेरा पथ्य तैयार करने के लिये रसोईघर में है। बाहर है, मेरा कुत्ता जो निरंतर भौंक रहा है। वह क्या समझे कि मकान के फाटक के पास इस देश के दो महापुरुष खड़े हैं। बाबूजी कुत्ते को पुचकारते हैं। हाथ से बुलाते हैं, कभी डाँटते भी हैं और अपनी छड़ी भी दिखलाते हैं। किन्तु छड़ी देखकर कुत्ता और भी ज़ोर से भौंकने लगता है। वे मेरा नाम लेकर ज़ोर से पुकारते भी हैं किन्तु घर से कौन उत्तर दे ? बहुत परेशान होकर वे लौट जाने को तैयार होते हैं। तभी पत्नी कुत्ते का भौंकना सुन कर बाहर आती हैं। वे बाबूजी को पहचानती हैं। उन्हें बड़ी लज्जा लगती है कि कुत्ता बाबूजी को अन्दर नहीं आने देता। वे कुत्ते को खाने का लालच देकर अन्दर बुला लेती हैं और बाबूजी चतुर्वेदी जी

के साथ भीतर आते हैं। बाबूजी का 'मूड' खराब है। पत्नी उनसे क्षमा माँग कर उन्हें भीतर लाती हैं। वे बैठने के पहले ही खीझ भरे स्वर में कहते हैं—'साहित्यिकों को कुत्ते नहीं पालना चाहिये।'

माखनलालजी मुस्कुराकर कहते हैं—'ठीक है, क्योंकि साहित्यिक स्वयं भौंकना सीख गये हैं। उन्हें कुत्तों की क्या आवश्यकता।?'

[३]

बाबूजी बीमार पड़े हैं। उनका तेजोमय मुख-मंडल मलीन हो गया है। दुर्बलता इतनी अधिक है कि डॉक्टरों ने उन्हें बोलना मना कर दिया है। वे लिख कर प्रश्नों के उत्तर देते हैं। उत्तर लिखते समय वे मुस्कुरा भी देते हैं। अब भी उनका साहस उन्हें संजीवनी दे रहा है। दर्शन और भेंट करनेवालों की भीड़ बाहर बरामदे में है,—

मैंने कागज़ पर लिखा—आपको प्रणाम करता हूँ। अब स्वास्थ्य कैसा है?

वे लिखते हैं—'ज्वर विशेष नहीं है। दो-चार बार बढ़ गया है। इधर तीन दिन से नहीं है! यक्ष्मा मेरा रोग समझा गया है, इस बुढ़ापे में।' इतना लिखकर डॉक्टरों के प्रति एक व्यंग भरी हँसी हँसते हैं, फिर लिखते हैं—'तुम्हारी उम्र कितनी है?' मैंने लिखा—'तिरपन वर्ष, मेरा जन्म सन् १९०५ में हुआ।'

फिर लिखते हैं'—स्वास्थ्य तो अच्छा है,' मैंने लिखा'—मैं तो बाबूजी आप जैसी स्वास्थ्य-सम्पत्ति कहाँ अर्जित कर सका। शायद १०० वर्ष तक भी जीता हुआ अस्वस्थ रहूँ, बाबूजी लिखते हैं, आप दिन-दिन उन्नति करें और हिन्दी को अपनी ऊँची कृतियों से अधिक मान्य और पुष्ट बनायें, यह मेरी अभिलाषा है। मेरी शुभकामना सदा आपके साथ है।'

मैंने प्रणाम किया और लिखा—'आपकी यही कामना मुझे निरन्तर बल देती रहेगी।' उन्होंने फिर लिखा—'रुपया तो आपने काफ़ी कमाया होगा।'

मैंने उत्तर में लिखा—'बाबूजी! सब खर्च हो गया।' उन्होंने लिखा—'मुझे अब रुपया भार लग रहा है, जो थोड़ा सा मेरे पास बचा है, उसी को निकालना चाहता हूँ।'

मैंने लिखा—'आपका एक फोटो चाहता हूँ।'

उन्होंने उत्तर लिखा—'फ़ोटो मेरे पास होना निश्चय नहीं। शायद 'पासपोर्ट' साइज़ की कोई प्रति हो। यह संसद के लिये मँगवाई गई थी। वह मेरा आइडेण्टिटी कार्ड (Identity Card) है।' 'आइडेण्टिटी कार्ड' पर काफ़ी हँसी हुई।

थोड़ी देर बाद मैं प्रणाम कर चला आया। उनका लिखा हुआ प्रश्नोत्तरों का कागज़ मैं अपने साथ ले आया। उनके हस्ताक्षरों का काग़ज़ मेरी अमूल्य निधि है।

बाबूजी का वात्सल्य प्राप्त होने के कारण मैं उनके अनेक संस्मरणों को अपने हृदय में सुरक्षित किये उन्हें बार-बार स्मरण करता हूँ।

आज वे नहीं हैं। इन्हीं संस्मरणों की पुष्पाञ्जलि से मैं उनकी पुण्यस्मृति को प्रणाम करता हूँ। उनकी एक-एक स्मृति दीपावली का एक-एक आलोकपूर्ण दीप है।

श्री गोपाल शास्त्री, दर्शनकेसरी

राजर्षिचरितम् (संक्षिप्तम्)

सर्वतः प्रथमं श्रीपुरुषोत्तमस्य राजर्षिटण्डनस्य स्मृतिलेखावसरे नैषधकाव्यीयं पद्यं स्मृतिपथमायाति––

"वाग्जन्म—वैफल्यमसह्यशूल्यं
गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत् ॥"

अद्भुतगुणशालिनो यथार्थनाम्नः श्रीपुरुषोत्तमदासटण्डनस्य प्रथम-समागमो मे काशीविद्यापीठ-शिक्षापरिषदि अभूत्। ततः प्रभृति-भारतीय-संस्कृति-सम्मेलनकार्य्येण अतीवसान्निध्यं तेन सह समजनि। यतश्च तस्य हिन्दीराष्ट्रभाषा-प्रेम्णा वयं सर्वेऽपि काशीस्था विद्वांसः समकृष्टा अभूम ।

स्वतन्त्रतान्दोलने काश्यां समागतस्य तस्य काशीपण्डितसभाकार्य्यालयेऽपि समुपस्थितिरभूत। तदानीमेव तदानीन्तनाध्यक्षेण श्रीपञ्चाननतर्करत्नमहोदयेन तस्मै स्वहस्तेन लिखिताभिनन्दनपत्रेण सहैव 'भारतरत्नम्' इति विशिष्टोपाधिः' प्रदत्तोऽभूत्। तत्पश्चात् गोरक्षपुर-प्रान्तीय-देवरियामण्डलस्थमहायोगिना देवरहवाबाबामहात्मना 'राजर्षि' रित्युपाधिरुपहृतः।

इत्येवं तस्य देशसमाजसाहित्यसेवया सर्वेऽपि संस्कृतज्ञा मनीषिणोऽपि प्रभाविता आसन्। तस्य संस्कृतभाषाज्ञानेऽपि प्रावीण्यमासीत्। संस्कृतभाषा गाम्भीर्यं तस्य तु वयमेव जानीमः। येषां हि तेन सह बहुकालावधि भारतीय संस्कृतिसम्मेलनप्रसङ्गतः सान्निध्यमासीत्।

स हि नारीणां चरित्रवलस्य सतीत्वस्य संरक्षणार्थमपि बहु प्रयतितवान्। भारतीय-संस्कृतिसम्मेलनाधिवेशनेषु नारीणां शिक्षासम्बन्धे तस्य सर्वथा प्रस्तावा एतादृशा एव भवन्ति स्म। यतो भारतीया वीराङ्गनाः पुनरपि संस्कृतप्रधान-राष्ट्रभाषा-हिन्दी-शिक्षया विभूषिताः स्युः। पूर्वं संस्कृतभाषामधीत्यैव ता अन्याः भाषा अधीयीरन्। हिन्दी-राष्ट्रभाषया सह संस्कृताध्ययनमार्यमहिलानामावश्यकं समुचितं च मन्यते स्म। वर्णाश्रमस्याव्यवस्थामपि स द्रढयितुमिच्छति स्म। बहुदिनावधि तस्य कर्मणा वर्णव्यवस्था पुनः संशोधनीयेति संस्कृतिसम्मेलनेनान्दोलनं चालितमभूत्।

"व्यवस्थितार्य्यमर्य्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो देशः प्रसीदति न सीदति।"

इति चाणक्य-राजनीतौ तस्य दृढो विश्वास आसीत् । स हि "आश्रमादाश्रमं गच्छेत्" इत्यस्यैव समर्थकोऽभूत्। न हि स बाल्यकालात् संन्यासग्रहण समर्थकोऽभूत । स हि राजर्षिः राजनीत्या सह भारतीयसमाजनीतेरपि मर्मज्ञ आसीत्। तस्यैव प्रेरणया मया 'भारतीय संस्कृतिः' इत्यभिधानं पुस्तकं लिखितमस्ति। यच्चाधुनापि सम्मेलन-परीक्षायां पाठ्यमस्ति। तत्र मया संक्षेपतो राजर्षिटण्डनस्य विशिष्टगुणाः प्रत्यक्षतो वीक्ष्य निरूपिताः सन्ति। तानेवेहान्ते संस्मृत्य लेखमिमं संक्षिपामि।

'भारतरत्न !' राजर्षे ! विद्यापीठ-प्रसंगतः ।
शिवप्रसादाद् भवता सहासीन्मे समागमः ॥१॥
स्वतन्त्रे भारते जाते प्रयागे कुम्भपर्वणि ।
सम्मेलननिमित्तेन भारतीयार्य-संस्कृतेः ॥२॥
आवयोरतिसान्निध्याद्गुणास्ते स्फुटतामगुः ।
महापुरुषतोदारहृद्यता दीर्घदृष्टिता ॥३॥
सदाचारेऽद्भुतं धैर्य्यं लोक-शास्त्रोभयज्ञता ।
समाजराष्ट्रसाहित्य-धर्म-कर्तव्यसेविता ॥४॥
राष्ट्रभाषा-प्रचारेहा देशकालात्मवेदिता ।
भारतीयसमाजस्य पुनर्व्यूहन कामिता ॥५॥
भारते 'भारती'-नाम्न्या भाषायाः स्थापनेषिता ।
राष्ट्रभाषापदे तस्याः प्रतिष्ठापनकारिता ॥६॥
इत्यादिसद्गुणैर्दिव्यैः प्रेरितेन मयाधुना ।
उपाहृतेयं भवतां पुस्तिका पाणिपद्मयोः' इत्यादि ।

वस्तुतो राजर्षिटण्डनस्यैवाध्यवसायफले यत्-सम्प्रति भारते राष्ट्रभाषा हिन्दीभाषा विद्यते। अङ्कानामपि हिन्दीकरणार्थं तस्यान्दोलनमासीत्। स नेच्छति स्म यद् अंग्रेजीभाषाङ्काः तत्र प्रयुक्ताः स्युरिति। तस्य हिन्दीभाषाप्रचाराय पृथक् मन्त्रिमण्डलसंस्थापनस्यापि प्रस्तावा अभवन्। सम्प्रति तु सर्वथा पश्चिमामुखे केन्द्रमन्त्रिमण्डले कः शृणोति सूक्ष्मप्रेरणामिमाम् अस्तु राजार्षेः सूक्ष्मेक्षिका यदि सफलिता स्यात्तर्हि भारतस्य विभाजनमेव न स्यात्। स एवैको भारतविभाजनविरोधी आसीत्। महात्मागान्धी अपि पूर्वं तत्समर्थको भूत्वापि पश्चात् कार्य्यकारिणी सदस्यानां बहुमतं वीक्ष्योदासीनोऽभवत्। इति कियन्त एव जानन्ति। इत्थं हि सूक्ष्मविवेचकः सोऽभूदिति वयमेव जानीमः।

किं बहुना भारतीयनेतृषु चतुरस्रविचारदक्षतायां लोकमान्यबालगङ्गाधरतिलक-महामुनि मालवीय-राजर्षि-टण्डन-प्रभृतय एव द्वित्रा नेतारो गणिता भविष्यन्ति। येषां विशालदृष्ट्या भारतदेशो हि सर्वस्मिन्नपि धर्म-समाजशिक्षा-राजनीति-साहित्यादिविषये स्वाभ्युदयं कुर्वन् वर्द्धिष्यते। इत्यलम् मर्मज्ञानां पुरतो विस्तरविवेचनयेति विरम्यते मया।

पंडित मौलिचन्द्र शर्मा

आदर्श जीवन

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन केवल एक व्यक्ति नहीं थे, वे एक संस्था थे। सभी हिन्दी-प्रेमी उन्हें "सम्मेलन के प्राण" जो कहा करते थे वह केवल औपचारिकता नहीं थी, वे सचमुच सम्मेलन के ही नहीं हिन्दी-आन्दोलन मात्र के प्राण थे।

हिन्दी को वे भारत की राष्ट्रीयता की आधार-शिला मानते थे। उनकी दृष्टि में हिन्दी की अभिवृद्धि और प्रचार केवल एक साहित्यिक कार्य नहीं था, यह राष्ट्र-निर्माण की नींव दृढ़ करने का काम था। भारत के संविधान में हिन्दी को जो स्थान प्राप्त है, उसमें उनका विशेष योगदान रहा है। संविधान में राष्ट्रभाषा का स्थान निश्चित हो जाने पर भी इसकी निष्पत्ति जिन कारणों से नहीं हुई, उसके विषय में टण्डन जी बहुत चिन्तित रहा करते थे। उन्हें लगता था कि जिन लोगों के हाथ में राजनैतिक सत्ता है वे राष्ट्र-निर्माण की पहली मांग को ही पूरा नहीं करा पाए हैं, ऐसी दशा में देश की एकता और एकात्मता को संकट बना रहेगा।

टण्डन जी भारतीय संस्कृति के निष्ठावान् पुजारी थे। उसके उद्धार और प्रचार के लिये उन्होंने भारतीय संस्कृति सम्मेलन आयोजित किये और पाश्चात्य प्रभाव से देश के जन-मानस को बचाने के लिये वे आजीवन प्रयत्न करते रहे। परन्तु इन सम्मेलनों से अधिक उनका जीवन भारतीय संस्कृति का प्रतीक था। उनका जीवन रहन-सहन, खान-पान, क्रिया-कलाप एक जीवन-प्रेरक उपदेश था। भाषा, चाहे वह कितनी ही रससिक्त, भाव और अर्थ-गर्भित और मार्मिक हो, दूसरे के मन पर वैसा गम्भीर प्रभाव अंकित नहीं कर सकती जैसा एक सन्त का आचरण। उनका शरीर तपःपूत था। तितिक्षा और संयम, अपरिग्रह और अहिंसा, लोक-संग्रह और लोक-सेवा उनकी प्रकृति बन चुके थे। इन सबके लिए उन्हें उद्योग करना या अपने मन अथवा शरीर पर बोझ डालना नहीं पड़ता था। यह तो उनका स्वभाव बन गया था।

जसे वे "सम्मेलन के प्राण" थे वैसे ही सम्मेलन भी उनका प्राण था। सम्मेलन की जो दुरवस्था न्यायालयी कार्यवाहियाँ चल जाने के कारण हुई, उससे वे अत्यन्त दुखी थे। जीवन के अन्तिम दिनों में जब वे रोग-शय्या पर पड़े थे, शरीर कृश होकर केवल अस्थि-चर्म का कंकाल रह गया था, तब भी केवल सम्मेलन की ही चिन्ता से वे चिन्तित रहते थे। उन्होंने मुझे दिल्ली से बुलवाया और सम्मेलन का नया ढांचा बनाने को कहा। उनका श्वास खिंचता था और बोलना बहुत कठिन था। कुछ संकेतों से कुछ टूटे-फूटे अस्फुट शब्दों से वे अपना भाव बताते थे। तदनुसार जब मैं कुछ प्रारूप बना कर ले गया तो उन्होंने अवधानपूर्वक सब सुना और सुनकर संकेत से

सहमति और प्रसन्नता प्रकट की। मैं सन्तुष्ट ही नहीं कृतकृत्य होकर लौटा कि उनकी अन्तर्वेदनाओं को सम्भवतः कुछ सान्त्वना मिली होगी। इसके पश्चात् दो-एक दिन में ही उन्होंने यह नश्वर शरीर छोड़ दिया। जब अन्त इतना निकट था, तब उन्हें और कोई चिन्ता, इच्छा या वांछा नहीं थी। केवल हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भविष्य का विचार उनके मन पर छाया हुआ था। हिन्दी का भविष्य, सम्मेलन का भविष्य, उनके प्राणों के साथ बँधा था। किसी भी आदर्श के लिए ऐसी गहन और अनन्य निष्ठा बहुत दुर्लभ होती है।

उनके आशीर्वाद से सम्मेलन का नया रूप बनने जा रहा है। हम हिन्दी-सेवियों का राजर्षि के प्रति यह कर्त्तव्य है कि सम्मेलन को अब फिर हिन्दी-जगत् के वास्तविक प्रतिनिधि का स्थान प्राप्त करा दें और इसके माध्यम से जहाँ एक ओर हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में सहायक हों, वहाँ दूसरी ओर हिन्दी को भारत महा देश की राष्ट्रभाषा के स्थान पर प्रतिष्ठित कराकर इसके द्वारा भारत की राष्ट्रीयता को दृढ़ और सदा के लिये अभेद्य बनाने में और उस राष्ट्रीयता का विकास शुद्ध भारतीय आधारों पर स्थापित करने में सफल हों।

राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन

कविता

कविता सृष्टि का सौन्दर्य है, कविता ही सृष्टि का सुख है, और कविता ही सृष्टि का जीवन-प्राण है। परमाणु में कविता है, विराट् रूप में कविता है, विन्दु में कविता है, सागर में कविता है, रेणु में कविता है, पर्वत में कविता है, वायु और अग्नि में कविता है, जल और थल में कविता है, आकाश में कविता है, प्रकाश में कविता है, अन्धकार में भी कविता है, सूर्य और चन्द्र और तारागण में कविता है, किरण और कौमुदी में कविता है, मनुष्य में कविता है, पशु में कविता है, पक्षी में कविता है, वृक्ष में कविता है, जिधर देखो कविता ही का साम्राज्य है। प्रकृति काव्यमय है, सारा ब्रह्माण्ड एक अद्‌भुत महाकाव्य है। जिस मनुष्य ने इस सारगर्भित रसमयी कविता के आनन्द का स्वाद चखा, वही भाग्यवान् है। जिसने इस सरस्वती-मन्दिर में कुछ शिक्षा ग्रहण की और मनन किया वही पण्डित है। जिसने इस पवित्र प्रवाह में अपने को बहा दिया, वही विरक्त है। जिसने इस अमृत-प्रवाह में डूबकर, दो चार कलश भरकर, प्यासे थके हुए रोगी वा मृतप्राय यात्रियों को कुछ बूँदें पिलाकर उन्हें शक्ति दी और पुनर्जीवित किया, वही कवि है।

ईश्वरीय सौन्दर्य को—प्राकृतिक कविता को भाषा की छटा द्वारा संसार को दरसाना ही कवि का कर्त्तव्य है। जितना गहरा वह अपनी प्रतिभा द्वारा इस सौन्दर्य-सागर में डूबता है, उतना ही अधिक वह अपने कर्त्तव्य में सफल होता है। संसार के पदार्थों और घटनाओं को सभी देखते हैं, परन्तु जिन आँखों से उन्हें कवि देखता है वे निराली ही होती हैं। गँवार के लिए पहाड़ों के भीतर से आती हुई नदी एक नदी मात्र है, कवि के लिए उस श्वेतवस्त्रा शोभायुक्त लाजवती का नाचता हुआ शरीर श्रृंगार की रंगभूमि है। आँख वही, पर चितवन में भेद है। विहारी ने यह तो सच कहा है—

अनियारे दीरघ नयन, किती न तरुनि समान।
वह चितवन कछु और है, जिहि बस होत सुजान।।

किन्तु विहारी ने इस रसीले दोहे में केवल बाहरी आँखों ही के रस का वर्णन किया और वह भी अधूरा। वास्तव में वश करनेवाली आँखों में इतना भेद नहीं होता, जितना वश होनेवाली आँखों में। हीरे की परख जौहरी की आँखें करती हैं, कुब्जा के सौन्दर्य की पहचान रस-प्रवीण कृष्ण ही को होती है, पदार्थ रूपी चित्रों में चितेरे के हाथ की महिमा कवि की ही आँखें पहचानती

हैं, प्राकृतिक दैवी संगीत उसी के कान सुनते हैं। विज्ञानवेत्ता पदार्थों के बाहरी अंगों की छान-बीन करता है, और उनके अवयवों का सम्बन्ध ढूँढ़ता है, नीतिज्ञ उनसे मनुष्य-समाज के लिए परिणाम निकालता है, किन्तु उनके आन्तरिक सौन्दर्य की ओर कवि ही का लक्ष्य रहता है। वैज्ञानिक और नीतिज्ञ भी जैसे-जैसे अपने लक्ष्य की खोज में गहरे डूबते हैं वैसे-वैसे कवि के समीप पहुँचते जाते हैं। सभी विधाओं और शास्त्रों का अन्त और उनकी सफलता कविता में लीन होने में ही है। कवि के सम्बन्ध में कहा है :—

जानाते यन्न चन्द्रार्कौ जानन्ते यन्न योगिनः।
जानीते यन्न भर्गोपि तज्जानाति कविः स्वयम्॥

यह कवि और कविता का आदर्श है, इसी आदर्श की ओर सच्चा कवि जाता है। जितना ही वह उसके समीप पहुँचता है, उतना ही वह प्रभावशाली और उसकी कविता स्थायी होती है। भाषा तो केवल एक पहनावा मात्र है। उसकी कविता वास्तव में संसार के लाभ के लिए होती है, क्योंकि कवि की सृष्टि में सम्पूर्ण प्रजातन्त्र है, समष्टिवाद का शुद्ध व्यवहार है। यहाँ स्वतंत्रता है, स्वच्छन्दता है, अपरिमित सम्पत्ति है। कोई रोकनेवाला नहीं, जितना चाहो उनमें से लेते जाओ, वह घटती नहीं। तुममें केवल इच्छा और शक्ति की आवश्यकता है।

हिन्दी बोलनेवालों का यह सौभाग्य है कि कविता के ऊँचे आदर्श के समीप तक पहुँचने वाले कई कवि ऐसे हुए हैं जिन्होंने हिन्दी-भाषा द्वारा अपनी अमूल्य वाणी से संसार का उपकार किया है। मनुष्य-जाति सदा उनकी ऋणी रहेगी। कबीर और सूर और तुलसी—अहा! इनके नामों का स्मरण करते ही किस दीप्यमान सौन्दर्य और पवित्र आनन्द की सृष्टि के द्वार खुल जाते हैं—इनके भावों को जिसने समझा, वह सच्चा पण्डित है, इनके मर्म को जिसने पाया, वह स्वयं महात्मा है। संसार साहित्य की चर्चा करता है, कांच को हीरा जानकर उसके पीछे दौड़ता है, खेल के गुड्डे को बालक समझकर उसका व्याह करता है, और अपनी करतूत पर अभिमानी बनता है। अनेक भाषाएँ अपने-अपने कांच के टुकड़ों को सामने रख हीरे का दम भरती हैं, किन्तु जैसा कबीर ने कहा है—

सिंहन के लँहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत।
लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चलैं जमात॥

कवियों में भी लँहड़े नहीं होते। वह काल, वह देश भाग्यवान् है जहाँ एक भी कवि उत्पन्न हो जाय। कबीर, सूर और तुलसी यह हिन्दी भाषा ही के नहीं, संसार-साहित्य के लाल हैं, परखनेवाले की आवश्यकता है। कबीर के दोहों और शब्दों की परख कौन करता है? सूर के पदों और तुलसी के चौपाइयों को कौन तोलता है? मात्रा और अक्षरों के गिननेवाले समालोचक? छिः। परखने के लिए कुछ हृदय की सामग्री चाहिए, पुस्तकों के आडम्बर की आवश्यकता नहीं। इन कवियों के हँसने और रोने का अर्थ कौन समझता है? इनके वाक्यों के

मर्म तक कौन पहुँचता है। स्वयं कोई मस्त प्रेमी, कोई कविता का मतवाला, जो शुद्ध हृदय से, अभिमान छोड़, इस सृष्टि के भीतर नम्रतापूर्वक शिष्य बनकर आता है।

"ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय।"

कुछ कांच पहचाननेवाले समालोचक हिन्दी-भाषा में साहित्य की कमी देखते हैं। गाँव का रहनेवाला, जिसने अपनी गाँव की दूकान में रंग-बिरंग के काँच के टुकड़े देखे हैं, नगर में आकर जब एक बड़े जौहरी की दूकान में जाता है तो अपने गाँव की दूकान के समान रँगीले काँचों को न देखकर बहुमूल्य मणियों का तिरस्कार करता है, और कहता है––हमारे गाँव की दूकान के समान यहाँ मणियाँ तो हैं ही नहीं। ठीक यही दशा इन समालोचकों की है। "यह गाहक करबीन के, तुम लीनी कर बीन।" यदि मणि की परख न हो तो मणि का दोष नहीं, परखनेवाले का दोष है। किन्तु कांच का भी संसार में काम है, ये भी चमकीले होते हैं. देखने में अच्छे लगते हैं। काँच के टुकड़े भी धन्य हैं, उनमें भी सौन्दर्य है, वे आनन्द बढ़ाते हैं––किन्तु हीरों और लालों की बात कुछ और ही है।

बन्दर सभा-महाकाव्य[1]

(तीन चुटकिन मां)

पहिली चुटकी

एक बात अद्भुत हम कहही। यारो सुनियो कान लगाय॥
इतने दिन वहिका भा बीते। अता पता कोउ सकै न पाय॥१॥
कलियुग द्वापर त्रेता सतयुग। इन सब से पहिले की बात॥
भये न ईश पयम्बर देवा। और रही नहिं जात अरु पांत॥२॥
लाख लाख जोजन कै बसती। बने बहुत बड़वार मकान॥
बड़े बड़े ऊँचे तरु जामे। टीले विकट पहाड़ महान॥३॥
यही पेड़ टीलन कै चोटी। बसत रहे बन्दर बलवान॥
नाम देश कै गढ़ बन्दर औ। मल्लू था राजा कै नाम॥४॥
सारा देश उजाड़ परा रह। दीखत कछू न कहूँ निसान॥
ऊंची चोटी थलन मांहि बस। बनी इमारत आलीसान॥५॥
इनहि घरन के बीच बीच महं। लम्बे लम्बे बांस दिखांय॥
वाही ऊपर हवा खान को। घूमन सिगरे बन्दर जांय॥६॥
घर में टेबुल मेज सजे हैं। उन पै चुने अनेक गिलास॥
तामे टूटे फूट बहुत हैं। और धरी बोतल हैं पास॥७॥
भाँत भाँत सज धज के कमरे। तितिर वितिर पै सबै समान॥
यहि ते एक निमिख में जानो। यहाँ बसैं बन्दर बलवान॥८॥
चिलमन परदे रंग ढंग के। खिंचे द्वार द्वार के बीच॥
फठे चिथे पै बहुत ठौर वे। देत गवाही आदत नीच॥९॥
यक मैदान म भारी तखता। वापै चुनी रकाबी पास॥
कुर्सिन पै बहु बानर बैठे। कलछिन लै लै खावें मांस॥१०॥

---

१. पूज्य राजर्षि टंडन जी ने यह लोकप्रिय और व्यंग्य कविता १९०५ में दिल्ली में होने वाले राज-दरबार को दृष्टि में रखकर लिखी थी। यह रचना स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्ट जी द्वारा संपादित 'हिन्दी प्रदीप' में २४ जुलाई सन् १९०५ के अंक में प्रकाशित हुई थी—संपादक।

यह कौतुक अचरज हम देखा। पूछा एक बानर से जाय॥
बोला बानर सुनो विदेसी। यह सब केवल मांसै खाय॥११॥
घासौ पत्ती खाय लेत हैं। कबहूँ लोहू करैं अहार॥
बानर मिलै वहू का खावैं। खान-पान को नहीं विचार॥
यह बातें कोइ विरला समझै। यहं की लीला अपरम्पार॥१२॥

दूसरी चुटकी

हियां की बातैं हियनै रह गईं। अब आगै कै सुनौ हवाल॥
गढ़ बन्दर के देश बीच मां। पड़ा रहा एक खेत बिसाल॥१३॥
सौ जोजन लम्बा अरु चौड़ा। अरबन बानर जायं समाय॥
तामे बानर भये इकट्ठा। जौन बचे वे आवैं धाय॥१४॥
जब सगरा मैंदनवां भरि गा। पूंछे टोपी लगी दिखाय॥
सब के सब कुरसिन से उछले। हाथ पांव से ताल बजाय॥१५॥
इतने में मल्लू-सा आये। बंदरी और मुसाहब साथ॥
बंदरी बड़ी चटक चमकीली। थामे मल्लूसा को हांथ॥१६॥
ओढ़े गउन लगाये टोपी। हीरे जड़े पाँत के पाँत॥
मटकत आवत भाव दिखावत। आखिर मेहरारू की जात॥१७॥
मल्लूसा झट कुर्सी चढ़िगे। धरी एक ऊँचे मस्तूल॥
रानी भी दुम झाड़ बगल भई। तब बोले बातें निरमूल॥१८॥

तीसरी चुटकी

सुनौ, मुसाहब सबै सभ्यगन। अरु राजे फौजी कप्तान॥
न्याय धर्म उद्यम कौंसिल के। शस्त्र विदेश कार मेंबरान॥१९॥
हम राजा इस गढ़ बन्दर के। कैसर किंग जार सुलतान॥
हमरै हुकुम हियन पर चालै। जानो हमें ईस रहिमान॥२०॥
आज बरस दिन फेर मिले हम। तुम्है सुनावें निज करतूत॥
कठपुतली सम प्रजा नचावैं। फैलावें स्वारथ के दूत॥२१॥
यह तुम सब तो जानत हइहौ। आपन एकै यही उसूल॥
जौन भांति से रुपया आवे। वो ही धर्म न्याय को मूल॥२२॥
येही बात विदित संसारै। एक जात रहती यहि ठौर॥
जिन के दुम उन तनको नाहीं। हमरा लाल रंग उन और॥२३॥
येही ते दुइ न्याय धर्म दुइ। दुहरी सगरी बात हमार॥
मुँह कुछ धरे पेट कुछ धारैं। दगा कूट को करैं अहार॥
येहू से जो काम न निकले। तो फिर कैद मार फिटकार॥२४॥

पांच बड्ड बड्ड भागन मां। देस भार की भई तकसीम॥
पहिले न्याय बनाया अचरज। पी अफीम सब नीम हकीम॥२५॥
बणना करौ कहा यह कल की। रुपया असकै खींचै पास।।
धनी दीन पण्डित अरु मूरख। सब ही फँस गये याके फाँस॥२६॥
तेहि पर बेदुम के जे बानर। उनका अस कै जकड़ा जाय।
तनिकौ हांथ पांव फटकारैं। हन कैं थप्पड़ दिया लगाय॥२७॥
यह तो बन्दर न्याय बखाना। एक और कुंजी है हांथ॥
न्याय वाय सबही के ऊपर। सबहि घुमावै अपने साथ॥२८॥
ओकर नाम गुपुत राखैंगे। यह तो भीतर मन की बात॥
ऊपर हमरी खुली कचहरी। रुपया देत न्याय लै जात॥२९॥
दूसर धर्म बड़ा फन्दा यह। जो जो हमसे करैं विरोध॥
जहां ग्लास एक हमसे लेवैं। आवैं तुरतहि उन कहं बोध॥३०॥
सबहि लड़ाई छूट जात है। लेकचर देन जांय सब भूल॥
झूठी दुमहु लगाय लेत हैं। औरहु बातैं करैं फजूल॥३१॥
जूठहु खाय नहीं सकुचावैं। पूजहिं खर जो हमरा देव॥
खरही खर चिल्लात फिरत हैं। लेव स्वर्ग मुफते लै लेव॥३२॥
बिना कसाले का बिहिस्त है। ऐसन अवसर फिर नहि आय॥
हमरो खर जो चढ़ा अकासा। सब कोउ पूंछ थाम चढ़ि जाय॥३३॥
जो नहि मानै बात हमारी। ऊ बस सीधा नरकहि जाय।
चार पांव से चलन न पइहै। डुइयै से घिसलावत जाय॥३४॥
हुआं न कूदन कौ तरु मिलिहै। और न मिलिहैं बंदरी संग।
कपड़ौ चौथे का नहि मिलि है। नहीं घास मास कै रंग॥३५॥
मरन बाद इन सुख कहं चाहौ। हमरी बात करौ विस्वास।
पढनौ लिखनौ पूजन छांड़ौ। हमरे खर की धारौ आस॥३६॥
यही भांत हम धरम चलावा। दूसर कै सिखवन के काज।
धन स्त्री अरु मान लोभ दै। फांसा जैहि नहि सकता भाज॥
आपन देव एक रुपया पै। जाहै बाढे हमरा साज॥३७॥
तीसर उद्यम भाग गिनाऊं। एकर केवल मनसा येह।
जितना धन अन पैदा होवै। सब ढोइ आवै हमरे गेह॥३८॥
जितनै बेंदुम के ह बानर। उनका हरी हरी दिखलाय।
चूनी भूसी उन्हें फेंक दें। बढिया माल लेय गठियाय॥३९॥
यही भाग उद्यम का ऐसा। जेहि मा रचै किताबी जाल।
और देस कै बानर जेहि सै। नहि जाने हमरा अहवाल॥४०॥

ऊपर से यह परगट करहीं। सगरी परजा बड़ी अमीर।
लीन लंगोटी छीन छीन कै। हम जानहिं वे फिरैं फकीर ॥४१॥
मरैं भूख से जाड़े से वा। हम से येहि से कुछ नहिं काम।
हम का खाली मिलै रुपैया। हम घर बैठ करैं आराम ॥४२॥
चौथा बड़ा डिपाटमेन्ट है। करै विदेसन को व्यवहार।
रीछ स्यार सूकर बसते जहं। हम सन जिनके हैं सरदार ॥४३॥
कबहू आंख दांत दिखलावैं। लैं डराय बस काम निकाल।
कबहू नम्र होय सीख सुनावैं। रचै बात कै जाल कराल ॥४४॥
ऐसे वैसे तो डर जावैं। वा फंस जावैं हमरे जाल।
जो भै तनकु अकड़ने वाले। तिनके लिए अनेकन चाल ॥४५॥
जासूसी मैं निपुण सिपाही। तब छूटैं साधन को कार।
दगा झूठ विष मद मेहरारू। और छिपी तीखी तलवार ॥४६॥
उते सरंजाम हैं पूरै। पै येहू जो खाली जांय।
पंचवा भाग करै तब हलचल। नये शस्त्र तबही दिखलांय ॥४७॥
सबसे बड़ी शस्त्र की कौंसिल। यहै राज्य को हमरे मूल।
यहिकै बिगड़े सबै चातुरी। एकै छन मैं जावै भूल ॥४८॥
याही तै जै लड़नेवाले। उनकै हम बहु करते मान।
सब से चूस रुपैया लावैं। इनही को बस देते दान ॥४९॥
बड़े बीर हमरे यह सैनिक। पहिले दुम से करैं प्रहार।
दुम जौ कटै भाज फिर जावै। गढ़ में घूस करवैं ललकार ॥५०॥
पत्थर की तलवार बनी है। मट्टी की गोली बारूद।
जहां चलै यह सैन्य हमारी। और लगावै पैंकी कूद ॥५१॥
बिरवन पेड़न तुरतहि नासै। धूम मचावैं लूटैं माल।
सीधे जीवन मारैं काटैं। हमहूँ सुन होंय निहाल ॥५२॥
अब हम लेकचर खतम करत हैं। बैठें अपनी कुरसी जाय।
तबही ताली ऐसी बाजी। कानौ की चमड़ी उड़ि जाय ॥५३॥
फिर एक मोटा बानर बोला। धन्यवाद हम देयं पुकार।
मल्लूसा को जिनकी परजा। जो धन राखैं औरन मार।
जेहि मैं हम कहँ पालैं पोखैं। और बढ़ै हम कुल परिवार ॥५४॥
इतना कह वह बानर बैठा। सभा उठी भागी चहुँ ओर।
मौहूं आल्हा गावत भाग्यों। जे जे सुनिन कीन्ह सँग मोर ॥५५॥

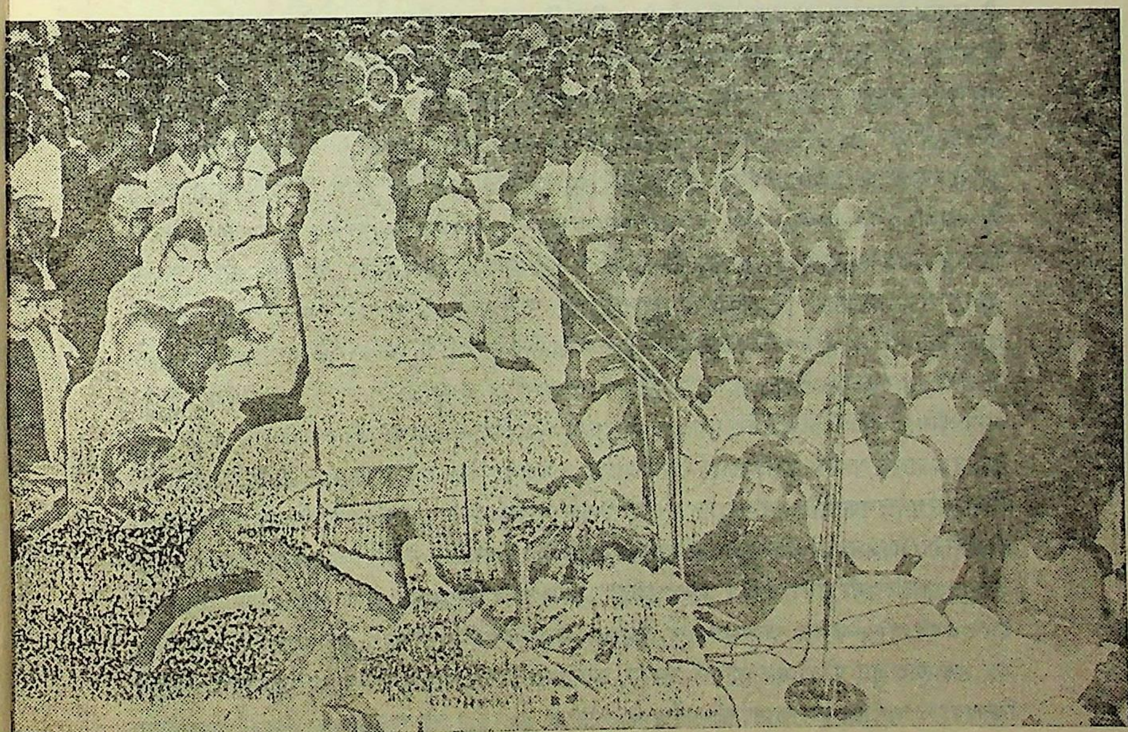
प्रयाग, २४ जुलाई १९०५

आचार्य विनोबा भावे

राष्ट्रभाषा और नागरी लिपि

गत २० दिसम्बर सन् १९६८ को प्रयाग में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तत्वावधान में सम्मेलन के प्राण राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन की कांस्यमूर्ति के अनावरण का ऐतिहासिक समारोह का उद्घाटन पूज्य आचार्य विनोबा भावे के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ था। आचार्य के भाषण की टेपरिकार्डिग की गई थी। आचार्य जी का भाषण राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा देवनागरी लिपि की महत्ता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषण नीचे दिया जा रहा है।

(इस पवित्र अवसर पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम शासन निकाय के अध्यक्ष डा० सेठ गोविन्ददास ने आचार्य का स्वागत करते हुए कहा था—"यह प्रथम अवसर है कि जब



राजर्षि टंडन की पूर्णाकार कांस्य प्रतिमा के अनावरण-समारोह के अवसर पर उद्घाटन-भाषाण करते हुए संत विनोबा।

कि इस प्रकार के मूर्ति-अनावरण-समारोह में आचार्य ने भाग लेने की स्वीकृति दी है। इससे पूर्व किसी भी महापुरुष के चित्र अथवा मूर्ति के उद्घाटन ,अनावरण आदि के कार्यक्रमों में कभी भी विनोबा जी की रुचि नहीं रही है। टंडन जी का महान् व्यक्तित्व था, जिसके कारण अपनी पूत श्रद्धांजलि देने आचार्य विनोबा जी यहाँ पधारे हैं। ब्रह्मर्षि द्वारा यह राजर्षि के प्रति अटूट श्रद्धा व्यक्त करने के लिए पधारना एक ऐतिहासिक घटना है।)

मेरे मित्र जानते हैं कि पचास साल कर्मक्षेत्र में बिताने के बाद अभी-अभी दो-तीन साल से मैंने सूक्ष्म कर्मयोग में प्रवेश किया है। मैंने उसको सूक्ष्म कर्मयोग नाम दिया है तो उसमें स्थूल क्रियाएं कम हो जाती हैं। अब, मैं यहाँ पर अनावरण के लिए आया, यह स्थूल क्रिया मानी जायगी। लेकिन फिर भी मैं आया, क्योंकि मैं पहले से ही वचन दे चुका था कि मैं आऊंगा। और मुझे खुशी है कि उस वचन से आज मुझे मुक्ति मिल रही है। राजर्षि टंडन जी की सेवाओं के बारे में प्रयाग में कुछ बोलना व्यर्थ ही होगा। प्रयाग के लोग खूब जानते हैं, उनकी सेवाएँ तरह-तरह की हुई हैं। इसलिए उनके नाम से यहाँ टंडन-पार्क भी बना है और इस टंडन-पार्क में भी बोलने का मौक़ा मुझे मिला था। और उस वक्त मेरे व्याख्यान के लिए राजर्षि टंडन जी ही अध्यक्ष थे, जब मैं भूदान के सिलसिले में यहाँ आया था। लेकिन जहाँ तक प्रयाग का सवाल है, प्रयाग ने भारत को बहुत बड़े-बड़े नेता दिए हैं। यह प्राचीन काल से नेतृदान जो चल रहा है प्रयाग का, बिल्कुल याज्ञवल्क्य से भारद्वाज तक लेकर——यह अखण्ड सिलसिला है। यहाँ से भारत को नेतृत्व मिला। अनेक नाम हैं नेताओं के, लेकिन तीन नाम अगर हम लें, जो सर्वोपरि हैं सब के मन में——महामना मालवीय जी, पं० जवाहरलाल नेहरू और राजर्षि टंडन। तो ये अपने प्रयाग की, प्रयाग के लिए त्रिमूर्ति ही कहलाएंगे। अपने हिन्दू धर्म में एक त्रिमूर्ति प्रसिद्ध है——ब्रह्मा, शिव, विष्णु। ऐसे ही आधुनिक ज़माने में प्रयागदत्त त्रिमूर्ति है। टंडन जी की सेवाएं विविध क्षेत्रों में हुई हैं। आज़ादी की लड़ाई में उन्होंने जो सहन किया, आज़ादी की प्राप्ति के बाद पालियामेंट के अन्दर उन्होंने जो काम किया, पालियामेंट के बाहर काँग्रेस में जो काम किया, वह सब मशहूर है और उसी के कारण भारत के महान् नेताओं में उनका एक स्थान बना। इसके अलावा वह रचनात्मक क्षेत्र में भी बहुत रुचि रखते थे और बहुत काम उन्होंने इस क्षेत्र में किया। आप लोग जानते ही हैं कि जैसे यहाँ पर सर्वेन्ट ऑफ़ इण्डिया सोसायटी गोखले की स्थापित की हुई, एक शाखा यहाँ है, उसी के नमूने पर लाला लाजपत राय ने एक पीपुल सोसायटी बनाई थी, जिसमें रचनात्मक सेवा करें भारत की, ऐसी कल्पना थी। और उनके लिए थोड़ा मानदेय, अल्प ही, देने की योजना थी, बिल्कुल गोखले के नमूने पर, उसके टंडन जी एक सदस्य थे और लालबहादुर शास्त्री भी उसी में थे। लालबहादुर शास्त्री ने उसमें बड़ा योग, कुशल योग दिया——इधर टंडन जी——उधर जवाहरलाल नेहरू। उन सब के विचारों में कुछ बातों में कोई भेद, यह सब होते हुए दोनों का सम्पर्क रखना, दोनों का प्रेम हासिल करना, यह कुशलता उन्होंने दिखायी। वह सब हम लोगों की आँख के सामने हुआ है। तो रचनात्मक क्षेत्र में बहुत सेवा टण्डन जी ने की। सर्वोदय में वे रुचि लेते थे। सर्वोदय की सभाएं जहाँ-जहाँ होतीथीं वहाँ वह

जाते थे। भूदान में उन्होंने काफी इन्टरेस्ट लिया और भूदान में जो ज़मीन दी जायगी वहाँ पर एक बाटिका बननी चाहिए, हर गाँव में, ऐसा उनका सुझाव था, जो हमने मंजूर किया। जहाँ जहाँ भूदान में ज़मीन दी जायगी वहाँ उस गाँव में एक बाटिका बने गाँव के लिए—यह कल्पना उनकी सुन्दर थी। यह सब मैंने इसलिए कहा कि रचनात्मक क्षेत्र में भी उन्होंने बहुत सेवा की। तो रचनात्मक क्षेत्र में उन्होंने सेवा की, उनके अलावा राजनैतिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में जो काम उन्होंने किया, उनके अलावा उनकी हिन्दी की जो सेवा है वह सब लोगों के सामने प्रमुखतया उपस्थित है और जिसके कारण हम सब लोग प्रभावित हैं। उन्होंने हिन्दी को एक विशेष स्थान देना चाहा और यह सोचा कि आज नहीं कल, कभी सारे राष्ट्र की सेवा के लिए हिन्दी उपस्थित होगी और सबके लिए हिन्दी उपयोगी साबित होगी—ऐसा स्वरूप हिन्दी का हो और वह नागरी लिपि में लिखी जाय, यह उनका आग्रह था। बहुत लोगों का ग़लत खयाल है कि वे उर्दू के ख़िलाफ़ थे—ऐसा है नहीं। उनके भाषण मैंने कई सुने हैं। उनके भाषणों में जो हिन्दी बोली जाती थी उसमें काफ़ी उर्दू शब्द आते थे और जो उर्दू शब्द हिन्दी में पच गए हैं और हिन्दी की शोभा जिन उर्दू शब्दों ने बढ़ाई है, उन शब्दों को क़ायम रखने के पक्ष में में वे थे, उनके बहिष्कार के पक्ष में नहीं थे। वे स्वयं उत्तम उर्दू जानते थे। इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने फारसी भाषा का भी उत्तम अध्ययन किया था, यहाँ तक कि फारसी में वे बोल भी सकते थे और फ़ारसी के अनेक महान् कवियों के साहित्य का उन्होंने अध्ययन किया था। यह सारा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि हिन्दी भाषा का उनका जो आग्रह था, उसमें उर्दू इत्यादि का कोई द्वेष नहीं था बल्कि वह मानते थे और ठीक मानते थे कि उर्दू हिन्दी का ही एक प्रकार है और हिन्दी की सुन्दरता उर्दू से बढ़ती है, तो वह हिन्दी के लिए अच्छी चीज है—ऐसा वे मानते थे। उर्दू लिपि के वे ख़िलाफ़ नहीं थे। मुससलमान लोग उर्दू सीखें पाठशालाओं में, उसमें उनको कोई विरोध नहीं था, वे जरूर सीखें, लेकिन जहाँ तक राष्ट्रभाषा का ताल्लुक है वह राष्ट्रभाषा नागरी में प्रकट हो, यह उनका आग्रह था। और मैंने कहा कि मैं इससे सहमत हूं और सहमत था पहले भी। यह सोचने की बात है भारत के लिए, कि हिन्दी जितनी मदद करेगी एकता के लिए उससे नागरी लिपि कम नहीं, ज्यादा ही मदद करेगी—ऐसा मेरा अनुभव है। मुझे अनेक भाषाएं सीखने का मौक़ा मिला है—भारत की बहुत सारी भाषाएं सीखी हैं। उन्हें सीखने के लिए अनेक लिपियों का अध्ययन करना पड़ा, जिसके कारण मेरी आँखों पर प्रभाव पड़ा —अच्छा नहीं, बुरा प्रभाव। और परिणामस्वरूप मेरी आँखों को तकलीफ़ भी हुई है लेकिन फिर भी वह सारी लिपियाँ मैंने सीख लीं और उन भाषाओं में जो सर्वोत्तम साहित्य है उसका परिचय करने का थोड़ा बहुत मौक़ा मुझे मिला है। तो मैं कह सकता हूँ कि नागरी लिपि से बढ़कर वैज्ञानिक लिपि मैंने दुनिया में पाई नहीं (करतल ध्वनि)। हिन्दुस्तान में तो खैर अनेक लिपियाँ हैं। वे नागरी के क़रीब-क़रीब हैं, नागरी में से ही थोड़ा बहुत फर्क़ कर के बनी हुई हैं। लेकिन यूरोप की जो लिपियाँ हैं वे भी यूरोपियन लैंग्वेजेज के लिए उत्तम नहीं हैं बल्कि रोमन लिपि, आज जो अंग्रेज़ी लिखी जाती है रोमन लिपि में अंग्रेजी के लिए भी रोमन अच्छी नहीं—ऐसा ख्याल बर्नार्ड शा का था और इसीलिए उन्होंने

अपने विल में, व्यक्तिगत में कुछ पैसा रखा था कि ऐसी एक लिपि शुरू की जाय अंग्रेजी के लिए, जिससे कि अंग्रेजी का एक-एक वर्ण ठीक उच्चारण बता दे। आज जो केवल अराजकता है अंग्रेजी लिपि में उससे अंग्रेज़ी भाषा मुक्त हो, इस वास्ते उन्होंने कुछ पैसा रखा था, उसका उपयोग करके एक लिपि बनाई गई। अंग्रेज़ी भाषा लिखने के लिए नई लिपि की खोज की गई। अनेक लोगों ने अपनी-अपनी लिपियाँ पेश कीं, उसमें जो सब से अच्छी मालूम हुई वह चुनी गई और वह लन्दन टाइम्स में प्रकट हुई। जब वह प्रकट हुई, तो वहाँ से उसकी प्रति मेरे पास आ गई––लन्दन टाइम्स की प्रति। और उसमें मैंने देखा कि उन्होंने कोशिश की कि जिस प्रकार से एक वर्ण और एक उच्चारण, ये व्यवस्था पाणिनि के व्याकरण के अनुसार माहेश्वरी सूत्र का उपयोग कर के नागरी लिपि ने बनाई है, वह तत्व उसमें लाने की कोशिश उन्होंने की है। लेकिन वह लन्दन टाइम्स में प्रकट हुई और जिसने ईजाद की, उसको इनाम भी मिला होगा। निर्धारित जो किया होगा लेकिन वह चली नहीं। अंग्रेज़ी के लिए वह चल नहीं सकती थी, क्योंकि जिस भाषा में लाखों ग्रन्थ लिखे जा चुके, अब वह नई लिपि एक्सेप्ट करेगी?––यह सत्यता थी नहीं। फिर भी वह एक मनुष्य था, उसका एक रूब्त था––या कहिए कि एक फ़ंड था उसका और उसने वह बात की। इसका मैंने उल्लेख इसलिए किया कि अंग्रेजी के लिए भी रोमन लिपि बहुत सार्थक नहीं है। ऐसा उनके सर्वोत्तम उम्मीदवार बर्नार्ड शा का भी मत था। और यह सब समझने की बात है कि इस प्रकार से वैज्ञानिक ढंग से लिखी जाने वाली जो लिपि है उसका गौरव हम सब को महसूस करना चाहिए। उसमें किसी कौम का सवाल नहीं। यह तो एक विज्ञान का सवाल है, साइन्स का सवाल है, जैसे साइन्स में कोई जाति का सवाल आता नहीं-वैसे ही इस नागरी लिपि में भी जाति का सवाल नहीं है, वैज्ञानिक लिपि है। आप लोगों को तो इस लिपि का अच्छा परिचय है, दूसरी लिपियों में क्या-क्या दोष हैं उसकी पूरी जानकारी तो आपको होगी नहीं। अंग्रेजी के अलावा बहुत-सी भाषाएं हैं। बहुत-से लोग जानते नहीं हैं लेकिन मैंने चीनी जापानी भाषा सीखने की कोशिश की है। मेरी यात्रा में एक जापानी भाई सम्पर्क में आए थे और एक महीना, सवा महीना वे मेरे साथ रहे थे यात्रा में। एन्वामिशाँ उनका नाम है। बहुत बड़े आदमी हैं। तो वे यात्रा में घमे थे। उनके साथ रोज़ घंटा भर देकर के पदयात्रा में जापानी भाषा का अध्ययन किया था। तो उस वक्त ध्यान में आया कि जापानी लोग एक लिपि की तलाश में हैं। और जापानी भाषा की जो रचना है वह अपने हिन्दुस्तान की भाषा के अनुरूप है यानी थोड़ा मैं आपको किंचित व्याकरण की ओर ले जाऊंगा, थोड़ी तक़लीफ़ होगी समझने में। जैसे हमारी भाषा में प्रीपोज़ीशन्स नहीं हैं जैसे 'इन दि रूम' कहते हैं अंग्रेज़ी में—हम कहते हैं—'कोठरी में'–– 'में कोठरी' नहीं बोलते 'कोठरी में' बोलते हैं। यानी वह शब्द अव्यय कहते हैं, जो बाद में आते हैं। तो वह रचना वहाँ है जपानी भाषा में, इसलिए यह अपनी भाषा के अनुकूल पड़ती है वह रचना। अगर मान लीजिए, नागरी लिपि भारत भर में चले, तो जापानी लोग भी उसको खुशी से एक्सेप्ट करेंगे और बड़ी सुन्दरता से उनका काम होगा, क्योंकि आज उनको लिपि की तक़लीफ़ है। खैर, यह तो मैंने आगे की बात की, भगवान चाहेगा तो होगा—नहीं तो नहीं होगा। लेकिन हम लोगों को अपने पास

जो लिपि प्राप्त है उस लिपि का निरभिमानतापूर्वक अभिमान रखना चाहिए। इसमें अभिमान का सवाल नहीं है! व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय किसी के अभिमान का सवाल नहीं है, इसमें विज्ञान के अभिमान का सवाल है। तो इस वास्ते विज्ञानवेत्ता जरूर कहेगा कि यह लिपि चलनी चाहिए। और मैं मानता हूं कि टंडन जी की जो यह राय थी, वह सर्वथा योग्य राय थी इसमें कोई शक नहीं (करतल ध्वनि)। और यह जो उनकी हिन्दी की सेवा उससे प्रभावित लोग हैं, और हमारे गोविन्ददास जी उससे विशेष प्रभावित हैं, तो उनके मन में इसलिए आया था—यह गौरव इस त्रिमूर्ति के द्वारा यहाँ प्रकट करें। अब जैसे टंडन जी के बारे में एक गलतफ़हमी यहाँ नाहक हो गई—वैसे ही गोविन्ददास जी के बारे में नाहक गलतफहमियाँ हैं। मैं उनको जानता हूं, मेरे साथ वह जेल में रहे हैं। वेलूर जेल में। और लगभग साल, ड़ेढ़ साल, पौने दो साल हम एक साथ थे और मैंने देखा कि वहाँ उन्होंने तेलुगु भाषा का अध्ययन किया और रोज कई घंटे उसके अध्ययन में वह देते थे। उस जेल में सारा कारोबार अंग्रेज़ी में चलता था। इसलिए कारोबार के लिए सीखने की जरूरत नहीं थी, वह सारा अंग्रेज़ी में चलता था वहाँ। अगर तेलुगु नहीं सीखते तो कोई हमको सुभीता कम होता—ऐसी बात नहीं थी। लेकिन आपने तेलुगु का अध्ययन ऐसा किया, जैसे हाई स्कूल का बच्चा अध्ययन करता होगा—वैसे ही रट-रट के उच्चारण का, उसकी जो कविताएँ हैं उन कविताओं का, हालाँकि आप कविता के तो प्रेमी हैं इसलिए कविता छोड़ के कैसे चलेगा आपका—तो उनकी कविता का अध्ययन भी उन्होंने किया—यह सारा मैंने देखा है। तो जिस किसी ने यह माना कि गोविन्ददास जी दक्षिण भाषा के द्वेषी हैं, उन्होंने गोविन्ददास को पहिचाना नहीं है। आज भी हिन्दी भाषा जबर्दस्ती से किसी पर लादने के पक्ष में वे हैं नहीं। प्रेम से प्रचार हो—ऐसा वह चाहते हैं और उन्होंने फिलहाल अभी ऐसा ही सोचा है कम से कम, कि भाई! जिन प्रान्तों की मातृभाषा हिन्दी है, जैसे—बिहार है, उत्तर प्रदेश है, दिल्ली, हरियाणा, पंजाब का कुछ हिस्सा और इधर मध्यप्रदेश, राजस्थान—अब ये जो भाग हैं उसमें आपस-आपस में व्यवहार सरकारी तौर पर अंग्रेजी में क्यों चलता है? वह हिन्दी में क्यों नहीं चलना चाहिए? प्रान्तिक सरकार, दिल्ली की सरकार से पत्र-व्यवहार करे, एक प्रान्तिक सरकार, दूसरी प्रान्तिक सरकार से हिन्दी में पत्रव्यवहार करे—ये सारा क्यों न करे नागरी में और हिन्दी में और यहाँ माध्यम हिन्दी क्यों न रखा जाय? यूनिवर्सिटी वगैरह में हिन्दी क्यों न चले? और ये सारा उनका एक प्राथमिक कार्य उन्होंने अपने सामने रखा है कि कम से कम इसमें तो हो ही जाना चाहिए। और जब तक ये नहीं होता, हम किस मुँह से दूसरों से कहेंगे कि भाई तुम भी ज़रा सीख लो। ये किस मुँह से कहेंगे? इस वास्ते इतना तो हो ही जाना चाहिए—यह उनका विचार है। और अभी वे मुझसे मिलने के लिए आये थे। वहाँ बोधगया में—वहाँ आये थे अपने काम के लिए। उन्होंने देखा कि मेरा मित्र वहाँ बैठा है। तो मित्र के नाते मिलने के लिए आये थे। तो उनसे मिलने के बाद जो कुछ थोड़ी सी बात हुई, प्राथमिक बात होती है—औपचारिक—वह होने के बाद तुरन्त मैंने कहा कि आपका जो हिन्दी का कार्य चल रहा है उससे मैं पूरा सहमत हूँ। अनाहूत कोई उनकी माँग नहीं थी, न उन्होंने मुझसे सवाल पूछा था, लेकिन मैंने ही कह दिया तो उनको विशेष आनन्द

होना स्वाभाविक है। और आज मैं यहाँ आ सका, इसका मुझे भी बहुत आनन्द है। हिन्दी के बारे में मैंने जो कहा, बहुतों का ख़याल है कि दक्षिण भारत के लोग हिन्दी के खिलाफ़ हैं, ऐसा है नहीं। मैं दक्षिण भारत देख चुका हूं। तमिलनाड और बंगाल--इन दो प्रान्तों में जो भाषाएं चलती हैं वह बहुत उत्तम भाषाएं हैं, सम्पन्न भाषाएँ हैं, इसमें कोई शक़ नहीं। उन भाषाओं का अध्ययन करने का मौक़ा मुझे तो मिला ही है और दक्षिण के लोग हिन्दी सीखने के लिए तैयार नहीं हैं—ऐसा मेरा अनुभव नहीं। परन्तु प्रतिक्रिया होती है, अगर हम बहुत ज्यादा आग्रह करते हैं। और हिन्दीवाले ऐसे आलसी बन जाते हैं कभी-कभी, कि हिन्दी के अलावा और कुछ चीज सीखते नहीं--और मुफ्त में ये राष्ट्राभिमान ! माँ ने सिखा दी हिन्दी भाषा, बस हो गया--राष्ट्राभिमान। एक कौड़ी का खर्चा नहीं हुआ--परिश्रम थोड़ा भी करना नहीं पड़ा--एकदम ऐसे ही हम राष्ट्राभिमानी बन गए। और दूसरे लोगों से हम कह रहे हैं कि वह सीखें हमारी भाषा। तो इस प्रकार से आग्रह रखते हैं आलस्य रख कर के। एक सादी बात। और भाषा तो छोड़ दीजिए--मराठी लीजिए। मराठी लिपि नागरी है। यानी जिस लिपि में हिन्दी लिखी जाती है उसी लिपि में मराठी लिखी जाती है। लेकिन हम लोगों ने बचपन से तुलसी रामायण पढ़ी, आप में से कितने लोगों ने तुकाराम पढ़ी ? इसका उत्तर आया कि नहीं पढ़ा। क्यों नहीं पढ़ी ? अपनी हिन्दी है, राष्ट्रभाषा है, चलती है अपने को क्या जरूरत है ! दूसरी भाषा सीखने की और हिन्दी और मराठी में फ़र्क़ भी कितना ? एक मराठी पद्य मैं आपको सुनाऊं तुकाराम का—

चित्त शुद्ध तरी, शत्रु मित्र होती
व्याघ्रगी न खाती सर्प तया।

चित्त शुद्ध तरी—अगर चित्त शुद्ध है तो शत्रु मित्र होते हैं अथवा उसके शत्रु मित्र बनते हैं और, 'व्याघणी न खाती''—ऐसे निर्वेद पुरुष को, शुद्ध चित्त पुरुष को शेर भी नहीं खा सकते और न सर्प ही उसको काट सकते हैं। अब उसको संस्कृत में कहता हूं—चित्तं शुद्धं तर्हि शत्रुः मित्रं भवति—यह हो गया संस्कृत। और मराठी—

'चित्त शुद्ध तरी', चित्तं शुद्धं तर्हि
'शत्रु मित्र होती', शत्रुर्मित्रं भवति

अब मैं आपसे पूछूंगा कि आपको क्या यह सीखने में मुश्किल हो जायगा ? वही चित्त, वही शुद्ध, वही शत्रु, वही मित्र, वही सारे संस्कृत शब्द (करतल ध्वनि)। बाप की स्टेट, ये हमारे बाप की स्टेट, धन सब इस्तमाल करते हैं--शब्द वही और लिपि वही। अब पुस्तक खोल दी, पढ़ना शुरू किया। अब करना क्या पड़ेगा ? लेकिन फिर भी सीखते नहीं कोई। खैर, सीखते कम हैं, मालूम नहीं, लेकिन मैं पूछूंगा कि यहाँ कितने लोगों ने मराठी पढ़ी है ? मेरा खयाल है कि कोई मराठी आदमी यहाँ बैठा हुआ है। तात्पर्य यही है कि हम थोड़े आलसी बन जाते हैं हिन्दी लोग,

वह ठीक नहीं। अगर हम अपना यह आग्रह छोड़ेंगे, तो दक्षिण के लोग सीखने को तैयार होंगे। हिन्दी के सिलसिले में मैंने एक व्याख्यान दिया था, दक्षिण भारत में, तमिलनाड में, जब मैं घूम रहा था, पदयात्रा में और तमिलनाड में लगभग एक साल मैं घूमा हूँ। तो एक जगह मैंने विद्यार्थियों को समझाया। घंटा भर बोला, सब लोगों ने शान्ति से बात सुन ली। मैंने कहा, देखो भारत में त्रिकेट का खेल (गेम) जो है सारे भारत में। क्रिकेट की एक ईनिंग होती है। ऐसी ईनिंग हुई है वैदिक काल में, वैदिक ऋषि दक्षिण में गये, जैन दक्षिण में गये, बौद्ध दक्षिण में गये। तो ये जैन और बौद्ध विचार उत्तरी हिन्दुस्तान से दक्षिण हिन्दुस्तान में गये। यह उत्तरी हिन्दुस्तान की ईनिंग हो गई। उसके बाद दक्षिणी हिन्दुस्तान की ईनिंग शुरू हुई। शंकराचार्य, रामानुज, माध्व और वल्लभ—ये सारे दक्षिण भारत से उत्तर भारत में आये। और उन्होंने अपने विचार यहाँ दे दिए। और यहाँ तक उनका प्रभाव पड़ा कि आपके उत्तम से उत्तम महान् पुरुष हिन्दी के—कौन इनसे बढ़ कर नाम लिया जायगा, कबीर और तुलसीदास—दोनों स्वामी रामानन्द के शिष्य और रामानन्द रामानुज के। अब रामानुज का प्रभाव कबीर और तुलसीदास पर पड़े, यह कोई सामान्य बात थी क्या? इतना प्रभाव उनका पड़ा तो उनकी ईनिंग चली यहाँ पर। शंकर का प्रभाव ज्ञानेश्वर महाराज पर पड़ा, महाराष्ट्र और बंगाल में विवेकानन्द, रामकृष्ण पर पड़ा, तो ठीक इसी प्रकार से दक्षिण भारत की ईनिंग हो गयी। तो कैसे हो गयी? क्या आधार मिला उसको? संस्कृत भाषा का आधार मिला। उन दिनों संस्कृत राष्ट्रभाषा थी, राष्ट्र के मुख्य-मुख्य लोग संस्कृत जानते थे। अगर मान लीजिए शंकराचार्य ने मलयालम भाषा में लिखा होता, तो शंकराचार्य की दिग्विजय जो सारे भारत में हुई, वह नहीं हुई होती—ये जाहिर है। रामानुज ने अगर तमिल में लिखा होता—उनकी मातृभाषा तमिल थी और तमिल में रामानुज ने थोड़ा लिखा भी है। शंकर ने मलयालम में कुछ नहीं लिखा, लेकिन रामानुज ने तमिल में लिखा। शंकर ने क्यों नहीं लिखा? क्योंकि बचपन से ही छोड़ कर वह इधर आ गये थे और ३२ साल की उनकी आयु। और रामानुज की आयु १२० साल। तो इस वास्ते उनको काफ़ी मौक़ा मिला सीखने का। तो तमिल में भी उन्होंने कुछ लिखा लेनिक थोड़ा लिखा। और ज्यादातर जो लिखा वह सारा संस्कृत में लिखा—गीता भाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य—ऐसे प्राचीन भाषा में भाष्य लिखे हैं, कि आज तक भाषा के वैभव के लिए शंकराचार्य का और रामानुज का दृष्टान्त देना पड़ता है। और हिन्दुस्तान के महान्-महान् पंडित लोग कहते हैं कि उनसे बढ़ कर अच्छी भाषा लिखनेवाले कोई खास लेखक हम लोगों के मार्डन टाइम में हुए हों, इधर पंद्रह-सौ साल में—ऐसा नहीं कह सकते। तो मैंने वहाँ लोगों को समझाया कि अगर रामानुज ने तमिल में ही लिखा होता—और संस्कृत में नहीं लिखा होता, तो क्या रामानुज का प्रचार होता? रामानुज की ईनिंग चलती? नहीं चलती। तब उन्होंने राष्ट्रभाषा का आश्रय लिया—जो संस्कृत थी उस जमाने में। मैं आपको मिसाल दूं—रामानुज एक छोटे आदमी माने जाते हैं तमिलनाड में। जो बड़े महान् माने जाते हैं, वहाँ, वह हैं—नाम्यानवाल्ह। अब नाम्यानवाल्ह के शिष्य के शिष्य थे रामानुज और नाम्यानवाल्ह का लेखन तमिलनाड में घर-घर में पढ़ा जाता है। जैसे यहाँ तुलसीदास घर-घर में आये

वैसे तमिलनाड में नाम्यानवाल्ह घर-घर में आये। लेकिन नाम्यानवाल्ह का नाम भी आप लोगों को मालूम नहीं है और रामानुज का नाम तो जाहिर है, क्योंकि रामानुज ने राष्ट्रभाषा का आधार लिया तो उनकी ईनिंग चली। उसके बाद अंग्रेजी सल्तनत यहाँ आई और इधर अंग्रेजी का अच्छा प्रचार चला बंगाल वग़ैरह में, तो इधर से ईनिंग शुरू हुई और विवेकानन्द वहाँ पहुंच गये। रवीन्द्र-नाथ पर वहाँ असर पड़ा। रानाडे हाल वहाँ दिखेगा आपको। मद्रास में गोखले का असर पड़ा। अब आइए यहाँ सारे उत्तर भारत के लोगों पर गाँधी का असर पड़ा। तो ये सारे उत्तर भारत की ईनिंग चली। अब आप अपनी ईनिंग चला रहे हैं कि नहीं। यह मैंने उनसे पूछा और ख़ास कर के तमिलनाड में गाँव-गाँव में उत्तम देवालय होते हैं और सारी ज़मीन और सारी लोगों की शक्ति उन मंदिरों की है––ऐसी एक भावना वहाँ चलती है। और वहाँ कितने उत्तम मन्दिर होते हैं? आपके जो सर्वोत्तम मन्दिर माने जाते हैं, यहाँ बड़े-बड़े उत्तर भारत के, जैसे मथुरा के, अयोध्या के इत्यादि––वहाँ तो एसे मन्दिर गाँव-गाँव में होते हैं, छोटे छोटे गाँव में। लेकिन मीनाक्षी मन्दिर, जहाँ हजार-हजार खंभों का तैयार किया हुआ मण्डप––वह सारा वैभव देखने वालों ने ही अनुभव किया होगा। कितना सुन्दर वैभव वहाँ मन्दिरों का प्रकट हुआ है। तो मन्दिरों की एक संस्कृति है, सभ्यता है और सारी ज़मीन वग़ैरह जितनी है सब सारी गाँवों की है––ऐसी भावना वहाँ है। तो मैंने कहा कि तुम्हारी सारी संस्कृति और सभ्यता दक्षिण की ले कर के तुम्हारी ईनिंग लाओ न उत्तर भारत में? लेकिन अगर तमिल का आग्रह रखोगे तो चलेगी नहीं। अंग्रेज़ी के आधार पर कहोगे, तो अंग्रेज़ी के आधार से यहाँ के चन्द लोग समझेंगे, लेकिन ईनिंग चलेगी नहीं! ईनिंग के लिए तो असर पड़ना चाहिए आम जनता पर। तो उसी प्रकार से दक्षिण भारत की ईनिंग फिर से चलनी हो, जैसी कि चलनी चाहिए और दक्षिण भारत को भारत को देने के लिए दक्षिण भारत के पास देने के लिए बहुत चीजें हैं। मिसाल के तौर पर––उत्तरी हिन्दुस्तान में जितने सिनेमा घर अब हैं, उतने सिनेमा आप यहाँ देखते नहीं, नंबर एक। यहाँ पर आबादी बढ़ रही है दो परसेंट हर साल, यानी २० परसेन्ट दस साल में। वहाँ की आबादी दस-बारह परसेंट बढ़ती है, २० परसेंट नहीं बढ़ती क्योंकि जो विलासिता यहाँ आ गई वह विलासिता वहाँ मन्दिरों के कारण रुकी हुई है और सभ्यता अधिक प्रमाण में वहाँ स्पष्ट है। यह सारा आपको वहाँ जाने पर पता चलता है। तो मैंने कहा––जो आपकी संस्कृति की सभ्यता है और विशेषता है और अमिश्रित भारतीय संस्कृति वहाँ मौजूद है, यहाँ उत्तरी हिन्दुस्तान में मिश्रित संस्कृति हो गयी है। आप देखते हैं, बिहार में जाइए मुश्किल से दस हजार श्रोताओं की सभा होगी और दस-बीस स्त्रियाँ होंगी और बाक़ी सब स्त्रियाँ जेल में पड़ी हुई हैं, गृह रूपी जेल में। और वहाँ आप जाएंगे तमिलनाड में तो १० हजार की मीटिंग होगी तो ४-५ हजार स्त्रियाँ ज़रूर होंगी। जितने पुरुष होंगे लगभग उतनी ही स्त्रियाँ होंगी। ऐसी वहाँ की संस्कृति है। तो वह सारी आपकी संस्कृति अमिश्रित भारतीय संस्कृति है। और उत्तर भारत की जो संस्कृति है वह मिश्रित संस्कृति हो गई है। तो स्वच्छ निर्मल और अमिश्रित संस्कृति लेकर के जायें आप उत्तर भारत में। लेकिन किस भाषा के आधार पर जा सकेंगे, ज़रा आप देख लीजिए। अगर आपको अपनी ईनिंग करनी है तो थोड़ा

टुकटुका कर सीखना पड़ेगा थोड़ा हिन्दी। तो उन लोगों ने चुपचाप सुना। सारे मेरे व्याख्यान वहाँ हिन्दी में होते थे और उसका तर्जुमा वहाँ किया जाता था। मैं भी थोड़ी तमिल सीखा हूं। तो दो-चार वाक्य इधर-उधर बोल लेता था, तो मालूम हो जाता था कि अपना ही है और अपनी भाषा के लिए उसको प्रेम है। तो सब प्रकार से उन्होंने मेरे व्याख्यान का गौरव किया।

अब, यह बात मैंने काहे को कही ? कि हिन्दी के लिए प्रतिकूल वातावरण वहाँ है, इसका मेरे पर असर नहीं। अगर हम ठीक ढंग से काम करें और प्रेम से प्रचार करें, लादें नहीं किसी पर और मेरा खयाल है कि गोविन्ददास जी का भाषा किसी पर लादने का विचार नहीं है जहाँ तक उनको मैं समझता हूं। मेरे प्यारे भाइयो ! मैं दो-चार मिनट और लेके खत्म करूंगा। आपने ज़िक्र किया गोविन्ददास जी ने, कि बाबा ने किसी मूर्ति का अनावरण तो आज तक किया नहीं। गाँधी जी की मूर्तियाँ हैं, और मूर्तियाँ हैं। लेकिन बाबाजी ने अनावरण किया नहीं, अगर आज बाबा यहाँ आया है, यह अनहोनी बात हो गई है। यह बात ठीक है। तो मैं क्यों मूर्तियों के लिए बहुत ज्यादा अनुकूल नहीं हूं, चित्रों के लिए क्यों ज्यादा अनुकूल नहीं ? और यह टंडन पार्क उसका नाम देने के लिए क्यों अनुकूल नहीं ? एक दो मिनट में समझाऊंगा। 'महात्मा गाँधी रोड' बाम्बे, गाँधी जी के स्मारक में नाम दे दिया रास्ते को। पेपर में खबर आई कि 'महात्मा गाँधी रोड पर डाका पड़ा, महात्मा गाँधी रोड पर क़तल हुआ।' तो मूर्तियों का भी यही हाल है—मूर्तियाँ यहाँ खड़ी कर दें—लोग अपनी धुन में जा रहे हैं, बातें करते जा रहे हैं, गालियाँ बकते जा रहे हैं, मूर्ति वहाँ खड़ी है। तो मूर्तियों की उपेक्षा करने की आदत पड़ जाती है। अगर ऐसा हो कि मूर्ति खड़ी है। तो जो भी जायेगा वहाँ, एक पाँच मिनट वहीं रुकेगा—परमात्मा का नाम लेकर। फिर आगे बढ़ेगा।—लेकिन मूर्तियाँ खड़ी होती हैं तो लोगों को तो ठहरने की फुर्सत तो है नहीं, तो उनका सारा धंधा, जो भी बुरा-भला चलता है, उधर से जायेंगे और उन मूर्तियों की उपेक्षा करने की एक आदत पड़ गयी है। फिर भी मैं मानता हूँ कि मूर्तियों का अपना एक स्थान है—उसका पूजक तो हिन्दुस्तान रहा ही है। तो मैं उसका कोई विरोध नहीं करूंगा। लेकिन मैं इसके लिए ज्यादा अनुकूल नहीं हूं। और इस मामले में सबसे अधिक महत्व की बात मैं मानता हूं इस्लाम में मोहम्मद पैग़बर का चित्र न होना। मोहम्मद पैग़म्बर स्वयं बादशाह थे और नबी भी थे। सन्त और बादशाह दोनों इकट्ठा थे। तो जैसे भगवान कृष्ण थे, तो उनका चित्र बनाना कोई कठिन नहीं था। आप देखते हैं कि हज़ारों चित्र तरह-तरह के बनते हैं, काल्पनिक होते हैं कुछ तो, लेकिन बनते हैं। राम-कृष्ण की तस्वीरें पचासों बनती हैं। और आये दिन तो हम देखते हैं गाँधी जी के चित्र तो जगह-जगह लगा दिये लोगों ने। मेरा ख्याल है कि शायद इस साल भरमार होगी। इसमें गाँधी जी की महिमा नहीं, यह गणितशास्त्र की महिमा है। गांधी जी के जन्म के ९९वें साल में यह महिमा नहीं और एक सौ एक साल में नहीं रहेगी। ये शताब्दी में होती है। तो गणितशास्त्र का गौरव है और इस साल तो हर जगह चित्र, चित्र चित्र करेंगे और चित्रों की उपेक्षा करने की सब को आदत पड़ जायगी। कहेंगे—'यह तो है, देखा है, चलो आगे बढ़ो।' लेकिन ऐसी कोई अवज्ञा

मोहम्मद पैगम्बर की नहीं हो सकती। अगर ज़रा भी इशारा होता उनका, अनुकूलता होती उनकी इसके लिए, तो हज़ारों चित्र मोहम्मद पैग़म्बर के बन सकते थे। उनके जीवन में अनेक किस्से हुए हैं, उन किस्सों को लेके अनेक चित्र बन सकते थे। और दुनिया में ४० करोड़ लोग हैं जो कि उनके नाम से प्रभावित हैं। लेकिन फिर भी उनका चित्रण नहीं ही हुआ। यह तय किया मोहम्मद पैग़म्बर ने, जाहिर किया कि मनुष्य का चित्र बिल्कुल ग़लत और परमात्मा का चित्र तो हो ही नहीं सकता। समाप्त मामला। इधर से समाप्त और उधर से समाप्त। परमात्मा अव्यक्त है इसलिए उसका चित्र बनाना अपनी कल्पना मात्र हो सकता है। इसलिए वह नहीं चाहिए--नंबर एक। और मनुष्य का चित्र बनाना और उसका महत्व बढ़ाना बिल्कुल ग़लत। और ये जो इस्लाम की विशेषता है उसके कारण इस्लाम एक बड़ा आकर्षण हुआ है। अब एक चर्चा चली है, समन्वय आश्रम वहाँ है. . . वहाँ भिन्न भिन्न धर्मों की, भिन्न-भिन्न संस्थाओं की, उनकी मूर्तियाँ वहाँ रखी जायँ--कृष्ण की मूर्ति, रामानुज की मूर्ति, राम-कृष्ण की मूर्ति इत्यादि। तो फिर मोहम्मद पग़म्बर का क्या किया जाय? यह सवाल आया। तो बोले कि मोहम्मद पैग़म्बर मूर्ति तो रख नहीं सकते, तो इस वास्ते उनका अल्फातहा, उनका जो पहला सुरा है, ''अलहन्दो लिल्ला हे रब्बिल आलमीन. . .' इत्यादि, वह लिखा जाय पत्थर पर और चाँद-सितारे दिखाए जायं सिम्बालिकल। तो मैंने सहज पूछा कि समन्वय करने के लिए सब की मूर्तियाँ हों और बीच में यह इस प्रकार की चीज़ हो? तो मोहम्मद पैग़म्बर की विशेषता अत्यन्त प्रकट होगी और नुकसान तो नहीं है, इसे मानना चाहिए। तो इस वास्ते आज की मीटिंग में जो मेरा विचार है मूर्ति के बारे में वह आपके सामने प्रकट किया। मैंने हिन्दू धर्म का एक लक्षण बनाया है--वे दो श्लोक में हैं--आपके सामने रक्खूंगा और समाप्त करूंगा।

यो वर्णाश्रमनिष्ठावान्, गोभक्तः श्रुतिमात्रिकः।
मूर्ति च नावजानाति. . .

मूर्ति की अवज्ञा नहीं करता। यह नहीं लिखा कि मूर्ति की पूजा करना जरूरी है हिन्दू होने के लिए। 'मूर्ति च नावजानाति, सर्वधर्मसमादरः।' 'उत्प्रेक्षते पुनर्जन्म तरमान्मोक्ष न हीयते। मतानुकूलं भजते सर्व हिन्दू न विश्वतः।' तो 'हिन्' और 'दू' ये दो अक्षर उसमें पड़े हैं। तो 'हिन्' यानी हिन्सा और 'दू' यानी 'दूयते चित्तं' जिसका चित्त हिंसा से दुखित होता है, वह हिन्दू है।' हिन् यानी हिंसा--दू यानी दुखना--हिंसा से जिसका चित्त दुखित होता है वह हिन्दू है। इस प्रकार से हिन्दू की एक व्याख्या मैंने कर दी। तो उसमें मूर्ति के बारे में यह लिखा कि 'मूर्तिं च नावजानाति' मूर्ति की अवज्ञा नहीं करते, मूर्ति की पूजा करनी चाहिए, ऐसा हिन्दू धर्म का आदर्श नहीं है। लेकिन मूर्ति की अवज्ञा नहीं होनी चाहिए। अगर कोई पूजा करता है तो उसको भंग नहीं करना चाहिए--यह हिन्दू धर्म की मर्यादा है।

मेरे प्यारे भाइयो! मैंने आपका काफ़ी समय लिया और मुझे बहुत खुशी है यहाँ आ के। लेकिन एक बात मैं और कहना चाहूँगा कि मैंने अनावरण स्वीकार किया वह टंडन जी की

जो-विविध सेवाएं राजनैतिक क्षेत्र में, रचनात्मक क्षेत्र में और हिन्दी के क्षेत्र में थीं। लेकिन उससे आर्कषित हो कर मैं यहाँ आया नहीं हूं। मैं आया हूं जो टंडन जी की सत्यनिष्ठा थी, वह जो उनका महान् गुण था, उससे मेरा हृदय खिच गया (करतल ध्वनि)। मैं मानता हूं एक मामले में गाँधी जी की जो निष्ठा थी सत्य निष्ठा . . .वैसे ही टंडन जी की निष्ठा थी। और कभी उनके व्यक्तिगत जीवन में, राजनीतिक क्षेत्र में काम करते हुए, या किसी भी क्षेत्र में काम करते हुए कभी भी, उन्होंने आश्रय लिया होगा झूठ का—यह संभव नहीं। इतने अत्यन्त निष्ठावान् ये युगपुरुष अत्यन्त निष्ठ थे। तो वह जो उनमें सत्य की उपासना का गुण था उससे मैं अधिक से अधिक प्रभावित हुआ हूं और इसीलिए मैं आया हूं। सब को प्रणाम। जयहिन्द !

डाक्टर बाबूराम सक्सेना

भाषा-स्वराज्य

इधर एक व्याख्यान माला तैयार करने के सिलसिले में मुझे गांधीजी के राष्ट्रभाषा-संबंधी विचार लिखित रूप में देखने को मिले। एक बार सन् १९२० ई० से लेकर सन् १९४८ ई० तक का भाषा-संघर्ष संबंधी सारा चित्र फिर आंखों के सामने साक्षात् आ गया। गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका से लौट आने पर ही यह विचार बहुत स्पष्ट रूप में देश के सामने रखा था कि हमारी राष्ट्रभाषा हिंदी ही हो सकती है अंग्रेजी नहीं। अपने व्याख्यानों और लेखों में बार-बार उन्होंने इसी बात पर ज़ोर दिया। इस विषय में देश में जो आन्दोलन हुए उसमें पूज्य टंडन जी का प्रमुख हाथ था। उन्होंने महात्मा जी के नेतृत्व में कंधे से कंधा मिला कर भाषा-स्वराज्य प्राप्त करने का काम किया। उन्हीं से प्रेरणा लेकर गांधी जी ने हिंदी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर के प्रथम अधिवेशन में दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की स्थापना कराई और पूज्य टंडन जी के ही कहने से अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा परिषद् (कांग्रेस) के कानपुर अधिवेशन में राष्ट्रभाषा संबंधी प्रस्ताव पास किया। गांधी जी की कल्पना थी, उत्तर भारत में सामान्य जनता द्वारा प्रयुक्त भाषा ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है। वह जानते थे कि इस भाषा की एक अर्बी-फ़ारसी से आक्रांत शैली है और दूसरी वह जिनमें विदेशी शब्दों के स्थान पर संस्कृत शब्द हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यही कहेंगे कि एक ही भाषा की ये दो शैलियां हैं। गांधीजी का विचार था कि इन दोनों शैलियों का एक मिला-जुला रूप निखर आएगा जो देश की साधारण जनता को चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, स्वीकार होगा। किन्तु गांधी जी की यह आशा निराशा में परिणत हो गई और अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिंदी और उर्दू दोनों रूपों को राष्ट्र-भाषा मानना चाहिए और सभी देश प्रेमियों को दोनों सीखनी चाहिएं। साथ ही दोनों लिपियाँ भी सीखनी चाहिएं। यहीं पर सम्मेलन और गांधी जी में मतभेद आरम्भ हुआ। सम्मेलन का पक्ष संस्कृत-प्रचुर भाषा के ग्रहण की ओर था और लिपि देवनागरी को ही सम्मेलन स्वीकार कर रहा है। गांधी जी उर्दू लिपि और उर्दू भाषा को भी स्वीकार करवाना चाहते थे। सम्मेलन इसपर राज़ी नहीं हुआ। उस समय सम्मेलन में मैं सक्रिय भाग ले रहा था। मुझे याद है कि वर्धा में किसी समिति की बैठक में गांधी जी ने कहा था कि अब मुझे सम्मेलन छोड़ देना चाहिए। मैंने कहा कि बापू आप सम्मेलन के सभापति रह चुके हैं और उस नाते स्थायी समिति के जीवन पर्यन्त सदस्य हैं। आप सम्मेलन नहीं छोड़ सकेंगे। गांधी जी ने तुरंत कहा कि क्या आप हमें रख सकेंगे और उस समय टंडन जी और मैं तथा अन्य समिति-सदस्यों ने ज़ोर से कहा कि अवश्य रखेंगे।

वह मौखिक त्यागपत्र गांधी जी का हम लोगों ने स्वीकार नहीं किया। कुछ दिनों बाद हिंदुस्तानी प्रचार सभा के स्थापित हो जाने पर गांधी जी ने अपना त्यागपत्र भेजा और पूज्य टंडन जी को वह सखेद स्वीकार करना पड़ा। आज ये सब इतिहास की बातें हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि हम गांधी जी को सम्मेलन से अलग न होने देते तो देश के लिए अच्छा होता।

संविधान में सम्मेलन की वांछित राष्ट्रभाषा स्वीकार हो जाने के बाद हिंदी-उर्दू का संघर्ष मिट गया। पूज्य टंडन जी हमेशा यही कहते थे कि हिंदी का आंदोलन भाषा-स्वराज्य की प्राप्ति के लिए है। इसका संघर्ष किसी भी भारतीय भाषा से नहीं है, इसका संघर्ष तो अंग्रेज़ी से है। अंग्रेजी का यह संघर्ष अब फिर उग्र रूप धारण कर रहा है। मेरा निवेदन है कि सभी हिंदी प्रेमी इस बात को ठीक तरह से समझ लें और छोटी-मोटी बातों को न केवल भुलावें बल्कि उर्दू आदि भारतीय भाषाओं को अपने में समेटने का यत्न करें। ऐसा करने में संभव है कुछ बातें हमें ऐसी भी करनी पड़ें जो कि तर्क संगत नहीं हैं और पसंद भी नहीं हैं तब भी उन्हें करने में मैं कोई बुराई नहीं देखता। गांधी-दर्शन की एक बात मैंने समझी है और वह यह कि प्रत्येक भारतीय और भारतीय वर्ग हमारे अपने संघ हैं। और यदि वह ग़लत चीज़ भी मनवाना चाहते हैं तो हमें संप्रति मान लेना चाहिए और इस प्रकार उसको संतोष दे कर उसके हृदय में परिवर्तन लाना चाहिए। इस दृष्टि से काम करने से ही संभव है कि हम देश की एकता और अखंडता की रक्षा कर सकेंगे। भारत में भाषा–स्वराज्य की प्राप्ति के लिए तन-मन-धन से प्रयास करने वालों को पूज्य गांधी जी और पूज्य टंडन जी दोनों के नाम सर्वदा सर्वप्रथम लिये जाएंगे।

श्रीमती महादेवी वर्मा

सन्त राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन

अनन्त युगों के संचित अनुभव और ज्ञान के आधार पर हर मनुष्य–समूह ने मानव-कल्याण के संबंध में, कुछ सर्वमान्य सिद्धान्त स्वीकार किये हैं। समाज के प्रत्येक सदस्य को अंशतः इस सर्वमान्य सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन को ढालना पड़ता है और जो ऐसे नहीं कर सकता, उसे असामाजिक की संज्ञा मिलती है। पर प्रत्येक युग और प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे भी मानव उत्पन्न होते हैं जो अपने सम्पूर्ण जीवन को मानव-कल्याण सम्बन्धी सिद्धान्तों की प्रयोगशाला से अधिक महत्व नहीं देते। उनके निकट सिद्धान्तों और उसमें अन्तर्निहित सत्य साध्य और जीवन साधन मात्र रह जाता है। ऐसे मानवों के सीमित और लौकिक दृष्टि से प्रायः असफल जीवन की कसौटी पर ही असीम सत्य हर युग में पुनः पुनः परीक्षित होकर सफलता पाता हैं अतः लौकिक दृष्टि से अकुशल ये असाधारण व्यक्तित्व ही सत्य के कुशल शिल्पी कहे जायेंगे।

सन्त पुरुषोत्तमदास जी सत्य के ऐसे ही शिल्पी हैं जिनके जीवन के मूल्यांकन के लिए साधारण मापदण्डों से भिन्न मापदण्ड की आवश्यकता होगी। उनके शरीर और जीवन दोनों ने इतने परीक्षणों का भार झेला है कि वे उनके सैद्धान्तिक सत्यों का खरापन सिद्ध करके भी जर्जर हो गए। स्वर्ण को खरा प्रमाणित करनेवाले अंगारे क्या भस्म शेष नहीं हो जाते ?

कृश, दुर्बल, लम्बी देहयष्टि, कुछ लम्बी मुखाकृति, नुकीली नासिका. नुकीली श्मश्रु, कुछ बढ़े केश, पीठ पर पैबन्द लगा खादी का कुर्त्ता, घिसे सूतवाली पुरानी धोती चर्म-रहित रबर के अस्तव्यस्त सिले चप्पल आदि मिलकर एक ओर उन्हें सन्त विनोबा के समीप बैठा देते हैं और दूसरी ओर अति साधारण और चिर-दरिद्र भारतीय जन का प्रतिनिधि बना देते हैं। सहज हँसी की सरलता में एकरस जलने वाले आँखों के दीपक, उनके मुख को एक कोमल कठिन छायालोक में उद्भासित कर देते हैं। राजनीतिक कोलाहल के बीच उन्हें देख ऐसा लगता है कि मानों साधनाजगत् का कोई साधक ऐसे रणक्षेत्र में भटक गया हो जिसकी नीति और अस्त्र-शस्त्र से उसका परिचय न होने के कारण वह उस क्षेत्र में भी अपने साधन और सिद्धान्तों का प्रयोग कर रहा है। जीवन में चरम सफलता और चरम असफलता जैसी कोई स्थिति नहीं होती क्योंकि सफलता-असफलता-सापेक्ष शब्द हैं। महत्व केवल मनुष्य के विश्वास, संकल्प और प्रयत्न का है। इस दृष्टि से ऐसे कर्मनिष्ठ साधक अपने प्रत्यत्न के कारण ही युगयुगान्तर तक अभिनन्दनीय रहते हैं।

राजनीतिक दृष्टि से पराधीन देश अन्तर्बाह्य दोहरी यातना से पीड़ित रहता है, क्योंकि बाह्यबन्धन उसके अन्तर्जगत् का भी बन्धन बन जाता है। ऐसे युग में जो स्थिति-परिवर्तन का प्रयत्न और मुक्ति के साधनों की खोज करते हैं वे एकाकी नहीं होते। उन्हें अपने देश के बाह्य और अन्तंजगत की मुक्ति का प्रयत्न करना पड़ता है, अतः उनका लक्ष्य राजनीतिक मुक्ति मात्र न होकर, सांस्कृतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक आदि मुक्तियों का संघात ही रहता है।

लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी जैसे व्यक्तित्व इसी सत्य को प्रमाणित करते हैं। वे प्रथमतः चिन्तक और अन्ततः कर्मनिष्ठ सैनिक हैं, अतः न राजनीतिक लक्ष्य तक उनकी दृष्टि सीमित है और न मनुष्य की बाह्य स्वाधीनता उनके प्रयत्नों की सीमा है। इतना ही नहीं राजनीतिक क्षेत्र के अस्त्र भी उनके निकट ओछे पड़ जाते हैं। मानव-कल्याण के सर्वमान्य सिद्धान्त ही उनके साधन हैं, जिससे वे जीवन को समग्रता में स्पर्श करते चलते हैं।

उस युग की जाग्रत चेतना के उत्तराधिकारी होने के कारण टंडन जी भी जीवन को उसकी समग्रता में देखने के अभ्यासी हों तो इसे स्वाभाविक ही कहा जायगा। राजनीतिक क्षेत्र में तो बापू का अनुगमन ही करणीय था, किन्तु सांस्कृतिक क्षेत्र में उनकी कल्पना को कर्म की अधिक उर्वर धरती प्राप्त हो सकी। पराधीन देश की वाणी भी बन्दिनी हो जाती है, अतः उसकी आत्मा का स्वर सुनने के लिए वाणी की मुक्तावस्था भी अनिवार्य हो उठती है। इस दिशा में श्री टंडन जी के प्रयास देशव्यापी ही नहीं जीवनव्यापी सार्थकता पा सके हैं।

जीवन के वसन्त में ही उन्होंने सुख-सुविधामय जीवन के स्थान में निरन्तर संघर्षमय जीवन, सम्पूर्ण निष्ठा के साथ स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त, उन्होंने मानों परिग्रह की ओर से द्वार बन्द कर लेने के लिए ही लोक सेवक मण्डल को अपना जीवन निवेदित कर दिया। कारागार के भीतर और बाहर के अनिश्चित आवागमन के क्रम में भी उनकी सांस्कृतिक दृष्टि जीवन के हर अंधेरे कोने को आलोकित करने का प्रयास करती रही।

राजनीति, टंडन जी का आपद्-धर्म साधना स्वधर्म और संस्कृति उनका व्यापक जीवन-धर्म रही है। ऐसी स्थिति में, राजनीति उनकी जीवन-नीति से शासित होकर ही क्रियाशील हो सकती थी। जिस युग में राजनीति देश की सर्वांगीण मुक्ति का साधन मात्र थी, उस युग में जीवन की व्यापक और सर्वमान्य नीति से उसका संघर्ष सम्भव नहीं था। किन्तु जब शासन-स्वातन्त्र्य के उपरान्त राजनीति साधन से साध्य बन गई तब अन्य व्यापक और उदात्त नीतियों से उसका संघर्ष स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य हो उठा। आज वह आपद्धर्म न होकर चुनाव-विजिगीषा का एक मात्र स्वधर्म है। अतः टंडन जी जैसे साधकों का, राजनीति की लक्ष्मणरेखा में बन्दी न रहना ही स्वाभाविक कहा जायगा। जीवन सीमित है—उसमें प्रहर बनते मिटते हैं, उषःकाल और सन्ध्या-वेला आते-जाते हैं, किन्तु साधना में न कोई प्रहर है न याम न उसमें प्रभात है, न संध्या। वह तो कालातीत आलोक की अकूल अछोर तरंग है जो जीवन को स्पर्शोज्ज्वल कर देती है।

श्री वियोगीहरि

पूज्य बाबूजी का नैतिक व्यक्तित्व

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के आदर्श जीवन की ओर जब हमारी दृष्टि जाती है, तब उनके विविध लोक-सेवा-कार्य हठात् हमारे सामने आ जाते हैं। वे कार्य हैं राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और धार्मिक। अपनी-अपनी अभिरुचि और अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार टंडन जी के जीवन के किसी एक पहलू को हमलोग ले लेते हैं और उसी पर सोचते हैं और कहते हैं और लिखते हैं।

एक समीक्षक का कहना है कि टंडन जी सफल राजनीतिज्ञ नहीं थे, राजनीति के दाँवपेंचों से जैसा चाहिए वैसा उनका परिचय नहीं था। यह भी कहा जाता है कि कांग्रेस के अध्यक्ष-पद को छोड़ कर उन्होंने अपनी कमजोरी ही दिखाई थी। सहयोगियों के कहने से यदि वह कार्य-कारिणी में एक-दो व्यक्तियों को शामिल कर लेते या एकाध को छोड़ देते, तो उससे ऐसा क्या बिगड़नेवाला था? पर वह तो अपनी जिद पर अड़ गए और अंत में उन्होंने अध्यक्ष-पद ही छोड़ दिया। टंडन जी की दलील, जो नीति के पाए पर खड़ी थी, बहुत से मित्रों के गले नहीं उतरी क्योंकि अक्सर उसी सुपरिचित राजनीति को माना जाता है, जो कितने ही रंगों को पल-पल पर पलटना जानती है, जिसमें अपने कुछ साथियों को गिरा कर अपने आपको उठाया जा सकता है और उसूलों का जिसमें कोई गहरा अर्थ नहीं लगाया जाता। आश्चर्य यही था कि राजनीति में अधकच्चे होते हुए भी वह कांग्रेस के उच्च शिखर तक आखिर पहुँचे कैसे! यदि वह स्वयं ही उस पर चढ़ गए, तो उन्होंने रास्ता कोई गलत नहीं पकड़ा था, बल्कि प्रयास वह ऊंचा ही था। और यदि दूसरों ने यानी जनता के बहुत बड़े हिस्से ने उनको उस पद तक पहुँचाया था तो उसका भी वह कदम गलत क्यों कहा जाए? देश की सेवा टंडन जी ने कई अनेक लोक-नेताओं की तरह, उस युग में की थी, जिस पर भोगवाद हावी नहीं हो पाया था। जनसेवा के उस क्षेत्र तक पहुँचने में तब राजनीति के पर कांपा करते थे। उत्तर प्रदेश के मजलूम किसानों के अन्दर उसी जमाने में टंडन जी ने प्राण फूँके थे, किसान-सभाओं का मजबूत संगठन किया था। तत्कालीन शासकों ने भी इस संगठन को राजनीति का एक पुख्ता कदम माना था। जमींदारी और ताल्लुकेदारी के पैरों से कुचले हुए किसानों ने टंडन जी को एक त्राता के रूप में देखा और पहचाना था।

समाज के उपेक्षित और आखिरी पंक्ति में खड़े हुए उस अंग ने, जिसे छूने से भी परहेज किया जाता था, अपने प्रति ममताभरी स्नेह की भावना टंडन जी में पाई थी। जो समाज और जो घराना अस्पृश्यता को मानता था, उसे टंडन जी ने ललकारा, उसके खिलाफ विद्रोह किया।

सड़ी-गली रूढ़ि को तोड़ कर फेंक दिया। यहाँ तक कहा और माना कि भंगी को मल मूत्र उठाने का गन्दा पेशा सदा के लिए छोड़ देना चाहिए। अपना कमोड भी उन्होंने कई बार अपने हाथों से साफ किया। समाज में प्रचलित और भी अनेक कुरीतियों को मानने से उन्होंने स्वयं तो इन्कार किया ही, दूसरों को भी उनके विरुद्ध विद्रोह खड़ा करने की सलाह दी।

जब जहां कोई संकट आया, टंडन जी वहाँ तत्काल पहुंचे, उसके निवारण का काम उन्होंने स्वयं किया तथा अपने साथियों से भी कराया। तब स्वभावतः यह कहा गया कि टंडन जी को समाज-सेवक मानना ही अधिक उपयुक्त है।

टंडन जी के अनेक समीक्षकों, बल्कि भक्तों ने उनको भारतीय संस्कृति का उद्धारक माना। 'राजर्षि' की उपाधि से भी इसी कारण उनको अलंकृत किया गया। सांस्कृतिक प्रश्नों में, इसमें सन्देह नहीं वह गहरी रुचि रखते थे। किन्तु कुछ गलतफहमी भी किसी-किसी को हो जाती थी। हिन्दू धर्म की चन्द घिसी-पिसी मान्यताओं या परम्पराओं पर विश्वास करना, इसी को बहुतेरे लोग संस्कृति मानते हैं। टंडन जी ऐसे विश्वासों से बहुत दूर थे। 'कल्चर' शब्द को भी वह संस्कृति के रूप में नहीं लेते थे। जो कृति सम्यक् हो, सच्ची हो, दूसरों का उद्वेग करने वाली न हो और सब प्रकार से समीचीन हो, सुन्दर हो, उसी को वह भारतीय संस्कृति मानते थे। वह आक्रमणात्मक नहीं, किन्तु समन्वयात्मक थे। मगर समन्वय वह, जिसमें न तो तुष्टीकरण होता है और न स्वार्थ की गन्ध पाई जाती है। इसी संस्कृति के टंडन जी उपासक थे और इसी के पुनरुद्धार के लिए वह व्याकुल रहते थे। इस अर्थ में, दुर्भाग्य है कि, टन्डनजी को सही तौर पर नहीं पहचाना गया।

अनेक समीक्षकों ने टंडन जी को एक साहित्यिक के रूप में लिया है, किन्तु कुछेक के मत में वह साहित्यिक नहीं थे, पर साहित्य के एक ऊँचे प्रेमी निस्संदेह थे। जिन्होंने उनको साहित्यिक माना, उन्होंने उनका हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से दिया गया भाषण, उनके कुछ फुटकर लेख और दो-तीन उनकी रची कविताओं को उदाहरण के तौर पर सामने रखा। जिन समीक्षकों ने साहित्यकारों की श्रेणी में टंडन जी को बैठाने में हिचकिचाहट दिखाई उनके सामने तो कुछ पुराने तथा कुछ नए रीति-सिद्धान्तों के चौखटे पड़े हुए थे। परन्तु एक बहुत बड़े बहुमत ने यह तो माना ही कि टंडन जी की अनन्य निष्ठा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रति थी। मगर इस तथ्य की तह तक बहुत कम समीक्षक पहुँचे होंगे कि ऐसा क्यों था। तुलसीदास जी ने एक स्थान पर कहा है कि वही शरीर सबसे सुन्दर और सर्वोत्तम है जिसके द्वारा राम का दर्शन हो सके। टंडन जी ने भी सम्मेलन के प्रति इसीलिए अनन्य ममत्व रखा कि उनका विश्वास था कि इस संस्था के द्वारा सारे राष्ट्र में हिन्दी का प्रचार होगा और हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो विभिन्न प्रदेशों के को ऐक्य-सूत्र में बाँध सकती है। इस विश्वास से रहित सम्मेलन उनके पूजा-गृह में स्थापित कोई शालिग्राम की बटिया नहीं था।

टंडन जी को कई समीक्षकों ने एक धार्मिक पुरुष के रूप में देखा है और कुछेक टीकाकारों ने तो उन्हें एक पंथ-विशेष का अनुयायी ही कहा है। यह सही है कि राधास्वामी-पंथ के साथ

उनका पैतृक सम्बन्ध था, परन्तु वास्तव में उनकी व्यापक दृष्टि पंथों और सम्प्रदायों से बहुत परे थी। हरेक धर्म की बुनियादी सचाइयों के प्रति उनके हृदय में पूरा आदर-भाव था। अर्थहीन रूढ़ियों के वह कभी कायल नहीं थे। बुद्धि को, बगैर हृदय की अवहेलना किए, उन्होंने सदा ही आगे रखा था।

सो, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टियों से टंडन जी को उनके समीक्षकों और मित्रों ने देखा, उन्हें समझने का भी प्रयत्न किया। देखनेवालों की दृष्टि में उनका रूप वैसा ही हो सकता था, जैसा कि उन्होंने देखा। परन्तु केवल वही उनका रूप नहीं था। वह किसी की दृष्टि में सफल तो किसी के दृष्टि में विफल राजनीतिक व्यक्ति थे। किसी की समझ में पूरे तो किसी की समझ में आंशिक रूप में वह समाज-सेवक थे। कोई-कोई मानते थे कि वह भारतीय या केवल हिन्दू-संस्कृति के उपासक थे। किसी-किसी का कहना था, कि वह स्वभाव से तो साहित्यिक थे, परन्तु परिस्थितियों के कारण साहित्य-क्षेत्र में 'फिट' नहीं हो सके। यह तो हममें से बहुतेरे मानते हैं कि हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए टंडन जी ने अपने जीवन में सब से अधिक काम किया। परन्तु यहां भी उनके उस सही हेतु को बहुतेरों ने नहीं समझा, जिसके मूल में एवं परिणाम में विशुद्ध राष्ट्रीय ऐक्य की भावना निहित है, जो सर्वथा असाम्प्रदायिक है। जहाँ तक उनके धार्मिक पुरुष होने की बात कही गई, उसमें अधिक मतभेद की गुंजाइश नहीं पाई गई। प्रायः सभी ने टंडन जी को एक सन्त पुरुष माना।

किसी पारदर्शी यंत्र से टंडन जी के आन्तरिक जीवन को झाँका जाए, तो उनकी राजनीति, उनकी समाज-सेवा, उनकी सांस्कृतिक प्रवृत्तियां, साहित्य और हिन्दी के प्रति उनकी गहरी निष्ठा तथा उनकी सतत धर्मप्रियता इन सभी के मूल में हम उनका एक ही लक्ष्य पाते हैं, जो था सत्य, और जिसकी सिद्धि के लिए साधना थी नैतिक। नीति भी वह, जो अपने साथ राज' या ऐसे ही किसी दूसरे शब्द को जोड़ना पसंद नहीं करती है, वह अपने आप में अपने आप को पूर्ण मानती है। इसी नीति का हाथ पकड़ कर टंडन जी ने सत्य तक पहुँचने का जीवन भर अनेक क्षेत्रों में प्रयास किया। उनके विविध जीवन-कार्यों का दर्शन एवं विश्लेषण उनके इसी साध्य और साधन के द्वारा हो सकता है। इन दो को छोड़ कर ऊपर-ऊपर से उनके किए हुए किसी भी कार्य को हम देखेंगे, तो सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकेंगे।

डाक्टर सूर्यनारायण व्यास

आदर्श महामानव राजर्षि टंडन जी

राजर्षि टंडनजी के सर्वप्रथम दर्शन का सुयोग मुझे भरतपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समय मिला था, तभी से मुझ पर उनकी असीम कृपा रही है। सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए उस रोज बाबा राघवदास आए थे, वे भी उसी कक्ष में पहुंच गए जहाँ माननीय टंडनजी ठहरे हुए थे, टंडन जी ने बाबाजी के लिए तुरंत एक नया खादी का चादर निकाला और बाबाजी को ओढ़ा दिया, और दोनों ने प्रेमपूर्वक कण्ठाश्लेष किया। वहाँ हम लोग जो बैठे हुए थे, इस प्रेमपूर्ण मिलन को देख गद् गद् हो उठे थे।

इसके बाद वर्षों प्रत्यक्ष भेंट का कोई अवसर नहीं मिला। हाँ, कांग्रेस के अधिवेशनों में दूर से दर्शन होते रहे। सन् १९४० में महू (मध्यभारत) में मध्य भारतीय हिन्दी साहित्यसम्मेलन का प्रथम अधिवेशन हुआ, और उसकी अध्यक्षता के लिए मुझे विवश बनाया गया था। उस समय एक प्रस्ताव स्वीकृत करवाया गया था कि मध्य भारत में एक स्वतंत्र हिन्दी विश्व विद्यालय की स्थापना की जाए। इस प्रस्ताव पर हजारों हस्ताक्षर लेकर हम लोगों ने एक अभियान आरंभ किया और पूरे मध्यभारत में विश्व—विद्यालय दिवस मनाया गया। इसी संदर्भ में उज्जैन में भी एक विशेष आयोजन किया गया। हमने सोचा कि अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति को भी उज्जैन में आमंत्रित किया जाए, और उसमें बाबू जी, अमरनाथ झा आदि को विशिष्ट रूप से आमंत्रित किया जाए। बाबूजी से निवेदन किया गया, उन्होंने कृपा कर हमारे अनुरोध को स्वीकार किया, सम्मेलन में शायद यह पहली घटना थी कि उसकी स्थाई समिति का अधिवेशन कहीं प्रयाग से बाहर किया गया हो। बाबूजी उज्जैन आए, तीन दिनों तक रहे, यह मीटिंग बहुत महत्वपूर्ण हुई थी, इसमें विश्वविद्यालय की रूपरेखा पर विचार किया गया था और सम्मेलन ने पूरी तरह समर्थन देने का निश्चय किया था। यही नहीं स्वयं बाबूजी के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल महाराजा ग्वालियर के निकट भेजने का भी निश्चय किया गया था। इस मीटिंग में विशेष रूप से ग्वालियर राज्य के दो शासकीय प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए थे, एक बैरिस्टर बृजकिशोर चतुर्वेदी (अब स्वर्गीय) जो उन दिनों राज्य के गृहसचिव थे तथा श्री दानीसा जो शिक्षा के डिस्ट्रिक्ट इन्स्पेक्टर जनरल थे। इन्हें विशेष रूप से विश्वविद्यालय की स्थापना से सम्बन्धित चर्चा के लिए ही शासन ने सभा में भिजवाया था। इसके पश्चात् सार्वजनिक सभाओं में भी बाबूजी ने विश्वविद्यालय की स्थापना के विषय में बहुत महत्वपूर्ण एवं ओजस्वी भाषण दिए थे, इनका प्रभाव

शासन पर बहुत अनुकूल हुआ था। इसी के बाद आबोहर सम्मेलन होने वाला था, वहाँ हमने मध्य भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से दो प्रतिनिधियों को बाबूजी के अनुरोध पर भिजवाया था, और उस सम्मेलन में विश्वविद्यालय के विषय में एक प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ था, तथा महाराजा ग्वालियर से बाबूजी का पत्र व्यवहार भी हुआ था, ऐसे अनेकों प्रयासों के फलस्वरूप उज्जैन में विक्रम विश्व-विद्यालय की स्थापना हो सकी है जिसमें राजर्षि टण्डन जी का बहुत बड़ा योगदान रहा है। जिस समय मैंने विक्रम-संवत् के दो हजार वर्ष पूर्ण हो रहे थे, उस समय सहस्त्राब्दी मनाने का देशव्यापी प्रयत्न आरंभ किया, उसमें विक्रम विश्वविद्यालय की स्थापना, ,विक्रम कीर्ति मंदिर, विक्रम स्मृति ग्रंथ के प्रकाशन का प्रस्ताव रखा था। इस समारोह के नेतृत्व लेने के लिए महाराजा ग्वालियर से अनुरोध किया, और कृपाकर उन्होंने स्वीकार कर एक लाख रुपया देकर कार्य आरंभ किया। उसमें मेरे तीनों प्रस्तावों को स्वीकार किया गया, और विक्रम विश्वविद्यालय की रूपरेखा बनाने के लिए महाराजा ने सर राधाकृष्णन्, अमरनाथ झा, आदि चार सदस्यों की कमेटी बनाई, और रिपोर्ट तैयार होने पर ४० लाख रुपए देने की घोषणा की। इसी तरह विक्रम कीर्ति मंदिर भी उज्जैन में स्थापित हो गया (४ लाख की लागत से) तथा हिन्दी-मराठी और अंग्रेजी में २००० पृष्ठों के विक्रम स्मृति ग्रंथो का प्रकाशन भी हुआ।

उसके पश्चात् जब हरिद्वार में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ (१९४२) उस समय बाबूजी के आदेश के अनुसार ही विज्ञान-परिषद् की अध्यक्षता करना स्वीकार कर हरिद्वार गया था। मेरा भाषण सुनकर सर्वप्रथम बाबूजी ने बड़े वात्सल्य के साथ मुझे हृदय से लगा कर कहा था कि "विज्ञान जैसे रुक्ष समझे जानेवाले विषय पर इतना सुंदर साहित्यिक भाषण आज सुना कि मेरी आत्मा प्रसन्न हो गई--बधाई" मेरे लिए बाबूजी के ये शब्द १०० 'पद्मभूषणों' की उपाधि से बहुत महत्व के बन गए। मैं नतवदन हो गया था।

संभवतः १९४६ की बात है। मुझे डिफेन्स ऑफ इण्डिया के अन्दर अपने ही स्थान पर स्थानबद्ध (नजरबंद) कर लिया गया था, जब पत्रों से बाबूजी ने यह जाना तो शासन को 'तार' देकर अपनी-नाराजी प्रकट की, और उस समय के कांग्रेसाध्यक्ष डा० पट्टाभि सीतारामैया से कह कर शासन के प्रति विरोध प्रगट करवाया, इस प्रकार बाबूजी की मुझपर सदैव असीम कृपा बनी रही। आखिर में बाबूजी से मेरी भेंट इंदौर में कांग्रेस के अधिवेशन के समय हुई। बाबूजी अकेले तकिए से टिके हुए बैठे हुए थे, पंडितजी (नेहरूजी) का भाषण चल रहा था। और बाबूजी उसी सन्दर्भ में मुझे से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते जा रहे थे, लगभग आधा घण्टा हम लोगों की विभिन्न चर्चा होती रही, मेरे लिए यही अंतिम दर्शन थे, उसके बाद कभी अवसर नहीं आया। किंतु बाबूजी का विक्रम विश्व-विद्यालय की स्थापना में जो योग रहा वह कभी विस्मृत नहीं हो सकेगा। मेरा यह स्वप्न साकार करने में बाबूजी का मुझे पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ था, मैं बाबूजी के प्रति अभेद आदर भाव रखता आया हूँ। उनके जैसे आदर्श, निष्ठाशील, विद्वान्, सिद्धांत प्रिय, न्याय-तत्पर्मूति और भावनाशील महामानव तथा उच्चकोटि के पुरुष एवं आजन्म हिन्दी के उन्नायक की पावन स्मृति में मेरा अर्घ्य अर्पित है।

आचार्य श्री किशोरीदास वाजपेयी

हिन्दी-गंगा के भगीरथ

युग-पुरुषोत्तम, महान् सन्त, राजर्षि टंडन श्रीमद्भगवद्गीता-निर्दिष्ट 'स्थितप्रज्ञ' योगी थे। वे ऐसे महात्मा थे, जो मन, वचन और कर्म में एक होते हैं, जिनका 'रूप छल-प्रपंच से बहुत दूर रहता है - 'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्'। वे राष्ट्र के हित को ही सर्वोपरि समझते थे और उसी के लिए समर्पित थे। वे एक प्रभाव संगठन कर्ता थे; पर गिरोहबन्दी या गुटबंदी से गंदे कीचड़ से सदादूर रहे। इसीलिये हम उन्हें लीडर न कह ऋषि और संत कहते है। भेड़ों को अपने पीछे चला लेना कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु प्रबुद्ध विद्वानों को एक जगह लाकर रखना बहुत कठिन है। राजर्षि टंडन जिस संगठन के 'प्राण' थे, वह प्रबुद्ध राष्ट्रभक्तों का संगठन (तब) था। वे सब सोचने की शक्ति रखते थे और सोच-विचार कर, अपना मत प्रकट करते थे। विचार-मन्थन के बाद जो निर्णय होता था, उसे सब शिरोधार्य करते थे। यह सब इसलिए होता था कि राजर्षि टंडन उस संगठन के संचालक थे।

राजर्षि टंडन अपने विशेष राष्ट्रीय क्षेत्र में अप्रतिम थे; अब भी हैं और सदा रहेंगे। कुछ महापुरुष अद्वितीय हुए हैं। हम अपने इस पिछले युग की बात कर रहे हैं, जिसके सम्पर्क में हम रहे है। लोकमान्य पं० बालगंगाधर तिलक जैसा महान् विद्वान् कोई दूसरा नहीं हुआ; महर्षि पं० मदनमोहन मालवीय जैसा समन्तोभद्र (विविध राष्ट्रीय कार्यों में व्यस्त) समन्वयी नेता कोई दूसरा नहीं देखा गया; महात्मा गांधी को राष्ट्र का जो व्यापक सम्मान तथा विश्वास प्राप्त हुआ, वह अन्य किसी भी नेता को नहीं; निर्वासित जीवन में भी दुर्धर्ष सैन्य-संगठन करके राष्ट्र-शत्रु से लोहा लेने में अमर सेनानी, स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति ('आजाद हिन्द सरकार के प्रथम प्रेसीडेंट') श्री सुभाषचन्द्र बोस के समान इस युग में कोई दूसरा नहीं हुआ। हाँ, बहुत पहले (त्रेता युग में) भगवान् रामचन्द्र ने वह काम जरूर किया था। और, अपनी राष्ट्रभाषा (हिन्दी) को संविधान द्वारा राजभाषा के रूप में स्वीकृति दिलाने में राजर्षि पुरूषोत्तमदास टंडन सर्वोपरि हैं।

गंगा को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने का काम बहुतों ने किया था; परन्तु लाए भगीरथ। बहुत बाधाएँ आईं, शंकर की जटाओं ने उस वेगवती धारा को कुछ काल तक उलझाए रखा; परन्तु फिर भागीरथ ने जोर मारा और उस चक्कर से निकल आई--पृथ्वी पर (समतल में) आ गई। हिन्दी की गंगा को ब्रह्म लोक से पृथ्वी पर लाने का प्रयास भी टंडन जी से पहले कुछ महापुरुषों ने किया था--साहित्य-क्षेत्र से आगे (राज-लोक) में उसे ले आने का प्रयत्न किया था।

महर्षि मालवीय ने बड़ी ही कठिनाई से उत्तर प्रदेश की सरकारी अदालतों में नागरी लिपि को (फारसी लिपि के साथ) बैठाया था; यद्यपि वह जम न पाई थी। सन् १९१० के अक्टूबर की १० तारीख हमारे राष्ट्र के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, जिस दिन 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' का जन्म हुआ। सम्मेलन के प्रथम अध्यक्ष महर्षि मालवीय निर्वाचित हुए थे स्थायी रूप 'सम्मेलन' को मिला और प्रथम मंत्री निर्वाचित हुए--बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन, इलाहाबाद हाईकोर्ट के एक वकील। टंडनजी प्रयाग के ऋषि पं० बालकृष्ण भट्ट के हिन्दी-शिष्य और महर्षि मालवीय के सांस्कृतिक उत्तराधिकारी के रूप में प्रकट हो चुके थे। 'सम्मेलन' का कार्यालय बना टंडन जी का कमरा और उनका (अदालती) मुंशी ही 'सम्मेलन' का सचिव सम्मेलन आगे बढ़ा; अनेक मंत्री बने और टंडनजी प्रधान मंत्री बने। सम्मेलन का पृथक् कार्यालय भी बना। देश में राष्ट्रीय भावना से सम्मेलन को पूर्ण समर्थन मिला। 'सम्मेलन' के वार्षिक अधिवेशन के विभिन्न प्रदेशों के (कलकत्ता जैसे) बड़े नगरों में हुए, जिनके अध्यक्ष महान् साहित्यकार, चोटी के विद्वान् तथा शिक्षाविद् और राजनीतिज्ञ वरण किए गए थे। सप्तर्षि मण्डल ने 'सम्मेलन' को बल दिया और यह बल प्राप्त हुआ टंडन जी के अध्यवसाय से।

आठवें अधिवेशन की अध्यक्षता के लिए टंडन जी की दृष्टि कर्मवीर मोहनदास करमचन्द गांधी पर गई, जो उस समय एक उदीयमान शक्ति के रूप में प्रकट हो रहे थे और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में ग्राह्य कर रहे थे। टंडन जी ऋषि थे--'ऋषिर्दर्शनात्'। बहुत आगे की बात को देख-समझ लेते थे। भगवान् ने उन्हें वह शक्ति दी थी। उन्होंने समझ लिया कि यह उदीयमान शक्ति साधारण नहीं है। उन्होंने 'कर्मवीर गांधी' जी का नाम अध्यक्ष पद के लिए प्रस्तावित कर दिया और सम्मेलन के इस आठवें (इन्दौर) अधिवेशन पर गांधीजी का बल पूर्ण रूप से हिन्दी को मिला। राष्ट्रीय अन्दोलनों का संचालन कांग्रेस तथा सम्मेलन के द्वारा हो रहा था--स्वातंत्र्य तथा राष्ट्रभाषा के प्रति भावना साथ-साथ आगे बढ़ रही थी। एक का संचालन गांधी जी के हाथ में था और दूसरे का टंडन जी के हाथ में।

महात्मा गांधी की नई राष्ट्रभाषा

दस-पन्द्रह वर्षों तक महात्मा गांधी साथी रहे--सम्मेलन में टंडन जी के और टंडन जी कांग्रेस में गांधीजी के एक तेजस्वी नायबों में एक, परन्तु आगे चल कर महात्मा गांधी ने अपना मत एक दूसरे रूप में प्रकट किया। हिन्दी का वह रूप उन्होंने राजभाषा के लिए स्वीकार किया, जो 'सरल उर्दू' के नाम से जाना जाता है। इसका नाम 'हिन्दुस्तानी' नया नहीं, अंग्रेजों का रखा हुआ है। उसी 'हिन्दुस्तानी' को राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में महात्मा जी ने पसन्द किया तथा इस भाषा के लिए नागरी और फारसी दोनों लिपियों का समान रूप से उपयोग उन्होंने पसन्द किया। सो ठीक; परन्तु 'सम्मेलन' को भी उन्होंने जब उसी 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन-प्रचार करने को कहा, तब मत-भेद 'बाबूजी' और 'बापूजी', में हुआ। हिन्दी की धारा वेगवती थी और भगीरथ भी सचेष्ट थे; फिर भी हिन्दुस्तानी' की उत्तुंग शैलश्रेणियों में--शिव-जटाजूट

में——कुछ समय तक चक्कर काटने पड़े। भगीरथ शिव-भक्त थे और शिवजी गंगा को उलझाए रखने के पक्ष में न थे; फिर भी वह उलझन आ ही गई! भगवान् की कृपा, गंगा की शक्ति तथा भगीरथ की तपस्या थी कि उस चक्कर से किसी तरह पिंड छूटा और फिर भगीरथ उस पवित्र जीवनधारा को संविधान-समुद्र तक ले गए। 'गंगा-सागर' बड़े महत्त्व की चीज़ है और अब गंगा को सागर से पृथक करना किसी के बस की बात बात नहीं है।

एक बात स्पष्ट है कि देश में स्वतंत्रता के लिए कोई भी प्रयत्न न हुआ होता, तो भी सन् १९४५-४६ में पराधीनता की बेड़ियाँ कट जातीं। हर हिटलर की तलवार ने संसार के सभी देशों को (माँगे——बिन माँगे) स्वराज देने की स्थिति ला दी थी। परन्तु हिन्दी के लिए वह प्रयत्न न होता, तो अंग्रेजी पिंड न छोड़ती।

शंकर आशुतोष हैं, भोले भी हैं

भगवान् शंकर आशुतोष हैं और 'भोले बाबा' भी हैं। कभी-कभी राक्षस भी उनकी भक्ति करके बड़े-बड़े वरदान-समर्थन प्राप्त करते रहे हैं और उसी के कारण लोक-स्थिति खतरे में पड़ती रही है। वैसी स्थिति शंकर के लिए भी बड़ी चिन्ताजनक हुई; परन्तु भगवान् विष्णु बराबर ऐसी स्थिति में अपनी शक्ति काम में लाते रहे हैं और फिर सब ठीक हो जाता रहा है। फिर भी, विष्णु को कभी किसी ने 'शंकर' नहीं कहा। स्वयं विष्णु भी उन्हें ही 'शंकर' कह कर पूर्ण सम्मान देते रहे हैं, जिनके भोलेपन से वैसी भयंकर स्थिति पैदा हो जाती रही है।

सन् १९२२-२३ के आन्दोलन में गांधी जी जब जेल में रहे, तो सभी तरह के भक्तों को उनके निकट-सम्पर्क में रहने का सुअवसर मिल गया। वहाँ कुछ भक्तों ने उन्हें 'अपनी' बातें समझा दीं। बाहर निकलने पर उन्होंने कहा कि 'हिन्दू-मुस्लिम मेल के बिना स्वराज मिल नहीं सकता।' इसलिए हमें उस का ध्यान सदा रखना है।

गांधी जी ने इस अवसर पर कहा कि 'सम्मेलन' की परीक्षाओं में महाकवि भूषण के वे पद्य न रहने चाहिए जिनसे मुसलमान बुरा मानते हैं। उन्होंने यह भी कहा——'सत्यार्थप्रकाश' में दूसरे मजहबों की कड़ी निन्दा की गई है और यह ठीक नहीं है। इस पर आर्यसमाजी बहुत रुष्ट हुए और कहा कि उन दूसरे मजहबों के ग्रन्थों के बारे में गांधी जी ने कुछ भी नहीं कहा, जिनमें अन्य मजहबों के बारे में घातक बातें कही गई हैं। कुछ दिनों तक आर्यसमाज में बड़ा रोष रहा और फिर धीरे-धीरे शान्ति हो गई।

'भूषण'—काव्य के बारे में 'सम्मेलन' ने विचार किया। सर्वसम्मति से निर्णय यह था कि महाकवि भूषण के काव्य में कहीं भी कोई साम्प्रदायिक विद्वेष नहीं है। उन्होंने केवल आततायी औरंगजेब की ही भर्त्सना की है, जो कोई दोष नहीं; राष्ट्रीय भावना का गुण है। इसलिए 'भूषण-ग्रन्थावली' से कोई भी पद्य अलग करना ठीक नहीं। टंडन जी यह सब सुन-समझकर भी, गांधी जी को साथ रखने के लिए, इस पक्ष में रहे कि हिन्दी का व्यापक हित देखते हुए हमें गांधी जी की बात मान कर 'भूषण-ग्रन्थावली' से वे पद्य हटा देने चाहिए, जिन्हें गांधी जी ठीक नहीं

समझते। 'सम्मेलन' के बहुमत ने टंडन जी की बात मान ली और 'भूषण-ग्रन्थावली' से वे अंश अलग कर दिए गए। परन्तु कुछ तेजस्वी लोगों ने विरोध प्रकट किया था, और (विरोध में) 'सम्मेलन' की 'स्थायी समिति' से त्यागपत्र दे दिए। 'सम्मेलन' के भूतपूर्व अध्यक्ष पं० जगन्नाथ-प्रसाद चतुर्वेदी ने भी स्थायी समिति से त्यागपत्र दे दिया था। फिर भी अन्ततः हिन्दी-हित सबको एक जगह ले आया।

सन् १९३०-३२ के आन्दोलन में गांधी जी जेल गए, तो वहां कुछ भक्तों ने उन्हें (हिन्दी की जगह) 'हिन्दुस्तानी' को राष्ट्रभाषा और राजभाषा बनाने की प्रेरणा दी। जेल से बाहर आकर वे 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन करने लगे और सन् १९३७-३८ में (देश के विभिन्न प्रदेशों में कांग्रेसी सरकार बन जाने पर) 'हिन्दुस्तानी' का जोर बहुत बढ़ गया। डा० ताराचन्द और श्री सुन्दरलाल जैसे सेनानी मैदान में आ गए। बहुत बड़ा संघर्ष हुआ। उसका एक पृथक् इतिहास है। यहां यह प्रासंगिक चर्चा।

"ऐसो को उदार जग माहीं ?"

हमने देखा है कि बड़े से बड़े 'जनतंत्रीय' संगठन जनतंत्र का सहारा ले कर लोग बड़े हुए, बढ़े; परन्तु बड़े से बड़े अपने निर्वाचित पदाधिकारी को धाधागर्दी से उखाड़ फेंका ! अपनी रुचि का निर्वाचन न होने पर संगठन के बड़े से बड़े नेता ने विरोध की आवाज उठाई और फिर बड़े से बड़ा वह निर्वाचित अधिकारी इस तरह उड़ गया, जैसे कि तेज आँधी के झोंके में रुई उड़ जाती है।

परन्तु 'सम्मेलन' की सर्वोच्च सत्ता ने—राजर्षि टंडन ने—कभी भी कोई वैसी चीज नहीं होने दी। यही कारण है कि वैसे प्रबुद्ध जनों का वैसा संगठन वे बना-चला सके। यहाँ एक घटना दी जा रही है, जिससे टंडन जी की जनतंत्र में अमिट आस्था, सहिष्णुता तथा उदारता प्रकट हो जाएगी।

'सम्मेलन' के शिमला-अधिवेशन पर हिन्दी के प्रबल समर्थकों की पूरी सेना पहुँची थी कि 'हिन्दुस्तानी' के जो चरण धीरे-धीरे सम्मेलन को डिगाने के लिए आ रहे हैं, उन्हें दृढ़ता से हटा दिया जाए। इस महती सेना के सर्वोच्च नायक थे पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी। महाकवि निराला जैसे दुर्धर्ष महारथी चतुर्वेदी जी के नायबों में थे। जम कर लोहा लिया गया और सदा के लिए 'हिन्दुस्तानी' सम्मेलन से हट गई।

तीन दिन तक ऐसा संघर्ष रहा कि क्या पूछो। सफलता पूरी मिली; परन्तु थक कर सब चूर-चूर हो रहे थे। चौथे दिन के लिए अब एक ही काम रह गया था कि प्रतिनिधि-जन सम्मेलन की 'स्थायी समिति' के लिए नियत संख्या में सदस्यों का निर्वाचन करें। टंडन जी उस समय असेंबली के 'स्पीकर' थे—विधान सभा के अध्यक्ष। जरूरी काम से जल्दी लखनऊ जाना था। थके तो वे सबसे ज्यादा थे ही।

उतने सदस्यों के निर्वाचन में चार-पाँच घंटे लगते ही थे ! सोचा यह गया कि नियमावली में निर्दिष्ट संख्या के अनुसार एक सूची बना ली जाए और उसी को प्रतिनिधियों से पास

करा लिया जाए, तो एक घटे में ही सब हो जाएगा। पं०श्रीनारायण चतुर्वेदी तथा (सम्मेलन के अध्यक्ष) श्री पं०बाबूराव विष्णु पराड़कर ने मिल कर वैसी सूची बनाई और टंडन जी को दिखा कर संस्तुति प्राप्त कर ली। सबेरे आठ बजे प्रतिनिधि जन समवेत हुए, तो उनके सामने वह सूची यह कह कर पढ़ी गई कि खूब सोच-विचार कर यह सूची बनाई गई है। यदि इसे ही आप सब स्वीकार कर लें. तो समय की बचत हो जाएगी।"

सभापति के साथ टंडन जी तथा चतुर्वेदी जी बैठे थे अपने 'हाई' कमान की यह बात सब ने स्वीकार कर ली परन्तु मैंने––केवल मैंने––इसका विरोध किया और कहा कि नियमावली में निर्वाचन का विधान है, सूची पास करने का नहीं। सो, विधिवत् निर्वाचन होना चाहिए।

एक आवाज आई––"यह निर्वाचन ही है। सर्वसम्मति से यह सूची स्वीकार है; केवल एक सदस्य का विरोध है, और सो भी बेकार! अन्य कोई नाम प्रस्तावित है ही नहीं।" इस पर मैंने अपना नाम स्वयं ही प्रस्तावित कर दिया। अनुमोदन-समर्थन का नियम ी इस निर्वाचन के लिये न था।

सब लोग मेरी ओर विरोध-दृष्टि से देख रहे थे! ंडन जी ने पं० नरदेव शास्त्री वेद-तीर्थ को भेजा कि जा कर वाजपेयी को समझाओ। उन्होंने मुझे समझाया, पर मैं माना नहीं। फिर टंडन जी ने अपने पास बुलाकर मुझे बहुत समझाया तो भी मैंने निर्वाचन की जिद न छोड़ी, इसी घिसघस में लगभग एक घंटा लग गया! तब तंग आ कर एक सदस्य ने कहा––

"वाजपेयी जी जिद कर रहे हैं, तो सभापति महोदय मत लेकर झमेला समाप्त कर दें।"

इस पर एक दूसरे सदस्य ने कहा––"मत भी नहीं लिए जा सकते; क्योंकि वाजपेयी जी का समर्थन ही किसी ने नहीं कया है। वे अकेले ही हैं।"

तब राजर्षि टंडन बोले––

"यह नियमावली की बात है। सब लोग सूची स्वीकार कर ले, तब तो ठीक; अन्यथा, एक भी सदस्य यदि आपत्ति प्रकट करता है, तो सूची नहीं स्वीकृत हो सकती; निर्वाचन ोगा।"

सब चुप हो गए। नाम प्रस्तावित होने लगे। बीसों नए नाम प्रस्तावित हुए। सब पर मत-दान हुए। तीन घंटे इस तरह निर्वाचन में लग गए! परन्तु चुने वे ही गए. जिनके नाम उस सूची में थे।

बाहर निकल कर टंडन जी ने मेरी पीठ थपथपाई। समझा कि यह 'सत्याग्रही' है। और मैंने उसी दिन उन्हें अपना नेता मान लिया। आगे फिर आँखें बन्द करके उनके पीछे चलने लगा पर भाषा–नियमन संबंधी विचारों में मैंने नेता के विरुद्ध मत प्रकट किया। टंडन जी हिन्दी शब्दों की लिंग-व्यवस्था करके एक झंझट हटा देना चाहते थे, जो प्रायः अहिन्दीभाषी जनों के सामने आती है। समर्थन भी उन्हें पूरा मिल गया था; परन्तु मेरे विरोध के कारण उनका वह उद्योग सफल न हुआ! हिन्दी-शब्दानुशासन बन कर प्रकाशित हो जाने के बाद भी वे बराबर अपनी बात कहते रहे; पर मेरे मन न चढ़ा! इसका वैसा ही मुझे दुख है, जैसा कि गांधी जी का 'सम्मेलन' से त्यागपत्र स्वीकार करते समय उन्हें हुआ था।

सेठ कमलनयन बजाज

हिन्दुस्तानी और टण्डन जी

गांधी इरविन पैक्ट हो चुका था। सत्याग्रह वापस ले लिया गया था। सत्याग्रह आंदोलन में शामिल हुए हम बच्चों को अवकाश मिला। आंदोलन के दौरान अंग्रेजी सरकार के विश्वविद्यालयों तथा उनसे संबंधित स्कूलों के बहिष्कार के कारण राष्ट्रीय विचारवाले परिवारों के बच्चे इन संस्थाओं में नहीं पढ़ सकते थे। सो अब वे कहाँ पढ़ें, यह सवाल उत्पन्न हुआ। यही निर्णय लिया गया कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा तथा उसके बाद मध्यमा की पढ़ाई की जाय। इसके लिए वर्धा में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं का केन्द्र भी खुलवाया गया और हमारे परिवारों के लोगों के साथ अन्य दूसरे भी उन परीक्षाओं में सम्मिलित होते रहे।

सन् १९२५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन के पूर्व आदरणीय टण्डन जी वर्धा आये थे और बजाजवाड़ी में हम लोगों के पास ही ठहरे हुए थे। पूज्य बापू को वह इन्दौर अधिवेशन का अध्यक्ष बनाना चाहते थे और उसमें पूज्य काकाजी (पिताजी—स्वर्गीय श्री जमनालाल बजाज) की मदद चाहते थे। दोनों आपस में बात करके बापू के पास गये।

बापू को अन्य बातों का समाधान किया जा सका पर उन्होंने एक शर्त लगा दी कि हिन्दी प्रचार के लिए एक लाख रुपये की राशि इकट्ठा हो, तभी वह अध्यक्ष पद स्वीकार करेंगे। टण्डनजी ने आश्वासन दिया कि सम्मेलन वाले पूरा प्रयत्न करेंगे, और उन्हें उम्मीद है कि राशि जमा होने में दिक्कत नहीं होगी। लेकिन बापू तो बनिया थे। वह इस तरह की कच्ची बातों में आने वाले नहीं थे। उन्हें तो पक्का आश्वासन चाहिए था कि राशि पूरी होगी ही।

टण्डनजी पूरा आश्वासन दे नहीं सकते थे और बापू को समाधान हो नहीं सकता था। जब दोनों के बीच अन्तर रह ही गया, तब काकाजी ने कहा कि वह इसकी जिम्मेदारी लेते हैं, स्वयं उस राशि को इकटठा करने में मदद करेंगे। फिर भी रकम में यदि कमी रह गई तो उसकी पूर्ति वह स्वयं करेंगे, बापू की बात रह गई और टण्डन जी का हौसला बढ़ा।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का शिमला-अधिवेशन हो चुका था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन में बापू के शामिल हो जाने से उसमें एक नया चैतन्य और उत्साह आ गया था। राष्ट्रीय वृत्ति के अनेक लोग उसमें शामिल हो गये थे। हिन्दी के प्रचार कार्य में भी तेजी आ गई थी और प्रचार कार्य का केन्द्र भी वर्धा से सचरित होता जा रहा था। उधर हिन्दी के आग्रही जो साहित्य सम्मेलन में थे और राष्ट्रीय वृत्ति के कार्यकर्ताओं में 'हिन्दी' और हिन्दुस्तानी की वजह से विचार, नीति, वृत्ति, और कार्य पद्धति में फर्क पनपने लगा। इस अंतर को दूर करने के लिए

टण्डनजी वर्धा आये और बाजाजवाड़ी में ही ठहरे। काकाजी से जो उनकी चर्चा हुई उसका सार कुछ इस प्रकार था—

काकाजी (श्री जमनलालबजाज) इस पक्ष में थे कि 'हिन्दुस्तानी' राष्ट्रभाषा बने। टण्डनजी 'हिन्दी' को ही राष्ट्रभाषा का सम्मान मिले, इसके कायल थे। काकाजी का कहना था कि नाम का आग्रह नहीं है लेकिन राष्ट्रभाषा जो होगी उसमें हिन्दी भाषा व देव नागरी लिपि के साथ-साथ उर्दू भाषा व लिपि का स्वाभाविक समावेश होगा। राष्ट्रीयता के नाते राष्ट्रभाषा का यह सम्मिलित स्वरूप स्वाभाविक और व्यवहारिक होगा और उसमें बुद्धि-मत्ता व समझदारी भी होगी। साथ ही काकाजी का कहना था कि राष्ट्रभाषा को इतनी लचीली होना जरूरी होगा जिससे अन्य प्रान्तीय (प्रादेशिक) भाषाओं का प्रभाव वह झेल सके और उन भाषाओं के भी प्रचलित और प्रतिष्ठित शब्दों को राष्ट्रभाषा में शामिल किया जा सके। इसमें राष्ट्रभाषा का उपयोग व समावेश प्रादेशिक भाषा में भी हो सकेगा। इस तरह का आदान-प्रदान स्वाभाविक विकास का ही लक्षण होगा। इससे सभी प्रदेशों के लोगों में आत्मीयता पनप सकेगी और वह राष्ट्रीयता के हक में होगा। उसको रोकना एक कृत्रिम प्रयास होगा और वह राष्ट्र के हक में ठीक नहीं है।

दूसरी ओर टण्डनजी का कहना था कि हिन्दी का स्वरूप शुद्ध रहना चाहिए नहीं तो वह भाषा बिगड़ जायगी। यदि तामिल, तेलगु, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि अपनी भाषाओं को शुद्ध रखने के अधिकारी हैं तो हिन्दी को भी उसी तरह से शुद्ध रखने का हमें हक है और उसमें किसी प्रकार की ढिलाई नहीं बरतनी चाहिए। उर्दू भाषा और लिपि से टण्डनजी का काफी विरोध था। उर्दू लिपि को स्वीकार करने की वह आवश्यकता महसूस नहीं करते थे और उसे ठीक भी नहीं समझते थे। उर्दू भाषा पनपे उसमें उन्हें विरोध नहीं था। उसका पनपना वह पसंद भी करते थे। लेकिन उसका असर राष्ट्रभाषा हिन्दी पर हो, यह उनके लिए असह्य था।

काकाजी को इस बात का विरोध नहीं था कि हिन्दी को शुद्ध रखने का आग्रह नहीं किया जा सकता। फिर भी वह मानते थे कि जैसे-जैसे अन्य भाषा-भाषियों का आपसी संपर्क बढ़ता जायगा, एक दूसरी भाषाओं पर आपस में प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। गुलाम देश की भाषायें होने के बावजूद हमारी भाषाओं में से अंग्रेजों को भी कई शब्द लेने पड़े। जिस तरह की शुद्धता टण्डनजी चाहते थे वह काकाजी के मतानुसार अस्वाभाविक थी और वांछनीय तो कतई नहीं। काकाजी ने कहा कि अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तरह हिन्दी को शुद्ध रखने का हिन्दी-भाषा भाषियों का ध्येय हो तो उसे वह समझ सकते हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी को प्रादेशिक भाषाओं की तरह छोड़कर राष्ट्रभाषा के लिए 'हिन्दुस्तानी' नाम का आविष्कार जो बापू ने किया, स्वीकार कर लेने के लिए उन्होंने समझाने का प्रयत्न किया।

काकाजी और टण्डनजी दोनों ही राष्ट्रभाषा के प्रेमी थे। राष्ट्र में एक भाषा अच्छी तरह से संपर्क-भाषा बन सके, इसके आग्रही थे। दोनों ने ही इस दृष्टि से देश में विशेष कार्य किये थे। लेकिन 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तानी' को लेकर जो मार्मिक फर्क दोनों के विचारों में

स्पष्ट दिखाई देता था वह मिटाया नहीं जा सका। काफी घंटों की चर्चा के बाद भी कुछ निष्कर्ष नहीं निकला। कमरे से बाहर आते समय हम बच्चों को देखकर टण्डनजी ने काकाजी से कहा, "हम लोग तो एक राय पर नहीं जा सकेंगे, हमारा जमाना भी अब कितना रहा? भविष्य तो इन बच्चों के हाथ में है। इन्हीं से पूछो कि ये क्या चाहते हैं?"

टण्डनजी खूब अच्छी तरह से जानते थे, कि हम बच्चे हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं में बैठे हुए हैं और हिन्दी का अभ्यास विशेष रूप से हम लोगों ने कुछ किया है। शायद उन्हें उम्मीद थी कि हम लोग हिन्दी का ही पक्ष लेंगे। काकाजी ने कहा कि आप ही पूछिये। टण्डनजी ने मुस्कराकर हम लोगों से पूछा कि राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' होनी चाहिए या 'हिन्दुस्तानी' हम लोग बड़े धर्मसंकट में फँस गये। हम लोगों के विचार बापू और काकाजी के विचारों के अनुकूल ही थे। टण्डनजी के लिए हमें श्रद्धा थी, साथ ही वह हमारे आदरणीय मेहमान भी थे, तो क्या कहें, कुछ समझ में नहीं आता था। अचानक मुझे सूझा और मैंने कहा, 'आप दोनों ही हम लोगों के बुजुर्ग हैं, आदरणीय हैं। आप दोनों के मतभेद देखकर हमें क्लेश होता है, और अफसोस भी। लेकिन हमें डर इस बात का है कि आपके इस हिन्दी-हिन्दुस्तानी के झगड़े में कहीं हमारा हलवा, बर्फी, कलाकंद बनना भारत में बन्द न हो जाय।' वहां उपस्थित सभी लोग हंस पड़े। टण्डनजी ने कहा कि बड़ी चतुराई से तुमने जवाब दिया है और अपनी खुशी भी उन्होंने जताई। मैंने कहा कि हम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षा दिए हुए हैं। इतनी-सी बात भी यदि हमें कहनी नहीं आती तो फिर इन परीक्षाओं का देना ही व्यर्थ हो जाता।

बात वहीं पर थोड़े में टल गई। बाद में इसकी चर्चा बापू से भी हुई। विनोबाजी से भी टण्डनजी ने बातचीत की। विनोबाजी ने अन्य कई कारण देते हुए टण्डनजी को समझाया कि अब तक हिन्दी में अरबी, फारसी व उर्दू शब्दों का इतना समावेश हो चुका है कि उसे टाला नहीं जा सकता। लेकिन जब उनका स्पष्टता से इंकार देखा तो कहा कि तुलसीकृत रामायण में, जो लगभग ३०० वर्ष पूर्व लिखी गई है, जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है वे तो आपको स्वीकार ही होंगे? टण्डनजी ने 'हाँ' कहा। विनोबा ने रामायण में से चौपाइयों को दुहराते हुए पचासों उर्दू शब्द टण्डनजी के सामने रख दिये। शायद किसी को ख्याल भी नहीं था कि रामायण में इतने उर्दू शब्द हैं। टण्डनजी कुछ जवाब नहीं दे सके। बाद में मैंने टण्डनजी से पूछा कि शायद इतना ख्याल क्वचित् ही किसी को होगा कि उर्दू के इतने शब्दों का उपयोग तुलसीकृत रामायण में हुआ है। टण्डनजी ने कहा कि तुलसीदास, बापू, विनोबा ये सब तो महात्मा हैं। महात्माओं की तो अलग ही दृष्टि होती है। उनकी बात तो दूसरी है। हमको तो सांसारिक दृष्टि से देखना है। मैंने कहा कि आप भी तो महात्मा ही हैं। आपका जीवन इन लोगों से किस प्रकार कम है? बात को टालते हुए उन्होंने दुहराया कि सवाल तो व्यावहारिक और समाज की दृष्टि से सोचने का है।

आपस में इन गुरुजनों की काफी चर्चा होने के बाद उनमें किसी प्रकार समझौता नहीं हो सका। हिन्दी साहित्य सम्मेलन से बापू और बापू के अनुकूल विचार रखनेवाले लोग अलग

हो गये और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का निर्माण करके राष्ट्रभाषा के प्रचार में वे लग गये। काका कालेलकर, राजेन्द्रबाबू, श्रीमन्नारायणजी, प्रो० सत्यनारायणजी आदि का महत्वपूर्ण योग उसमें रहा। यदि उस समय बापूजी की सही दृष्टि मान ली जाती तो आज राष्ट्रभाषा को लेकर जो एक विकट परिस्थिती देश में निर्मित हो गई है, खासकर दक्षिण और उत्तर में, उससे हम बच जाते और भारत की एकता में भी अधिक मजबूती रहती।

पंडित हरिभाऊजी और श्री मार्तण्ड उपाध्याय के पिताजी का स्वर्गवास हो गया था। इलाहाबाद के दैनिक 'भारत' में गलती से ऐसा समाचार छप गया कि श्री मार्तण्डजी का स्वगवास हो गया। टण्डनजी ने मार्तण्डजी के .स्वर्गवास' पर संवेदना का पत्र लिखा। बाद में उन्हें पता चला कि मार्तण्डजी नहीं बल्कि उनके पिताजी का स्वर्गवास हुआ था। उन्होंने दूसरा पत्र लिखा जिसमें पहला समाचार 'अशुद्ध', ऐसा जिक्र किया। जब वह पत्र मेरे पढ़ने में आया तो ख्याल हुआ कि टण्डनजी ने 'अशुद्ध' शब्द का प्रयोग वहाँ कैसे किया, वह शुद्ध प्रयोग नहीं महसूस हुआ। कुछ सोचने से मालूम हुआ कि 'गलत' उर्दू शब्द होने की वजह से उस शब्द का प्रयोग उन्होंने टाला है और उस अर्थ का पर्यायवाची दूसरा अनुकूल शब्द हिन्दी में नहीं होने की वजह से 'गलत' शब्द की जगह 'अशुद्ध' शब्द का प्रयोग उन्होंने किया है। इससे हिन्दी के प्रति उनकी निष्ठा तथा उर्दू शब्दों के प्रति उनका विरोध कितना कड़ा और दृढ़ था, इसकी झलक मिलती है।

डाक्टर उदयनारायण तिवारी

राजर्षि टण्डन जी: एक संस्मरण

आदणीय राजर्षि पुरुषोत्तमदास जी टण्डन के निर्देश में मुझे सन् १९३० से उनके निधन-पर्यन्त लगभग ३० वर्षों से अधिक कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। इस अवधि के बीच मुझे बाबू जी को निकट से देखने का असवर मिला। जब राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा की स्थापना हुई और उसकी बैठकें वर्धा में होने लगीं तो मैं प्रायः बाबू जी के साथ वर्धा समिति के सदस्य के रूप में वहाँ जाया करता था। वहां की अधिकांश बैठकों में राष्ट्रपिता बापू जी भी उपस्थित होते थे। अतएव इन बैठकों में उनके भी दर्शन का मौका मुझे मिलता रहा। मैंने अनुभव किया कि बाबू जी और बापू जी, दोनों एक दूसरे के प्रति अत्यधिक स्नेह और श्रद्धा रखते थे। मैंने श्रद्धेय टण्डन जी को केवल दो व्यक्तियों के चरण-स्पर्श करते हुए देखा है। इनमें से एक थे पण्डित महामना मदनमोहन मालवीय तथा दूसरे थे राष्ट्रपिता गांधी जी। वास्तव में इन दोनों व्यक्तियों से ही प्रेरणा ग्रहण कर बाबू जी ने अपने जीवन का मार्ग निर्धारित किया था। यह प्रेरणा दो रूपों में प्रतिफलित हुई थी। इसमें एक थी भारत को एकसूत्र में बांधने के लिए हिन्दी का प्रचार और प्रसार तथा दूसरी प्रेरणा थी भारत को स्वतंत्र करने की कामना। इन दोनों की प्रेरणा आरम्भ में टण्डन जी को महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी से ही प्राप्त हुई थी। मालवीय जी एक ओर जहां कांग्रेस के एक सुदृढ़ स्तम्भ एवं देश के स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानी थे वहां दूसरी ओर हिन्दी को राष्ट्रभाषा रूप में स्वीकृत कराने के आन्दोलन के भी प्रवर्त्तक थे।

सच बात तो यह है कि सन् १९०१ से १९१० ई० के बीच का इतिहास भारतीय नव-जागरण का इतिहास है। इसी समय में लार्ड कर्जन ने बंगभंग किया जिसके कारण बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। इसी समय सूरत की कांग्रेस के अधिवेशन में क्रान्तिकारी-दल की विजय हुई और भारत के उदार-दल का कांग्रेस से सदा के लिए निष्कासन हुआ। उत्तर प्रदेश-स्थित भारतीय क्रान्तिकारियों का एक दल संगठित हुआ जिसमें महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब, गुजरात आदि सभी प्रदेशों के नवयुवक शामिल थे। इस युग में राष्ट्रीयता की जो लहर उठी उसने राष्ट्रभाषा की ओर भारतीय तरुणों का ध्यान आकर्षित किया। उसके फलस्वरूप राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी राष्ट्रीयता का अविभाज्य अंग बनने लगी।

इधर उत्तरी भारत में हिन्दी को समुन्नत करने तथा उसे राष्ट्रभाषा पद पर आसीन कराने का आन्दोलन चल पड़ा। यह सर्वथा स्वाभाविक था। हिन्दी उत्तर भारत की जनता

की मातृभाषा थी किन्तु उसे कचहरियों तथा सरकारी कार्यालयों में उचित स्थान प्राप्त नहीं था। इस आन्दोलन के प्रवर्तक महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी थे।

उत्तर प्रदेश (तब संयुक्त प्रान्त) की कचहरियों में वैकल्पिक रूप से हिन्दी में लिखी अर्जियाँ भी ले ली जाया करें, इसके लिए लाखों व्यक्तियों के हस्ताक्षर करा कर उस समय के गवर्नर सर ऐंथनी मेकडोनेल के पास मालवीय जी की प्रेरणा से एक पत्र भेजा गया। इस कार्य में बाबू पुरुषोत्तमदास जी टण्डन ने महामना मालवीय जी की सहायता की। सन् १८९३ ई० में स्थापित नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने भी इस आन्दोलन में मालवीय जी का हाथ बंटाया। आगे चलकर १० अक्तूबर सन् १९१० में नागरी प्रचारिणी सभा के प्रागंण में ही 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' की स्थापना हुई, इसका प्रथम अधिवेशन भी काशी ही में हुआ और इसके सभापति भी महामना मालवीय जी ही हुए। सम्मेलन के संगठन मन्त्री बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन जी मनोनीत हुए। सम्मेलन ने अपनी प्रथम नियमावली में ही 'हिन्दी' को राष्ट्रभाषा तथा 'देवनागरी' को राष्ट्रलिपि घोषित किया।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ गांधी जी का सहयोग

सन् १९१४ ई० में गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से भारत आये। एक बार उन्होंने बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन जी को अपने एक पत्र में लिखा, 'मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न तो स्वराज्य का प्रश्न है।' ठीक यही बात टण्डन जी के मन में भी थी। सन् १९१७ ई० में टण्डन जी की प्रेरणा से गांधी जी 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' इन्दौर के वार्षिक अधिवेशन के सभापति हुए। इसके बाद दूसरी बार सन् १९३५ ई० में बापू इन्दौर में पुनः सम्मेलन के सभापति बने। सम्मेलन में गांधी जी के आगमन से हिन्दी राष्ट्रभाषा-आन्दोलन को बहुत बल मिला। गांधी जी की प्रेरणा से ही सम्मेलन के तत्वावधान में दक्षिण में हिन्दी का प्रचार कार्य आरम्भ हुआ और 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की नींव पड़ी। सन् १९२१ के बाद गांधी जी भारत की राजनीति के कर्णधार बन गये। उन्हें अन्य कार्यों के साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी का भी सदैव ध्यान रहा।

श्री टण्डन जी एवं गांधी जी के अनवरत प्रयत्न से राष्ट्रभाषा के प्रचार कार्य में ऐसी अभूतपूर्व सफलता मिली कि उस समय की बृटिश सरकार भी राष्ट्रभाषा के आन्दोलन से उतनी ही घबड़ाने लगी जितनी कि वह स्वराज्य के आन्दोलन से घबड़ाती थी। असहयोग आन्दोलन की विफलता के बाद हिन्दू तथा मुसलमानों की राजनैतिक विचारधाराओं में जो अन्तर आने लगा उसका प्रभाव राष्ट्रभाषा पर पड़ना आवश्यक था। जिस प्रकार से देश में एक वर्ग कांग्रेस का विपक्षी बन गया, उसी रूप में वह वर्ग राष्ट्रभाषा का विरोधी बन बैठा और टण्डन जी को यह वर्ग हिन्दी का कट्टर पक्षपाती एवं उर्दू का शत्रु मानने लगा। इस सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ न कहकर मैं केवल बाबू जी के सन् १९२३ के कानपुर 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के भाषण के हिन्दी-उर्दू के सम्बन्ध में उनके विचारों को उद्धृत करता हूँ।

"आज हिन्दी और उर्दू दो भिन्न सभ्यताओं की सूचक भाषाएँ बन गयी हैं। उनका धार्मिक प्रोत्साहन भी भिन्न उपमाओं एवं रूपकों एवं भिन्न दिव्य पुरुषों द्वारा होता है। किन्तु वास्तव में भाषा का आधार एक ही है और अभी यह दोनों स्रोत इतनी दूर एक दूसरे से नहीं हुए हैं कि फिर मिल कर एक प्रबल धारा में परिणत हों, भारतवर्ष भर को अपनी शक्ति से सुसज्जित कर दें। मुझे तो आधुनिक हिन्दी और उर्दू भाषाओं के पोषक देशभक्तों का यही तात्कालिक कर्तव्य जान पड़ता है। कुछ हिन्दी प्रेमी मेरे इस कथन को सुन कर, संभव है, भयभीत हों और समझें कि मैं हिन्दी भाषा के रूप को विकृत करने की सम्मति दे रहा हूँ और यह कहें कि इस प्रकार के विकृत रूप में न हिन्दी भाषा का माधुर्य, न प्रसाद और न प्रौढ़ता ही रह जायगी... हिन्दी भाषा के आधुनिक रूप के विकृत होने से उसकी गति रुक जायगी, यह मैं नहीं मानता। प्रतिभाशाली कवि और प्रौढ़ लेखक हिन्दी और उर्दू की मिली हुई भाषा में भी वही शक्ति उत्पन्न कर देंगे जो सदा आपको पथभ्रष्ट (अपभ्रंश ?) किन्तु जीवित भाषाओं में मिलती आयी है।' ये हैं हिन्दी उर्दू के समन्वय के सम्बन्ध में बाबू जी के विचार, जिन्हें एक वर्ग के लोग उर्दू का शत्रु समझते रहे। सच बात तो यह है कि इस सम्बन्ध के प्रश्न पर उर्दू के पक्षपातियों ने कभी गंभीरता से विचार नहीं किया और जब वे तैयार न हुए तो अन्ततोगत्वा समन्वय कैसे होता ?

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सन् १९३५ के इन्दौर अधिवेशन में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था जिसके अनुसार देश की प्रान्तीय भाषा के साहित्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने तथा हिन्दी भाषा की वृद्धि में उनका सहयोग प्राप्त करने के अभिप्राय से एक समिति का निर्माण किया गया था। इस समिति के संयोजक उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी जी थे। इस समिति ने दूसरी भाषाओं के साहित्यिकों तथा संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित किया तथा सन् १९३६ में नागपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर भारतीय साहित्य परिषद् की स्थापना के लिए एक अधिवेशन भी किया। इस अधिवेशन के सभापति पूज्य गांधी जी थे। अंजुमन तरक्किए-उर्दू के सर्वेसर्वा डा० अब्दुलहक़ भी आमंत्रित होकर इस अधिवेशन में उपस्थित थे। जब वहाँ यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि परिषद् की कार्यवाही किस भाषा में हो तो उन्होंने (डा० हक ने) 'हिन्दुस्तानी' नाम पसन्द किया। पूज्य गांधी जी को हिन्दी-हिन्दुस्तानी नाम अधिक उपयुक्त जंचा। बहुमत से गांधी जी द्वारा दिया हुआ नाम ही स्वीकृत हुआ। इसके पश्चात् डा० हक ने भारतीय साहित्य परिषद् तथा पूज्य गांधी जी के विरुद्ध लेख लिखा जिसमें उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि महात्मा गांधी ने धोखे की चादर उतार फेंकी और असली रंग में नजर आने लगे। वह शौक से हिन्दी का प्रचार करें। वह हिन्दी नहीं छोड़ सकते तो हम उर्दू नहीं छोड़ सकते।

ऊपर की कटु आलोचना के बावजूद भी पूज्य बापू हिन्दी-उर्दू समन्वय के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। डा० अब्दुलहक तथा उनकी-सी मनोवृत्तिवाले लोगों की सतत आलोचना के कारण परिणाम यह हुआ कि गांधी जी ने हिन्दी-हिन्दुस्तानी से 'हिन्दी' शब्द निकाल कर केवल 'हिन्दुस्तानी' नाम को स्वीकार कर लिया। यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि दक्षिण में हिन्दी के

प्रचार के लिए सम्मेलन के तत्वावधान में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना हुई थी। कई वर्षों तक यह सभा सम्मेलन के निर्देशन में कार्य करती रही किन्तु आगे चलकर यह स्वतंत्र संस्था बन गयी। जब बापू हिन्दुस्तानी की ओर झुके तो इस सभा ने भी अपना नाम बदल कर 'दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार सभा' के बजाय 'दक्षिण भारत हिन्दुस्तानी प्रचार सभा रख लिया। इस कारण उत्तर भारत के हिन्दी भाषा भाषियों में थोड़ा क्षोभ भी हुआ। उत्तर भारत के हिन्दी भाषा-भाषी हिन्दी और उर्दू दोनों से भलीभांति परिचित थे। यहाँ के प्रबुद्ध लोग इस बात को पूर्ण रूप से अनुभव करते थे कि हिन्दी-उर्दू का समन्वय वास्तव में साहित्यिक स्तर पर उत्तर भारत के हिन्दी-उर्दू के लेखकों एवं साहित्यकारों के द्वारा होगा। बाबू पुरुषोत्तम-दास जी टण्डन ने इसके लिए अपने कानपुर के सभापति-भाषण में उर्दू वालों को आमंत्रित भी किया था, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। हिन्दी के प्रबुद्ध लोग एवं साहित्यिक गांधी जी के एकतरफा उद्योग से क्षुब्ध थे। किन्तु बापू सम्पूर्ण भारतीय जनता के हृदय-सम्राट् थे। अत-एव इस सम्बन्ध में उनकी आलोचना प्रत्यालोचना करने का बहुत कम लोगों में साहस हुआ। इसी बीच यह भी प्रयत्न होने लगा कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भी 'हिन्दुस्तानी' स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया जाय। इसके लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन की नियमावली में परिवर्तन आवश्यक था। उस वक्त श्रद्धेय टण्डन जी जेल में थे और सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित होने में वे असमर्थ थे। इसी समय देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद जी का एक प्रस्ताव आया जिसका आशय यह था कि सम्मेलन राष्ट्रभाषा के सारे प्रश्न को अपने कार्यक्षेत्र से हटा दे और तत्सम्बन्धी समस्याओं को तीन व्यक्तियों को सुपुर्द कर दे। जहाँ तक मुझे स्मरण है इसमें एक नाम पूज्य गांधी जी का था। अन्य दो व्यक्तियों के नाम मुझे इस समय स्मरण नहीं हैं। उन दिनों मैं कलकत्ते में रहकर अपनी डी० लिट्० का अधिनिबन्ध तैयार कर रहा था। मैंने इस विषय में टण्डन जी से निर्देशन प्राप्त करने के लिए सेन्ट्रल जेल फतेहगढ़ के पते से एक पत्र लिखा था। मेरा यह पत्र ३० आश्विन संवत् १९९८ को लिखा गया था जिसका उत्तर बाबू जी ने मेरे कलकत्ते के पते पर ८ कार्तिक ९८ (२५-१०-४१) को दिया था। यह पत्र सेन्सर होकर २७-११-४१ को फतेहगढ़ जेल से चला। इस पत्र की प्रतिलिपि मैं यहाँ नीचे दे रहा हूँ—

सेन्ट्रल जेल, फतेहगढ़
८ कार्तिक ९८
२५-१०-४१.

प्रिय त्रिपाठी जी, नमस्कार।

आपका ३० आश्विन का पत्र संख्या ३२०७, जिसके साथ आपने राजेन्द्र बाबू के एक प्रस्ताव की प्रतिलिपि भेजी है, और जिसमें आपने उस प्रस्ताव पर मेरी सम्मति माँगी है, मिला।

वास्तव में यह नियम-परिवर्तन का प्रस्ताव है। यहाँ नियम ४८ लागू होगा। नियम परिवर्तन स्वीकृति के बाद ही या इसके साथ सम्मेलन की ओर से वह बातें की जा सकती हैं जो

बाबू चाहते हैं। किन्तु यह स्पष्ट न कह कर कि किन-किन नियमों में क्या परिवर्तन किये जायं, प्रस्तावक ने केवल यह कहा है कि नियमावली में जहाँ-जहाँ आवश्यक हो योग्य परिवर्तन किया जाय। प्रस्तावक का तात्पर्य यह जान पड़ता है कि मंत्रीगण नियमों में हेरफेर अपनी बुद्धि के अनुसार प्रस्ताव के आशय को समझ कर कर लें। यह अनियमित और दायित्वहीन बात है। प्रस्तावक का यह दायित्व है कि वह बतावे कि नियमों के किन अंशों में क्या परिवर्तन वह चाहता है। उससे तात्पर्य भी अधिक स्पष्ट होगा। नियमावली परिवर्तन के प्रस्ताव साधारण प्रस्तावों की भांति नहीं होते। उनकी शब्दावली सदा बहुत पूर्ण और स्पष्ट होनी चाहिए।

परिवर्तन का ठीक रूप सामने न होते हुए प्रस्ताव के शब्दों से यह जान पड़ता है कि प्रस्तावक की यह इच्छा है कि सम्मेलन राष्ट्रभाषा के सारे प्रश्न को अपने कार्यक्षेत्र से हटा दे और उन तीन व्यक्तियों को सुपुर्द करे जिनके नाम प्रस्ताव में दिये गये हैं। मुझे तो यह माँग सर्वथा अनुचित और अनैतिक लगती है।

राष्ट्रीयता की दृष्टि से हिन्दी का प्रचार सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य आरम्भ से रहा है। हिन्दी की अन्तर्हित राष्ट्रीयता और उसके राष्ट्रीय स्वरूप का हिन्दी भाषियों तथा अहिन्दी भाषियों को अनुभव कराना, यह हिन्दी साहित्य सम्मेलन की देन देश भर के लिए और विशेष कर राष्ट्रवादियों के लिए रही है। किसी का यह कहना, जैसा सर्वोदय के वर्तमान मास के अंक में कहा गया है कि सम्मेलन साहित्य के कार्य में लगे और राष्ट्रीय प्रचार का काम (और उसकी नीति) दूसरों को अर्थात् वर्धा से काम करने वाले भाइयों को दे दे और स्वयं राष्ट्रभाषा के विषय से तटस्थ हो जाय, यह सम्मेलन को उसके मुख्य उद्देश्य से हटाने और उसकी नैतिक आत्महत्या कराने का आह्वान है। यह मैंने सदा माना है कि ऊँचे हितों के लिए संस्थाओं की भी बलि उसी प्रकार हो सकती है जैसे व्यक्तियों की। हिन्दी का इसमें यदि हित हो तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन नामक संस्था की बलि मैं स्वीकार कर सकता हूँ। किन्तु जो प्रस्ताव आया है और जिसकी भूमिका 'सर्वोदय' में पहले ही प्रकाशित हो चुकी है उसमें न हिन्दी का हित है, न राष्ट्रीयता का। उसमें केवल भ्रम, अनौदार्य और अशुद्ध आग्रह मुझे दिखायी पड़ता है। राष्ट्रीय आत्मा के सजग होने के साथ-साथ हिन्दी का राष्ट्रीय स्वरूप विकसित हो रहा है और होने वाला है। राष्ट्रभाषा के प्रश्न का महत्व दिन पर दिन बढ़ेगा। उस प्रश्न के निराकरण का दायित्व सम्मेलन ऐसी प्रतिनिधि संस्था अब अपने कन्धे से हटा कर तीन व्यक्तियों के ऊपर बिना किसी नियंत्रण के सदा के लिए छोड़ दे, इसमें राष्ट्रभाषा और देश का हित नहीं है।

जिन तीन व्यक्तियों को इस दायित्व के सौंपने का प्रस्ताव है उसमें से एक मेरे पूज्य हैं और दो ऐसे पुराने मित्र और सहकारी हैं जिनके लिए मेरे हृदय में सदा गहरा प्रेम और आदर रहा है। सम्मेलन को इन तीनों की शक्ति का लाभ रहा है। इस समय भी वे सम्मेलन की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति में अग्रणी हैं। अहिन्दी प्रान्तों में प्रचार—कार्य के लिए वह समिति भी स्वावलम्बी है। अवश्य ही सम्मेलन के नियमों के अनुसार उसे अपनी नीति स्थिर करनी पड़ती है। नागपुर सम्मेलन में इस समिति का संघटन हुआ। उस समय केवल प्रचार के लिए

यह बनी थी। किन्तु कुछ ही दिनों बाद सम्मेलन ने उसका कार्यक्षेत्र बढ़ा दिया। अपनी राष्ट्र-भाषा परीक्षाओं और उन परीक्षाओं के लिए पुस्तक प्रकाशन का कार्य भी उस समिति को, वर्धा के भाइयों की इच्छा के अनुसार, सुपुर्द किया। मैं भी उस समिति का सदस्य हूँ। सम्मेलन के कुछ पदाधिकारी पदेन उसके सदस्य हैं। मेरा विश्वास है कि जो प्रस्ताव आया है, उसके प्रस्तावक इस बात को स्वीकार करेंगे कि राष्ट्रभाषा हिन्दी के वास्तविक प्रचार में कोई मतभेद नहीं उठा है और समिति का कार्य सफलतापूर्वक बढ़ता गया है। फिर उस समिति को हटा कर उससे सम्बन्ध रखनेवाले तीन व्यक्तियों को ही सम्पूर्ण अधिकार देने की इच्छा क्यों उत्पन्न हुई? मुझे स्पष्ट दिखायी देता है कि इसमें, कारण राष्ट्रभाषा हिन्दी नहीं किन्तु हिन्दुस्तानी है जिसका प्रचार यह समिति सम्मेलन के नियमों के अनुसार नहीं कर सकती। इस विषय में अवश्य समिति में मतभेद उठा है। साथ ही समिति पर सम्मेलन के नियमित उद्देश्य (नियम २ (ख) (छ) और (ट) और उपनियम (३८) का नियंत्रण रहा है। समिति ने पिछले वर्ष अन्तिम निश्चय यही किया था कि उसके कार्यों में राष्ट्रभाषा के लिए 'हिन्दी' शब्द ही मान्य है। जिन महानुभावों का दृष्टिकोण 'राष्ट्रभाषा' हिन्दी' के नाम के बारे में पिछले लगभग डेढ़ वर्षों में सम्मेलन से अलग हो गया है, उनके ही हाथों में सम्मेलन अपने राष्ट्रभाषा हिन्दी-सम्बन्धी आदर्श के संचालन का भार सौंपे—यह प्रस्ताव तो वैयक्तिक दृष्टि से भी उचित नहीं है।

मुझे यह विश्वास है कि वे हिन्दुस्तानी के नाम से भी कार्य कर हिन्दी से भाग नहीं सकते। किन्तु सम्मेलन द्वारा अपने 'हिन्दुस्तानी' काम की वह नींव डालें और सम्मेलन की ओर से पूर्णाधिकार-प्राप्त प्रतिनिधि की रीति से काम करें, यह मुझे न्याय और औचित्य के बाहर लगता है।

सम्मेलन की 'हिन्दी, हिन्दुस्तानी' के विषय में क्या नीति रही है इस पर मैंने एक लेख पिछले वर्ष लिखा था जो कई पत्रों में प्रकाशित हुआ था। वह 'सम्मेलन पत्रिका' में भी है। उसे आप समय हो तो पढ़ लीजिएगा।

डा० सक्सेना राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के सदस्य थे। उन्हें भी अच्छी जानकारी समिति के बारे में है। वह तथा प्रबन्ध मंत्री और उस समय के प्रचार मंत्री इस विषय की बात-चीत के लिए वर्धा गये थे और अन्तिम निर्णय के समय उपस्थित थे।

पूना सम्मेलन के बाद पिछली बार वर्धा में मुझसे जो बातें हुई थीं उनसे मुझे विश्वास था कि मेरे जेल में रहते इस प्रकार के झगड़े न उठेंगे। किन्तु यह प्रस्ताव आ गया है तब आपको विचार करना ही है। आप लोग जैसा उचित समझें, करें। यदि मैं बाहर होता तो प्रस्ताव का दृढ़ता से विरोध करता और उसके वापस लिये जाने का भी प्रयत्न अपने प्रस्तावक और समर्थक भाइयों से करता। मैं हिन्दी-जनता के भावों से परिचित हूँ। इस प्रस्ताव के कड़वापन उत्पन्न होने का भय है। यह यत्न कीजिएगा कि जो लोग अपना मत प्रकाश करें वे विनय न छोड़ें और प्रस्तावित महानुभावों की पिछली हिन्दी सेवाओं को न भूलें।

(ह०) पुरुषोत्तमदास टण्डन

इस पत्र में टण्डन जी ने जिस दृढ़ता से आदरणीय राजेन्द्र बाब के प्रस्ताव का विरोध किया है वह द्रष्टव्य एवं विचारणीय है। सच बात तो यह है कि राष्ट्रभाषा-प्रचार से विरत होकर केवल साहित्य-सर्जना के लिए सम्मेलन की स्थापना नहीं हुई थी। उसकी स्थापना का मूल उद्देश्य था स्वतंत्रता के साथ-साथ भारत को एकता के सूत्र में आवद्ध करने के लिए एक सशक्त राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार और प्रसार करना। किसी भी स्वतंत्र राष्ट्र के लिए एक भाषा, परस्पर विचार-विनिमय के लिए आवश्यक होती है। इसके विना स्वराज्य का कुछ भी अर्थ नहीं, पूज्य बापू हिन्दुस्तानी द्वारा यह कार्य सम्पन्न कराना चाहते थे। किन्तु उनके सतत प्रयत्न के बावजूद भी भारत का विभाजन हुआ और भारत ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा और देव-नागरी को राष्ट्रलिपि के रूप में, अपने संविधान में स्थान दिया। आज, हिन्दी तथा देश के संविधान में स्वीकृत अन्य भाषाओं के संवर्द्धन के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से जो अनुदान दिया जा रहा है यदि स्वराज्य-प्राप्ति के तुरन्त बाद वह दिया गया होता तो राजभाषा की समस्या कभी हल हो गयी होती। श्रद्धेय टण्डन ज़ी इसके लिए बराबर छटपटाते रहे किन्तु उस समय के शिक्षामंत्री के विरोध के कारण यह कार्य सम्पन्न न हो सका और धीरे-धीरे राष्ट्र-भाषा एवं राज्यभाषा की समस्या उलझती गयी। यदि उस युग की राजनीति के कर्णधार इस समस्या की ओर ध्यान दिये होते तो आज जो स्थिति है वह उपस्थित नहीं हुई होती। जो हो, देश में पूर्ण रूप से स्वराज्य की स्थापना के लिए इस समस्या को हल करना ही है।

यहाँ एक बात मैं उर्दू-हिन्दी समन्वय के सम्बन्ध में कह देना चाहता हूँ। उर्दू-हिन्दी का समन्वय आज भी आवश्यक है। उर्दू की उत्पत्ति चाहे जैसी भी स्थिति में हुई हो, वह हमारे देश की एक विशेष परिस्थिति तथा संस्कृति को व्यक्त करती है, जिसका ऐतिहासिक महत्व है। यह सच है कि सापेक्षिक दृष्टि से उर्दू में विदेशी विचारों एवं भावनाओं का प्राचुर्य है किन्तु उर्दू में हाली, चकवस्त तथा अन्य अनेक राष्ट्रीयता के पोषक कवियों की कविताओं में भी भार-तीय भावनाओं का सम्यक् चित्रण हुआ है। इस प्रकार के समस्त साहित्य को नागरी लिपि में उपलब्ध करने की आवश्यकता है। उर्दू-हिन्दी विवाद पुराना है। इस विवाद में विदेशी शासकों का भी कम हाथ नहीं रहा है। उनकी विभेद-नीति के कारण भी एक ही भाषा की दो शैलियाँ दूर हटती गयीं। फारसी लिपि ने भी इन दोनों के पार्थक्य में पर्याप्त सहायता पहुँचायी। चूँकि यह लिपि तत्सम, तद्भव एवं देशी शब्दों को शुद्ध रूप में लिखने में असमर्थ है अतएव विदेशी (अरबी-फारसी) शब्दों की भरमार इसमें आवश्यक हो गयी। अतीत में चाहे हिन्दी-उर्दू में भले ही प्रतिद्वंद्विता रही हो किन्तु आज राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से उसका अन्त हो जाना चाहिए। इस प्रतिद्वंद्विता को हटाने में हिन्दी के युवा पीढ़ी के लेखक एवं कवि प्रयत्नशील हैं। वे केवल हिन्दी में गृहीत अरबी-फारसी के शब्दों का ही प्रयोग अपनी रचनाओं में सहज रूप में नहीं कर रहे हैं, अपितु वे गाँवों में प्रचलित अर्थव्यंजक शब्दों को अपनी रचनाओं में स्थान दे कर हिन्दी को एक सशक्त भाषा बना रहे हैं। कतिपय उर्दू के लेखक भी इस अभियान में हिन्दी लेखकों के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर चल रहे हैं। देश की एकता के लिए यह शुभ लक्षण है। मेरा

अपना विश्वास है कि सम्पूर्ण उर्दू-वाङमय का प्रकाशन नागराक्षरों में अत्यावश्यक है। हिन्दी-उर्दू समन्वय की वस्तुतः दो आधार शिलाएँ हैं। इनमें से एक है नागरी लिपि तथा दूसरी है राष्ट्रीय भावना। इन्हीं के द्वारा भविष्य में हिन्दी-उर्दू समन्वय पूर्ण रूप से संभव हो सकेगा। पूज्य गांधी जी एवं श्रद्धेय बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन जी जीवन भर इस समन्वय का स्वप्न देखते रहे। क्या गाँधी जन्म शताब्दी के पुनीत वर्ष पर हिन्दी-उर्दू के लेखक बापू जी तथा बाबू जी के स्वप्न को साकार रूप देने का प्रयत्न करेंगे?

प्रोफेसर ए० चन्द्रहासन

राजर्षि टण्डन जी : एक संस्मरण

जब से मैं हिन्दी के क्षेत्र में आया तभी से टण्डन जी के बारे में सुनता रहा। वे उन दिनों हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बागडोर अपने हाथ में लिए हुए थे और एक तरह से राजनीतिक कार्यकर्ता होते हुए भी हिन्दी के भी कार्यकर्ता थे। वे उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष थे और प्रदेश में उनका काफी सम्मान था। वे इतने आदर्शवादी थे कि कभी-कभी लोग उनको हठी भी कह दिया करते थे। वे हर विषय का सुचारु रूप से चिन्तन किया करते थे, अपनी राय बना लेते थे और फिर दृढ़ हो कर अपनी राय को प्रकट करते थे। उन के कोष में समझौता नामक शब्द नहीं था। यद्यपि वे गांधी जी को भाई समझते थे और उन के हर काम में बड़ी निष्ठा के साथ सहयोग देते थे। यह बात प्रसिद्ध है कि हिन्दी के विषय में उनकी राय गांधी जी की राय से थोड़ी-सी भिन्न थी। गांधी जी हिन्दू-मुसलमानों को एक मानते थे और हिन्दी-उर्दू को भी एक मानते थे। लेकिन टण्डन जी कट्टरता न रहते हुए भी जिन्ना साहब के इस रुख के विरुद्ध थे कि धर्म को राजनीति में ला कर गड़बड़ पैदा की जाय। इसलिए वे राष्ट्रभाषा के रूप में उर्दू या हिन्दुस्तानी शब्दों को मानने के लिए तैयार नहीं थे और नागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा मानते थे। गांधी जी ने उनको समझाने की बहुत कोशिश की लेकिन वे टस से मस नहीं हुए। यहाँ तक कि उन्होंने बाबू राजेन्द्र प्रसाद को भी अपने पक्ष में कर लिया। उनके मन में शायद यह विचार था कि जो मुस्लमानों के हक को भारतीयों के हक के मुकाबले में पेश करता है उसको पाकिस्तान में चला जाना चाहिए। मुझे टण्डन जी से मिलने के कई मौके मिले थे। एक मजेदार घटना अब भी मुझे याद आती है। शायद यह १९४४ की बात है, इलाहाबाद में एक परीक्षा-बोर्ड की बैठक थी। बोर्ड के दूसरे सदस्य थे स्वर्गीय श्री ललिताप्रसाद शुक्ल। मैं शुक्ल जी को पत्र लिख कर इलाहाबाद चला गया। लेकिन जिस दिन मैं इलाहाबाद पहुँचा उस दिन वहाँ कोई मेला चल रहा था। शुक्ल जी स्टेशन पर नहीं मिले। मैंने कई लोगों से पूछा लेकिन ठीक-ठीक पता नहीं लगा, मैं थका-मादा था। सर्दी के दिन थे और मेरे पास गर्म कपड़े कम थे। तब मुझे एक बात सूझी। मैंने एक एक्के वाले को बुलाया और कहा कि मुझे टण्डन जी के मकान पर ले चलो। वह सीधा मुझे टण्डन जी के मकान पर ले गया। मैंने उनको इसके पहले कभी नहीं देखा था। घर के स्वागत कक्ष में, एक दुबला-पतला, नाटा आदमी जिसकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी, बैठा था। मैंने दरवाजे पर खड़ा होकर कहा कि मैं दक्षिण से आया हूँ और श्रीललिताप्रसाद शुक्ल जी से मिलना चाहता था

लेकिन मिल नहीं सका। इसलिए टण्डन जी का नाम लेकर यहाँ चला आया हूँ। उन्होंने बड़े प्रेम से मेरा आलिंगन किया और कहा कि दक्षिण के हिन्दी-प्रेमी को इलाहाबाद में आकर पहले पहल मुझसे ही मिलना चाहिए, किसी शुक्ल जी से नहीं। उन्होंने अपने नौकर को बुलाया। मेरा सामान रखवाया और मेरे रहने का प्रबन्ध कर दिया। उसके बाद उन्होंने पूछा कि आप कच्चा खाएँगे या पक्का। मैं अपने को हिन्दी का बड़ा अध्यापक मानता था और मेरे मन में यह गर्व था कि मैं हिन्दी अच्छी तरह जानता हूँ। लेकिन इस कच्चे-पक्के का फर्क मेरी समझ में नहीं आया। तो मैं मन में सोचने लगा कि हिन्दीवाले कच्ची चीजें भी भोजन मान कर खाते हैं। तब टण्डन जी को मालूम हुआ कि मेरी कठिनाई क्या है। उन्होंने साफ पूछा कि आप रोटी खाएँगे या चावल खाएँगे या पूरी खाएँगे या पराठा खाएँगे। तब मुझे आश्वासन मिल गया कि बात क्या है और मैंने कहा कि इनमें से कोई भी चीज मैं बड़े आराम से खा सकता हूँ। उसके बाद ही मुझे कच्चे-पक्के का असली मतलब समझ में आया। भोजन के बाद उन्होंने हिन्दी के बारे में और केरल के हिन्दी–प्रचार के बारे में मुझसे बहुत बातें कीं और मेरी बातें सुन कर उनको बहुत आनन्द आया। उसके बाद उन्होंने मुझे एक आदमी के साथ शुक्ल जी के घर पर पहुँचा दिया। मेरे मन में यह भावना पैदा हुई कि इतने बड़े नाम का आदमी कद में इतना छोटा हो सकता है, इतनी सादगी रख सकता है और बाहर के आदमी का इतनी आवभगत कर सकता सकता है। नौकरों के रहते हुए भी उन्होंने मेरा सब काम करा दिया।

टण्डन जी के साथ फिर मेरी निकट मुलाकात १९४८ में हुई। जब दिल्ली में संविधान बन रहा था तब हिन्दी साहित्य सम्मेलन की तरफ से देश के कोने-कोने से बहुत से विद्वान् बुलाए गए थे और नागरी हिन्दी का पक्ष प्रबल बनाने के लिए एक गोष्ठी का आयोजन किया गया था। टण्डन जी उसके मुखिया थे। केरल से मेरे अलावा स्वर्गीय महाकवि वल्लत्तोल भी बुलाए गए थे। वल्लत्तोल भी मैथिलीशरण जी के स्तर के राष्ट्रवादी कवि थे और उन्होंने बड़े जोरों के साथ टण्डन जी का समर्थन किया। उस समय कांस्टीट्यूशन क्लब में एक बड़ी सभा हुई उसमें हम सब लोगों ने भाषण दिए और शुद्ध हिन्दी का समर्थन किया। टण्डन जी की जीत हुई और उर्दू वाले ठंडे पड़ गए। हिन्दी क्षेत्र में बच्चा बच्चा टण्डन जी की पूजा करता है और उनका नाम अमर है। जब मैं भारत सरकार के हिन्दी-निदेशालय का निदेशक बन कर आया तो उस समय मेरे सम्मान में एकछोटी सी गोष्ठी हुई। उसमें बच्चन जी ने भाषण देते हुए कहा कि चन्द्रहासन केरल के टण्डन है। मैंने सभा के बाद बच्चन जी से कहा कि आपके कथन में इतनी सच्चाई जरूर है कि मैं कद में टण्डन जी के करीब-करीब बराबर हूँ लेकिन भविष्य में बाकी बातों में भी टण्डन जैसा बनने की कोशिश करूँगा।

श्री महावीरप्रसाद शुक्ल

स्वाधीनता-संग्राम के वीर सेनानी टण्डन जी

हमारे देश के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन का स्थान सदा बहुत ही ऊँचा रहेगा। इस देश को जिन लोकवन्द्य विभूतियों ने इस संग्राम में हमारे नैतिक आदर्शों को अपने जीवन के क्षण क्षण के कार्यों से उत्कर्ष प्रदान किया है उनमें राजर्षि का महत्वपूर्ण स्थान है। इस देश के मुझ सरीखे लाखों नौजवानों के हृदयों में उनकी वाणी ने देशभक्ति का पावन मंत्र फूँका है, मातृभूमि की दासता के बंधनों को तोड़ने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिये आह्वान किया है, जीवन में उत्साह और संकल्प की शक्ति ी है, मातृभाषा हिन्दी के प्रति अमिट अनुराग दिया है, भारतीय संस्कृति के अमर आदर्शों के प्रति अदम्य आस्था दी है और दृढ़ता के साथ स्वविवेक पर अडिग रहने का शुभ संकल्प दिया है।

आज से लगभग ५० वर्ष पहले की बात है जब मैं केवल १२ वर्ष का बालक था। राष्ट्र-पिता विश्ववन्द्य महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन देश में व्याप्त हो रहा था और मातृ-भूमि को दासता से मुक्त करने का अह्वान इस देश के जनमानस को आन्दोलित कर रहा था।

मेरे मानस को भी बापू की वह ओजस्वनी वाणी आन्दोलित कर चुकी थी और पढ़ना-लिखना छोड़कर अपनी तहसील के स्वयंसेवकों की सेना में भर्ती भी हो चुका था। सिरसा में एक सभा हुई, जिसमें पहले-पहल मुझे बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन के दर्शन और उनके ओजस्वी भाषण सुनने का अवसर मिला। पं० गौरीशंकर मिश्र, पं० कपिलदेव मालवीय और श्री टण्डन जी सिरसा में असहयोग आन्दोलन का संदेश सुनाने, विदेशी वस्त्रों, मादक द्रव्यों के बहिष्कार एवं तिलक-स्वराज्य कोष के संग्रह के लिए आये थे। उस समय गाँवों में मोटर का कोई प्रचार नहीं था। मेजा रोड स्टेशन से उतर कर ये लोग इक्के से सिरसा पधारे थे। मेरे मन में अतीव उत्साह और उल्लास था और मैं उस सभा के लिए उछल-कूदकर गांव में नोटिस बाँटता और गला फाड़कर सभा के लिए एलान कर रहा था। उदासी बाबा के चबूतरे पर सभा हुई जहाँ मैंने काले केश और दाढ़ी वाले इस ओजस्वी नरपुंगव को शंखधवल खादी के कुर्ते धोती और पगड़ी के वेष में काठ की चट्टी पहने हुए पहले पहल देखा। मेरा मानस किसी अनिर्वचनीय भावना से पुलकित हो उठा। वहाँ मैंने इन तीनों महानुभावों के ओजस्वी भाषण सुने। इन सबके भाषणों में राजर्षि टण्डन जी का भाषण बड़ा ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी था

जिसके परिणामस्वरूप एक अव्यक्त स्वर लहरी मेरे मानस में गूँज उठी। मोहग्रस्त अर्जुन को जिन शब्दों में भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्बोधित किया था। टण्डन जी द्वारा उद्धृत वे दोनों श्लोक,

'क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतपः।।
हतो वाप्राप्स्यसि स्वर्गं जित्व वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्ते य युद्धाय कृतनिश्चयः।।

मेरे कानों में आज भी गूंजते रहते हैं, जैसे स्वयं भगवान् कृष्ण ने मुझे सम्बोधित किया हो और जो मोह और संशय के हर क्षण में गुरुमंत्र की तरह आत्मतत्त्व का सम्बल देते रहते हैं।

राजर्षि का सारा जीवन तप और निष्ठ का जीवन रहा। भारतीय संस्कृति जिसने उच्च आदर्शों को आत्मसात् करके अनादि काल से जगत् का उद्बोधन किया है वे सब राजर्षि में मूर्तिमान थे। सत्य और अहिंसा को वे परम धर्म मानते थे। अपनी वाणी और किसी भी कार्य से न केवल मनुष्य अपितु प्राणिमात्र को क्लेश न हो, यह उनका सदैव प्रयास रहा। एक बार की घटना है। वे भूमि पर प्रायः चटाई बिछाकर लिखते-पढ़ने का कार्य कर रहे थे। एक बार एक चींटा बार-बार उनके पास आता रहा और वे उसके निवारण का प्रयास करते रहे, किन्तु हठी चींटा अपने मन्तव्यों से विमुख नहीं हो रहा था। सम्भवतः कुछ चिढ़ कर उन्होंने उसको कागज की दफ्ती से अथवा हाथ के पंखे से कुछ तेजी से हटा दिया। इस झटके से चीं की एक टाँग टूट गई। जैसे ही उनकी ृष्टि उस पर पड़ी और उन्होंने उसकी टाँग टूटी हुई देखी, उनके दुख का पारावार न रहा।

वे दूध और घी का प्रयोग नहीं करते थे, उनका यह मत था कि मनुष्य को अपने शैशव में केवल अपनी माँ के दूध पीने का अधिकार है। दूध मनुष्य का उसी समय तक नैसर्गिक आहार है, जब तक उसके दाँत नहीं निकलते। दांत आ जाने के बाद उसे दुग्धाहार का कोई अधिकार नहीं है। गाय, भैंस अथवा बकरी, किसी भी दुग्धदायी पशु के दूध को ग्रहण करना वह अनुचित कार्य समझते और उस पशु के दूध पर उसके वत्स का एकमात्र अधिकार मानते थे। उस वत्स को उससे वंचित करना वे हिंसा मानते थे। राष्ट्रपिता पूज्य बापू की सम्मति में भी यह अहिंसा की पराकाष्ठा है। इस अहिंसा के कठोर-व्रत को राजर्षि ने अपने जीवन में आत्मसात् करके दिखाया था। वे राजा हरिश्चन्द्र के समान सदैव सत्य के दृढ़ पुजारी रहे। उन्होंने अपने जीवन को कठोर तप में तपाया हाईकोर्ट की वकालत छोड़ने के बाद, उनको जिस आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा था, वह किसी भी बड़े से बड़े धर्यशील के धीरज को भी तोड़ सकता था। राजर्षि ने सत्तू और चने पर अपने परिवार का पालन किया और स्वाधीनता संग्राम के कठोर पथ से कभी विचलित नहीं हुए। वे अक्सर कबीर के शब्दों में कहा करते थे—'यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहि, सीस उतारे भुई धरै, तब पैठे या मांहि।' 'राजर्षि रूढ़ियों के सदैव कठोर विरोधी रहे और स्वविवेक

को ही उन्होंने सदा उच्च स्थान दिया। वह भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक एवं पोषक होते हुए भी संकीर्ण रूढिवादी कभी नहीं रहे। वेद, शास्त्र एवं स्मृतियों तक को उन्होंने चुनौती देने में कभी गुरेज नहीं की। वे लीक पर चलने के कट्टर विरोधी रहे। 'लीक लीक गाड़ी चले लीकै चलै कपूत। बिना लीक तीन चलैं सायर, सूर, सपूत।'' यह टण्डन जी के भाषणों में प्रायः सुनने को मिलता रहा।

इलाहाबाद जिले एवं शहर कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष की हैसियत से लेकर प्रादेशिक एवं अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष-पद तथा विधान सभा, उत्तर प्रदेश के अध्यक्ष की हैसियत तक हमारे स्वाधीनता-संग्राम एवं भारतीय जागरण, अभ्युत्थान एवं नव-निर्माण के इतिहास में उनका विशिष्ट स्थान था। जिनकी हमारे राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में सदैव अमिट छाप बनी रहेगी। किन्तु राजर्षि टण्डन की सबसे बड़ी देन हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर पदासीन करना था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना से लेकर आजतक उसके कार्यों में राजर्षि टण्डन उसकी आत्मा और प्राण के समान व्यस्त रहे और आज सारे देश में हिन्दी भाषा और साहित्य का जो व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ है, उसका एक बड़ी सीमा तक श्रेय राजर्षि के अदम्य संकल्प, अनवरत परिश्रम और सर्वानुकरणीय उत्साह को रहा है। इस देश की तीन चौथाई जनता की जनभाषा को आज वह आत्मसम्मान और गौरव कदापि प्राप्त न होता यदि उसके लिए हमें आज राजर्षि जैसे एकनिष्ठ नेता समर्थक तथा मार्गदर्शक न मिलते। हिन्दी भाषा और साहित्य के उत्थान के इतिहास में राजर्षि का नाम सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। वास्तव में आज इस देश में हिन्दी भाषा और राजर्षि टण्डन जी यह एक दूसरे के पर्याय से हो गये हैं।

श्री तारकेश्वर पांडेय

साधु पुरुष राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन : संस्मरण

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन का मेरा प्रथम साक्षात्कार मिर्जापुर में आयोजित प्रदेशीय कांग्रेस अधिवेशन की बैठक के अवसर पर हुआ था। गांधी-इर्विन पैक्ट के बाद जब हम लोग जेल से छूटे उसी समय सन् १९३१ में, मिर्जापुर में होनेवाली प्रादेशीय कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर टण्डन जी का दर्शन हुआ। उन्हें स्वागत समिति के लोगों ने एक शानदार कोठी में ठहराया था। उस कोठी की शान शौकत और सम्पन्नता का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। वे तड़क-भड़क की बनावटी जिन्दगी से अलग थे। उस समय प्रदेश के नेताओं में उनसे अधिक मुझे किसी ने भी आकृष्ट नहीं किया। वे सौम्यता, सादगी, स्पष्टवादिता तथा भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतीक थे। सन् १९३१ में मैं उनके सम्पर्क में भलीभांति आया और आजीवन उनसे मेरा सम्पर्क बना रहा।

जब मैं उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमेटी का महामंत्री था, उस समय कांग्रेस के जो परिपत्र मेरे नाम से निकलते थे उनपर मैं पांडे (Pande) हस्ताक्षर करता था, परन्तु टण्डन जी को इसकी अशुद्धि खटकती थी। मुझे उन्होंने समझाया कि इसका शुद्ध रूप 'पांडे' नहीं 'पांडेय' है। परन्तु शुरू से ही पांडे लिखने की आदत होने के कारण मैं उनके द्वारा समझाए गये शुद्ध रूप का प्रयोग कभी नहीं कर सका।

मेरा आवास दिल्ली में उनके निवासस्थान के समीप ही था, मैं समय-समय पर टण्डन जी के घर जाता रहता था। वे लोक-सभा के सदस्य तथा मैं राज्य-सभा का सदस्य था। इसी संदर्भ में उनके घोर आदर्शवादी जीवन का एक उदाहरण प्रस्तुत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। दिल्ली में उनके यहाँ जो अतिथि आते और टिकते थे उन्हें वह दाल-सब्जी खिलाया करते थे। एक बार तीन अतिथि, जो टण्डन जी के यहाँ टिके थे, काफी रात गये मेरे पास आये और उन्होंने भोजन करने का प्रस्ताव किया। मैंने उन अतिथियों को तत्काल भोजन कराया। तब मैंने उन लोगों से पूछा कि टंडन जी के यहाँ आप लोगों ने भोजन क्यों नहीं किया, तो उन अतिथियों ने बतलाया कि उनके पास राशन का अभाव था, वे इतने घोर आदर्शवादी हैं कि जितना बँधा हुआ राशन उन्हें कार्ड पर मिलता है उससे अधिक राशन लेना वे अनुचित समझते है। इस प्रकार के सत्यनिष्ठ, व्यावहारिक, आदर्शवादी लोग मेरे जीवन में देखने में कम आए।

वे अपने कार्यक्रमों के प्रति नियमित थे और उनका व्यक्तित्व विनययुक्त था। इस संदर्भ में मैं एक दूसरी घटना का जिक्र करना चाहूँगा। एक दिन जब मैं उनके यहाँ पहुँचा तो

टेलीफोन खुला हुआ था। मैंने तत्काल अपने घर टेलीफोन किया। उस समय संसद-सदस्यों को भी टेलीफोन 'फ्री' नहीं था। टण्डन जी ने अपने टेलीफोन में ताला लगा रखा था और उसी के पास एक छोटा डिब्बा रखवा दिया था और उस पर लिखा हुआ था कि फोन करने पर पैसा डिब्बे में डालिये। मेरे टेलीफोन करने के बाद उन्होंने मुझे उस बाक्स में पैसा डालने के लिए कहा परन्तु मैंने उन्हें उत्तर दिया कि हम लोग तो सहयोगी हैं, समानधर्मा हैं, उन्होंने तत्काल अपने नौकर को बुलाया तथा उससे पैसे लेकर उस डिब्बे में डाल दिया। इस छोटी सी घटना से उनके नियमित होने का अन्दाज लगाया जा सकता है।

जब वे उत्तर प्रदेश की असेम्बली के स्पीकर थे तब इस पद से उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद के चुनाव में जीतने के बाद त्यागपत्र दे दिया। और सरकारी आवास त्याग कर अपने नये आवास में रहने लगे। त्यागपत्र के तुरन्त बाद ही उसी दिन सरकारी आवास छोड़ दिया। आज त्याग तथा सिद्धान्त का ऐसा समन्वय बड़ा कठिन दीख पड़ता है।

हमारे प्रदेश के कुछ मुसलिम अधिकारियों ने मुझसे कहा कि टण्डन जी के अध्यक्ष होने से मुसलमानों में भय का वातावरण व्याप्त है। उस अधिकारी ने चुनाव के पूर्व ही मुझसे पूछा था कि आप किसे वोट देंगे। मैंने कहा कि मैं अपने साथियों सहित टण्डन जी का समर्थन कर रहा हूँ। उस अधिकारी ने कहा कि आप एक साम्प्रदायिक को वोट मत दीजिए। मैंने उन्हें समझाया कि यह झूठी अफवाह है कि टण्डन जी साम्प्रदायिक हैं। वे फारसी और उर्दू के विद्वान् हैं और कालेज के दिनों में परसियन के विद्यार्थी भी रहे है। साम्प्रदायिकता की भावना उनमें नहीं है। मेरे समझाने पर वे अधिकारी मुझसे सहमत हुए। जब टण्डन जी अध्यक्ष हुए तब उनके कार्यकाल में उनके भाषण तथा उनके किसी प्रकार के कार्य में कभी साम्प्रदायिकता की गंध तक नहीं आई। उन्होंने अपने जीवन में देश भक्तिकी भावना से प्रेरित होकर राष्ट्र की सेवा की। साम्प्रदायिकता की भावना से उन्होंने कभी कोई काम नहीं किया। उत्तर उदेश के स्पीकर के पद से उन्होंने मौलिक, संवैधानिक व्यवस्थाओं की स्थापना की। वे व्यवस्थाएँ आज भी संवैधानिक संकटों के समय मार्गदर्शन करती हैं। वे निष्पक्ष एवं निरभिमानी सत्पुरुष थे।

टण्डन जी भारतीय संस्कृति के प्रबल उपासक एवं राष्ट्रभाषा के प्राण थे। जब गांधी जी के नेतृत्व में देश का बड़ा से बड़ा नेता 'हिन्दुस्तानी' के प्रबल प्रवाह में प्रवाहित हो गया तो टण्डन जी ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने गांधी जी के 'हिन्दुस्तानी' के विरोध का नेतृत्व किया। गांधी जी की मान्यता थी कि देश की भाषा का नाम हिन्दुस्तानी है, जो नागरी एवं फारसी लिपियों में लिखी जाती है। टण्डन जी ने सारे देश की जनता और उसकी जनमानस की भावना को नेतृत्व प्रदान किया। टण्डन जी की मान्यता थी कि हिन्दी इस देश की राष्ट्रभाषा है जो केवल देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। उर्दू तो अवधी, ब्रज, मागधी, शौरसेनी और भोजपुरी की भाँति हिन्दी की एक शैली मात्र है। टण्डन जी ने भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्र भाषा स्वीकृत कराने में जो संघर्ष किया उसके लिए देश उनका ऋणी रहेगा।

टण्डन जी वर्ण-व्यवस्था में विश्वास करते थे परन्तु वे कर्मणा वर्ण—व्यवस्था के समर्थक थे। वे जन्मना वर्ण-व्यवस्था के पोषक नहीं थे। हमारे शास्त्रों में भी कहा गया है—'जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारात् द्विज उच्यते'।

उन्होंने कर्मकांड का भी हिन्दीकरण करने का यत्न किया, परन्तु इसे वे जन-जीवन में प्रचलित न करा पाये। एक बार मैंने उनसे पूछा कि आप लोगों ने देश का विभाजन कराकर स्वतन्त्रता क्यों स्वीकार कर ली? टण्डन जी के दोनों नेत्र मार्मिक व्यथा से भर उठे, उनके नेत्रों से गंगायमुना प्रवाहित होने लगीं। टण्डन जी ने पूज्य मालवीय जी द्वारा लखनऊ पैक्ट के प्रसंग में (कांग्रेस तथा मुसलिम लीग पैक्ट) उनके हस्ताक्षर करने का वर्णन करते हुए यह बतलाया कि तिलक के हस्ताक्षर करने पर ही महामना ने अपना हस्ताक्षर किया था। इस प्रसंग में यह भी चर्चा चली कि उसी दिन भारत-विभाजन का बीजारोपण हुआ। इस घटना का वर्णन करते हुए उनको बड़ी वेदना हुई।

प्रयाग की गंगा, यमुना, सरस्वती के संगम ने मालवीय, सप्रू, नेहरू और कुं जरू जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के और अखिल भारतीय महत्त्व के नेताओं को जन्म दिया। इन साधन-सम्पन्न नेताओं के मध्य टण्डन जी जैसे अभावग्रस्त महापुरुष को अपने सिद्धान्त, आदर्श एवं मान्यताओं को लेकर जो देशव्यापी संघर्ष करना पड़ा, उसे समझना कठिन है। इस संघर्ष में टण्डन जी की प्रतिभा, आदर्श, लगन और त्याग ही उनके जीवन के सम्बल थे जिससे वे निरंतर संघर्षों के मध्य निखरते गये और ऊपर उठते गए। वास्तविकता यही है कि राजर्षि टण्डन जी से युवा पीढ़ी सर्वदा प्रेरणा लेती रहेगी।

प्रोफेसर गुरुप्रसाद टंडन

पूज्य बाबूजी, हमारा परिवार और लोकपक्ष

पूज्य बाबूजी का सारा जीवन सत्य, आत्मसंयम और राष्ट्रीयता की धुरी पर स्थिर रहा है। उनकी हिन्दी-सेवा तो राष्ट्रीयता की पर्यायवाची थी। विघ्न और कष्ट आये पर उन्हें लक्ष्य से विचलित न कर सके। सांसारिक प्रलोभनों को कुचलनेवाली उनकी राष्ट्रीयता कठोर आत्मसंयम की शिला पर अवस्थित आध्यात्मिक सुख की ही एक अंग थी। संकल्प और क्रिया का सुखद समन्वय उनमें मूर्तिमान था।

परिवार संतमत में दीक्षित था। हमारे बाबा श्री शालिग्राम जी संतमत में दीक्षित हुए थे। दादी तो नित्य अतरसुइयास्थित बाबूजी महराज के सत्संग में जाती थीं और संतबानियों का पाठ करती थीं। बाबूजी यथावकाश सत्संग जाते थे और हम सब छोटे-बड़े बच्चे प्रायः रविवार को सत्संग का लाभ उठाते थे। पारिवारिक संस्कारों के समय हमारे घर में भी सत्संग हुआ करता था। बाबूजी के आचार-विचार, आदर्श और संस्कारों के निर्माण में संत-साधना का व्यापक प्रभाव अवश्य था। किन्तु उनकी दृष्टि एकान्तिक न होकर लोकसंग्रही थी, वैदिक संस्कृति के वे अनन्य भक्त थे और मूढ़ग्राहिता के कटु आलोचक। दुर्गा माहात्म्य और भगवद्गीता से उनकी राष्ट्रीयता अनुप्राणित थी। गीता का दूसरा अध्याय उन्हें कंठस्थ था और हम सभी भाई-बहिनों को उन्होंने कंठस्थ कराया था।

हिंसक उपायों पर बाबूजी की श्रद्धा नहीं थी पर आत्मरक्षा के निमित्त लाठी, पटेबाजी, गतकरी, कुश्ती-मल्लविद्या आदि के अभ्यास को वे प्रोत्साहन देते थे। देशविभाजन पर विघटनकारी तत्वों के परिहार हेतु सन् १९४७ में उन्होंने 'उत्तर प्रदेशीय रक्षक दल' का संगठन किया था। सामाजिक अन्याय के प्रति मौन रहने को वह डरपोकपन और कायरता की निशानी कहा करते थे। सामाजिक अन्याय का प्रतिरोध और अहिंसा में कोई संगति नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि में सच्चा अहिंसक निर्भीकतापूर्वक कटु से कटु सत्य का भी मर्मोद्घाटन करता है। सत्य की आराधना में उनके पास कबीर की प्रखर दृष्टि थी और तत्वचिंतन में प्लेटो की आदर्शवादी अंतर्दृष्टि तथा शिवत्व भावना का संयोग था। उनकी अहिंसा में शांतिपूर्वक हृदय-परिवर्तन तो सन्निविष्ट है किंतु शक्ति और तेज का उपहास उन्हें कदापि सह्य नहीं था। वे कहा करते थे कि ढ़ मनस्वी तेजस्वी और पौरुषवाले व्यक्ति ही सक्रिय अहिंसक होनेके पात्र है। कर्मवीरत्व के लिए उनका प्रेरणामंत्र था—

क्लैव्यं मा स्मगमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥
(श्रीमद्‌भगवद्गीता)

सामाजिक त्यौहारों और पर्वों पर, दशहरा, दीपावली या होली पर, सामूहिक हँसी-खुशी में भाग लेते हुए भी बाबू जी की प्रवृत्ति वीतरागी की सी रहती थी। वे संगीतज्ञ थे, सितार और हारमोनियम मधुर बजाते थे। अपने कालेज-जीवन में शेक्सपीयर के नाटकों में सफल अभिनय उन्होंने किया था और महामना मालवीयजी के साथ प्रयागस्थ 'हिन्दी नाट्य समिति' के मूल संगठन-कर्त्ताओं में भी थे। दो-एक बार होलिकोकसव पर भक्तों और साधकों के निनादित गीतों का आनन्द उनकी भावुक, झलकती आँखों में मैंने देखा था। मूर्च्छना की ताल पर उनकी आँखें आनन्द-विभोर हो मिच-सी जाती थीं। अधिक स्फूर्ति दशहरे पर मिलती थी क्योंकि यह पर्व दुरन्त शक्तियों के विनाश का प्रतीक है और बाबूजी के मत में "वीरभोग्या वसुंधरा" का पाठ पढ़ाकर हमें दासता से मुक्ति दिलानेवाला तथा बल का कारण है। सगे-संबंधी इष्ट मित्रों के खान-पान की व्यवस्था उक्त पर्वों पर होती थी। प्रायः वे स्वतः ही निरीक्षण करते थे और बड़े चाव एवं उल्लास से फल, मिठाई, नमकीन, पकवान आदि खिलाने में जुट जाते थे। स्वतः श्वेत चीनी नहीं ग्रहण करते थे, अतः खांड़ के शर्बत या कुछ नमकीन से ही वे तृप्ति-लाभ करते थे।

क्रिकेट के वे अच्छे खिलाड़ी थे और म्योर सेंट्रल कालेज टीम के कप्तान रह चुके थे। बच्चों के साथ भी वे खेल में रस लेते थे किंतु उस समय स्वच्छंदता कदाचित मर्यादित हो जाती थी, कोई चनाचबैना व्यवहार नहीं कर सकता था। एक बार वे हम लोगों को क्रिकेट खेला सिखा रहे थे। मैं 'हिट' के स्थान पर निर्दिष्ट था और बाल-बुद्धि से मोमफली भी खाता जाता था। बाबू-जी गेंद फेंक रहे थे। उन्होंने तुरन्त मोमफली फेंकवा दी और कहा कि दोनों काम एक साथ नहीं होते, गेंद पर ध्यान रखो। मैं एकाग्र हुआ और उनके निर्देशानुसार एक खिलाड़ी की हिट लोक कर उसे आउट करने में मैंने सहायता पहुँचाई।

परिवार में उनका प्रेम सघन ममत्व और त्याग के दुकूलों का स्पर्श करता था। पुरखों की रीति का पालन परंपरा के अनुसार घर में होता आया है। कभी-कभी इस व्यावहारिक पक्ष में बाबूजी का हस्तक्षेप हो जाता था और उनके आदर्श के विरुद्ध किसी बात पर यथा अपात्र को दान इत्यादि—मेरी माँ से कोई त्रुटि हो जाती थी तो उन्हें व्रत करना पड़ता था और बाबूजी भी व्रत करते थे। सन् १९३० में मेरी छोटी बहिन के विवाह पर ऐसा एक प्रसंग मुझे आज भी स्मरण है। इसे अपवाद ही समझिए, साधारणतया उनकी सहृदयता चतुर्दिक व्याप्त थी। हम सब बच्चों, बहू-बेटियों के बीच उनका ऋषितुल्य व्यक्तित्व जलपानगोष्ठी, कौतुक और गान-वाद्य और मनोरंजन आदि में भी भाग लेता था। उनकी उपस्थिति से ही चारों ओर जीवन और उल्लास का प्रकाश-पुंज बिखर जाता था। बच्चों में उनके निकट पहुँचने की होड़ मच जाती थी पर मर्यादा का हम सभी को ध्यान था कि कहीं कोई अशिष्टता न कर बैठे कि डाँट

खानी पड़े। उनमें क्रोध का आवेश सहज न होते हुए भी कम नहीं था, कभी-कभी रोते बच्चों को पीट कर वे चुप कराते थे।

सन् १९२० के असहयोग आन्दोलन ने संयम, त्याग और स्वावलंबन में परिवार को घेर लिया। उन दिनों की स्मृतियाँ मधुर भी हैं, कठोर भी। हाईकोर्ट की वकालत ठुकराकर बाबूजी गाँव-गाँव घूमकर स्वराज्य का मंत्र फूंकने लगे और हम सब भाई अंग्रेजी स्कूल या कालेज की पढ़ाई छोड़कर स्वयंसेवक का कार्य करने लगे। कुछ समय बाद श्रद्धेय वियोगीहरि के निरीक्षण में मैं अपने छोटे भाई संतप्रसाद-सहित हिन्दी विद्यापीठ का छात्र हो गया। प्रयागस्थ द्रव्येश्वरनाथ महादेव के पड़ोसी ७२ जानस्टनगंड के दुमंजिले किराये के घर में हम लोग रहते थे। हम सब भाई-बहिन छोटी अवस्था के थे, बड़े भैया सतरहवें में पैर रख रहे थे। पढ़ना छोड़ना बाल-कौतुक में अच्छा ही लगा था। देश के उफान के साथ एक वर्ष में गांधीजी के स्वराज्य का मधुर स्वप्न मैं देखा करता था, स्वराज्य-फंड के मिमित्त गली-कूचों में दौड़-धूप कर चंदा इकट्ठा करने में गर्व का अनुभव करता था, खिलाफत और कांग्रेस में तब एकता थी। कितने प्रेम से मुस्लिम भाइयों से भी मैंने चंदा उगाहा था।

तब बाबूजी की दिनचर्य्या—एक सामाजिक राष्ट्रीय होमकर्त्ता की दिनचर्य्या के सिवा और क्या हो सकती थी। उनका व्यक्तित्व स्पष्ट, अगोपनीय था——एक तपसी साधक का-सा खुला जीवन था। सुबह से रात तक कार्यकर्त्ताओं का आवागमन, आन्दोलन का संगठन और ग्राम-यात्रा की योजनाएँ दृष्टिगत थीं। खाने-पीने का न कोई समय और न उन्हें सुधि, और फिर बाबूजी का जन्मजात आतिथ्य प्रेम। कितनी ही बार दिन-दोपहरी कुछ कार्यकर्त्ता आ जाते थे जब भोजन उठ चुकता था। कभी कभी तो बउआ——मेरी माँ——अपना हिस्सा ही अतिथि को दे देती थीं और कभी कभी उन्हें फिर से भोजन बनाना पड़ जाता था। हम लोग मन ही मन बाबूजी पर खीझते थे पर विवश थे। हिन्दू परिवार में नारी का सेवा धर्म कितना ऊँचा है यह मैं तभी समझ पाया था। जेठ की कठोर तपन और छप्पर के नीचे चूल्हा। उसके बुझने और असमय जलने में रसोई बनाने वाले की मर्यादाभंग चाहे हुई हो पर बउआ की कठोर त्याग-साधना उसमें ज्वलंत थी। दिन में ही नहीं रात्रि में भी। असामयिक मेहमानों की आवभगत के कारण कभी कभी बउआ भी खीझ उठती थीं पर लोकपक्ष उनकी जबान बंद किये था।

स्वराज्य फण्ड की धन-राशि एकत्र करने की अंतिम तिथियाँ निकट थीं। बाबूजी ने प्रयाग में रहते हुए भी राष्ट्रीयहित में घर से १५ दिनों का प्रवास ले लिया। मैं उस समय शीत ज्वर से ग्रस्त था। वे मेरी दशा के विषय में घर के नीचे से पूछताछ कर चले जाते थे।

बाबूजी के जेल जाने पर कई हितैषियों ने आर्थिक सहायता करनी चाही पर विनम्रता के साथ बाबूजी ने मनाकर दिया। भैया साहित्य भवन लिमिटेड में मैनेजर का कार्य करने लगे थे और छोटे भाई चि० संतप्रसाद काढ़ने की मशीन का काम सीख आये थे। उससे कुछ आय हो जाती थी और दो-एक व्यापारियों के पास बाबूजी का कुछ रुपया दूकानों में लगा था। उनसे थोड़ा ब्याज आता था। इस प्रकार लगभग १००) महीने में हम लोगों का निर्वाह स्वावलम्बन

पूर्वक हो जाता था–कोई खेद नहीं था क्षोभ नहीं था क्योंकि लक्ष्य सभी के उदात्त थे। जेल के साथ-साथ जुर्माने का दंड भी बाबूजी को मिलता था, कांग्रेस-नीति जुर्माना देने के प्रतिकूल थी ही। जुर्माना न देने पर दो बार सरकारी कुड़की हुई। हमारे ओढ़ने-बिछाने का सामान चला गया––पर हम सब अपनी छोटी-सी पूँजी में स्वाभिमान पूर्वक रहते रहे, जेल में भेंट के समय बाबूजी कहा करते थे कि प्रसन्नता दरिद्रता, अभाग्य या कष्ट से मुक्ति में नहीं है, वह तो इनसे ऊपर उठने की शक्ति में और इन पर विजयी बनने में है। अतः असुविधाओं की चिन्ता न कर बाबूजी के त्याग के आदर्श से हम लोग आश्वस्त रहते थे और किंचित् अभाव में भी हर्ष का अनुभव करते थे।

राष्ट्रीय गति के अनुरूप ही कुटुंब के वैवाहिक संस्कारों में शुद्ध खादी वस्त्र और मटका रेशम––जिसमें जीवहत्या नहीं होती और बाबूजी का अहिंसा का समन्वय है––का व्यवहार प्रचलित हो गया। बारातियों के लिये भी खादी का प्रतिबन्ध अनिवार्य था। घर के कई जेठे सयाने मान्य संबंधियों की खादी वेशभूषा में बाबूजी का नैतिक आदर्श ही मुझे मूर्तिमान् दिखलाई पड़ता था। निमंत्रणपत्र भी हाथ के बने कागज पर छपता था।

हिन्दू विवाह-पद्धति की वैदिक रीति का स्वागत करते हुए भी बाबूजी अपनी विश्लेषण प्रवृत्ति के बल पर ढकोसलों से दूर रहने के पक्षपाती थे। अतः काशी और प्रयाग के कुछ विद्वान् पंडितों की सहायता से उन्होंने "विवाह पद्धति" का शुद्ध हिन्दी भाषान्तर कराया था। उनका मत था कि विवाह जैसे उत्तरदायित्व पूर्ण संस्कार को समझना वर-कन्या के लिए आवश्यक है और परस्पर दोनों को ही प्रतिज्ञाएँ करनी चाहिए। पंडितवर -कन्या की ओर से मंत्र उच्चरित करे, इससे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अतः सन् १९३० के बाद से परिवार में सभी भाई-बहिन, भांजे-भतीजों का विवाह शुद्ध हिन्दी मंत्रों द्वारा ही उन्होंने कराया। कई विवाह संस्कार पंडित की उपस्थिति में भी उन्होंने स्वयं ही हिन्दी के प्रति श्रद्धा के कारण कराए थे। हिन्दी विवाह पद्धति का प्रचलन हमारे परिवार में अब भी है। मैं कभी कभी सोचता हूँ कि अंग्रेजी में अनूदित बाइबिल ने जिस तरह लैटिन की दासता से मुक्त होकर क्रांति की है उसी तरह "हिन्दी विवाह पद्धति" प्रचलित हो जाय तो हमारी सामाजिक एकता बलवती हो सकती है।

बाबूजी अपनी बात के हठी थे। असहयोग आन्दोलन के शान्त होने पर अधिकांश कांग्रेसियों ने पुनः वकालत शुरू कर दी थी किन्तु वे थूककर चाटनेवालों में नहीं थे, अपने सिद्धान्त पर अडिग थे। अतः हम लोगों की स्कूल कॉलेज की शिक्षा में, जिसके प्रति बाबूजी अनुदार थे, तीन-चार वर्षों का व्यवधान पड़ा, सच तो यह है कि जब लाला लाजपतरायजी के अनुरोध से लाहौर के पंजाब नेशनल बैंक का सेक्रटरी पद १९२५ में बाबूजी ने स्वीकार किया तभी आर्थिक दृष्टि से हम भाइयों की उच्च शिक्षा संभव हो पाई। भारतीय संस्कृति और सदाचार के आदर्शों के रक्षा-हेतु वे गवर्नमेंट कॉलेज या क्रिश्चियन कॉलेज में हमसब को शिक्षा दिलानेके विरुद्ध थे, सनातन धर्म कॉलेज या डी०ए०पी० कॉलेज के पक्ष में थे। गवर्न्मेंट या क्रिश्चियन कॉलेज आर्थिक दृष्टिसे निश्चित होने के कारण सुयोग्य आचार्यों-प्राध्यापकों से संपन्न रहते हैं; श्रेष्ठतम छात्रों की

प्रतिद्वद्विता और खेल कूद की प्रचुर सुविधाएँ वहाँ रहती हैं। परन्तु बाबूजी बदलती प्रवृत्तियों के साथ सीधे समझौता न कर सकते थे। थोड़ी बहस हुई। फलतः लाहौर के सनातन धर्म कॉलेज से इंटर पास करने के बाद मुझे हास्टेल में रहकर उच्च शिक्षा निमित्त प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रवेश लेना पड़ा। शिक्षा-काल में सुयोग्य छात्र उमंगपूरित क्षेत्र निधारित करते हैं किन्तु जब सरकार से लड़ाई है तब आई०सी०एस०या अन्य उच्च प्रतियोगिता की परीक्षाओं में हम या हमारे भाई कैसे बैठ सकते थे?

मुझे विदित है कि आज के कितने ही कांग्रेसी नेता अपने पद का लाभ उठाकर विदेशी विनिमय (Exchange) का उपयोग करते हैं और विदेशों में अपने बच्चों की शिक्षा राष्ट्रीयता के विरुद्ध अनिवार्य समझते हैं। बाबूजी चाहते तो हमें पाश्चात्य शिक्षा में निष्णात बना सकते थे किन्तु उनकी आत्मा तो भारतीय थी। कथनी और करनी में वे अंतर नहीं स्वीकार कर सकते थे। वकालत पास करते हुए भी मैंने वकालत नहीं की क्योंकि बाबूजी से प्रोत्साहन नहीं मिला, क्योंकि सविनय अवज्ञा भंग का आन्दोलन छिड़ चुका था।

घर में कोई पैतृक व्यवसाय तो था नहीं, मुझे और मेरे छः भाइयों को अपने अपने अध्ययन और शिक्षा के लिये अपने ही पैरों पर खड़ा होना पड़ा। हमारे कार्य-क्षेत्र के संबंध में आजीविका-निर्वाह या भौतिक पद लाभ की दिशा में बाबूजी ने न कभी किसी अधिकारी या सहयोगी से कुछ कहा, न कोई सहायता ही पहुँचाई। अपने बच्चों के लिए किसी से कुछ कहना उनके सिद्धान्त-विरुद्ध था। भारत के स्वतंत्र होने पर राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता की सन्तान होने का सरकारी लाभ भी हममें से किसी को परिवार में नहीं मिला। भाई भतीजावाद और प्रांतीयता ने हमारे सर्वोच्च नेताओं की आँखें आज कितनी धूमिल कर दी हैं। कहाँ यह दशा और कहाँ मेरे पिताजी की कर्त्तव्यनिष्ठा! उनके व्यवहार से बच्चों के प्रति समुचित कर्त्तव्य में चाहे उदासीनता ध्वनित हो पर बाबूजी का स्वाभिमानी लोकादर्श इतना ऊँचा उठ जाता है जो समसामयिक किसी अन्य नेता में कठिनाई से मिलेगा।

देश की पुकार पर सन् १९२९ में पंजाब नैशनल बैंक का सेक्रटरी पद छोड़कर बाबूजी 'लोक सेवक मंडल' के अध्यक्ष हो गए और जीवन पर्यन्त उसी पद पर बने रहे। उसका एक कार्यालय प्रयाग में भी स्थापित हुआ। पहले मीरगंज में और फिर क्रास्थवेट रोड पर उसका कार्यालय रहा है।वहीं "सम्मेलन" के निकट हम लोगों की एक छोटी-सी भूमि है जहाँ सन् १९३० में "सविनय अवज्ञाभंग" के उपलक्ष्य में सबसे पहले नमक का कानून तोड़ा गया था। वहाँ घर बन चुका है जो मेरी माँ के नाम है।एक अवसर पर लोक सेवक मंडल के कार्यालय निमित्त घर की खोज होने लगी। घर में किसी के मुँह से निकल गया कि 'सोसाइटी' (अर्थात् लोक सेवक मंडल) चाहे तो हम लोगों का घर ले ले। बाबूजी इसपर बहुत बिगड़े, कहने लगे, "तुम लोग हमें असद्मार्ग सिखाते हो। क्या मैं 'सोसाइटी' से निजी घर का किराया ले सकता हूँ।" उक्त पारिवारिक घर में कुछ समय तक लोक सेवक मंडल कार्यालय रहा और 'सोसाइटी' का घर कन्याणीदेवी पर बन जाने के बाद ही कार्यालय का स्थानान्तर हुआ।

प्रयाग में कल्याणीदेवी पर लोक सेवक मंडल ने विस्तृत भूमि ले रखी थी। उसमें से आधी भूमि के बेंचने की बात हुई। जिस मूल्य पर दूसरों को भूमि बेंची गई उसी मूल्य पर मेरे भाई भूमि चाहते थे। पर बाबूजी ने अस्वीकार किया। उनका कठोर नैतिक लोकपक्ष था कि भूमि घरवालों के हाथ नहीं बेंची जा सकती, संसार न जाने क्या कहेगा ? सामाजिक शंकाओं के स्पर्श से भी वे बहुत दूर रहना चाहते थे।

उत्तर प्रदेशीय विधान सभा के 'स्पीकर' पद पर कई वर्षों तक बाबूजी रहे थे। १९३८ में वे हृदयरोग से ग्रस्त हो गए। बँदरियाबाग स्थित लखनऊ की विशाल कोठी में, जिसमें वे रहते थे, एलीवेटर लगाने की बात चली क्योंकि डाक्टरों के मत से उनका ऊपर चढ़ना-उतरना ठीक नहीं था किंतु केवल अपनी सुविधा के लिए सरकारी व्यय पर विचार कर उन्होंने एलीवेटर नहीं लगने दिया। उक्त कोठी में टमाटर, पत्तागोभी, लौकी, ककड़ी आदि की अच्छी उपज थी। उनका उपयोग लखनऊ में रहकर तो होता था पर प्रयाग हम लोग नहीं ला सकते थे। बाबूजी तो सरकारी रीति से रिजर्व डिब्बे में रिक्विजीशन फार्म भरकर रेल यात्रा करते थे किंतु हम परिवार के बच्चे उनके साथ रहते हुए भी प्रयाग टिकट लेकर आते थे।

वकालत के समय बाबूजी की वेशभूषा प्रतिबंधी हैट के स्थान पर साफा, बंद गले का कोट, कॉलर, पैण्ट और चर्म रहित कैनवस जूते से समन्वित थी। असहयोग आन्दोलन के दिनों में काठ की चट्टी और खादी की अचकन पहनकर भी दो-एक बार वे हाईकोर्ट गए थे। सदैव उनकी दृष्टि अपनी आवश्कतायें कम से कम करने की ओर थी। जीवन के पिछले बीस-पचीस वर्षों से तो उन्होंने पैवन्द लगे कपड़े पहनना प्रारंभ कर दिया था। बउआ विरोध करती थीं पर वे मानते नहीं थे और फिर बहुओं से (क्योंकि वे मना करने का साहस नहीं कर सकती थीं) वे फटे कपड़े गुँथवाते थे। उसकी भी एक सीमा थी। कभी कभी बहुएँ हँसकर कह देती थीं—"बाबूजी इन कपड़ों में तो अब दम नहीं है, इन्हें तो हम कहार को दे देती हैं।" तब कहीं हँसी के निर्झर बीच पैबन्दी कपड़ों से पिंड छूटता था।

उनमें दया-माया प्रबल थी। विविध हिन्दी सेवी एवं राजनीतिक संस्थाओं की ही नहीं, संबंधियों, इष्टमित्रों की भी आर्थिक सहायता वे करते रहते थे पर उजागर नहीं करते थे। अस्वस्थ बच्चों की शुश्रूषा में भी वे लग जाते थे और नौकर-चाकर के चोट लग जाने पर अपने हाथ से दवा लगाकर पट्टी बाँधते थे।

बाबूजी के कार्यक्षेत्र का घेरा विशाल था—कांग्रेस, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लोक सेवक मंडल, लोक सभा, किसान संघ, गोशाला, अपाहिज आश्रम, गौरी पाठशाला आदि। रात को प्रायः १२ बजे तक वे कठोर परिश्रम करते रहते थे और सक्रिय रूप से अपना नैतिक आदर्श सर्वत्र चरितार्थ करते थे। बार-बार के जेल-जीवन ने उनके स्वास्थ्य को जर्जरित कर दिया था। विशेषतया अंतिम बार "बरेली जेल" से वे अत्यन्त शिथिल होकर निकले थे। कठोर आदर्श के कारण पौष्टिक खान-पान या अमीरी फल-फूल से वे समझौता नहीं कर सकते थे। दाल में घी लेते नहीं थे

शरीर टूटता जा रहा था[1] किन्तु फिर भी अधिक अशक्त होने से पूर्व तक अपने हाथ से ही अपने कपड़े नित्य साबुन से धोते थे।

महात्मा गांधी की भाँति सरल और शुद्ध जीवन के व्रती बाबूजी थे और ग्रामोपयोगी समाजवाद के दृढ़ उपासक। आज Boerkely से Tykye और Boris से montreal तक सर्वत्र विद्रोही छात्रवर्ग का स्वर 'पूजीवादियों को नष्ट कर दो' का नारा लगा रहा है। इस विचित्र नये युग के जगत में जहाँ हमारे पूर्व निर्णय टूट रहे हैं यह चिंतन आवश्यक है कि नवयुवक के लिए समाज की आर्थिक और सामाजिक योजना क्या है। इस विषय में बाबूजी की ग्रामयोजना. भूमि वितरण, किसान संघ तथा भारतीय अनुशासन और संयम पश्चिमी देशों के लिए सुझाव रूप में रखे जा सकते हैं।

बाबूजी में प्रखर दूरदर्शिता थी। १९५० के संविधान निर्माण पर राष्ट्रभाषा हिन्दी के संबंध में वे दृढ़नीति के पक्षपाती थे किन्तु कांग्रेसी सरकार की भाषा नीति ढुलमुल रही। उसीका यह परिणाम है कि अराष्ट्रीय गति से देश के प्रान्त विभक्त होते जा रहे हैं और केन्द्र से स्वतंत्र होने की बात सोचते हैं; राष्ट्रीय एकता खण्डित होती जा रहीं है।

इसमें संदेह नहीं कि बाबूजी आत्मशक्ति से उन्नत एक आदर्शलोक के प्राणी थे किन्तु उनके आदर्श काल्पनिक न होकर देशहित में ही बने और पनपे थे। वे प्रकाशस्तम्भ की भाँति अनिवार्यतः अकेले थे और कहा करते थे—

सिंहन के लँहड़े नहीं, हंसन की नहिं पाँत।
लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चलैं जमत॥

—कबीर

राजनीति के दाँव पेंच एवं दलबंदी से दूर निःस्वार्थ लोक सेवा के वे प्रतीक थे। यही कारण है कि देश-विभाजन पर १५ अगस्त. '४७ को भारतीय स्वातंत्र्य के हर्षोन्माद से दूर एकान्त में ही दुखी हृदय से उन्होंने समययापन किया था। देशवासियों ने राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद से उन्हें गौरवान्वित किया। दो वर्षों तक उक्त पद पर वे रहे। जब कार्यकर्त्ताओं में उनके सिद्धान्त के विरुद्ध विषमता आने लगी तब तुरन्त ही अध्यक्ष पद का परित्याग कर दिया और अपने आदर्शों के कारण देश की दृष्टि में अधिक महान् हो गए। भौतिक सुख-समृद्धि या पद-लालसा से विरत हो वे तो उस पुनीत लोक के अधिवासी थे जहाँ स्वार्थ-परमार्थ समाज के निम्नातिनिम्न अंग से मिलकर क्रीड़ा करते हैं और सुख की खोज अपनी आत्मा के प्रति, ईश्वर के प्रति सच्चे रहने में होती है।

---

१. अपने कालेज जीवन में बाबू जी ने किसी दूकान पर घी में चर्बी मिलाते देखा था इसलिये घी से परहेज था। इसी प्रकार पशु-हिंसा से संबद्ध होने के कारण चमड़े के जूते और पशु-कंकाल दग्ध कोयले से स्वच्छ होने के कारण श्वेत चीनी का व्यवहार वे न करते थे। हृदय रोग से ग्रस्त होने के बाद उन्होंने नमक भी छोड़ दिया था।

श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

भारतीय संसद में राजर्षि टण्डन जी

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी के प्रतीक बन गये। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने जो कुछ भी किया, वह तो टण्डन जी की प्ररणा और उनके पथ-प्रदर्शन में हुआ ही। भारत की राजधानी दिल्ली में बैठकर टण्डन जी ने हिन्दी के लिये जो संघर्ष किया उसका इतिहास अत्यन्त गौरवपूर्ण है। आज हम यह मान कर बैठे हैं कि हिन्दी राजभाषा के पद पर विराज गई है। यह कार्य कितना कठिन था, इसे वही समझ सकते हैं जिन्होंने सन् ४७ से लेकर १९५० तक की संविधान सभा की कार्यवाही और उसमें भी महत्वपूर्ण कांग्रेस दल की कार्यवाहियों पर निगाह रखी है।

संविधान सभा ने पंडित जवाहरलाल नेहरू या डा० राजेन्द्र प्रसाद के सुझाव पर अपने आप हिन्दी को वह दर्जा नहीं प्राप्त हो गया जोकि उसे प्राप्त है। जब संविधान में हिन्दी-सम्बन्धी धाराओं को लिखने की बात आई तो पहला मोर्चा संविधान सभा की लेखन समिति में जमा। उस समिति में श्री गोपालस्वामी अयंगर, डा० कृष्णास्वामी अय्यर और श्री टी०टी० कृष्णाभाचारी जैसे धुरंधर विद्वान हिन्दी को कहीं टिकने ही नहीं देना चाहते थे। बाबूजी का यह काम था कि जो भी सदस्य हिन्दी का समर्थन कर सके, उसको हिन्दी के लिये तैयार करें, हिन्दी विरोधी तत्वों का उत्तर दें और जब कांग्रेस दल की बैठकें जो उस समय कांस्टीट्यूशन हाल में हुआ करती थी, इस प्रश्न पर चर्चा हुई तो टण्डन जी ने अपनी सारी संगठन शक्ति, सारी सूझबूझ और अपना सारा प्रभाव हिन्दी को उसके आसन पर बैठाने पर लगा दिया।

यद्यपि यह सही है कि उस समय सरदार पटेल जिन्दा थे और सरदार पटेल हिन्दी के कट्टर समर्थक थे, परन्तु यह बात भी सही है कि देश के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू और शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद, जिनके साथ दल का अहुमत समझा जाता था, एक देश भाषा को राजभाषा बनाने के पक्ष में तो थे, परन्तु वह यह स्थान हिन्दुस्तानी को देना चाहते थे जो हिन्दी और उर्दू दोनों लिपियों में लिखी जा सके। टण्डनजी को देवनागरी में लिखी हिन्दी के लिये अनवरत परिश्रम करना पड़ा और अन्त में कांग्रेस दल में उनकी विजय केवल एक मत से हुई। यह इस बात का प्रतीक है कि संघर्ष कितना कठिन था। उस समय टण्डन जी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री को दिल्ली बुला लिया था और यहाँ यद्यपि सेठ गोविन्ददास हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष थे परन्तु हिन्दी साहित्य सम्मेलन

की ओर से सारा आन्दोलन उन्होंने संचालित किया। वस्तुतः वह एक युद्ध परिषद् के अध्यक्ष की हैसियत से काम कर रहे थे जिस परिषद् में सेठ गोविददास, पंडित बाल कृष्ण शर्मा नवीन, श्री वियोगी हरि और श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी जैसे लोग थे। उस समय हिन्दी के सम्बन्ध में आवश्यक प्रचार का कार्य मुझे सौंपा गया था। कांग्रेस दल की बैठकों की जो कार्यवाही होती थी वह अंग्रेजी की समाचार समिति ग़लत सही ढंग से प्रसारित करती थीं। इसलिये टण्डन जी ने मुझे यह दायित्व सौंपा कि मैं उसके सम्बन्ध में हिन्दी पत्रों को सही जानकारी भेजूँ। कांग्रेस दल की बैठक में क्या हुआ, और उसमें कौन-सा भाग हिन्दी के पक्ष में था और कौन विपक्ष में, इसकी मुझे जानकारी दे दी जाती थी जिसमें तार, टेलीफोन व डाक के जरिए हिन्दी-क्षेत्रों के समाचार-पत्रों तक पहुँचा देता था। एक समय आया जब पता लगा कि उत्तर प्रदेश और बिहार के मुख्य मंत्री डगमगा रहे हैं और इस बात की संभावना है कि वे जवाहरलाल जी का साथ देंगे। उस समय मुझे कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस और पटना के समाचार पत्रों के सम्पादकों से मिलने के लिए भेजा गया जिससे कि समाचार पत्र अपने क्षेत्र के संविधान सभा के सदस्यों पर जोर डालकर उन्हें हिन्दी के पक्ष में मत देने के लिये प्रेरित करें। इस आन्दोलन का सीधा परिणाम यह हुआ कि बिहार के डगमगाते वोट हिन्दी के पक्ष में पड़े।

देवनागरी हिन्दी के पक्ष में लिया गया मतदान हिन्दी की पहली विजय थी। इस विजय के लिये टण्डन जी ने बड़ी चतुराई से दक्षिण भारत के सभी नेताओं को अपने पक्ष में कर लिया था। जिस एक मत द्वारा हिन्दी को राजभाषा बनाने की चर्चा की जाती है, उस मतदान में तमिलनाडु, मैसूर, केरल और आन्ध्र प्रदेश के सदस्यों ने आँख बंद कर टण्डन जी का साथ दिया था। परन्तु इस सहायता के लिये टण्डन जी से एक गहरी कीमत माँगी गई। श्री कृष्णामाचारी ने यह आग्रह किया कि टण्डन जी रोमन अंकों को मान लें। इस विषय पर टण्डन जी के बड़े-बड़े समर्थक जैसे पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन टण्डन जी से अलग हो गये। यह सोचा जाने लगा कि सेठ गोविंददास क्या करेंगे। टण्डन जी कांग्रेस दल की बैठक में तो पराजित हो ही गये परन्तु जब उन्होंने संविधान सभा में रोमन अंकों का विरोध किया तो उनको बहुत थोड़े समर्थक, तीन-चार व्यक्ति ऐसे मिले जिन्होंने उनका पूरा-पूरा साथ दिया। टण्डन जी साधारणतः हिन्दी में बोलते थे। परन्तु उस दिन अपने अहिन्दी भाषी मित्रों को समझाने के लिये उन्होंने अंग्रेजी में भाषण दिया। उनका भाषण इतना प्रभावशाली था कि सारे सदन ने एकाग्र होकर, स्तब्ध होकर उनका भाषण सुना। जब उनका भाषण समाप्त हो गया तो मेरे बगल में बैठे हुये उस समय इंडिन न्यूज क्रोनिकल के विशेष प्रतिनिधि श्री एस० ए० शास्त्री ने, जो बहुत अच्छे अंग्रेजी के लेखक हैं, कहा, टण्डन जी से बढ़कर शुद्ध अंग्रेजी बोलनेवाला इस संविधान सभा में दूसरा कोई नहीं।

टण्डन जी के दर्शन मैंने सबसे पहले १९४१ में प्रयाग में किये थे, जब मैं वहाँ पर पत्रकारिता के सिलसिले में गया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का काम उस समय भी उनकी देख-रेख में होता था। जनपदीय आन्दोलन और विकेन्द्रीकरण के प्रश्न को लेकर मेरे और टण्डन जी

के विचारों में बहुत समानता थी। हिन्दी के रूप के बारे में हम एक राय के नहीं थे। लेकिन जब संविधान सभा के सदस्य के रूप में मैंने टण्डन जी के दर्शन किये और जब उनके साथ हिन्दी का कार्य किया तो मैं उनकी निष्ठा और उनकी सदाशयता का भक्त बन गया।

टण्डन जी के कमरे में उनके दो आदर्श वाक्य देखने को मिलते थे। एक था: "सिंहन के लहंडे नहीं।" और दूसरा: "कबिरा इतना दीजिये जा में कुटुम समाय। मैं भी भूखा ना रहूं साधु न भूखा जाय।" वास्तव में टण्डन जी वह सिंह थे जो आपको कभी भी एक से अधिक नहीं मिलेगा। जब वे क्रोधित होते थे तो उनका रोष संभालना कठिन हो जाता था। मैंने लोक सभा में मौलाना आजाद के 'पुरफरेब त बैयुल' शब्द पर उन्हें नाराज होते देखा और ऐसा लगा कि उसी दिन लोक सभा भंग हो जायेगी। मौलाना आजाद ने फारसी के शब्द समूह को यह समझ कर बोल दिया था कि शायद कोई इसका अर्थ नहीं समझेगा परन्तु जिन टंडन जी का सारा जीवन पारदर्शक ईमानदारी से भरा हो, वह भला अपने लिये 'पुरफरेब' शब्द को कैसे हजम कर सकते थे। केवल मौलाना आजाद से ही उन्होंने अपनी नाराजगी प्रकट की हो, ऐसी बात नहीं। कहते हैं कि जब राजभाषा आयोग के प्रतिवेदन पर संसदीय समिति की रिपोर्ट लिखी जा रही थी तो अध्यक्ष श्री गोविंदवल्लभ पन्त को डांटते हुए टण्डन जी ने कहा था कि तुम उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री थे, तब भी मुझे शक था कि तुम हिन्दी के प्रति निष्ठावान नहीं हो। परन्तु अब तो मुझे विश्वास हो गया है कि तुम हिन्दी के प्रति गद्दार हो। उनके इन शब्दों के कहते ही पन्त जी की छड़ी जो सदैव उनके हाथ में रहती थी, जमीन पर गिर पड़ी। पन्तजी की उद्विग्नता का यह नमूना था। ऐसा श्री कुलदीप नायर ने अपनी पुस्तक "बिटवीन दी लाइन्स" में लिखा है। स्वयं जवाहरलाल जी ने टण्डन जी के जन्म-दिन पर होने वाले एक समारोह में कहा था कि "टण्डन जी से हमें सदैव डर लगता है, न जाने वे कब बिगड़ पड़ें और डांट दें।"

टंडनजी एक ओर यदि कठोर हो सकते थे तो उदार भी हद दर्जे के थे। सन् १९५० में वे नासिक कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये थे। इससे पहले एक निर्वाचन में डा० पट्टाभि सीतारमैय्या से वे हार भी चुके थे। मैं डा० पट्टाभि सीतारमैय्या का भी सम्मान करता था और टण्डन जी का भी। नासिक कांग्रेस में टण्डन जी ने अपना हिन्दी में भाषण पढ़ा और कांग्रेस की कार्यवाही का संचालन भी हिन्दी के माध्यम से किया। परन्तु उनके श्री जवाहरलाल नेहरू के साथ मतभेद बढ़ते गये जिनके निराकरण के लिये दिल्ली के कांस्टीट्यूशन क्लब में कांग्रेस महासमिति की बैठक बुलाई गई। इस बैठक में टण्डन जी ने यह कह कर कि मैं समझता हूँ कि कांग्रेस को इस समय जवाहरलाल की जरूरत है, अपना त्याग पत्र दे दिया। उस समय का दृश्य देखने लायक था। एक शाम पहले तक यह खबर थी कि श्री एस० के० पाटिल टण्डन जी के बहुत बड़े समर्थक हैं। वे सबसे पीछे बैठे हुये थे लेकिन फौरन लपक कर सबसे आगे आये और सबसे पहले उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि श्री जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के अध्यक्ष बनाये जाय। कौन किस के साथ है, और कितनी देर तक रह सकता है, इसका पता टण्डन जी को तत्काल लग गया। इस घटना के

थोड़े दिन बाद ही इंपीरियल होटल में जवाहरलाल जी को संभवतः उनकी ६०वीं वर्षगाँठ पर एक अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया गया। उस समारोह की अध्यक्षता टण्डन जी ने की थी। टण्डन जी ने जिस प्यार भरे शब्दों में जवाहरलाल जी का गुणानुवाद किया, उससे पता चलता था कि टण्डन जी संभवतः उन्हीं जवाहरलाल की बात कर रहे हैं जिनको उन्होंने इलाहाबाद के कांग्रेस संगठन और सार्वजनिक जीवन में अंगुली पकड़ कर चलना सिखाया था या जिसे प्रतापगढ़ के किसान आन्दोलन में अपना सहकारी बना कर न केवल उत्तर प्रदेश में बल्कि सारे देश के किसान आन्दोलन को दिशा निर्देश दिया था।

संसद में जब कभी हिन्दी का प्रश्न आया तो टण्डन जी सबसे आगे रहे। लेकिन केवल वाद विवाद तक ही उनका कार्य सीमिति नहीं था। वे जानते थे कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का यह अर्थ भी है कि उसका शब्द भंडार उन्नत किया जाये। इसलिये उन्होंने ऐसे अनेकों कार्य किये जिनसे हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा की स्थायी सेवा हुई। टण्डन जी के आग्रह पर यह निर्णय किया गया कि संसदीय, विधिक और शासकीय शब्दों के हिन्दीपर्याय निश्चित करने के लिये एक संयुक्त समिति नियुक्त हो। इनमें सभी देशी भाषाओं के प्रतिनिधि थे और टण्डन जी अध्यक्ष नियुक्त हुए तथा इस समिति को लगभग २०,००० शब्दों का चयन करना पड़ा। आठ महीने तक चलने वाली इस समिति की ११३ बैठकें बुलाई गईं जिनमें ३६५ घंटे काम किया गया और समिति की सारी बैठकों में श्री टण्डन जी उपस्थित थे। सवेरे ११ से ५ बजे तक समिति में बैठना, फिर पाँच बजे से रात के आठ बज तक रिपोर्ट तैयार कराना और उसके साथ ही साथ अन्य सारे काम निपटाना यह टण्डन जी के ही बूते की बात थी। उस समिति में टण्डन जी का अक्सर यह काम होता था कि डा० रघुवीर जैसे विद्वानों तक से पूछते थे। कि उन्होंने ऐसे कठिन शब्द क्यों लिख दिये जिनका प्रचलन सरल नहीं होगा। टण्डन जी यद्यपि संस्कृत के शुद्ध और व्याकरण सम्मत रूप को स्वीकार करते थे, परन्तु "रिबेट" के लिये "घटौती" जैसा शब्द भी स्वीकार करने में वे पीछे नहीं थे। जब यह कार्य चल रहा था तभी टण्डन जी बीमार पड़ गये और दो तीन महीने अस्पताल में भी रहे।

टण्डन जी जब संसद में बोलते थे, तो उनके कुछ प्रिय विषय थे। उनका हमेशा यह आग्रह था कि गाँवों का पुनर्निर्माण इस प्रकार हो कि प्रत्येक घर के चारों ओर एक छोटा सा बगीचा हो। यद्यपि उनका आचार-विचार बड़ा कड़ा था पर औरों के लिये उनकी उदारता कहीं भी जाने के लिये तैयार थी। यद्यपि समझा यह जाता था कि टण्डन जी कट्टरपंथी और प्रतिक्रिया विचारधारा के हैं, परन्तु एक बार जब संसद में आचार्य कृपलानी ने हरिद्वार के कुम्भ के सम्बन्ध में यह कह दिया कि इस प्रकार के स्नानों को जो महत्व दिया जाता है, वह लोगों को भ्रम में डालता है जिसमें कोई मूलभूत धार्मिक बात नहीं है। इस पर अत्यन्त प्रगतिशील श्री एन० सी० चटर्जी ने कहा कि एक दुर्घटना तो हो ही गई थी, दूसरी दुर्घटना यह हुई है कि आचार्य कृपलानी ने इस प्रकार का भाषण दिया है। इस पर टण्डन जी ने खड़े होकर कहा कि कृपलानी जी ठीक कहते हैं। यह बिल्कुल मूढ़ाग्रह है कि हम इस स्नान में पुण्य या पाप देखें। टण्डन जी

ने कृपलानी जी को चुनाव में हराया था पर सदन में जोरदार समर्थन किया जिसके बाद जवाहरलाल जी ने भी कहा कि हाँ मैं टण्डन जी से सहमत हूँ।

टण्डन जी जब दिल्ली में रहे तो उन्होंने हिन्दी के लिये हवा पैदा कर दी। संसद हो, दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन हो, लोक सभा हो या राज्य सभा, टण्डन जी के कारण सदैव हिन्दी के पक्ष का वातावरण बढ़ता गया। उन्हीं के प्रयत्नों से राजभाषा आयोग की स्थानपना हुई और उनकी मृत्यु के पश्चात् हिन्दी ने जो स्थान प्राप्त कर लिया था. उस पर भी आज हिन्दी जगत को विचार करना है।

श्री रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

हिन्दी साहित्य सम्मेलन और राजर्षि टण्डन जी

"...हिन्दी साहित्य सम्मेलन से मेरा सम्बन्ध उसके प्रारम्भ काल से है। उसके द्वारा हिन्दी के काम में मेरे जीवन की मुख्य घड़ियाँ बीती हैं। सम्मेलन मेरे प्राणों में समा गया है...।"

—राजर्षि टण्डन।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन का आरम्भ काल से ही कैसा अभेद्य सम्बन्ध रहा है, इस तथ्य को प्रकट करने के लिए ही उक्त पक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं। वस्तुतः यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आज जो कुछ भी स्वरूप और आकर-प्रकार दिखायी पड़ रहा है, उन सबके निर्माण में टण्डन जी का ही सर्वोपरि हाथ रहा है। सन् १९१० ई० में काशी में सम्पन्न होने वाले सम्मेलन के सर्वप्रथम अधिवेशन से लेकर सन् १९५१ के अन्तिम अधिवेशन (कोटा) तक सब में वे न केवल आदि से अन्त तक उपस्थित ही रहे वरन् उन सभी अधिवेशनों में जो कुछ भी हुआ वह सब उन्हीं की इच्छा और प्रेरणा से ही हुआ। सम्मेलन के सर्वतोमुखी विकास और प्रसार में भी टण्डन जी की कल्पनाओं का ही साकार रूप विद्यमान है। जब तक टण्डन जी जीवित थे, तब तक उनके बिना हिन्दी साहित्य सम्मेलन की कोई कल्पना नहीं की जा सकती थी। जिस प्रकार कांग्रेस के साथ महात्मा गांधी का, हिन्दू विश्वविद्यालय के साथ महामना मालवीय का, शान्ति-निकेतन के साथ महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का नाम शब्दार्थ की भांति अविछिन्न है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ टण्डन जी का नाम भी अभेद्य, अछेद्य और अविभाज्य है।

प्रयाग में बने हुए सम्मेलन के विशाल भव्य भवनों की एक-एक ईंट से लेकर उसकी बहुमुखी प्रवृत्तियों और प्रयत्नों की मंजिल के एक-एक पग में टण्डन जी की क्रियात्मक प्रेरणा और सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रसाद बिखरा हुआ है।

भगवान विश्वनाथ की नगरी विद्यापुरी काशी में हिन्दी के कुछ हितैषियों और प्रेमियों ने एक सम्मेलन इसलिए बुलाया था कि उसमें बैठ कर हिन्दी की उन्नति एवं विकास के सम्बन्ध में कुछ विचार-विनिमय किया जाय। एसे सम्मेलन आज भी आये दिन बुलाये जाते हैं, किन्तु किसी विरले संम्मेलन को ही ऐसा स्वरूप प्राप्त होता है, जो आज हिन्दी साहित्य सम्मेलन का है। उत्तम कल्पनाओं के एक वट-बीज ने अक्षयवट की पुण्यभूमि प्रयाग में आ कर किस प्रकार इतना

विशाल वृक्षत्व प्राप्त किया—इसकी कहानी किसी उपन्यास से कम रोचक नहीं है। इसके तपस्वी नायक ने अपनी निश्छल, स्वार्थ-विहीन तपोमयी साधना एवं सतत् जागरूक निष्ठा के द्वारा किस प्रकार उसका पालन-पोषण, सम्वर्द्धन और अलंकरण किया, इसे वही लोग भली-भाँति समझ सकते हैं जो कभी टण्डन जी के सम्पर्क में एक-दो घड़ी के लिए भी आये होंगे। चतुर माली की भाँति उन्होंने अपने इस मनोहारी वृक्ष को आजीवन न केवल संरक्षण ही प्रदान किया, प्रत्युत उसे सभी इति-भीतियों और विपत्तियों से भी बचाते रहे और सोते-जागते, उठते-बैठते उसी के कल्याण का चिन्तन करते रहे।

टण्डन जी का सम्वन्ध सम्मेलन के साथ, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, उसके जन्म के समय से ही रहा है। सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन १० अक्तूबर १९१० ई० को महामना मालवीय जी की अध्यक्षता में काशी में बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ था। वह एक सामाजिक और सामयिक भूख थी। हमारे देश में ब्रिटिश शासनकाल का वह स्वर्णिम युग था। समूचे देश में जागृति के पूर्व की सुषुप्ति विद्यमान थी। कहीं-कहीं स्वदेश-प्रेम और राष्ट्रीयता की लोरियाँ अवश्य सुनायी पड़ती थीं, किन्तु जनभावनाओं को कोई उचित दिशा-निर्देश नहीं मिल रहा था। राजनीतिक चेतना भी दिङ्मूढ़-सी थी और साहित्य-प्रेम अथवा भाषा-प्रेम के प्रतीक के रूप में छोटी-मोटी संस्थाएँ भी यत्र-तत्र वन गयी थीं। किन्तु इन संस्थाओं के द्वारा ऐसे ठोस कार्य नहीं हो रहे थे जिनके द्वारा इस विशाल देश की वहुसंख्यक जनता की भावनाओं को संतृप्त किया जा सके। उत्साह और लगन की कोई कमी नहीं थी, कमी थी केवल हृदगत भावनाओं को मूर्तरूप दे कर अग्रसर होने वाले नेताओं की। बंगला, गुजराती, मराठी तथा उर्दू के साहित्य-सेवियों के सम्मेलन देश में यत्र-तत्र होने लगे थे और इन सम्मेलनों में अपनी-अपनी भाषा तथा साहित्यकारों की महत्वाकांक्षाओं और समस्याओं का समाधान करने में सफलता भी प्राप्त होने लगी थी, किन्तु देश की बहुसंख्यक जनता की भाषा हिन्दी के साहित्यकारों का ऐसा कोई संगठन नहीं वन सका था, जिससे देश भर के हिन्दी साहित्यकार, कवि, लेखक और प्रेमी जन एकत्र होकर सामूहिक रूप से हिन्दी और हिन्दी साहित्य की उन्नति के सम्वन्ध में कुछ विचार विमर्श अथवा निश्चय कर सकते।

काशी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हो चुकी थी और वह अपने सीमित साधनों द्वारा बहुत कुछ कार्य भी कर रही थी, किन्तु अभी तक उसके कार्यों की परिधि इतनी विस्तृत नहीं बनी थी कि उसमें समूचे देश की हिन्दी-प्रेमी जनता की आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों के विकास का स्वप्न देखा जा सके। निदान अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य सम्मेलनों की देखा-देखी हिन्दी के साहित्यकारों का भी एक विशाल सम्मेलन बुलाने की माँग जब प्रथम बार की गयी तो उसकी समूचे देश में अनुकूल प्रतिक्रिया हुई।उस समय हिन्दी के समाचार-पत्र बहुत कम निकल रहे थे। जो दो एक-पत्र थे उनकी लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि उनकी पुरानी प्रतियाँ भी देखने को नहीं मिलती थीं। उनमें यदि कोई अपील की जाती थी या कोई विज्ञप्ति प्रकाशित की जातीथी तो उसकी समूचे हिन्दी जगत में व्यापक प्रतिक्रिया होती थी। अतः हिन्दी के साहित्य-

कारों का सम्मेलन बुलाने के सम्बन्ध में जब विज्ञप्ति प्रकाशित की गयी तो चतुर्दिक ऐसा वातावरण बन गया कि इस माँग की उपेक्षा करना कठिन हो गया।

धीरे-धीरे माँग के साथ सुझाव और निर्देश भी आने लगे और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी कि इस विशाल हिन्दी सम्मेलन के बुलाने का साहस अपने आप उसके आयोजकों में जागृत हो उठा। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा को वह वृहद सम्मेलन बुलाने का निश्चय करना पड़ा और १ मई, १९१० के अधिवेशन में सर्व-सम्मति से यह निश्चय किया गया कि शीघ्र ही हिन्दी के साहित्यकारों और प्रेमियों का एक विशाल सम्मेलन किया जायगा। इस संवाद के प्रकाशित होते ही हिन्दी जगत में प्रसन्नता की एक लहर-सी दौड़ गयी और सहयोग-दान की तथा सहानुभूति की वर्षा-सी होने लगी। शीघ्र ही काशी में गण्यमान नागरिकों की एक स्वागत-कारिणी समिति बनी जिसने समाचार पत्रों में एक विज्ञप्ति द्वारा हिन्दी प्रेमियों की सम्मतियाँ आमंत्रित कीं कि यह हिन्दी साहित्य सम्मेलन कब किया जाय, किसे इसका सभापति बनाया जाय और इसमें कौन-कौन से विषय विचारार्थ रखे जायं। सूचना प्रकाशित होते ही चारों ओर से सुझावों और सम्मतियों की बाढ़-सी आ गयी और आगत सम्मतियों के आधार पर यह निश्चय किया गया कि सम्मेलन का आगामी अधिवेशन उसी वर्ष के आश्विन के नौरात्र में हो और उसके सभापति तात्कालिक भारत की सांस्कृतिक चेतना के एकमात्र आराध्य पण्डित मदनमोहन मालवीय बनाये जायें। विचारार्थ प्रस्तुत किये जाने वाले विषयों की तो भरमार हो गयी। फलतः वह पहला अधिवेशन बड़े ही सहज उत्साह, उल्लास और समारोह के साथ आश्विन मास के नौरात्र की सप्तमी सोमवार, १० अकतूबर, १९१० को काशी की नागरी प्रचारिणी सभा-भवन के पश्चिम वाले मैदान में विशाल पाण्डाल के नीचे निरन्तर तीन दिनों तक उसी जोश-खरोश, भीड़-भाड़ और उमंग के वातावरण में सविधि सम्पन्न हुआ।

समूचे देश में हिन्दी के साहित्यकारों और प्रेमियों का यह पहला ही अधिवेशन था, किन्तु उसमें देश के विभिन्न अंचलों में रहने वाले पाँच सौ से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया था और प्रतिदिन दोनों समय के अधिवेशनों में अपार भीड़ होती थी। इसमें कुल १५ प्रस्ताव पारित हुए थे जिनमें से तीन औपचारिक तथा बारह सोद्देश्य थे। पहले प्रस्ताव द्वारा सम्राट सप्तम एदवर्ड की मृत्यु पर शोक प्रकाश था, द्वितीय प्रस्ताव द्वारा सम्राट जार्ज पंचम के राज्याभिषेक पर हर्ष प्रकट किया गया था और तृतीय प्रस्ताव द्वारा उस वर्ष दिवंगत हुए हिन्दी के चार सेवकों के निधन पर शोक प्रकट किया गया था। शेष प्रस्तावों में से आठ प्रस्तावों में हिन्दी एवं नागरी के बहुमुखी प्रचार-प्रसार और उन्नति के प्रयत्नों की प्रेरणा तथा समीक्षा थी और अन्य चार प्रस्तावों का सम्बन्ध इस प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के भविष्य से सम्बन्धित था।

इस प्रथम अधिवेशन के सभापति महामना मालवीय जी की जन्मभूमि एवं उस समय तक की कर्मभूमि प्रयाग ही थी। वहीं के सार्वजनिक कार्यों द्वारा ही उनके मनोमोहक व्यक्तित्व एवं अम्लान रचनात्मक प्रतिभा का उदय हुआ था। उनकी प्रसिद्धि का परिवेश यद्यपि भारत-

व्यापी बन चुका था, तथापि अब भी वे प्रयाग नगर के ही गौरव थे और पुरुषोत्तमदास जी टण्डन उनके अनन्य अनुयायी और अविचल श्रद्धावान भक्त थे। टण्डन जी उन दिनों प्रयाग उच्च न्यायालय में वकालत कर रहे थे। काशी में आयोजित हिन्दी के साहित्यकारों के इस प्रथम सम्मेलन में वे वैसे भी भाग लेते किन्तु जब स्वयं महामना मालवीय जी ही उसके सभापति बनाये गये थे तो प्रयाग से अपने दल-बल के साथ वाराणसी के इस प्रथम अधिवेशन में भाग लेना उनका पावन कर्त्तव्य हो गया। प्रयाग के सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में मालवीय जी के साथ टण्डन जी का सहयोग निरन्तर बढ़ रहा था। टण्डन जी उन दिनों लगभग २७ वर्ष के थे। नीरोग और स्फूर्ति से भरे उनके सुन्दर शरीर और सात्विक तथा दृढ़तापूर्ण निश्चयों में अदम्य शक्ति भरी हुई थी। उस वय में भी वे नितान्त गम्भीर, दृढ़निश्चयी, सात्विक विचारों से ओतप्रोत स्वार्थत्याग और अपनी मातृभूमि के लिए कुछ करने की उत्कट लालसा से भरे हुए थे। बोलते कम थे किन्तु जो कुछ बोलते थे उसमें उनके हृदय की भावनएँ मुखरित होती थीं और लिखते कम थे किन्तु जो कुछ लिखते थे उसमें नितान्त संयम और चिन्तन भरा होता था। वाराणसी में मालवीय जी के साथ टण्डन जी जब प्रथम अधिवेशन में सम्मिलित हुए तो उन्होंने सभी प्रस्तावों को तैयार करने में मालवीय जी की सहायता की और अधिवेशन में प्रस्तुत चौथे रचनात्मक प्रस्ताव को उन्होंने ही अधिवेशन के सामने प्रस्तुत किया। सम्मेलन के अधिवेशन में उनके प्रथम भाषण का कुछ अंश नीचे उद्धत किया जा रहा है जिससे उस युवास्वस्था में भी टण्डन जी में छिपे भविष्य के स्वरूप का पदे-पदे दर्शन होता है।

"...यह संम्मेलन इस बात पर शोक प्रकट करता है कि जिस आज्ञा को इन प्रान्तों की गर्वनमेण्ट ने हिन्दी जानने वाली प्रजा के हित के लिए, अदालतों में नागरी अक्षरों के व्यवहार के विषय में १८ अप्रैल सन् १९०० की आज्ञानुसार जारी किया था, उससे हिन्दी जानने वाली प्रजा को कहीं कहीं अमलों और हाकिमों के नागरी से पूरा परिचय न होने के कारण और कहीं वकीलों और मुख्तारों के स्वार्थ अथवा उदासीनता के कारण उचित लाभ नहीं पहुंच रहा है। यह सम्मेलन इन प्रान्त की गवर्नमेण्ट से प्रार्थना करता है कि वह समय-समय पर इस बात की जांच करा लिया करे कि गवर्नमेण्ट की ऊपर कही हुई आज्ञा का पालन ठीक-ठीक होता है या नहीं। जो अमले अदालतों में नियत किये जाते हैं, उनके दोनों लिपियों का परिचय काम करने योग्य है या नहीं। यह सम्लन गवर्नमेण्ट से नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता है कि वह यह आज्ञा कर दें कि जो लोग तजवीज और हजहार आदि की नकलें नागरी में लेने की प्रार्थना करें, उनको वे सब नागरी में मिल जाया करें।

"यह सम्मेलन गवर्नमेण्ट का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करता है कि जिस प्रकार युक्तप्रान्त का गवर्नमेण्ट गज़ट अंग्रेजी के अतिरिक्त उर्दू में भी प्रकाशित होता है उसी प्रकार उसको नागरी अक्षरों में भी प्रकाशित होने की वह आज्ञा कर दे।"

"यह सम्मेलन गवर्नमेण्ट का ध्यान इस बात की ओर भी दिलाता है, कि चुंगी तथा दूसरे टैक्सों की रसीदें तथा अन्य कागजात, जो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपलिटियों से जारी होते हैं

वे सब अधिकांश प्रजा के सुभीते के लिए नागरी अक्षरों में लिखे जाने चाहिएं और आशा करता है कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा म्युनिसिपलिटियाँ इस बात पर शीघ्र ध्यान देंगी।"

"नागरी प्रचार के लिए सम्मेलन उचित समझता है कि युक्तप्रान्त के प्रत्येक जिले में इस कार्य के सम्पादन के लिए हिन्दी प्रेमियों की एक-एक सभा स्थापित हो और सम्मेलन की कमेटी उनके स्थापित होने में सहायता करे और उनके कार्य की जांच के लिए तथा उनके सम्बन्ध में अन्य कार्य करने के लिए एक इन्सपैक्टर नियुक्त करे।

"यह सम्मेलन उन देशी राज्यों से, जिनके दफ्तरों में अब तक हिन्दी का प्रचार नहीं हुआ, अत्यन्त विनीत भाव से प्रार्थना करता है कि वे अपनी प्रजा के सुभीते के लिए तथा उन्नति के लिए राज्य के दफ्तरों में हिन्दी का व्यवहार करने की आज्ञा जारी कर दें।"

"इस सम्मेलन की सम्मति है कि अदालतों में नागरी प्रचार के कार्य तथा हिन्दी साहित्य की उन्नति के लिए एक कोश इकट्ठा किया जाय जो केवल उसी कार्य में लगाया जाय।"...

टण्डन जी का यह भाषण काफी बड़ा है। इसे यदि समग्र रूप से यहाँ उद्धृत किया जाय तो पाठकों को सहज ही यह ज्ञात हो सकता है कि हिन्दी के महान् भविष्य और महती संभावनाओं के सम्बन्ध में युवक टण्डन जी के मतिस्ष्क में कितनी ऊँची कल्पनाएँ थीं और हिन्दी की वर्तमान दुरवस्था से वे कितने दुखी थे। उनके भाषण का एक लघु अंश इस प्रकार था—

"...ऐसी भाषा हिन्दी ही है, जो समूचे देश में सहज ही फैलाई जा सकती है। हिन्दी भाषा के जानने वाले अन्य भारतवर्षीय भाषाओं के जानने वालों से कहीं अधिक हैं। हिन्दी भाषा अन्य गुणों से भी सर्वांगपूर्ण है, उसका साहित्य भी अच्छा है और उसके साहित्य की दिन-दिन उन्नति होने की संभावना भी है। जिस भाषा में ऐसे लेख नहीं लिखे जा सकते हैं, जो कि पढ़ने वालों पर अपना प्रभाव डाल सके जो उनके भावों को बदल सके या जो उनके भावों की धारा को एक दूसरी ओर बहा सके, उस भाषा के साहित्य की उन्नति होने की संभावना नहीं होती। हिन्दी भाषा में वह सभी गुण विद्यमान है, जिससे कि हिन्दी में उक्त प्रकार के लेख लिखे जा सकते हैं। हिन्दी भाषा को भारतवर्ष के हर प्रान्त के लोग समझते और समझ सकते हैं। अब यह उपाय करने चाहिए, जिनसे कि हिन्दी भाषा की सर्वप्रकार की उन्नति होवे। जिस भाषा को राजा का सहारा नहीं है, वह शीघ्र उन्नति नहीं कर सकती है। लोग उसका उतना आदर नहीं करते जितना कि राजभाषा का। उर्दू भाषा की उन्नति इसका प्रमाण है। हम सबको उद्योग करना चाहिए कि जिसमें कि हमारी हिन्दी को भी 'राजद्वार' में स्थान मिले। ऐसा उपाय कीजिए जिसमें कि हिन्दी भाषा का प्रचार हर एक प्रान्त के गाँव-गाँव में हो।"...

टण्डन जी के इस भाषण के भीतर ही भावी हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उद्देश्य बीजरूप में छिपे हुए थे। आगे चल कर सम्मेलन को गतिमान और विराट बनाने की उन्होंने जो रचनाएँ रचीं, जो उपाय किये उन सब में उनके इस भाषण के शब्दों की चरितार्थता पदे-पदे है। इसी अधिवेशन में हिन्दी की उन्नति एवं प्रचार के लिए धन-संग्रह करने के हेतु 'हिन्दी पैसा फण्ड' की स्थापना हुई थी जिसके द्वारा आगे चल कर हिन्दी की उन्नति के प्रयत्नों को विशेष बल मिला।

टण्डन जी ने जो प्रस्ताव उपस्थित किया था उसमें केवल धनकोष की स्थापना का विचार रखा गया था, किन्तु उनके प्रस्ताव के इस अंश का समर्थन सिंहभूमि जिले के पौड़ाहाट स्टेट की राजधानी चक्रधरपुर के प्रतिनिधि बाबू रामचीज सिंह ने किया था। वे चक्रधरपुर में २१ नवम्बर, १९०९ में स्थापित 'हिन्दी पैसा फण्ड समिति' की ओर से इस अधिवेशन के प्रतिनिधि बन कर आये थे। उन्होंने बड़े मर्मस्पर्शी और तर्कपूर्ण ढंग से हिन्दी की उन्नति एवं विकास की महती आवश्यकताओं की ओर उपस्थित प्रतिनिधियों का ध्यान आकृष्ट करते हुए जो भाषण दिया, उसका भी अनुकूल प्रभाव पड़ा। हिन्दी साहित्य के यशस्वी विद्वान् एवं लेखक मिश्रबन्धुओं में से एक रावराजा पण्डित श्यामबिहारी मिश्र ने भी टण्डन जी के इस प्रस्ताव का तथा हिन्दी पैसा फण्ड की स्थापना का जोरदार समर्थन किया और सब के अन्त में अपनी ललित मनोहर प्रांजल भाषा और तर्कशैली से उपस्थित प्रतिनिधियों का मन मोहनेवाले अधिवेशन के सभापति महामना मालवीय जी ने जो अपील की उसका अमोघ प्रभाव पड़ा और तत्काल ही भरी सभा में चारों ओर से पैसों की वर्षा-सी होने लगी। देखते ही देखते पैसा फण्ड में १३१२८ पैसे नकद २११४१८ पैसों के वचन प्राप्त हुए, जिनका योग २२५५४६ पैसे अर्थात् उस समय के ३५२४) रुपये ढाई आने होते थे, एकत्र हुए। यही नहीं हुआ, इस सम्मेलन की प्रसविनी काशी नागरी प्रचारिणी सभा पर उस समय तक कुल छः हजार रुपये का ऋण चढ़ चुका था। उस समय के लिए यह धनराशि किसी नवजात संस्था को समाप्त कर देने के लिए पर्याप्त थी। सभा के संचालकों के लिए यह भारी ऋण राशि दिन रात चिन्ता का विषय बनी हुई थी। भरी सभा में जब चारों ओर से पैसों की वर्षा हो रही थी, पं० श्यामबिहारी मिश्र ने उपस्थित प्रतिनिधियों तथा दर्शकों को जब यह सुखद संवाद सुनाया कि किसी एक उदार महानुभाव ने, जो अपना नाम प्रकट नहीं करना चाहते, यह प्रतिज्ञा की है कि शीघ्र ही वह काशी नागरी प्रचारिणी सभा का छः हजार का उक्त ऋण चुकता कर देंगे तो सभा में प्रसन्नता एवं उल्लास का उन्माद सा छा गया और चारों ओर से ऐसा वातावरण बन गया कि हिन्दी के लिए जनता में कितना अपार उत्साह और उमंग है।

इस प्रकार काशी का यह प्रथम अधिवेशन न केवल हिन्दी साहित्य सम्मेलन के महान भविष्य के लिए ही प्रेरणाप्रद और सहायक बना वरन् उसकी जननी नागरी प्रचारिणी सभा के वर्तमान संकटों को दूर करने में भी वरदायक सिद्ध हुआ। टण्डन जी के इस प्रस्ताव की सर्वसम्मति से स्वीकृति एवं उसके परिणामस्वरूप लगभग दस सहस्र रुपयों की आर्थिक निधि के संचयन से उपस्थित प्रतिनिधियों एवं दर्शकों का उल्लास कई गुना बढ़ गया। सर्वत्र उत्साह की लहर-सी दौड़ने लगी और सब को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि हिन्दी के साहित्यकारों एवं हितैषियों का यह सम्मेलन अब भविष्य में भी प्रतिवर्ष निर्बाध रूप से चलता रहेगा और इसके द्वारा हिन्दी की सभी प्रकार की कठिनाइयाँ एवं समस्याओं का ही अवसान न होगा वरन् हिन्दी के सर्वतोमुखी विस्तार एवं प्रचार-प्रसार में भी यह अपूर्व योगदान करेगा।

अधिवेशन समाप्त होने के पूर्व एक प्रस्ताव द्वारा देश भर के गण्यमान ४१ व्यक्तियों की एक ऐसी समिति बनायी गयी जो हिन्दी के साहित्यकारों के ऐसे वार्षिक सम्मेलन की एक नियमावली एवं भविष्य में उसकी गतिविधि का निर्धारण कर वर्ष भर तक इस सम्मेन्लन में स्वीकृत मंतव्यों आदि पर कार्य करे। यह भी निश्चय हुआ कि जब तक कोई नियमावली बन कर वार्षिक बैठक में स्वीकृत न हो जाय, तब तक इसी प्रकार की समिति प्रतिवर्ष बनती रहे। उस सर्वप्रथम ४१ सदस्यीय समिति में महामना मालवीय जी के अतिरिक्त जो अन्य ४० महानुभाव थे उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं--

"लाला मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द), साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा, बाबू शारदाचरण मित्र, सर गुरुदास बनर्जी, बाबू हरिकृष्ण जौहर, पण्डित अमृतलाल चक्रवर्ती, पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पं० श्यामबिहारी मिश्र, राजा नरपति सिंह (चक्रधरपुर), महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यराम भट्टाचार्य, डा० गंगानाथ झा, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी और बाबू श्यामसुन्दर दास आदि। टण्डन जी आगामी वर्ष के लिए इस सम्मेलन के मंत्री चुने गये और एक प्रस्ताव द्वारा यह भी निश्चय किया गया कि आगामी वर्ष इसी प्रकार का दूसरा सम्मेलन करने के लिए प्रयाग नगर की नागरी प्रवर्द्धिनी सभा का निमंत्रण-पत्र स्वीकार किया जाय। यही नहीं जिस समय काशी में प्रथम सम्मेलन समाप्त हो रहा था उसी समय इस प्रथम सम्मेलन के सभापति महामना मालवीय जी ने प्रयाग से आनेवाले अपने साथी प्रतिनिधियों से अनुरोध किया कि--"यदि सम्मेलन को दृढ़ करना है और उसे सचमुच स्थायी रूप देना है तो दूसरा सम्मेलन प्रयाग नगर में हो।"

प्रयाग के प्रतिनिधियों ने भी महामना मालवीय जी की प्रेरणा से सम्मेलन की नींव को दृढ़ करने के अभिप्राय से ही उसे आगामी वर्ष के लिए प्रयाग में निमंत्रित किया था और प्रमाणों से प्रकट है कि सम्मेलन के प्रयाग में होनेवाले इस द्वितीय अधिवेशन ने ही सम्मेलन को स्थायी रूप दे दिया। काशी में प्रथम अधिवेशन के सम्बन्ध में हिन्दी-जगत् में उत्साह का होना तो उसकी नवीनता के कारण स्वाभाविक ही था परन्तु प्रयाग के द्वितीय सम्मेलन में पहले से भी अधिक लोग जब एकत्र हुए और वाराणसी से भी बढ़ कर प्रयागवासियों में सम्मेलन के प्रति अत्यधिक उत्साह और आकर्षण देखा गया तो यह निश्चय हो गया कि सम्मेलन चिरंजीवी रहेगा। वाराणसी के प्रथम अधिवेशन को प्रायः सभी लोग काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का ही एक वृहद अधिवेशन कहते थे और उसकी नागरी प्रचारिणी सभा से अलग कोई विशेष स्थिति नहीं थी। किन्तु इस सम्मेलन के मंत्री के रूप में टण्डन जी ने प्रयाग में आ कर अपने अन्यान्य सहयोगियों के साथ उसकी गतिविधि को जिस प्रकार अग्रसर किया और जिस अटूट निष्ठा और लगन से उसके कार्यों में रुचि ली उससे कुछ ही महीनों के भीतर नागरी प्रचारिणी सभा से अलग इस सम्मेलन की एक स्थिति जनता के सामने आ गयी। उन्होंने उसका एक स्थायी कार्यालय ही नहीं स्थापित किया वरन् उसकी बहुमुखी प्रवृत्तियों और संभावनाओं को भी मूर्त-रूप देना शुरू किया।

इस प्रकार विद्यानगरी वाराणसी में जन्म ले कर और महामना मालवीय जी के वरद हाथों अमृत-रसमय घूंटी का पान कर और मनस्वी टण्डन जी की तपस्या और लगन से एक वर्ष के भीतर ही सम्मेलन को स्थायी रूप प्राप्त हो गया।

द्वितीय वर्ष में सम्मेलन का सभापतित्व पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र ने किया। इस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष टण्डन जी के साहित्यिक गुरु पण्डित बालकृष्ण जी भट्ट थे। प्रयाग के इस द्वितीय अधिवेशन से सम्मेलन को बड़ी शक्ति मिली और हिन्दी-जगत् में यह धारणा बद्धमूल हो गयी कि सम्मेलन का भविष्य विशाल है और एक दिन यह देश की महती संस्था बनेगी। सम्मेलन के इस द्वितीय अधिवेशन में एक स्वतंत्र नियमावली स्वीकृत की गयी जो केवल एक वर्ष के लिए ही थी और यह स्वीकार किया गया कि सम्मेलन का मुख्य कार्यालय एक वर्ष के लिए प्रयाग नगर में ही रहेगा। इस द्वितीय सम्मेलन में भी सम्मेलन के मंत्री-पद पर श्री टण्डन जी सर्व-सम्मति से चुने गये, क्योंकि उनकी जैसी अपार हिन्दी-निष्ठा और लगन तथा सम्मेलन को सब प्रकार से उन्नत, समृद्ध और गतिमान् बनाने की महत्वाकांक्षा किसी अन्य व्यक्ति में नहीं थी। अपने एक वर्ष के सीमित कार्यकाल में ही उन्होंने यह सिद्ध कर दिया था कि सम्मेलन को कितना आगे बढ़ाया जा सकता है।

सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन हमारे देश के वाणिज्य-व्यवसाय के प्रमुख केन्द्र कलकत्ता नगर में बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ और इसके सभापति हुए हिन्दी के यशस्वी कवि और साहित्यकार उपाध्याय पण्डित बदरीनारायण चौधरी प्रेमधन। इस तीसरे अधिवेशन से तो सम्मेलन को अपूर्व शक्ति मिली और अनेक हिन्दीतर भाषा-भाषी महानुभावों का भी सम्मेलन की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। इस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे पण्डित छोटूलाल मिश्र और स्वागत मंत्री थे भारत के प्रथम राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसाद, जो उन दिनों कलकत्ता हाईकोर्ट में वकालत कर रहे थे। कलकत्ता अधिवेशन में बंगाल के शीर्षस्थ साहित्यकारों, वैज्ञानिकों, वकीलों, वैरिस्टरों और पत्रकारों के अतिरिक्त वहाँ के प्रमुख गण्यमान नागरिकों तथा धनपतियों का भी सहयोग सुलभ हुआ। उपस्थित प्रतिनिधियों में मद्रास, उड़ीसा, बम्बई, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, सिन्ध, राजस्थान, पंजाब, असम, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, दिल्ली आदि प्रदेशों के सहस्रों व्यक्ति थे। इस अधिवेशन में एक विशेष प्रस्ताव पास किया गया जिसमें सम्मेलन के मंत्री श्री पुरुषोत्तमदास जी टण्डन के प्रति उनकी अनवरत सेवा और परिश्रम के लिए हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की गयी और उन्हें अधिकार दिया गया कि वे इस सम्मेलन की स्थायी समिति की रजिस्ट्री करा लें। इस प्रकार प्रयाग नगर में सम्मेलन के स्थायी कार्यालय की एक प्रकार से सम्पुष्टि की गयी।

सम्मेलन का चौथा अधिवेशन बिहार के भागलपुर नगर में हुआ और उसके सभापति हुए आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता महात्मा मुन्शीराम, जो स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात थे। इसी अधिवेशन में हिन्दी के प्रचार के हेतु तथा हिन्दी-साहित्य में दक्षता प्राप्त करने के लिए सम्मेलन की परीक्षाओं-सम्बन्धी नियमावली स्वीकृत की गयी और नागरी वर्णमाला पर विचार

करने के लिए एक उपसमिति का संगठन किया गया और यह भी निश्चय किया गया कि सम्मेलन का मुख्य कार्यालय प्रयाग नगर में ही रहेगा। हिन्दी-जगत् में यह धारणा बन गयी कि टण्डन जी ही इस सम्मेलन के सर्वस्व हैं और जो भी सम्मेलन का विकास और उन्नयन हुआ है वह एक-मात्र उन्हीं के प्रयत्नों का सुफल है।

पाँचवाँ अधिवेशन उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में हुआ और इसके अध्यक्ष हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि पण्डित श्रीधर पाठक बने। लखनऊ सबसे बड़े हिन्दी भाषी राज्य की राजधानी था अतः यह अधिवेशन अबतक के अधिवेशनों में सर्वाधिक भीड़भाड़ और धूमधाम से सम्पन्न हुआ। इसमें इतने अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया जितने अब तक किसी भी अधिवेशन में नहीं आये थे। इसी अधिवेशन में प्रथम बार सम्मेलन की परीक्षाओं में उत्तीर्ण स्नातकों को उपाधि-पत्र प्रदान किये गये।

लखनऊ के अधिवेशन तक सम्मेलन के कार्यालय की अपनी स्थिति बन चुकी थी और उसे अखिल भारतीय महत्व भी मिल चुका था किन्तु था वह अब भी टण्डन जी के निजी भवन के एक कक्ष में ही। उनके वकालतखाने के कमरे में ही एक ओर सम्मेलन का भी आफिस रहता था और दिन-रात टण्डन जी सम्मेलन के कार्यों में वैसी ही रुचि लेते थे मानो वह उनके निजी व्य-साय का ही एक अविभाज्य अंग हो।

सम्मेलन का छठाँ अधिवेशन लाहौर में होने वाला था किन्तु किसी अप्रत्याशित कारण-वश वहाँ नहीं हो सका, इसलिए टण्डन जी ने उसे प्रयाग में सोत्साह सम्पन्न कराया। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् बाबू श्यामसुन्दरदास इस अधिवेशन के सभापति थे।

इस प्रकार अब सम्मेलन प्रयाग में स्थायी रूप से जम गया और धीरे-धीरे टण्डन जी के वरद सान्निध्य में उसकी समस्त प्रवृत्तियों का विकास हुआ।

सातवाँ सम्मेलन जबलपुर में पण्डित रामावतार शर्मा की अध्यक्षता में हुआ। सम्मेलन का आठवाँ अधिवेशन इन्दौर में सन् १९१८ ई० में सम्पन्न हुआ। यह अधिवेशन सभी दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण रहा। इसके सभापति कर्मवीर महात्मा गांधी हुए, जो उन दिनों परतन्त्र भारत की कोटि-कोटि जनता के एकमात्र आशास्तम्भ थे। गांधी जी के महान् व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व के पुण्य संस्पर्श से सम्मेलन को नवजीवन प्राप्त हुआ। उसकी सुप्रतिष्ठा समूचे भारत में फैल गयी और उसे अच्छी आर्थिक सहायता भी मिली। अहिन्दी भाषियों के हृदय में भी सम्मेलन को आदर प्राप्त हुआ। महात्मा गांधी जी की प्रेरणा से इन्दौर अधिवेशन में दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का कार्य आरम्भ करने के लिए एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जिसके परिणाम-स्वरूप समूचे दक्षिण भारत में राष्ट्रभारती हिन्दी का व्यापक प्रचार-प्रसार करनेवाली संस्था दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार-सभा का जन्म हुआ। आरम्भ के कई वर्ष तक यह संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन की एक शाखा तथा अविभाज्य अंग के रूप में कार्य करती रही और इसकी सभी प्रवृतियों एवं कार्यों का नियमन तथा संचालन सम्मेलन के मुख्य केन्द्र प्रयाग से ही होता रहा किन्तु आगे चल कर कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण विशेषकर महात्मा गांधी जी की

इच्छा के अनुसार इसे एक स्वतंत्र संस्था के रूप में कार्य करने के लिए सम्मेलन से पृथक कर दिया गया। सम्मेलन का नवाँ अधिवेशन बम्बई में पुन: महामना मालवीय जी की अध्यक्षा में सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में बड़ौदा के महाराज द्वारा प्रदत्त ५०००) की आर्थिक सहायता से सम्मेलन द्वारा साहित्यिक प्रकाशनों का श्रीगणेश हुआ। विश्ववंद्य महात्मा गांधी तथा महामना मालवीय जी जैसे पुण्यश्लोक महानुभावों के सभापतित्व तथा टण्डन जी के महान मनस्वी तथा अनवरत हितचिन्ता में रत मंत्री के सतत सान्निध्य से इन आठ-नौ वर्षों के भीतर सम्मेलन को अखिल भारतीय स्वरूप प्राप्त हो गया। वह अपने अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यिक सम्मेलनों अथवा संघटनों के लिए न केवल स्पर्धा का विषय बन गया अपितु उसने यह भी सिद्ध कर दिया कि गंगा की धारा की भाँति हिन्दी में अजेय शक्ति है और वह न केवल एक दिन इस विशाल देश की राष्ट्रभारती होने की पूर्ण क्षमता रखती है अपितु, समूचे देश की एकता एवं राष्ट्रीय विचारधारा की वाहिनी भी है।

सम्मेलन का दसवाँ अधिवेशन स्वर्गीय पण्डित विष्णुदत्त शुक्ल के सभापतित्व में पटना नगर में हुआ और पुन: कलकत्ता में सम्मेलन का ग्यारहवाँ अधिवेशन किया गया जिसके सभापति डा० भगवानदास बनाये गये। कलकत्ते के इसी ग्यारहवें अधिवेशन में हिन्दी के सर्वप्रथम, सर्वश्रेष्ठ मंगलाप्रसाद पारितोषिक की स्थापना हुई। कलकत्ता नगर के सुप्रसिद्ध व्यवसायी वाराणसी-निवासी बाबू गोकुलचन्द्र जी ने अपने स्वर्गीय भाई श्री मंगलाप्रसाद जी की स्मृति में ४०,०००) रु० सम्मेलन को इसलिए प्रदान किये कि इस धनराशि के व्याज से प्रतिवर्ष १२००) का एक पुरस्कार मंगलाप्रसाद पारितोषिक के नाम से किसी मौलिक हिन्दी-ग्रन्थ के रचयिता को प्रदान किया जाय।

बारहवाँ अधिवेशन सर्वप्रथम बार उर्दू भाषा के गढ़ पंजाब की राजधानी लाहौर नगर में हुआ जिसके सभापति पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी थे। इस अधिवेशन के पूर्व तक टण्डन जी अनवरत सम्मेलन के मंत्री पद पर इसलिए बराबर बने रहने के लिए बाध्य किये गये थे कि उनके शक्तिमान् एवं कर्मठ व्यक्तित्व के सिवा सम्मेलन को चलाने और सँभालने की शक्ति किसी अन्य व्यक्ति में नहीं थी। प्रत्येक अधिवेशन के अवसर पर उपस्थित प्रतिनिधियों और सभापति आदि पदाधिकारियों के अनुरोध को वे टाल नहीं पाते थे। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि सम्मेलन की स्थिति उत्तरोत्तर सुदृढ़ बनती गयी। उसकी लोकप्रियता परीक्षाओं का प्रचार समूचे देश में हो गया और उससे कुछ आय भी होने लगी और सुदूर दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक सम्मेलन से सम्बद्ध हिन्दी संस्थाओं द्वारा उसकी संगठन-शक्ति से हिन्दी की लोकप्रियता, प्रचार और प्रगति में अपूर्व वृद्धि हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी-जगत् की महत्वाकांक्षाओं के प्रतीक के रूप में एक सुदृढ़ संस्था के रूप में विख्यात हो चुका था और उसके वार्षिक अधिवेशनों द्वारा हिन्दी की सर्वांगीण समस्याओं और कठिनाइयों पर विचार करने और विजय प्राप्त करने के लिए हिन्दी जगत को एक अखिल भारतीय मंच मिल गया था।

टण्डन जी संम्वत् १९६७ से १९७७ तक सम्मेलन के प्रधानमंत्री पद पर रहे और सम्मेलन के ग्यारहवें अधिवेशन में, जो कलकत्ता में हुआ, उन्होंने यह भार अपने एक सहयोगी प्रो० वृजराज को सौंप दिया। अपने प्रधानमंत्रित्व के १० वर्षों में सम्मेलन को आगे बढ़ाने में टण्डन जी ने वही काम किया जो स्नेहमय तथा महत्वाकांक्षी पिता अपने इकलौते बेटे के सर्वतोमुखी उत्कर्ष एवं कल्याण के लिए निजी सुख-दुख भूल कर किया करता है। उस समय सम्मेलन के पास धन-सम्पत्ति तो दूर कार्यालय के लिए छोटी-सी कोठरी भी नहीं थी और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आरम्भ के कई वर्षों तक टण्डन जी का निजी कमरा ही सम्मेलन का कार्यालय था और उनके निजी मुन्शी ही सम्मेलन का बहुत कुछ काम किया करते थे। शेष कामकाज या तो टण्डन जी स्वयं करते थे अथवा अपने पास से ही वेतनादि दे कर आंशिक समय के कार्य-कर्त्ताओं द्वारा कराते थे। परीक्षाओं के शुल्क और पुस्तकों के प्रकाशनों द्वारा अब सम्मेलन को थोड़ी-बहुत आय होने लगी, तब भी सम्मेलन का अनावश्यक एक पैसे का व्यय टण्डन जी कभी न करते थे। वह युग भी वैसा ही था। बहुत थोड़े वेतन में तन-मन लगा कर काम करने वाले अनेक योग्य व्यक्ति टण्डन जी को सुलभ हुए, जिन्होंने आरम्भ के दिनों में उनके साथ रह कर सम्मेलन के कार्यों को आगे बढ़ाया। उस समय सम्मेलन के कार्यकर्ताओं के लिए न तो काम का कोई घण्टा नियत था और न वेतनादि का ही कोई क्रम था। आज तो सम्मेलन में काम करने वाले कर्मचारियों का मासिक वेतन लगभग ३२,०००) मासिक है, किन्तु उन दिनों तो इतने रुपयों में सम्मेलन का सभी कार्य कई वर्ष तक चलाया जाता था। सम्मेलन के एक-एक पैसे का व्यय, बहुत विचारपूर्वक और अत्यन्त आवश्यक होने पर ही किया जाता था। किसी कर्म-चारी की आठ आने वार्षिक वेतनवृद्धि करते समय कार्य-समिति में टण्डन जी की उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक होती थी। जिन बैठकों में संयोगात् वे अनुपस्थिति रहते थे उसमें ऐसा कोई विचारणीय विषय नहीं रखा जाता था जिसमें अर्थ-सम्बन्धी कोई समस्या हो।

टण्डन जी के बाद सम्मेलन के प्रधानमंत्रियों की परम्परा में अनेक सुयोग्य व्यक्तियों के नाम आते हैं जिनमें से अनेक ने कई वर्षों तक सम्मेलन के कार्यों को प्रगति देने और सम्मेलन की प्रतिष्ठा को ऊँचा उठानेवाले कार्य भी किये हैं, किन्तु उन सभी प्रधानमंत्रियों के तथा अन्य विभागीय मंत्रियों के प्रेरणा-स्रोत अथवा संचालक टण्डन जी ही थे। पण्डित रामजीलाल शर्मा, पण्डित कृष्णकान्त मालवीय, पण्डित रमाकान्त मालीवीय, पण्डित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, सरदार नर्मदाप्रसाद सिंह, डाक्टर बाबूराम सक्सेना, डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी, पण्डित मौलिचन्द्र शर्मा, डाक्टर उदयनारायण तिवारी, पण्डित बलभद्रप्रसाद मिश्र, डाक्टर रामचरण अग्रवाल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु यह कहना उचित होगा कि प्रधानमंत्री अथवा मंत्री कोई भी हो, किन्तु सम्मेलन का सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल टण्डन जी के संकेतों पर ही चलता रहा है। सम्मेलन का छोटा से छोटा कार्य भी उनके परामर्श के विना नहीं किया जाता था। इस दीर्घावधि में कुछ ऐसे भी प्रसंग आये हैं जब टण्डन जी ने एक-दो प्रधान मंत्रियों के कार्यकाल में अपना नियं-त्रण ढीला कर के उन्हें पूर्णतया स्वतंत्र रूप से कार्य करने की छूट दे दी थी, तथापि ऐसे उदाहरण

मिलते हैं जिनसे प्रकट है कि इस प्रयोग का अनुभव अच्छा नहीं रहा। सम्मेलन की स्थिति पर इससे जबरदस्त धक्के लगे और उन्हीं लोगों ने, जिन्होंने टण्डन जी के नियंत्रण को अपनी और सम्मेलन की स्वतंत्रता में बाधक समझा था, पुनः टण्डन जी से अपना नियंत्रण पूर्ववत् रखने की प्रार्थना की।

सम्मेलन के बहुमुखी विकास की कल्पना बहुत कुछ टण्डन जी के अपने मस्तिष्क की उपज थी। यह सत्य है कि उन्होंने सम्मेलन के कार्यों को आगे बढ़ाने में अपने अनेक सुयोग्य सहयोगियों और सन्मित्रों से सहायता प्राप्त की, किन्तु यह भी सत्य है कि टण्डन जी की उन कल्पनाओं को मूर्त रूप देने की क्षमता उन्हीं में थी। जिस समय सम्मेलन की स्थापना हुई, हिन्दी समूचे भारत में उपेक्षित थी। अपनी जन्मभूमि उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि में ही उसका कोई स्थान नहीं था। इन प्रदेशों की ८० प्रतिशत जनता उर्दू पढ़ने के लिए विवश थी। डाकघर, पुलिस, रेलवे, सरकारी कार्यालय, जिला बोर्ड आदि में सर्वत्र अंग्रेजी के साथ उर्दू प्रचलित थी। स्कूलों-कालेजों में भी हिन्दी की कोई पूछ नहीं थी। हिन्दी की न तो उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें थीं और न पाठ्य विषय ही था। ऐसे युग में सम्मेलन की परीक्षाओं का संचालन एवं उनकी पाठ्य-विधि के प्रयोगात्मक रूप में आगे बढ़ाने के लिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के माध्यम से टण्डन जी ने हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना की। यह एक नयी दिशा ही नहीं, नूतन प्रयोग भी था। बताते हैं, प्रयाग में हिन्दी विद्यापीठ का टण्डन जी ने जब समारम्भ किया तो सर्वप्रथम अपने पुत्रों को ही उसका नियमित विद्यार्थी बनाया। यह एक कठिन तथा अनुपम कार्य था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं के अनुकरण पर बाद में चल कर अनेक सरकारी तथा गैर-सरकारी हिन्दी परीक्षाओं की पद्धति आगे बढ़ी। स्कूलों, कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में हिन्दी को पाठ्य विषय बनाने में भी सम्मेलन की परीक्षाओं का ही मुख्य हाथ रहा है और सम्मेलन के हिन्दी विद्यापीठ के अनुकरण पर तो न केवल हिन्दी भाषी राज्यों में ही वरन् हिन्दी-तर भाषी राज्यों में भी ऐसी संस्थाओं की स्थापना हुई।

सम्मेलन के १३ वें अधिवेशन में अपने मित्रों तथा हिन्दी-जगत के आग्रह से विवश हो कर टण्डन जी को सम्मेलन का सभापति-पद ग्रहण करना पड़ा। यह अधिवेशन कानपुर में हुआ था। इसके स्वागताध्यक्ष थे आचार्य श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी। इस अधिवेशन में टण्डन जी ने जो महत्वपूर्ण भाषण किया था वह अनेक दृष्टियों से अबतक के सभापतियों के अभिभाषणों से भिन्न था। अपने इसी भाषण में टण्डन जी ने सम्मेलन के अन्तर्गत उस हिन्दी-संग्रहालय की स्थापना की चर्चा की थी जो बाद में उन्हीं के प्रयत्नों से आज हिन्दी-जगत् का अनुपम संग्रहालय है।

सम्मेलन के २४ वें अधिवेशन में, जो संवत् १९९२ में पुनः इन्दौर में सम्पन्न हुआ था, महात्मा गांधी जी पुनः सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये और इसके २५ वें अधिवेशन में डा० राजेन्द्र-प्रसाद तथा २६ वें में श्री जमनालाल बजाज सभापति चुने गये थे। इसके बाद महात्मा गांधी जी के साथ दो लिपियोंवाली हिन्दुस्तानी को ले कर सम्मेलन का और टण्डन जी का मतभेद इस

तक पहुँचा कि गांधी जी ने सम्मेलन की स्थायी-समिति से त्यागपत्र दे दिया। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा जब सम्मेलन से पृथक् होकर स्वायत्त रूप में दो लिपियों वाली हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के रूप में काम करने लगी तो सम्मेलन को हिन्दीतर भाषी राज्यों में हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के लिए सन् १९३७ ई० में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना करनी पड़ी और इसका मुख्य कार्यालय वर्धा में ही रखा गया।

सम्मेलन की स्थापना के आज ५९ वर्ष पूरे हो रहे हैं। इन ५९ वर्षों में से निन्तर ५२ वर्षों तक सम्मेलन के साथ टण्डन जी का अभेद्य सम्बन्ध रहा था। इस दीर्घ अवधि में अपने जीवन का कितना उत्तम समय टण्डन जी ने सम्मेलन के कार्यों के लिए लगाया इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। दुर्भाग्यवशात् टण्डन जी के अन्तिम दिनों में सम्मेलन पर आदाता (रिसी-वर) का नियंत्रण था। किन्तु फिर भी अपनी अत्यन्त रुग्णावस्था में भी टण्डन जी को सम्मेलन की ही चिन्ता विचलित किये हुए थी। अपनी स्वस्थावस्था में तो वह प्रतिदिन ही नहीं, प्रति क्षण सम्मेलन की चिन्ता रखते थे। इन पंक्तियों के लेखक का निजी अनुभव है कि कभी-कभी ऐसे भी अवसर आये हैं जब दिन-रात के २४ घण्टों में टण्डन जी ने १६-१६ घण्टों तक बैठा कर केवल सम्मेलन का ही कार्य किया है। सम्मेलन कार्यालय, मुद्रणालय, संग्रहालय, अतिथि-भवन आदि की भव्य इमारतें आधुनिक भारतीय वास्तुकला की एक सुन्दर नमूना हैं। इन सब के निर्माण में राजर्षि टज्डन जी की एवं उनके अनन्य सहयोगी श्री नन्दकिशोर अग्रवाल इंजीनियर की कल्पना ही मूर्तिमान कही जा सकती है। सम्मेलन के विशाल संग्रहालय कक्ष में प्रवेश द्वार के सम्मुख हंसवाहिनी सस्मितवदना सरस्वती की तेजस्विनी स्फटिक प्रतिमा है और उसके बाहरी दीवारों में हिन्दी के प्रमुख कवियों की रचनाएं संगमरमर पर उत्कीर्ण हैं। संग्रहालय के भीतर हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकों का विशाल भाण्डार है। संग्रहालय के बसु-कक्ष में प्रयाग के स्वनामधन्य चिकित्सक एवं इतिहासवेत्ता मेजर वामनदास बसु के मूल्यवान् पुस्तकालय से प्रदत्त लगभग ५००० दुर्लभ पुस्तकों का एक दुर्लभ संग्रह है जो टण्डन जी की प्रेरणा एवं सत्प्रयत्न से ही सम्मेलन को सुलभ हुआ है और इनके निर्माण में उन्हीं की कल्पना है।

संग्रहालय के एक दूसरे कक्ष में हिन्दी एवं संस्कृत की हस्तलिखित प्राचीन पाण्डुलिपियों का विशाल भाण्डार है। कक्ष में उत्तर प्रदेश के सुल्तानपुर जनपद के अमेठी राज्य के राजा रणञ्जय सिंह द्वारा प्रदत्त अन्य बहुमूल्य पाण्डुलिपियाँ भी हैं, जिनकी संख्या पाँच हजार से अधिक है। संग्रहालय का राजर्षि कक्ष स्वयं टण्डन जी की देश के कोने-कोने से प्राप्त मूल्यवान सामग्रियों से भरा है। इस कक्ष को टण्डन जी के जीवन के सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों का एक जीवन्त स्मारक भी कह सकते हैं। इसमें उनके बाल्यकाल से लेकर अन्तिम समय तक के दुर्लभ चित्रों का सुन्दर संग्रह है। टण्डन जी को प्राप्त सहस्रों अभिनन्दन-पत्रों में से कुछ को छांट कर इसमें सजाया भी गया है। साथ ही चन्दन, हाथी दाँत, सुवर्ण, रजत, लौह एवं विभिन्न धातुओं से बनी भेंट-सामग्रियाँ भी इस कक्ष में सुरक्षित हैं। टण्डन जी को राजर्षि उपाधि अर्पित

किये जाने के अवसर के पुण्य वस्त्र भी यहीं रखे गये हैं और विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदत्त उनकी सम्मानित उपाधियाँ भी यहीं हैं।

इस प्रकार सम्मेलन के चतुर्मुखी विकास एवं उन्नयन में उसके जन्म से लेकर अपनी अन्तिम स्वांस (१ जुलाई सन् १९६२ ई०) तक टण्डन जी का कितना बड़ा हाथ रहा है उसका यहाँ एक अति संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

मैं यह कह सकता हूँ कि जब तक टण्डन जी जीवित रहे, सम्मेलन की छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी समस्याओं से अवगत रहते थे और उसके निराकरण का उपाय भी करते थे। सम्मेलन की अर्थ से वर्तमान तक की जितनी जानकारी उनको थी उतनी किसी एक व्यक्ति को नहीं थी—भले ही वह सम्मेलन का कोई नियमित वैतनिक कर्मचारी ही क्यों न हो। ऐसा प्रतीत होता था जैसे सम्मेलन उनके हृदय की धड़कन में बस गया हो जैसा कि आरम्भ की पंक्तियों में कहा भी गया है।

आज सम्मेलन का कार्य, टण्डन जी की ही अन्तिम इच्छा के अनुसार केन्द्रीय शासन के नियंत्रण में, उसी द्वारा निर्मित प्रथम शासी निकाय संचालित कर रहा है, जिसके अध्यक्ष हिन्दी के यशस्वी नायक तथा टण्डन जी के अनन्य अनुगामी डा० सेठ गोविन्ददास जी हैं और जिसके सचिव टण्डन जी के अनन्य विश्वासभाजन तथा सम्मेलन के पूर्व प्रधानमंत्री पण्डित मौलिचन्द्र जी शर्मा हैं। श्री वियोगी हरि जी, श्री रामधारी सिंह दिनकर, श्री बालकृष्ण राव, डा० सन्तप्रसाद टण्डन, श्री गोपाल चन्द्र सिंह प्रभृति हिन्दी के यशस्वी सेवक एवं उन्नायक इस निकाय के सदस्य हैं जिनकी नियुक्ति राजर्षि टण्डन जी की इच्छा के अनुसार केन्द्रीय शासन ने की थी।

राजर्षि के पूज्य चरणों में शतशः प्रणाम।

कुँवर सुरेश सिंह

राजर्षि टण्डन जी : सत्यता और त्याग के प्रतीक

महात्मा गांधी और महामना मालवीय जी के बाद पूज्य टण्डन जी ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें देख कर मेरा मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। उनके सम्मुख जा कर ऐसा जान पड़ता था कि सचमुच किसी प्राचीन ऋषि का दर्शन कर रहा हूँ। पूज्य बापू में जहाँ पवित्रता और मालवीय जी में निर्मलता थी वहीं टण्डन जी में एक ऐसी निश्छल बाल-सुलभ सरलता थी जो उनके निकट बरबस सब को खींच ले जाती थी। उनसे मिल कर मनुष्य जैसे उनके घर का एक प्राणी हो जाता था। ऐसा स्नेहपूर्ण व्यवहार अब किसी नेता में दिखाई नहीं पड़ता। जिन लोगों को मेरी तरह उनके चरणों के निकट बैठ कर कुछ सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे जानते हैं कि पूज्य टण्डन जी का रहन सहन, स्वभाव और आचरण सब कुछ एक तपस्वी के समान था। उनका सारा जीवन देशसेवा, सच्चाई और सादगी का इतिहास है।

मुझे पहली बार उनके दर्शन १९३० में हुए थे जब मैं अपना जत्था ले कर पैदल राय-बरेली जा रहा था। हम लोग रोज दस मील चलते थे और रात में किसी गाँव में ठहर जाते थे। उस दिन हम लोग जिस गाँव में ठहरे वह सड़क के करीब आध मील हट कर था। पूज्य टण्डन जी लखनऊ से प्रयाग मोटर द्वारा जा रहे थे। रात हो गई थी मोटर भी एकदम जर्जर थी लेकिन वे उस अंधेरे में उस गाँव में पहुँच गये और हम लोगों की कुशल-क्षेमपूछ कर ही आगे बढ़े। ऐसा भला आज कौन कर सकता है? ऐसे तपस्वियों के त्याग और तपस्या के बल पर ही हमारी कांग्रेस चल रही है। नहीं तो गद्दी के लिये लड़नेवाले कांग्रेसी तो उसे कब के रसातल को भेज देते।

नमक सत्याग्रह के ही दरमियान कई बार प्रयाग जाना पड़ा और प्रत्येक बार मैं पूज्य टण्डन जी के दर्शन करने उन के स्थान पर गया और तब से जब तक वे जीवित रहे मुझे उनका स्नेह उसी प्रकार मिला।

चिड़ियों पर जब मेरी पहली पुस्तक प्रकाशित हुई तो उसे देख कर वे बहुत ही प्रसन्न हुए। हिन्दी के सेवक के नाते उनका स्नेह और भी बढ़ गया। जब कभी उन से मिलता वे थोड़ी देर तक हिन्दी में लिखने के लिए प्रोत्साहित करते।

सन् ५० में एक बार जब वे कांग्रेस पार्लियामेन्टरी बोर्ड के अध्यक्ष थे तो कई सज्जनों के साथ मेरा नाम भी कांउसिल के लिए प्रस्तुत हुआ। सब के साथ किसी न किसी मिनिस्टर की शिफारिश थी लेकिन मेरा नाम बिना शिफारिश के ही था।

पूज्य टण्डन जी ने मेरा नाम देखते ही कहा, "मैं इन्हें बचपन से ही जानता हूँ। इन्हें जरूर कांउसिल में जाना चाहिए।" जब वोटिंग का सवाल हुआ तो टंडन जी ने दृढ़ता से कहा, "अगर यह नाम न रखा गया तो मैं इस्तीफा दे दूंगा।"

उनकी जिद देख कर उस दिन कार्यवाही स्थगित कर दी गई और मुझे कुछ मिनिस्टरों ने, जो एक दूसरे सज्जन को चाहते थे, बुला कर कहा कि मैं इस वार अपना नाम वापस ले लूँ क्योंकि वे लोग उन सज्जन से वायदा कर चुके हैं। मैंने अपना नाम वापस ले लिया तो टण्डन जी मेरे ऊपर विगड़ गये। मैं मिलने गया तो बोले, "मैं तो तुम्हारे लिये सब से लड़ गया और तुमने अपना नाम हटा लिया—यह कैसी हिमाकत है?"

मैंने जब उन्हें बताया कि कांउसिल में बहुत रुपया चलता है तो तुरन्त बालकों की तरह बड़े सरल स्वभाव से बोले, "अच्छा ऐसा होता है, तुमने ठीक किया, रुपया दे कर वोट खरीदने से अच्छा है कि चुनाव ही न लड़ो।" और वे पहले जैसे प्रसन्न हो गये।

एक बार श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी ने अपने यहाँ हिन्दी प्रेमी-विधायकों तथा मित्रों को आमंत्रित कर के एक साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन किया। पूज्य टण्डन जी भी, जो उस समय असेम्बली के स्पीकर थे, पधारे। पूज्य निराला जी तथा श्री पंत जी भी थे। मुझे भी आने की आज्ञा मिली थी। जब सब लोग जमा हो गये तो टण्डन जी ने इधर-उधर देख कर पूछा, "निराला जी कहाँ हैं? निराला जी से और टण्डन जी से उन दिनों साहित्य सम्मेलन को ले कर कुछ मन मुटाव चल रहा था, इसी से निराला जी एक ऊनी चादर ओढ़े एक कोने में चुपचाप बैठे थे। जब सब लोग जमा हो गये और कविता पाठ का समय आया तो टण्डन जी ने इधर उधर देख कर फिर कहा, "निराला जी कहाँ हैं?"

निराला जी ने उठ कर नमस्कार किया तो टण्डन जी ने बड़े प्रेम से कहा, "वहाँ कोने में कहाँ बैठे हो? यहाँ आओ तुम्हारी जगह यहाँ हैं।" निराला जी का मान उनके स्नेह-सिक्त शीतल वचन से काफूर की तरह उड़ गया और वे आ कर उनके बगल बैठ गये और हिन्दी के उन दोनों महान् लेखकों को प्रेमपूर्वक बातें करते देख कर हम लोगों का हृदय गद्गद् हो गया।

आज जब हिन्दी पर फिर संकट के बादल छाये हैं, हमें उस तपस्वी का अभाव बहुत खटकता है जो हिन्दी के लिये अपना सब कुछ न्योछावर करने में कभी नहीं हिचका। आज हिन्दी की जो कुछ भी उन्नति हम देखते हैं उस में उस कर्मयोगी महापुरुष का सब से बड़ा हाथ था। उन्होंने हिन्दी के लिये इतना त्याग किया है कि राष्ट्रभाषा के इतिहास में उनका नाम सदैव स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा।

श्री ज्योति प्रसाद मिश्र निर्मल

पूज्य बाबू जी के कुछ संस्मरण

पूज्य बाबू जी का प्रथम दर्शन मैंने सन् १९२१ ई० में किया था। मैं उस समय मैट्रिक में पढ़ता था। हिन्दी के प्रति मेरी आस्था बचपन से ही थी। यह आस्था क्यों थी, कहा नहीं जा सकता। जानसेनगंज चौक में जहाँ इस समय किंग्स कम्पनी है, उसी भवन में नीचे के हिस्से में साहित्य-भवन की पुस्तकों की दूकान थी। मैं प्रायः हिन्दी कवियों तथा लेखकों की रचनायें पढ़ने तथा उनकी पुस्तकें खरीदने जाया करता था। एक दिन मैं दूकान में बैठा कुछ पुस्तकें देख रहा था। सन्ध्या काल लगभग ४ बजे का समय था। उसी समय एक बग्घी (टमटम) आकर दूकान के सामने खड़ी हो गई। काली अचकन, चूड़ीदार पैजामा और सफेद गोल साफा बांधे, दाढ़ी रखे एक व्यक्ति उतर कर बाहर खड़ा हो गया। मैं दूकान के भीतर से टकटकी लगा कर उस भव्य व्यक्तित्व की ओर देखने लगा। पूछने पर पता चला कि यही बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन हैं। मैंने बचपन से ही बाबू जी का नाम सुन रखा था। उनके हिन्दी प्रेम तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संचलक के नाते भी उनका यश सारे देश में व्यापक हो रहा था।

मैं गोरखपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन में एक दर्शक की हैसियत से सम्मिलित हुआ। गोरखपुर-अधिवेशन के अध्यक्ष हुतात्मा स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी थे, हिन्दी के नवयुवकों को उनसे बड़ी प्रेरणा मिली थी। बाबू जी तो सम्मेलन के प्राण ही थे, उनकी उपस्थिति से अधिवेशन में एक नया जीवन उत्पन्न हो जाता था। सम्मेलन के वृन्दावन अधिवेशन में मैं एक सदस्य के रूप में सम्मिलित हुआ था किन्तु पूज्य बाबू जी वहाँ उपस्थित नहीं थे। उस समय सम्मेलन में दो मत के लोग अपनी-अपनी खींचातानी में लगे थे। बाबू जी उन दोनों मत वालों में सन्तुलन की ओर अपनी शक्ति का प्रयोग समय-समय पर करते रहते थे। एक दल में पण्डित रामजीलाल शर्मा, पण्डित द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, श्री शालिग्राम वर्मा, पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी, पण्डित जगन्नाथप्रसाद शुक्ल तथा अध्यापक रामरत्न आदि थे और दूसरे दल में प्रोफेसर व्रजराज (जो कई वर्षों तक सम्मेलन के प्रारम्भिक काल में उसके प्रधान मंत्री रह चुके थे), प्रोफेसर गोपालस्वरूप भार्गव, प्रोफेसर शालिग्राम भार्गव, श्री लक्ष्मीनारायण नागर तथा प्रयाग विश्वविद्यालय के कुछ प्राध्यापक थे। पूज्य बाबू जी दोनों दलों में सदा मेल-मिलाप कराने में अपनी शक्ति लगाया करते थे। मैं भी सम्मेलन का सदस्य होने के नाते यह सब सदा देखा करता था। परन्तु यह कहने में मुझे संकोच नहीं है कि पूज्य बाबू जी की आन्तरिक सहानुभूति दूसरे दल के साथ अधिक रहती थी।

मैं पहले दल का एक सक्रिय कार्यकर्त्ता था। इसलिए मेरे प्रति उनकी भावना बहुत अच्छी नहीं थी, ऐसा मैं अनुभव करता था। इस प्रकार का दलीय संघर्ष सम्मेलन में प्रारम्भ से ही रहा है। किन्तु जहाँ तक सम्मेलन के हित का प्रश्न है, वहाँ तक प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी पूज्य बाबू जी के आदेशों का ही पालन करने की प्रतीक्षा करता था।

काशी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ, उसके अध्यक्ष पं० अम्बिका-प्रसाद वाजपेयी थे। इस सम्मेलन में मैं स्थायी समिति के सदस्य की हैसियत से सम्मिलित हुआ। इस अधिवेशन में नये मन्त्रिमण्डल का भी चुनाव हुआ। मेरे बिहार के कुछ मित्रों ने मेरा नाम साहित्य-मंत्री पद के लिये प्रस्तावित किया, कुछ सदस्यों की ओर से डा० रामकुमार वर्मा का नाम प्रस्तावित हुआ। मतदान में मुझे अधिक मत मिले और मैं साहित्य-मंत्री चुन लिया गया। पूज्य बाबू जी की सहानुभूति डा० वर्मा के प्रति अधिक थी और मेरे प्रति कम, क्योंकि मैं उनके सान्निध्य में उस समय तक पूर्णरूपेण नहीं आ पाया था। तो भी पूज्य बाबू जी ने मेरे साहित्य-मंत्री चुने जाने पर कुछ मित्रों से कहलवाया कि उनसे (मुझसे) कह देना कि उन्हें सबके साथ सहयोग से काम करना चाहिए। इस घटना के बाद से मैं बाबू जी के सम्पर्क में पूरी तरह से आ गया और उनसे प्रेरणा ग्रहण करता हुआ सम्मेलन की सेवा करने लगा। धीरे-धीरे वह मुझसे बड़ा स्नेह करने लगे और समय-समय पर अपने सुझावों से मेरा मार्ग-दर्शन करते रहे। बाबू जी हृदय के बड़े उदार, सहृदय और अपने से छोटों पर बड़ा स्नेह रखते थे। फिर भी मुझको यह कहते संकोच नहीं है कि वे बड़े आदमी थे और बड़े आदमियों की एक कमजोरी होती है, कान का कच्चा होना। उनके पीछे भी कुछ लोग ऐसे खुशामदी और चाटुकार लगे रहते थे, जो अपना मतलब सिद्ध करते थे, जो कभी-कभी उन्हें उलटी-सीधी भी समझाया करते थे। मुझे प्रतिवाद का अवसर नहीं मिलता था इलाहाबाद के कुछ लोगों का मेरा साहित्य-मंत्री होना अच्छा नहीं लगा। और वे बाबू जी का कान भरते रहे, जिससे मैं अगले वर्ष साहित्य-मंत्री न हो सकूँ। बाबू जी की आज्ञा से मैंने सर्वप्रथम सम्मेलन के साहित्य विभाग से डा० पीता-म्बर दत्त बड़थ्वाल का शोध ग्रन्थ 'गोरखबानी' का प्रकाशन करवाया था। बाबू जी की ओर भी बहुत-सी योजनाएँ थीं जिनको मैं भविष्य में कार्यान्वित करने के लिए सोच रहा था।

सम्मेलन का नया अधिवेशन अबोहर में हुआ। पण्डित अमरनाथ झा इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। अधिवेशन के अन्तिम दिन रात्रि में मन्त्रि-मण्डल का चुनाव हुआ। इस चुनाव में श्री रामचन्द्र टण्डन साहित्य-मंत्री चुने गये। इस घटना से मुझे बड़ा दुःख हुआ। दुःख इसलिए नहीं हुआ कि मैं साहित्य-मंत्री नहीं चुना गया, वरंच मैंने सोचा कि यदि मुझे एक ही वर्ष में साहित्य-मंत्री के पद से मुक्त करना था तो कम-से-कम पूज्य बाबू जी को यह बात मुझ से पहले से बता देनी चाहिए थी, क्योंकि मैं यह जानता था कि बिना उनकी आज्ञा के कोई उनका अनुयायी चुनाव में मेरा विरोध नहीं कर सकता था। मैं उस समय युवक तो था ही, कुछ क्रोधी भी था। उस समय मैं अपने को सँभाल नहीं पाया, मैंने अपने को बड़ा अपमानित अनुभव किया। मैं चुनाव के कमरे से बाहर निकल कर पूज्य बाबू जी के कुछ अनुयायियों को जो भी भला-बुरा

कहते बना मैंने सब कह डाला। उस समय यह दृश्य बड़ा भयंकर हो गया था। सम्मेलन की स्थायी-समिति के सदस्य तथा साहित्यकार भी बहुत परेशानी में पड़ गये कि किस प्रकार समस्या का समाधान किया जाये। अन्त में कई सदस्य डा० सम्पूर्णानन्द के पास बीच-विचाव करनेके लिये पहुँचे, अधिवेशन में डा० सम्पूर्णानन्द जी दर्शन-परिषद् के अध्यक्ष के रूप में सम्मिलित हुए थे। डा०सम्पूर्णानन्द जी तत्काल मेरे पास आये और बोले—"यह सब तुम क्या कर रहे हो? मालूम होता है तुम्हें सार्वजानिक जीवन का कोई अनुभव नहीं है। यह सब तो होता ही रहता है। मैं शिक्षा मंत्री हूँ (डा० सम्पूर्णानन्द जी उस समय उत्तर प्रदेश के शिक्षा मंत्री थे),मेरे ही बारे में लोग पता नहीं क्या अनाप-शनाप बका करते हैं, अगर मैं इन बातों पर अपनी बुद्धि भष्ट करूँ तो मैं कितने दिन चल सकता हूँ। तुम्हें दुःख जरूर हुआ होगा और मेरी राय भी है कि तुमसे इस चुनाव के सम्बन्ध में पहले से बता देना चाहिए था, लेकिन यह सब यों ही चलता है।" डा० सम्पूर्णानन्द जी ने मुझे बहुत समझाया तब मैं वहाँ से अपने सोने के कमरे में चला गया। पूज्य बाबू जी के कुछ अनुयायियों ने प्रचारित किया कि मैंने पूज्य बाबू जी के प्रति अपशब्दों का प्रयोग किया किन्तु बात ऐसी नहीं थी, साथ ही मैंने कभी भी इस प्रकार के प्रचारित विचारों का प्रतिवाद भी नहीं किया।

यह मेरा सौभाग्य था कि मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन के काशी, बम्बई और मेरठ अधिवेशनों में तीन बार साहित्य मंत्री चुना गया। इन वर्षों में मैं बाबू जी के बहुत नजदीक पहुँच गया था। उनके आदेशों के अनुसार अनेक साहित्यिक पुस्तकों का सम्मेलन द्वारा प्रकाशन कराया। साहित्य-समिति की प्रत्येक बैठक में बाबू जी की उपस्थिति अनिवार्य थी।

पूज्य बाबू जी की नैतिकता प्रसिद्ध है। वे अनैतिक आचरण करनेवालों के प्रति झुँझला जाते थे। वे अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति का भी अनैतिक आचरण करने पर विरोध करते थे। मुझे एक घटना का स्मरण हो रहा है। मैं सम्मेलन का साहित्य-मंत्री था। उस समय डा० बाबूराम सक्सेना प्रधान मंत्री थे। सम्मेलन की स्थायी समिति, कार्यकारिणी समिति, परीक्षा समिति तथा साहित्य समिति में अनेक विषयों के निर्णय के हेतु प्रायः वाद-विवाद हुआ करते थे। हम में और डा० सक्सेना में कभी-कभी विचारों में मतभेद भी हो जाया करता था। तात्पर्य यह है कि डा० सक्सेना मुझसे प्रसन्न नहीं थे। उसी समय सम्मेलन का अगला अधिवेशन होने वाला था। वर्ष पूरा हो ही चुका था। अधिवेशन में स्वीकृति के लिए पिछले वर्ष का कार्य-विवरण तैयार हो चुका था। उस कार्य-विवरण में प्रधान मंत्री ने अपने वक्तव्य में मेरे सम्बन्ध में कुछ ऐसी पंक्तियाँ लिख दी थीं कि यदि वह विवरण अधिवेशन में स्वीकृत के लिए उपस्थित कर दिया जाता तो वाद-विवाद हो जाने की पूरी आशंका थी। अकस्मात् मेरा ध्यान कार्यविवरण की उन पंक्तियों की ओर अधिवेशन में जाने के दो दिन पूर्व ही आकर्षित हो गया। मैंने इस विषय को पूज्य बाबू जी के सामने उपस्थित किया और कहा कि प्रधान मंत्री का इस वक्तव्य में अपने किसी सहयोगी तथा उसके कार्यों के सम्बन्ध में ऐसी पंक्तियाँ लिखना क्या उचित हैं? इस वक्तव्य से सम्मेलन की प्रतिष्ठा भंग होगी। बाबू जी ने उस वक्तव्य को पढ़ा और कुछ क्रुद्ध

और दुःखी होकर तुरन्त मुझे लेकर डा० सक्सेना के घर पहुँचे। पहुँचते ही बाबू जी वार्षिक विवरण का वह अंश डा० सक्सेना को दिखाकर बोले—'बाबूराम जी! देखिए, क्या इसे आपने लिखा है?" डा० सक्सेना ने धीमे स्वर में होकर अपनी स्वीकृति दी। बाबू जी क्रुद्ध होकर बोले—"बाबूराम जी! यह 'रिवेन्ज' है 'रिवेन्ज'। वार्षिक विवरण में अपने किसी सहयोगी के बारे में ऐसी बातें नहीं लिखनी चाहिए। आन्तरिक रूप से हम सब के विचारों में मतभेद हो सकता है किन्तु यदि यह विवरण इसी रूप में अधिवेशन में प्रस्तुत कर दिया जाता है तो इससे सम्मेलन की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचेगा। आप इसे काट दीजिए। नहीं तो मैं इस वार्षिक विवरण को अधिवेशन में उपस्थित नहीं होने दूँगा। आपसी मतभेद को सार्वजनिक रूप में लाना अनुचित है।" बाबू जी के कहने से डा० सक्सेना ने अपनी उन पंक्तियों को काट दिया। और बाबू जी की आज्ञा से वह विवरण पुनः छपवाकर अधिवेशन में प्रस्तुत किया गया। पूज्य बाबू जी के इस नैतिक आचरण ने मेरे हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। और मैं यह समझ गया कि बाबू जी की जानकारी में कभी कोई अनुचित काम हो हो नहीं सकता।

पूज्य बाबू जी विधान और नियम के बड़े पाबन्द थे। वह सम्मेलन में प्रत्येक कार्य वैधानिक रूप से ही करते थे। सम्मेलन की समितियों में समय-समय पर ऐसे भी निर्णय होते थे जो बाबू जी को रुचिकर नहीं लगते थे। परन्तु वह सदा बहुमत के निर्णय का आदर करते थे। वह अपनी इच्छाओं को जबर्दस्ती किसी मंत्री या समिति पर लादते नहीं थे। यदि कोई निर्णय कभी ऐसा हो जाता था जिसे वे उचित नहीं समझते थे, तो उसका समाधान वैधानिक रूप से ही कराते थे। मुझे एक घटना का स्मरण हो रहा है; सम्मेलन में कलकत्ते के सेठ सीताराम सेकसरिया द्वारा प्रदत्त सेकसरिया पारितोषिक महिलाओं को उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति के लिए दिया जाता है। एक बार सेकसरिया पारितोषिक के लिए महिला लेखिकाओं से उनकी कृतियाँ माँगी गईं। पारितोषिक समिति ने एक निश्चित तिथि और समय पुस्तकों की प्रति के लिए निश्चित किया। कई कृतियाँ पारितोषिक के लिए आईं और श्रीमती महादेवी वर्मा की 'नीरजा' कृति भी पारितोषिक के लिए विचारार्थ आई, परन्तु निर्धारित समय के दो घंटे बाद। समिति ने अपनी बैठक में यह निश्चय किया कि श्रीमती महादेवी वर्मा की कृति पर इस वर्ष विचार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह समय पर नहीं आई। पारितोषिक समिति में श्रीमती चन्द्रावती त्रिपाठी, श्रीमती ललिता पाठक, कुमारी रामेश्वरी गोयल, श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी और मैं था। मैंने समिति में इस निर्णय का विरोध किया और कहा कि यदि महादेवी जी की 'नीरजा' पर पारितोषिक समिति इस वर्ष विचार न करेगी तो मैं समिति से त्यागपत्र दे दूँगा। यदि कोई श्रेष्ठ कृति पारितोषिक के लिए निर्धारित समय से कुछ देर बाद भी प्राप्त हो तो समिति को उस पर अवश्य विचार करना चाहिए। परन्तु महिला-प्रधान इस समिति ने यही निश्चय किया कि श्रीमती महादेवी वर्मा की 'नीरजा' पर इस वर्ष विचार न होगा। मैंने इस समस्या को पूज्य बाबू जी के सामने प्रस्तुत किया और उनसे भी यही कहा कि मैं ऐसी समिति में नहीं रहूँगा जिसमें इस प्रकार के रागद्वेष-पूर्ण निर्णय किये जाते हैं। पूज्य बाबू जी कुछ देर सोचते-विचारते रहे।

यदि वे चाहते तो महादेवी जी की 'नीरजा' को अपने संकेत-मात्र से पुरस्कार-समिति में विचारार्थ रखवा देते किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे विधान और नियम के अनुकूल ही कार्रवाई करना चाहते थे। उन्होंने समिति की कार्रावाई यह कह कर रोकवा दी कि समिति के इस निर्णय का अन्तिम निर्णय शीघ्र ही होने वाली स्थायी समिति में किया जायगा। अन्त में यही हुआ कि स्थायी समिति की बैठक बुलाई गई और उसमें पारितोषिक समिति के निर्णय के प्रतिकूल निर्णय हुआ, तथा 'नीरजा' उसी वर्ष के पारितोषिक में विचारार्थ सम्मिलित की गई और निर्णायकों ने 'नीरजा' पर सेकसरिया पुरस्कार देने की घोषणा की।

पूज्य बाबू जी सम्मेलन का एक पैसा भी इधर उधर नहीं होने देना चाहते थे। इसके लिए वह बड़े सतर्क रहते थे। सार्वजनिक पैसे का उपयोग करना वे भली-भाँति जानते थे। हमें एक घटना का स्मरण है—'आधुनिक कवि' ग्रन्थमाला में हमारी इच्छा थी कि पन्त, महादेवी और रामकुमार वर्मा के काव्य-संग्रह के प्रकाशन के बाद निराला जी के काव्य-संग्रह का प्रकाशन भी किया जाये। मैंने इस सम्बन्ध में निराला जी से बातचीत की। उनका काव्य-संग्रह संगृहीत होकर सम्मेलन कार्यालय में आ भी गया, रह गयी भूमिका लिखने की बात। निराला जी ने शर्त लगाई कि सम्मेलन मुझे पाँच सौ रुपये अग्रिम दे दे तो मैं भूमिका लिख दूँ। साहित्य-समिति में यह प्रश्न विचारार्थ उपस्थित हुआ और निश्चय किया गया कि निराला जी को रुपया दे दिया जाय, यद्यपि उस समय सम्मेलन के प्रकाशनों पर किसी लेखक को अग्रिम नहीं दिया जाता था, तो भी बाबूजी मेरे कहने पर निराला जी को अग्रिम देने को तैयार हो गये। चेक बन गया। चेक निराला जी के पास जाने ही वाला था कि एकाएक दूसरे दिन बाबू जी ने मुझे बुलाया और कहा, "मेरी राय में यह रुपया निराला जी को अभी मत भेजिए। मेरी समझ में निराला जी आज-कल-व्यग्र हैं और वह पुस्तक की भूमिका नहीं लिखेंगे और सम्मेलन का यह रुपया ऐसा न हो कि यों ही चला जाय। मेरी समझ में पुस्तक की भूमिका मिलने पर उन्हें रुपया दिया जाये।" इस प्रकार अग्रिम रुपया निराला जी को नहीं भेजा गया। अन्ततः निराला जी के काव्य-संग्रह का प्रकाशन नहीं हो सका।

सम्मेलन एक सार्वजनिक संस्था है और इसका विधान पूर्ण रूप से जनतांत्रिक रहा। इसलिए वहाँ दलबन्दी होना स्वाभाविक था। जहाँ भी मतदान पर प्रत्येक निर्णय निर्भर है वहाँ दलबन्दी भी अनिवार्य है। सम्मेलन में मुकदमेबाजी प्रारम्भ हुई और मैंने बाबू जी का ही समर्थन किया। मैंने अनेक बार बाबू जी से प्रार्थना की थी कि सभी दल एक साथ मिल-जुल कर काम करें किन्तु सम्भव नहीं हो सका। पूज्य बाबू जी दलबन्दी नहीं चाहते थे, मुकदमेबाजी से उनको बड़ा दुःख हुआ, इसलिए उन्होंने अन्त में सम्मेलन को सरकार के अधिकार में देने का निर्णय किया। पहले उन्होंने उत्तर प्रदेश सरकार से सम्मेलन का गत्यावरोध दूर करने के लिए कानून बनवाया किन्तु उच्च न्यायालय के द्वारा वह कानून अस्वीकृत कर,दिया गया, इसलिए उन्होंने केन्द्रीय सरकार से अनुरोध किया और एक नया अधिनियम लोक सभा से स्वीकृत कराकर सम्मेलन का गत्यवरोध दूर गरवाया। मैंने अनेक अवसरों पर पूज्य बाबू जी से इस सम्बन्ध में

बातें की थीं, वे हृदय से कभी नहीं चाहते थे कि सम्मेलन सरकार के हाथ में जाय किन्तु अदालती गत्यवरोध दूर करने का इसके सिवा उनके सामने कोई चारा भी नहीं था।

पूज्य बाबू जी में अनेक गुण थे। वे आदर्श और सिद्धान्त की प्रतिमूर्ति थे। उनके आदर्शों से हम लोग कभी-कभी ऊब जाते थे, फिर भी हम सब उनकी आज्ञाओं की प्रतीक्षा करते थे। अभ्यागतों का स्वागत करने में मैंने उनकी समता का दूसरा व्यक्ति नहीं देखा। निर्धन हिन्दी-लेखकों तथा जन-कार्यकर्ताओं की वे निजी रूप से समय-समय पर आर्थिक सहायता भी किया करते थे और उनके सुखःदुःख से अवगत होकर यथासाध्य उसमें अपना भी हाथ बँटाते थे।

पिछले तीस वर्षों से मैंने उनको बहुत पास से देखा है अनेक अवसरों पर उनके साथ यात्राएँ की हैं। वीरों की भाँति उनको आदर्श और सिद्धान्त के लिए विरोधियों से लड़ते देखा है। वे जीवन में कभी अपने सिद्धान्त से विचलित नहीं हुए। महात्मा गांधी से भी उन्होंने राष्ट्र-भाषा-हिन्दी के सम्बन्ध में लोहा लिया। समस्त जीवन उन्होंने हिन्दी को अर्पित कर दिया। आज हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा बन गयी है। उसका श्रेय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन को ही प्राप्त है। भारतीय संविधान-परिषद् में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए पूज्य टण्डन जी ने जो अथक प्रयास किया उसका साक्षी भावी इतिहास होगा। हम आज भी उस महान् स्वर्गीय आत्मा का स्मरण करके प्रेरणा प्राप्त करते हैं और उनके आदर्शों पर चलने के लिए अपने को कृतकृत्य समझते हैं।

श्री जेठालाल जोषी

राजर्षि टण्डन जी के कुछ संस्मरण

सन् १९३८ की १९, २०, २१, फरवरी के दिन, ताप्ती नदी का तट, हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन का विशाल दृश्य। श्री नंदलाल बोस की देखभाल में बनवाये गये कलापूर्ण द्वार, सरदार पटेल का सुप्रबंध, अखिल भारत का औद्योगिक तथा हस्तकला उद्योग के नमूनों की अपूर्व प्रदर्शनी, नेताजी सुभाष बाबू के स्वागत का भव्य आयोजन, बावन बैलों से जुड़ा प्राचीन-कला पूर्ण रथ, ये सारे दृश्य कांग्रेस के इतिहास के अपूर्व दृश्य-दर्शन थे। नेताओं का निवास-स्थान तो कांग्रेस की विशालता, लोकप्रियता तथा भारत की आशा-आकांक्षाओं का मूर्तिमान् स्वरूप था। कांग्रेस का यह इक्कावनवाँ अधिवेशन भारत के इतिहास में बेजोड़ कहा जा सकता है। इस अवसर पर मैं भी हरिपुरा पहुँचा था। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के मंत्री श्री सत्य-नारायण जी, श्री मोहनलाल जी भट्ट भी परिषद् के सिलसिले में वहाँ पहुँच गये थे।

यहीं पर मैंने सर्वप्रथम श्रद्धेय टण्डन जी के दर्शन किये। मैं सन् १९२७ से हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं के अहमदाबाद केन्द्र के केन्द्र-व्यवस्थापक होने के नाते श्रद्धेय टण्डन जी के नाम से सुपरिचित था। आपका दुबला पतला मँझला कद, शुद्ध खादी की अचकनवाली पोशाक, खुला सिर, भरी हुई गंगाजमनी बालों वाली दाढ़ी, भव्य ललाट तथा हृदय को मोह लेनेवाली तेजस्वी आँखें। बड़ा प्रभावशाली व्यक्तित्व हृदय और दिल में श्रद्धा पैदा करनेवाला था। मैं अधिक तो क्या बातें कर सकता था। मैंने सिर्फ अपना तथा अपने केन्द्र का अति संक्षेप में परिचय दिया तथा आपसे निवेदन किया कि—सम्मेलन की परीक्षाओं के परीक्षकों को कुछ पत्र-पुष्प के रूप में पुरस्कार देने की व्यवस्था करना ठीक होगा। आपने झट से इसका प्रतिवाद किया कि डा० गंगानाथ झा जैसे परीक्षकों को पत्रम्-पुष्पम् के रूप में क्या दिया जाय? क्या ये परीक्षक रूप में रुपयों के ठीकरों के लिये थोड़े ही कार्य करते हैं? ये सभी हिन्दी के प्रति श्रद्धा से अपना समय देते हैं। मैं आगे कुछ न बोल सका। आप कार्य-समिति के लिये रवाना हो गये।

मैं उस रोज से आपके प्रति उत्तरोत्तर श्रद्धाशील बनता गया। सन् १९४२ में दो लिपियोंवाली हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की स्थापना हुई। देश के सामने और हम हिन्दी प्रचारकों के सामने गंभीर समस्या थी कि कौन सी राह अपनायें। गुजरात के प्रधान नगर अहमदाबाद में मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का केन्द्र व्यवस्थापक था। पूज्य बापू जी के प्रति अपार श्रद्धा थी। विद्यार्थी-जीवन में मैंने कुछ उर्दू सीखी थी। मैंने गुजरात में हिन्दु-स्तानी परीक्षा का पहला प्रश्नपत्र देवनागरी-उर्दू में बनाया था और उसे विद्यापीठ में बैठकर

सायक्लोस्टाइल भी किया था। दो तीन महीनों की अन्तर्वेदना के बाद इस निर्णय पर मैं पहुँचा था कि देश की राष्ट्रलिपि तो एक देवनागरी ही हो सकती है। इस निश्चय के बाद मेरा मार्ग स्पष्ट था।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा के मंत्री थे आदरणीय श्री भदन्त आनंद कौसल्यायन। उनके सामने भी समस्या थी कि वे हिन्दुस्तानी के प्रबल वातावरण में समिति का कार्य कैसे सँभालेंगे। मैंने इन्हीं दिनों श्रद्धेय टण्डन जी को एक पत्र लिखा था कि आप गुजरात के राष्ट्र-भाषा प्रचार के बारे में निश्चिन्त रहें। मैं देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी का प्रचार करने में अपने को खपा दूंगा। गुजरात देवनागरी लिपि को ही अपनायेगा। इस पत्र के बाद से पूज्य टण्डन जी का प्रेम मेरे प्रति खूब बढ़ता गया। मैं कह सकता हूँ कि टण्डन जी का हम दोनों भाइयों के प्रति अपार स्नेह था।

सन् १९४५ का वर्ष, सम्मेलन का उदयपुर-अधिवेशन, मीरानगरी में सम्पन्न होने जा रहा था। पूज्य बापू जी तथा पूज्य बाबू जी दोनों के बीच हिन्दी-हिन्दुस्तानी तथा देवनागरी तथा उर्दू लिपि को लेकर पत्र-व्यवहार हुआ। दोनों अपनी-अपनी बात पर अड़े हुए थे। आखिर में बापू के सिद्धान्तानुसार कार्य करनेवाले भाई-बहनों के आग्रह से पूज्य बापू ने सम्मेलन से त्यागपत्र दे दिया। यह त्यागपत्र उदयपुर अधिवेशन में स्वीकृति के लिए आनेवाला था। सारा हिन्दी-जगत् चिन्ताग्रस्त था। पूज्ज बापू के परम अनुयायी श्री कन्हैयालाल जी मुन्शी इस अधि-वेशन के अध्यक्ष चुने गये थे। विषय-विचारिणी में यह त्यागपत्र बड़े दुःख के साथ स्वीकृत किया गया था। त्यागपत्र स्वीकृत करनेवाला जो प्रस्ताव था उसमें उर्दू लिपि के बारे में एक शब्द 'अनर्गल' का प्रयोग हुआ था। मैंने प्रस्ताव की भाषा पढ़ी। मुझे यह अनर्गल शब्द अखरा। मैं दौड़ा-दौड़ा भदन्त आनंदजी के पास गया। हम दोनों सम्मेलन के तत्कालीन मंत्री श्री मौलिचंद्र शर्मा के निवास स्थान पर गये। उन्हें भी मेरी बात ठीक लगी। हम तीनों आदरणीय श्री मुन्शी जी के पास गये। उन्होंने कहा कि बात तो ठीक है परन्तु यह प्रस्ताव तो इन्हीं शब्दों में विषय विचारिणी में पारित हो गया है। श्री मुन्शी जी ने सुझाव दिया कि यह बात टण्डन जी तक पहुँचा दी जाय तो वह कुछ मार्ग निकाल सकते हैं। हम पूज्य बाबू जी के पास गये। श्री टण्डन जी ने कहा कि इसके स्थान पर दूसरा कोई शब्द दो।

श्री टण्डन जी ने इस अधिवेशन में मुझे एक काम सौंपा था कि मैं बराबर इस बात का ध्यान रखूं कि पूज्य बापू जी के विरुद्ध कोई कुछ न कहे और अपने भाषण में कौन क्या कह गया उसकी मैं आपको रिपोर्ट दूं। मुझे बराबर याद है कि अधिवेशन में सभी व्याख्यानताओं ने अपने भाषण में पूरा संयम रखा था। अधिवेशन की कार्यवाही चल रही थी। रात के ढ़ाई बजे का समय था पूज्य बाबू जी को १०२-१०३ डिग्री बुखार था। फिर भी वे बराबर मंच पर उपस्थित रहे थे। आपने मुझे पास बुलाया और कहा कि 'अनर्गल' के स्थान पर 'अग्राह्य' शब्द का प्रयोग कैसा रहेगा? मुझे अपार आनंद और संतोष हुआ।

इसके बाद राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की बैठकों में अनेक बार बाबूजी से भेंट होती रही। वर्धा में यह बैठकें सेठ श्री जमनालाल जी बजाज के निवास-स्थान बजाजवाडी में हुआ करती थीं। कभी-कभी वर्धा-समिति की बैठकें दिल्ली, इलाहाबाद में भी होती थीं। श्रद्धेय टण्डन जी इन बैठकों में अवश्य उपस्थित रहते थे और बड़ी आत्मीयता से वर्धा समिति की स्वायत्तता को अक्षुण्ण रखते हुये कार्य-संचालन में मार्ग-दर्शन करते थे।

मुझे हैदराबाद अधिवेशन की विषय-विचारिणी समिति का प्रसंग याद है। मैंने श्रद्धेय टण्डन जी के अनुरूप एक सुन्दर स्मारक की बात कही थी। उस बात को रखते हुये पहला वाक्य मैंने "यदि" से शुरू किया था कि यदि हम श्रद्धेय टण्डन जी के प्रति श्रद्धा रखते हों तो"—मेरी बात पूरी हुई उसके दो तीन मिनट बाद उस वक्त के मंत्री श्री बलभद्रप्रसाद जी ने कहा कि मुझे "यदि" शब्द वापस ले लेना चाहिये। मैंने यदि शब्द तो वापस ले लिया परन्तु मैं रंगढंग देख रहा था कि जो श्रद्धा अपने नेता के प्रति चाहिये वह उस वक्त सबों के दिल में नहीं थी। यह बात कोटा सम्मेलनके बाद स्पष्ट हो गई और सम्मेलन दलबंदी के कारण मुकदमे बाजी के दलदल में ऐसा फँसा कि आज १९ वर्षों के बाद भी उस दलदल में से बाहर नहीं निकल पाया है।

एक बार सम्मेलन तथा हिन्दी-जगत् के गणमान्य पुरुष लखनऊ में जमा हुए। मैं भी उस वक्त लखनऊ गया था। अतिथियों को ठहराने का प्रबंध एक छात्रालय में किया गया था। मैं रात के साढे आठ बजे लखनऊ पहुँचा और छात्रालय में चला गया। वहाँ एक चौकीदार को छोड़कर ओर कोई नहीं था। मैं रात भर वहीं रहा। दूसरे दिन प्रातः शौच-स्नान से निवृत्त हो बाबू जी के निवास-स्थान पर पहुँचा। उन दिनों टण्डन जी उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष (स्पीकर) थे। मुझे देखते ही आपने कहा कि "किस गाड़ी से आये" अभी तो कोई गाड़ी नहीं आती।" मैंने निवेदन किया कि मैं रात को यहाँ पहुँचा था। आपने पूछा—"कहाँ ठहरे हो?" मैंने छात्रावास का नाम बताया। आपने जरा कड़ककर कहा "तुम्हारा छात्रावास से क्या संबंध' मैंने उत्तर में कहा कि मुझे यही पता दिया गया था। आपने पूछा—क्या यहाँ का पता मालूम नहीं था? तुम तो पहले भी यहाँ आये हो" मैंने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया कि मैं आपका निवासस्थान अच्छी तरह जानता था, पहले दो बार आया था ही। लेकिन रात का समय था। हम प्रतिनिधियों को ठहराने का जो प्रबंध किया गया है उसी के अनुसार मुझे छात्रालय चले जाना चाहिये था। आपने बड़ी आत्मीयता से कहा कि अहमदाबाद रात को गाड़ी पहुँचती हो तो क्या स्टेशन पर ही पड़े रहते हो या घर चले जाते हो? यह तो घर था रात को यहीं चला आना था। आपने ड्राइवर से कहा कि इनके साथ चले जाओ और इनका सामान ले आओ। आज इतनी आत्मीयता कौन बतायेगा।

इसी लखनऊ में मैं और भाई श्री कान्तिलाल दोनों ठहरे हुए थे। इलाहाबाद से यहाँ आपके आग्रह से गये थे। प्रातः काल का समय था। हम जलपान करने बैठे थे। बाबू जी तो दूध, दही, घी या उससे बना कोई पदार्थ लेते ही नहीं थे। नमक तक आपके भोजन जलपान में वर्ज्य था। लेकिन हमारे लिये मीठा और नमकीन दोनों जलपान में था। लेकिन एक पदार्थ

बाबू जी ने हमें खिलाया था उसे मैं नहीं भूल सकता। इलाहाबाद से आपके यहाँ से तिलगुड मिलाकर कूटा गया पदार्थ था। बाबू जी ने हम को भी दिया कि यह ताजा है और घर से आया है। आपने हमारे लिए नगर के दर्शनीय स्थानों को दिखाने तथा गोमती स्नान का प्रबंध करवा दिया था।

इलाहाबाद के कई संस्मरण आज भी प्रेरणादायी हैं। एक बार मैं अकेला इलाहाबाद गया था। बाबू जी सम्मेलन के सामनेवाले एक किराये के मकान में रहते थे। मैं उन दिनों ब्राह्मण को छोड़कर अन्य किसी जाति के हाथ का बना भोजन नहीं खाता था। यहाँ मेरे भोजन का प्रश्न आया। बाबू जी ने बड़ी आत्मीयता से कहा कि हमारे यहाँ भोजन भगवान को भोग लगाने के बाद ही परोसा जाता है। शुद्धता और पवित्रता का खयाल रखा जाता है। उस दिन आपके यहाँ भोजन करनेवाले हम दो ही थे। एक थे परम आदरणीय श्री आचार्य नरेन्द्रदेव जी और दूसरा मैं। आम का मौसम था। बाबू जी ने खुद अपने हाथ से लंगड़े आम की फाँकें करके हमें परोसा था। यह आनंद और आत्मीयता कभी भुलायी जा सकती है?

इसी तरह एक बार मैं अपने माता-पिता के साथ यात्रार्थ प्रयागराज गया था। मेरे साथ दो तीन महिलाएँ भी थीं। पूज्य बाबू जी ने हम सबके भोजन का प्रबंध सत्यनारायण कुटीर में अपनी ओर से करवाया था।

एक बार आदरणीय श्री मोहनलाल जी भट्ट और मैं दोनों दीवाली के दिन सत्यनारायण कुटीर में ठहरे हुए थे। मुकदमेबाजी के कारण सम्मेलन की ओर से कोई प्रबंध होने की संभावना नहीं थी। पूज्य बाबूजी वहीं सामनेवाले बँगले में रहते थे। आपने सारा प्रबंध करना चाहा लेकिन किसी अन्य आयोजन के कारण घर अपराह्ण में ढाई तीन बजे पहुँचे। हम दोनों ने भोजन का कुछ प्रबंध कर लिया था। आपको यह अच्छा नहीं लगा। रात को दीवाली के अनुरूप मिष्ठान्न सहित पूरा भोजन आपके यहाँ हुआ।

एक और संस्मरण ताजा ही है। सन् १९४४ का वर्ष। १९४२ की राष्ट्रव्यापी गिरफ्तारी के बाद नेतागण आगाखाँ महल से छूटकर अपने-अपने नगर पहुँचे थे। पंडित जवाहरलाल जी भी इलाहाबाद पहुँचे थे। उसी प्रसन्नता में नगर भर में दीपक जलाये गये थे। हम कोई पाँच भाई थे। त्रिवेणी स्नान करके सम्मेलन लौट रहे थे। श्री अनसूयाप्रसाद जी पाठक ने एक बात हमारे सामने रखी कि हम पंडित जी से मिलने चले जाँय। बाबू जी से कहकर उनका समय ठीक कर लिया जाय। बाबू जी से कहने का काम मुझे सौंपा गया। मैंने बाबू जी से यह निवेदन किया कि हम पंडित जी से मिलना चाहते हैं। आपने तुरन्त फोन उठाया और पंडित जी के मंत्री श्री उपाध्याय जी से बात की कि कुछ प्रान्तीय संचालक जवाहरलाल से मिलने आना चाहते हैं। श्री उपाध्याय जी ने पंडित जी से समय ठीक करके उत्तर दिया कि कल ७॥ बजे यहाँ आ जायें। हम दूसरे दिन प्रातः ठीक समय पर पंडित जी के आनंदभवन पहुँच गये और उनसे भेंट की। वहीं पर आचार्य कृपलानी जी से भी भेंट हो गई और वहीं पंडित सुंदरलाल जी को देखा।

रामायण प्रचार समिति के समारोह के सिलसिले में श्रद्धेय टण्डन जी अहमदाबाद पधारे। आपको ठहराने का प्रबंध सेठ श्री वाडीलाल लल्लुभाई के बड़े भाई श्री चीनुभाई सेठ की कोठी पर किया गया था। सेठ श्री चीनुभाई तथा उनके परिवार को अपार हर्ष था कि उनके घर राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन पधारनेवाले हैं। टण्डन जी के लिए भोजन का सुप्रबंध किया गया था। तरह तरह के पकवान तथा शाक-तरकारियाँ बनवायी गई थीं। इस बार टण्डन जी के साथ कोई निजी सचिव नहीं था। हालांकि आप उन दिनों उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष थे। अहमदाबाद पहुँचते ही आपने मुझे बुलवा लिया और कहा कि मुझे आपके निजी सेक्रेटरी के रूप में साथ रहना है। पूज्य बाबू जी कभी साबुन का उपयोग करते नहीं थे। इन सद्गृहस्थ के यहाँ स्नानघर में बढ़िया से बढ़िया साबुन का प्रबंध था लेकिन टण्डन जी को तो चाहिये शुद्ध मिट्टी। आखिर खेत से मिट्टी लायी गयी और टण्डन जी के हाथ पैर धोने की व्यवस्था की गई।

पूज्य बाबू जी ने मुझसे कहा कि उनका भोजन सिर्फ दाल रोटी हो और वह भी बिना घी तथा बिना नमक मिर्च मसाले के। सेठ श्री चीनुभाई की माता जी को बड़ा कष्ट हुआ कि यह फिर खातरी क्या है। आपके लिये बनवाया भोजन ऐसा ही रह गया और नये सिरे से मूंग की दाल और गेहूँ की बिना चुपड़ी रोटी परोसी गई। दूसरे दिन बाबू जी ने चाहा कि अहमदाबाद नगर के संस्कृत के विद्वानों को यहाँ भोजन पर बुलाया जाय। इन पंडितों में अधिकांश तो सहभोज माननेवाले नहीं थे और सभी पीताम्बर पहन कर भोजन करनेवालों में से थे। कुछ ऐसे भी थे जो फलाहार ही करनेवाले थे। सबों के लिए भोजन का, फलाहार का प्रबंध किया गया। श्रद्धेय टण्डन जी ने मनुहार करके अपने हाथ से इन निमंत्रित पंडितों को पकवान, मेवा, मिठाइयाँ तथा फल परोसे। भोजनोपरान्त गोष्ठी का आयोजन हुआ। यहीं पर बड़ौदा से दो तीन आर्य-सभायी संस्कृतज्ञ पंडित टण्डन जी से मिलने आये। इन विद्वानों ने टण्डन जी से शिकायत की कि हमारे देश में ब्राह्मणों का योग्य सत्कार नहीं होता, उन्हें कोई ऊँचा पद नहीं दिया जाता। एक तरह से उनकी अवहेलना सी होती है। टण्डन जी ने इन्हें समझाया कि यह शिकायत कोई माने नहीं रखती। क्या ब्राह्मण को राष्ट्रपति बनाया जाय, क्या ब्राह्मण को न्यायालय का मुख्य न्याया-धीश बनाया जाय, क्या ब्राह्मणों को किसी राज्य का राज्यपाल बनाया जाय। क्या ब्राह्मण को सरसेनापति बनाया जाय! आखिर आप चाहते क्या हैं? स्वराज्य में योग्य व्यक्ति को योग्य स्थान प्राप्त होगा ही। आपने इन पंडितों को मार्गदर्शन दिया कि आप संस्कृत के समर्थ विद्वान बनें तथा हमारे वेद, दर्शन, उपनिषद्, पुराण, शास्त्रइत्यादि के अधिकारी विद्वान बनें कि जिससे इनका उपयोग हमारे राजदूतों के साथ विदेश भेजने में किया जाय।

श्रद्धेय टण्डन जी कांग्रेस अध्यक्ष चुने गये। स्वराज्य के बाद कांग्रेस का यह पहला अधि-वेशन नासिक नगर में हुआ। टण्डन जी अध्यक्ष पद पर थे। सरदार पटेल तथा पंडित जवाहर-लाल, मौलाना अबुलकलाम आजाद, पंडित गोविंदवल्लभ पंत इत्यादि मौजूद थे। पंडित जवाहरलाल जी का भाषण पूरा हुआ और कुछ लोग उठकर चले जाना चाहते थे। जैसा कि

उन दिनों होता था कि पंडित जी के भाषण के बाद बहुत से लोग पंडाल से बाहर निकल जाने की चेष्टा करते थे। टण्डन जी ने गंभीर आदेशात्मक वाणी में कहा "जो बाहर जाना चाहें चले जायें, मैं तीन मिनट का समय देता हूँ।" पंडाल में इस वाणी का प्रभाव पड़ा। सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। तीन मिनट पूरे हुए। कहीं कहीं एक दो व्यक्ति खड़े दिखायी दिये। टण्डन जी ने फिर से गर्जना की "स्वयंसेवक सूत की तरह क्यों खड़े हो, इन खड़े, हुए व्यक्तियों को बैठा दो" फिर तो इस प्रकार शांति फैल गई कि पंडित जी के बाद बोलनेवालों के भाषण सबों ने ध्यान देकर सुना। यह था टण्डन जी की वाणी का प्रभाव।

एक बार आप हमारे पदवीदान सभारंभ में पधारे। यह समारोह गुजरात कालेज के सभागृह जार्जफिपथ हाल में सम्पन्न हो रहा था। सभागृह तथा उसकी दीर्घायें सभी खचाखच भर गई थीं। पैर रखने को जगह नहीं थी। फर्श पर भी लोग बैठे थे। टण्डन जी का विद्वता-पूर्ण दीक्षान्त भाषण हुआ। आप करीब ५० मिनट बोले। सभागृह में सिवाय टण्डन जी की वाणी के और कोई आवाज नहीं थी। यह था दिव्य वाणी का प्रभाव।

ऐसा अपूर्व शांतिसूर्ण वातावरण हमने इलाहाबाद में श्रद्धेय टण्डन जी के सम्मान समारोह के समय देखा। इलाहाबाद के कालेज के खुले मैदान में यह आयोजन हुआ था। राष्ट्रपति देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद उस समारोह के अध्यक्ष थे। कोई दो तीन लाख आदमी जमा थे। टण्डन जी का स्वास्थ्य कुछ अच्छा नहीं था। आप कोई बीस मिनट बोले होंगे. लेकिन इतनी शांति थी कि अगर आलपीन गिरे तो उसकी आवाज भी सुनायी दे।

कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में आपने देशभर का दौरा किया। आप अहमदाबाद ए० आई० सी० सी० को बैठक के सिलसिले में पधारे थे। आप सीधे दिल्ली से अहमदाबाद रात के नौ बजे पहुँचनेवाले दिल्ली मेल से अहमदाबाद पहुँचे। स्टेशन पर आपका अपूर्व स्वागत हुआ। करीब तीस चालिस हजार आदमी स्वागतार्थ स्टेशन पर जमा हुए थे। पुष्पमालाओं का तो ढेर लग गया था। माननीय श्री मोरारजी भाई का सुप्रबंध था। कोई साढे दस बजे आप साबरमती तट पर आये हुए सेठ श्री मफतलाल के बंगले पर ठहराये गये थे। निवासस्थान तथा भोजन का प्रबंध अहमदाबाद नगरपालिका के मैयर श्री मणिभाई चतुरभाई के जिम्मे था। रात के कोई ११ बजे मुझे लिवाने एक मोटर मेरे यहाँ पहुँची। मुझे संदेश दिया गया कि तुम्हें बाबू जी तथा सेठ श्री गोविंददास जी याद करते हैं। मैं तुरन्त पहुँचा। बाबू जी के लिए दाल रोटी तैयार करने में कुछ समय लग ही गया था। बाबू जी खाने बैठे। परोसी थाली सामने थी। आपने समय पूछा। मैंने जान बूझकर बताया कि अभी कोई दस साढे दस बज होंगे। परन्तु आपके सेक्रेटरी ने बताया कि बाबू जी अभी ११। बजे हैं। बाबू जी थाली पर से यह कहते हुए उठ गये कि खाने का भी समय होता है। सोने का भी। रात भर भूखों सोये। मुझसे आपने कहा कि कल सबेरे सात बजे यहाँ पहुँचना है। मैं ठीक समय पर पहुँच गया। आपके पास श्री बलंवंतभाई मेहता बैठे हुये थे। दोनों में बातें हो रही थीं। बाबू जी के जलपान के लिए काजू, किसमिस, पिस्ता, अखरोट, अंजीर की तश्तरियाँ भरी पड़ी थीं। टण्डन जी ने इन तश्तरियों की ओर देखा और

कहा कि इन्हें उठा लो यहाँ से। क्या दूकान लगानी है ? नाश्ते के लिए थोड़ी चीजें रख देना चाहिए था।

ए० आई० सी० सी० के अधिवेशन के प्रारम्भ में ध्वजवंदन का कार्यक्रम था। समय हो रहा था। "नवजीवन प्रेस" के प्रांगण में ए० आई० सी०सी० का अधिवेशन था। आपके निवास-स्थान से यह स्थान करीब ढाई तीन मील था। आप तथा श्री बलवंतभाई उठे। मैं भी साथ हो लिया था। ठीक समय पर आप पहुँच गये। ध्वजवंदन के लिये पंडित जी, आजाद साहब इत्यादि एक कतार में खड़े थे। नियमानुसार टण्डन जी ध्वजवंदन के लिये तैयार किये गये स्थान पर पहुँचे। सलामी हुई, राष्ट्र गीत गाया गया। इस अवसर का एक फोटो मेरे पास मौजूद है। मैंने २५) देकर खरीदा था। सेठ श्री गोविंददास जी चाहते थे कि मैं दूसरा खरीद कर आपको भेज दूं। लेकिन अब यह अप्राप्त है। मैंने देखा कि टण्डन जी अनुशासन के बारे में सख्त थे। सभा-संचालन में जरा भी ढिलाई बरदाश्त नहीं करते थे।

एक प्रसंग याद आता है। आदरणीय श्री मोहनलाल जी भट्ट तथा मैं वाराणसी परम आदरणीय डा० भगवानदास जी से मिलने गये। हम दोनों हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भूतपूर्व विद्यमान अध्यक्षों से मिलने निकले थे। हमारा इन अध्यक्षों से मिलने का कारण यह था कि इन सबों की स्वीकृति प्राप्त करके वर्धा समिति के प्रांगण में एक विशेष सम्मेलन बुलाया जाय क्योंकि हिन्दी साहित्य सम्मेलन में गतिरोध हो गया था और मुकदमेबाजी के कारण सम्मेलन पर सरकार नियुक्त आदाता का कब्जा था। हम चाहते थे कि सब मिलकर समझौता कर लें और सम्मेलन का कार्य सुंदर ढंग से शुरू हो। दुर्भाग्य से यह समझौता नहीं हो पाया। डा० भगवान-दास जी ने बातों के सिलसिले में कहा कि टण्डन जी ने उड़ीसा की गवर्नरी अस्वीकार करके बड़ी भारी गलती की है। यह दुनिया तो पद को पूजती है और मानती है। राज्यपाल के पद पर होते तो टण्डन जी का प्रभाव और भी बढ़ता। मैंने डा० भगवानदास जी की यह बात बाबू जी से कही तो आपने कहा कि क्या मैं राज्यपाल (गवर्नरी) के पद के लिए अपने को बेच देता ?

श्रद्धेय बाबू जी के साथ के अनेक संस्मरण हैं। बाबू जी उत्तर प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष थे। मैं लखनऊ गया था। कुछ खादी खरीदनी थी। बाबू जी के साथ एक संरक्षक (सिविल पोशाक में) था। बाबू जी रास्ते में मोटर से उतर पड़े और हम दोनों पैदल चलते हुए खादी की दूकान पर पहुँचे। बेचारा संरक्षक साथ चलता था। उसे डांटा कि इतने पास क्यों चलते हो ? क्या कोई मुझे खा लेगा, बेचारा क्या उत्तर देता। बाबू जी अपने बारे में हमेशा निश्चिन्त तथा निर्भीक थे।

एक बार दिल्ली में श्रद्धेय टण्डन जी और मैं दोनों प्रातः आदरणीय श्री कन्हैयालाल मुन्शी से मिलने जा रहे थे। नयी दिल्ली की सड़कों पर प्रातः घूमने में मजा आता है। इसी समय राज-स्थान के श्री भोगीलाल पंड्या एक तांगे पर बैठे आ रहे थे। श्री पंड्या जी की श्री टण्डन जी से कभी भेंट नहीं हुई थी। श्री पंड्या जी ने श्री बैजनाथ महोदय के निवास स्थान का पता पूछा।

बाबू जी रुके और तांगे वाले को पता बताया। तांगा आगे बढ़ा—लेकिन टण्डन जी के मन में यह संदेह हुआ कि तांगेवाले ने बात समझी नहीं है। जोर से बुलाकर तांगे को रुकवाया और ताँगे वाले के पास जाकर पुनः बारबार समझा कर पता बतलाया। यह बड़प्पन अब कहाँ ?

श्रद्धेय टण्डन जी परम धार्मिक भी थे। मैं एक बार इलाहाबाद गया था। सत्यनारायण कुटीर में ठहरा था। बाबू जी मेरे आराम का पूरा ध्यान रखते थे। बाबू जी ने मुझसे कहा कि चलो त्रिवेणी स्नान को, मैं आज तुम्हारा पंडा बनूँगा। मैं भी स्नान करूँगा। आपने स्नान के बाद बदलने के लिए कपड़े भी साथ रखवा लिये थे। आपको त्रिवेणी संगम पर एक आयुर्वेदिक सम्मेलन का उद्घाटन भी करना था। बाबू जी उस सम्मेलन के उद्घाटन भाषण के कार्यक्रम में लगे रहे। मैं त्रिवेणी स्नान कर आया। बाबू जी स्नान नहीं कर पाये। मैंने लौटते समय पूछा कि आपने स्नान नहीं किया। बाबू जी ने बताया कि मुझे दस्त की हाजत सी हो आयी थी। ऐसी स्थिति में गंगा स्नान नहीं किया जा सकता। कितना सूक्ष्म ध्यान रखते थे।

बाबू जी अति आतिथ्य प्रेमी थे। एक बार हम प्रचारक भाई बहन तिनसुखिया (आसाम) से लौट रहे थे। इलाहाबाद में सम्मेलन में ठहरे थे। पूज्य बाबू जी से मिलने उनके पुत्र डा० सन्तप्रसाद टण्डन के निवास स्थान पर पहुँचे। बाबू जी ने भोजनके लिये अति आग्रह किया। हम कोई १५ व्यक्ति थे। हम बड़ी मुशिकल से बाबू जी को निवेदन करके समझा पाये कि हमारे भोजन का आग्रह न करें। बाबू जी हमें उम्दा दही की लस्सी पिलाकर के ही संतोष मानने के लिये विवश हुये।

एक बार बाबू जी ने दिल्ली के सभी प्रचारकों को अपने निवास स्थान पर दावत दी। श्रीमती राजलखमी बहन से कहा कि दिल्ली के सभी प्रचारकों को सूचना दी जाये कि सभी उपस्थित रहें। मैं तथा श्री मोहनलाल जी भट्ट भी उस अवसर पर हाजिर थे। आपने अपनी निगरानी में जलपान की चीजें बनवायीं।

बाबू जी छोटी-छोटी बातों में भी सत्य का आग्रह रखते थे। एक बार इलाहाबाद के दो भाई दिल्ली में बाबू जी के पास आये और कहने लगे कि आप हमें यह प्रमाणपत्र दे दें कि हम इलाहाबाद के हैं और मैं इन्हें जानता हूँ। इन भाइयों को प्रमाणपत्र की इसलिए आवश्यकता थी कि वे इसके आधार पर लोकसभा में जाने का प्रवेशपत्र पा सकें। बाबू जी ने इस प्रकार का प्रमाणपत्र देने से साफ इन्कार कर दिया और कहा कि भाई तुम इलाहाबाद के हो सकते हो परन्तु मैं तो तुम्हें नहीं जानता।

बाबू जी नित्य प्रातः आध-पौन घंटा ध्यान में बैठ जाया करते थे और कोई पूजा इत्यादि कुछ नहीं करते थे। आप परम धार्मिक थे। आप बुद्धिवादी आस्तिक थे। अंध श्रद्धा तो आपको छू तक नहीं गई थी। एक बार मेरे पूछने पर आपने बताया था कि यदि भारत स्वाधीन होता तो मैं इस राजनीति के पचड़े में न पड़ता। मेरा समग्र जीवन तथा सारी प्रवृत्तियाँ देश की स्वाधीनता के लिये ही हैं। आपने यह भी बताया था कि यदि देश स्वाधीन होता तो

मेरा जीवन ही कुछ दूसरा होता। श्रद्धेय टण्डन जी सरदार पटेल को खूब मानते थे। आपकी राय में देश स्वाधीन होने के बाद जो सबसे बड़ा कार्य हुआ वह यह था कि अब देश में देशी रियासतें नहीं रहीं और उसका सारा श्रेय सरदार पटेल को ही है। टण्डन जी की राय से तो सरदार पटेल को ही भारत का प्रधान मंत्री बानाना चाहिए था। आपकी राय से सरदार को प्रधान मंत्री न बनाया जाना सरदार के प्रति अन्याय था। आपने सरदार की स्मृति में उत्तर प्रदेश में करीब २-२॥ लाख रु० इकट्ठे किये थे और यह रकम उत्तर प्रदेश के किसानों के लिए कुएँ बनवाने में खर्च की गई थी। टण्डन जी लाला लाजपतराय जी द्वारा संस्थापित लोकसेवक मंडल के आजीवन सदस्य थे। लाला जी के बाद पूज्य बापू के सद्परामर्श से आप ही उस मंडल के जीवनपर्यन्त अध्यक्ष रहे। इस लोक सेवक-मंडल के सदस्यों में आदरणीय श्री लालबहादुर शास्त्री, श्री बलवंतराय मेहता जैसे तपे तपाये मनीषी सदस्य रहे हैं। आज राजर्षि पुरुषोत्तम दास जी टण्डन जैसे पुरुषों की देश को बहुत जरूरत है। मैं अंतःकरण से इन महान् देशरत्न के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

डाक्टर कैलाशचन्द्र भाटिया

संविधान : देवनागरी अंक : एक समस्या

देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी ही राजभाषा के रूप में स्वीकृत हुई है। लिपि में अक्षर और अंक दोनों सम्मिलित होते हैं। नागरी अक्षरों के साथ-साथ नागरी अंकों का भी विकास हुआ। सम्पूर्ण भारत में संस्कृत में नागरी अंकों का ही प्रयोग होता है। संस्कृत के साथ हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि में भी। स्वतन्त्रता से पूर्व जैसा कहा जा चुका है देवनागरी लिपि से तात्पर्य देवनागरी अंक और अक्षर दोनों से था पर संविधान में देवनागरी लिपि से अंकों को पृथक् कर दिया गया। ऐसा क्यों हुआ इसके इतिहास में जाने की आवश्यकता नहीं है। फलस्वरूप संविधान के अन्तर्गत जब राजभाषा के रूप में (मुंशी-फार्मूला के रूप में) देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी को मान्यता प्राप्त हुई तो नागरी अंकों को वह स्थान नहीं दिया गया तथा उसके स्थान पर भारतीय अंकों का अन्तरराष्ट्रीय रूप मान्य हुआ। मूल धारा इस प्रकार है :—

> "धारा ३४३ (१) संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होनेवाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अन्तरराष्ट्रीय रूप होगा।"

यद्यपि इस धारा में स्पष्ट रूप से देवनागरी लिपि का उल्लेख है, पर यह सर्वविदित है कि समय-समय पर कई विशिष्ट व्यक्तियों ने खुले रूप से, कई ने छद्म रूप से रोमन लिपि का समर्थन किया है। केवल वर्तमान शिक्षा-मंत्री डा० वी० के० आर० वी० राव ने मुक्त हृदय से हिन्दी ही क्या, भारतीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि का समर्थन किया है।

यहाँ यह उल्लेख्य है कि सन् १९५० के बाद १५ वर्ष की कालावधि के लिए जिस प्रकार अंग्रेजी को चलाते रहने का विधान था उसी प्रकार राष्ट्रपति के आदेश से भारतीय अंकों के अन्तरराष्ट्रीय रूप के साथ-साथ देवनागरी अंकों का भी उल्लेख है :—

> "धारा ३४३ (२) खण्ड (१) में किसी बात के होते हुए भी इस संविधान के प्रारम्भ से पन्द्रह वर्ष की कालावधि के लिए संघ के उन सब राजकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा प्रयोग की जाती रहेगी जिनके लिए ऐसे प्रारम्भ के ठीक पहले वह प्रयोग की जाती थी परन्तु राष्ट्रपति उक्त कालावधि में, आदेश द्वारा संघ के राजकीय प्रयोजनों में किसी के लिए अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ हिन्दी भाषा का तथा भारतीय अंकों के अन्तरराष्ट्रीय रूप के साथ-साथ देवनागरी रूप का प्रयोग प्राधिकृत कर सकेगा।"

इस धारा के आधार पर ही राजर्षि टंडन ने संसद में बार-बार नागरी अंकों के प्रचलन की चर्चा की थी क्योंकि उस समय शिक्षा-मन्त्रालय केवल अन्तरराष्ट्रीय अंकों का ही प्रयोग एवं प्रचार कर रहा था। नागरी टाइपराइटर के 'की-बोर्ड' में केवल उन अंकों की ही व्यवस्था थी, आगे चलकर श्रद्धेय टंडन जी के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप इस प्रकार 'की-बोर्ड' की व्यवस्था की गई जिसमें भारतीय अंकों के अन्तरराष्ट्रीय रूप तथा नागरी अंक दोनों रहें। तदनुरूप टाइपराइटर की मशीनरी में भी ऐसा परिवर्तन किया गया, जिससे यह संभव हो सका। यहाँ राजर्षि टंडन के संसद में दिये गये भाषण के कुछ अंश उद्धृत करना चाहता हूँ जिसके फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार को बाध्य होकर नागरी अंकों को भी चलाना पड़ा —

> "शिक्षा-विभाग द्वारा हिन्दी टाइपराइटर का जो की-बोर्ड (वर्ण पट्ट) तैयार किया गया है उसमें अक्षर तो हिन्दी के रखे गये हैं, परन्तु जो अंक-न्यूमरल्स रखे गये हैं, वे अंग्रेजी के हैं।" . . . "मैं आपसे कहता आया हूँ कि कांस्टिट्यूशन में (संविधान में) ऐसा नहीं है। कांस्टिट्यूशन में जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे आपके सामने हैं। उनको कुछ ध्यान से देख लें तो अच्छा हो। मैं इसको महत्त्वपूर्ण प्रश्न मानता हूँ, इसलिए मुझसे इस पर पाँच-सात मिनट लेने पड़ेंगे। टाइपराइटर जो बनता है वह देश भर के लिए बनता है। यदि उसे देश भर के लिए बनाना है तो हमें चाहिए कि हम यह भी देखें कि क्या लिखावट देश में चल रही है, हमारे देश में हिन्दी बोलनेवाले कितने हैं और इस नागरी अंकों को काम में लाने वाले कितने हैं। मेरा निवेदन है कि जो लोग हिन्दी बोलनेवाले हैं, उनकी संख्या लगभग १५ करोड़ है। यह संख्या उन प्रदेशों की है जहाँ कि आज हिन्दी चल रही है। परन्तु यही अंक गुजरातियों के हैं, जिनकी संख्या लगभग ढाई करोड़ तो है ही। यही अंक मराठीभाषियों के हैं, जिनकी संख्या लगभग तीन करोड़ की होगी ही। यही अंक हमारे भाई सरदार हुकुम सिंह और उनके सहयोगी भी काम में लाते हैं। पंजाबी भाषा में गुरुमुखी में यही अंक हैं। उनकी संख्या भी लगभग डेढ़ करोड़ तो है ही। इस तरह से इन अंकों को प्रयोग करनेवाले लगभग २२ करोड़ आपको मिलेंगे। लगभग ६-७ करोड़ लोग आप ऐसे पायेंगे जो बिलकुल यही अंक तो नहीं, किन्तु इससे मिलते-जुलते अंकों का प्रयोग करते हैं जैसे बंगाल, आसाम, उड़ीसा में। इनके अंकों का जो क्रम है वह कुछ भिन्न है इसलिए मैं उनको छोड़ देता हूँ। लेकिन प्रश्न यह है कि जो टाइपराइटर बना रहे हैं, यह किस लिए बना रहे हैं, जनता के लिए ही तो ये बनेंगे? . . .हिन्दी लिखने में अंग्रेजी अंकों का भी प्रयोग हो सकता है और देवनागरी अंकों का भी—दोनों का प्रयोग हो सकता है।"
>
> "आज वस्तुस्थिति क्या है? मैंने अभी कहा है कि इतने करोड़ों आदमियों के लिए आप टाइपराइटर बना रहे हैं। कैसा टाइपराइटर आप हमको देंगे?

उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार, राजस्थान, ये सब राज्य किस टाइपराइटर पर काम करेंगे? जिस टाइपराइटर पर इनको काम करना है उसका की-बोर्ड (वर्ण-पट्ट) आपको देना चाहिए। अगर आपको अपने कामों में हिन्दी के साथ अंग्रेजी अंकों का इस्तेमाल करना है—मैं इस प्रश्न में नहीं जाता कि वह कहाँ होगा—तो इसके लिए आपको वहुत थोड़े टाइपराइटर चाहिए।"

३४३ वीं धारा के उपयुक्त दोनों अंशों के ठीक बाद तीसरा अंश इस प्रकार है—

"(३) इस अनुच्छेद में किसी बात के होते हुए भी संसद उक्त पन्द्रह साल की कालावधि के पश्चात् विधि द्वारा (क) अंग्रेजी भाषा का, अथवा (ख) अंकों के देवनागरी रूप का, ऐसे प्रयोजनों के लिए प्रयोग उपबन्धित कर सकेगी जैसे कि ऐसे विधि में उल्लिखित हो।"

अंग्रेजी प्रेमियों का निन्तर ध्यान इस धारा के (क) अंश पर रहा पर किसी हिन्दी प्रेमी ने कभी (ख) अंश को देखने की चेष्टा नहीं की। इस धारा के आधार पर ही अंग्रेजी भक्तों को प्रसन्न करने के लिए सन् १९६३ में तत्कालीन प्रधान मंत्री पं० नेहरू के आदेश पर राजर्षि टंडन के परमभक्त तत्कालीन गृहमंत्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा १३-४-६३ को वैशाखी के पवित्र त्यौहार पर राष्ट्रीय संकट होते हुए भी संसद में दोपहर १२.३३ पर भारी हंगामे के मध्य निम्नलिखित बिल रखा गया तो काफी तूफान के बाद किसी प्रकार १३.०१ पर पढ़ा जा सका—

"Not withstanding the expiration of the period of fifteen years from the commencement of the constitution, the English language may, as from the appointed day, continue to be used, in addition to Hindi."

"संसद (ख) अंश पर भी विचार कर सकती है" यह बात तो कभी उठी ही नहीं।

इस राजभाषा अधिनियम १९६३ के आधार पर सन् १९६५ के बाद अंग्रेजी का प्रचलन हो रहा है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि इस समय किसी भी दिशा से नागरी अंकों के प्रयोग की समयावधि को भी उसी प्रकार बढ़ाने की माँग नहीं की गई। काश, उस दिन संसद में राजर्षि टंडन होते। इस विधेयक के फलस्वरूप ही आज अंग्रेजी का प्रचलन सांविधानिक है। यद्यपि यह सब कुछ अंग्रेजी-प्रेमियों को प्रसन्न करने के लिए किया गया पर वे सब इससे भी संतुष्ट नहीं हुए और अधिक रुष्ट हो गये। यह सब जानते हैं कि आगे चलकर नेहरू और लालबहादुर शास्त्री जिनके प्रयत्न से सन् १९६३ का बिल पारित हुआ था उनके ही आश्वासनों के आधार पर नई माँगें प्रस्तुत की जाने लगीं। यह सर्वविदित है कि पुनः सन् १९६७ में सरकार को बाध्य होकर इन अंग्रेजी-भक्तों को प्रसन्न करने के लिए राजभाषा संशोधन विधेयक १९६७ प्रस्तुत करना पड़ा जिससे अहिंदी भाषा-भाषियों में और अधिक व्यापक असन्तोष फैल गया और हिंसक उपद्रव हुए। मैं इस विषय में विस्तार से चर्चा नहीं करना चाहता।

सन् १९६३ तथा सन् १९६७ के अधिनियमों में अंकों की कोई चर्चा नहीं है अतएव सांविधानिक स्थिति अब बदल गई। संघ के राजकाज में अन्तरराष्ट्रीय अंकों का प्रयोग चल

रहा है। शिक्षा-मन्त्रालय तो इस नीति का पालन सन् १९५० से ही कर रहा था, अब भी कर रहा है फिर फी नागरी अंकों का सौभाग्य है कि नवम्बर सन् १९६६ में प्रकाशित 'मानक देवनागरी' में नागरी अंकों के मानक रूप भी इस प्रकार दिये गये हैं —

१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, ०।

फलतः इन मानक रूपों का प्रयोग होना ही चाहिए। विभिन्न हिन्दीभाषा-भाषी राज्य अपने राज्यों में नागरी अंकों का प्रयोग कर सकते हैं। राज्यों ने राजभाषा विधेयक पृथक् से पारित किये हैं। यह शुभ लक्षण है कि उत्तर प्रदेश का शिक्षा-विभाग निरन्तर नागरी अंकों को ही प्रश्रय दे रहा है। अतएव ऐसी स्थिति में यह उपयुक्त समय है जबकि हिन्दी भाषा-भाषी राज्यों को मिलकर नागरी अंकों के रूप तथा उनकी वर्तनी के मानक रूप स्थिर कर लेने चाहिए।

जहाँ तक अंकों के मानक रूप का प्रश्न है भारत सरकार द्वारा मान्य रूप ऊपर दिये जा चुके हैं। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि टंकन तथा मुद्रण में इन अंकों के रूपों में परस्पर कोई भ्रान्ति नहीं होती, पर क्या यह संभव है कि हम हमेशा अंकों को टंकित अथवा मुद्रित रूप में ही प्रयुक्त करें। अध्यापक होने के नाते मुझे प्रतिवर्ष उत्तर पुस्तकों के अनुक्रमांकों (अंकों तथा अक्षरों दोनों रूप में) में विविध रूप देखने को मिलते हैं। इससे भी भयंकर परिणाम तब होते हैं जब एक परीक्षक किसी प्रश्न पर अथवा मुखपृष्ठ पर योगांक में कुछ अंक देता है और अपने लिखे हुए अंकों को ही भिन्न समझकर भ्रान्तिवश मुखपृष्ठ पर अथवा अंकचिटों पर भिन्न रूप में लिखता है। यह तथ्य है। इन भ्रान्तियों का मैं गत कई वर्षों से अध्ययन कर रहा हूँ। यह भ्रान्ति विशेष रूप में केवल दो अंकों के साथ होती है—१ तथा ९ (नौ)। २, ३, ४, ५, ६ तथा ८ के रूपों के साथ कोई समस्या नहीं है। ७ के भिन्न रूप मिलते हैं पर उनसे कोई समस्या नहीं। सर्वाधिक लिखित रूप १ के हैं जिनसे कभी-कभी अंक २ की और प्रायः ९ (नौ) की भ्रान्ति होती है।

'१' का लिखित मानक रूप स्थिर कर लेना चाहिए। अन्तरराष्ट्रीय चिह्न को ही अपनाया जा सकता था पर उससे '।' विराम चिन्ह की भ्रान्ति होगी।' '१' का '१' रूप लेखन में प्रायः चल रहा है पर इससे '९' नौ के मानक रूप से विशेष भ्रान्ति होती है। मेरी राय में नौ का मानक रूप '९' निश्चित कर देना चाहिए, इस प्रकार कम-से-कम '१' के साथ (किसी भी लिखित रूप के) किसी प्रकार भ्रान्ति न हो सकेगी। समस्या केवल नौ '९' के संबंध में है, इसके अनेक रूप प्रचलित हैं जिनमें से '९' को लखनऊ कान्फ्रेन्स तथा केन्द्रीय सरकार ने मानक रूप प्रदान किया है। इस मानक रूप के प्रयोग से भ्रान्ति काफी बढ़ गई है।

दूसरी समस्या है—अंकों की मानक वर्तनी। वर्तमान स्थिति यह है कि जो व्यक्ति जैसा उच्चारण करता है उसके मिलते-जुलते हुएरूप में उसको लिखने का प्रयत्न करता है फलस्वरूप किसी-किसी अंक के तो ८-९ रूप तक मिलते हैं। यह स्वाभाविक भी है कि इतने विशाल

हिन्दी प्रदेश में अनेक उच्चारण हों पर यह समय की माँग है कि हमको सबसे पहले अंकों की (अक्षरों में) वर्तनी के मानक रूप स्थिर कर लेने चाहिए और फिर आग्रहपूर्वक उन्हीं रूपों का व्यापक प्रचार तथा प्रसार होना चाहिए। मैं यहाँ सौं तक की गिनती के उन रूपों को प्रस्तुत कर रहा हूँ जो भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित हिन्दी के बेसिक व्याकरण में दिये गये हैं। विशेषज्ञ पहले इन रूपों पर विचार कर सकते हैं। कहीं कहीं ब्रेकिट में वे दूसरे रूप भी दिये हैं जो पश्चिमी प्रदेश में परिनिष्ठित उच्चारण की दृष्टि से मान्य समझे जाते हैं:—

एक्	दो	तीन्	चार्	पाँच्	
छह्	सात्	आठ्	नौं	दस्	
ग्यारह्	बारह्	तेरह्	चौंदह्	पन्द्रह्	
सोलह्	सत्रह्	अठारह्	उन्नीस् (उन्निस्)	बीस्	
इक्कीस्	बाईस्	तेईस्	चौंबीस्	पच्चीस्	इक्कीस से उन्तीस तक मध्य में 'ह्रस्व इ' अधिक सुनाई पड़ती है। यही बात आगे भी है।
छब्बीस्	सत्ताईस्	अट्ठाईस्	उन्तीस्	तीस्	
इक्तीस्	बत्तीस्	तैंतीस्	चौंतीस	पैंतीस्	
छत्तीस्	सैंतीस्	अड़तीस्	उन्तालीस्	चालीस्	
इकतालीस्	बयालीस्	तिंतालीस (तेतालीस्)	चवालीस (चौवालिस्)	पैंतालीस्	
छियालीस्	सैंतालीस्	अड़तालीस्	ऊनचास् (उड़नचास्)	पचास्	
इक्यावन्	बावन्	तिर्पन (त्रेपन)	चौंअन्	पच्पन्	
छप्पन्	सत्तावन्	अट्ठावन्	उन्सठ्	साठ्	
इक्सठ्	बासठ्	तिर्सठ् (त्रेसठ्)	चौसठ्	पैंसठ्	
छियासठ्	सड्सठ्	अड्सठ्	उन्हत्तर्	सत्तर्	
इकहत्तर्	बहत्तर्	तिहत्तर्	चौंहत्तर्	पचहत्तर (पिच्हत्तर्)	
छिहत्तर्	सतहतर् (सतत्तर्)	अठ्हत्तर (अहत्तर)	उनासी (उन्नासी)	अस्सी	
इक्यासी	बयासी	तिरासी	चौंरासी	पचासी (पिचासी)	
छियासी	सतासी	अठासी	नवासी	नब्बे, (नव्वे)	
इक्यानवे	बानवे	तिरानवे	चौरानवे	पचानवे (पंचानवे, पिचानवे)	
छियानवे	सत्तानवे	अट्ठानवे	निन्यानवे	सौ	

मेरी राय में यह उपयुक्त समय है कि नागरी अंकों के मानक रूप पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा मिलकर कोई सर्वसम्मत निर्णय लिया जाय। इन स्वीकृत रूपों का व्यापक प्रचार तथा प्रसार किया जाय, विद्यालयों में प्रतियाँ वितरित की जायँ। जनता और जनता की प्रतिनिधि संस्थाएँ यदि इन स्वीकृत रूपों को अपना लेंगी तो फिर सरकार को बाध्य होकर उन रूपों को ही स्वीकृति देनी होगी। आनेवाली भावी पीढ़ी और विद्यार्थियों के व्यापक हित की दृष्टि से यही राजर्षि टंडन के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी, अन्यथा वह समय फिर दूर नहीं है कि नागरी अंकों का मोह छोड़ देना पड़े चाहे हमने किसी समय में शून्य का आविष्यकार कर अंक-विद्या के क्षेत्र में महान् क्रान्ति उत्पन्न की हो।

डाक्टर राय रामचरण अग्रवाल

राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन

स्वर्गीय राजर्षि बाबू पुरुषोत्तमदास जी टण्डन के जीवन और कृतित्व का विश्लेषण-विवेचन करना मेरे लिये कठिन है क्योंकि बाबू जी की जीवनी में हम कितने ही आदर्शों का संग्रह पाते हैं। आपने जो भी किया सोच-समझ कर निश्चित धारणा के अनुसार अपनाये हुये आदर्शों को लेकर किया। दृढ़ निश्चय, अटल विश्वास, उच्च भावना, आत्मबल के आधार पर आपके सामने एक उद्देश्य रहता था, उद्देश्य की महानता का विश्वास रहता था और उसकी पूर्ति के लिये दृढ़ निश्चय रहता था। अपने गन्तव्य कार्यक्रम में दूसरे को साथ ले चलने का सहयोगी भाव तो था ही किन्तु सहयोग का अभाव रहने पर भी वे अपने निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार आगे ही बढ़ते थे, पीछे हटने का नाम तक नहीं लेते थे।

आज सारा समाज स्वार्थ-साधन में लगा हुआ है और उसे राष्ट्रनिर्माण एवं उत्थान में सहायक होनेवाले साधनों की ओर कोई ध्यान नहीं है, सभी अपनी ही राग अलापते हैं। इस समय हम सभी महसूस करते हैं कि टण्डन जी इने-गिने चोटी के व्यक्तियों में से एक ऐसे महान् पुरुष थे, जो अपनी सेवा एवं त्याग द्वारा राष्ट्र को सबल बनाने में जुटे थे। उनके नेत्रों में चमक, पैरों में गति और हाथों में कुछ कर गुजरने की तड़प थी। उनका अटल विश्वास था कि कोई भी राष्ट्र मजबूत नहीं हो सकता जब तक उस राष्ट्र की अपनी भाषा न हो। चूँकि उनके विचार में भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी के अतिरिक्त दूसरी कोई भाषा नहीं हो सकती इसलिये उन्होंने भारत के उत्थान एवं एकीकरण के लिये तथा देश के स्वतंत्र व्यक्तित्व के लिये राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा को ही अपने जीवन का उच्च उद्देश्य माना था। हिन्दी के लिये आपकी निर्लिप्त साधना तथा तपस्या बहुत बड़ी थी।

हमारे बाबू जी में ऋषियों की सी साधना तथा वीरों की तरह गर्जना थी। अपने प्रखर व्यक्तित्व द्वारा आपने मूक रहनेवाले इस देश को वाणी प्रदान किया, अपने पथ से दूर भटकते हुये देश को आपने रास्ता दिखाया। विचारों की दृढ़ता देखिये! आपने कांग्रेस अध्यक्ष पद को भी त्याग दिया। मौलिक सिद्धान्तों की वेदी पर आपने बड़े से बड़े पदों एवं प्रलोभनों का बलिदान किया। नेहरू जी तो दूर रहे, आप गांधी जी से भी भिड़ गये। हिन्दी को लेकर गांधी जी से आपका बहुत बड़ा मतभेद हुआ था, यह बात हिन्दी जगत से छिपी नहीं है। वे बहुत बड़े साधक थे, साधक झुकना नहीं जानता, साधक समझौता कैसे करे ? स्वराज्य प्राप्ति के बाद नागरी लिपि को राष्ट्र लिपि और हिन्दी को राष्ट्रभाषा संविधान सभा द्वारा मनवा लेने में टण्डन जी

का बहुत बड़ा हाथ था। किन्तु अन्त तक एक कसक उनके दिल में बनी ही रही कि नागरी अंक सर्वथा स्वीकार नहीं हुए। राष्ट्र की उनकी भाषा विषयक-सेवा सदियों तक इतिहास में आदर की दृष्टि से देखी जायगी। हिन्दी-जगत् को एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपने राजर्षि पर गर्व है। वे हिन्दी के प्रश्न को स्वराज्य का प्रश्न समझते थे।

टण्डन जी की देशभक्ति अनुकरणीय है। वे भारत और भारतीयता के प्रतीक थे और भारतीय संस्कृति के पोषक थे। देखने में कठोर, ममताहीन और शुष्क किन्तु थोड़ा निकट जाने पर अत्यन्त कोमल, स्नेही और सहृदय। रहन-सहन में बाबू जी बहुत सादे थे। मोटे खादी की बनियाइन, कुर्त्ता, धोती और कपड़े या रबड़ की मामूली चप्पल या जूता पहनने के अतिरिक्त हाथ में एक मामूली छड़ी अक्सर लिये रहते थे। उनका सफर का सामान बहुत सूक्ष्म रहता था। जो व्यक्ति उनको नहीं जानता था वह उन्हें देखकर नहीं कह सकता था कि वे ही आदर्श एवं महान् पुरुष राजर्षि बाबू पुरुषोत्तमदास जी टण्डन हैं। गंभीर होते हुये भी बाबू जी कभी कभी मजाक कर बैठते थे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की एक स्थायी समिति की बैठक में जब मैं अपना पान का डब्बा लेकर पहुँचा तो मुझको देखते ही उन्होंने मुझको संबोधित करते हुये कहा कि "तुम्हारा यह डब्बा बड़ा जोवनदार है।"

भारतवर्ष में सदा ही जनता की श्रद्धा का पात्र वही रहा है जो त्यागी और तपस्वी हो। खेद है कि हम ऐसे तपस्वी, संत, महामानव एवं त्यागमूर्ति को भूल रहे हैं। आज देश और समाज बाबू जी का ऋणी है। युग की माँग है और हमारा कर्तव्य है कि हम राष्ट्रसेवी श्रद्धेय टण्डन जी को जो अब संसार में नहीं रहे और जिनकी आवश्यकता वर्तमान स्थिति में देश को अत्यधिक है, श्रद्धांजलि अर्पित करें और भारत के कल्याण के लिये उनके उपदेशों को कार्यरूप में परिणत करें।

श्री कालिदास कपूर

प्रातःस्मरणीय बाबूजी

आजकल पिता को पापा कहने का फैशन है। परन्तु मैंने पिता को बाबू जी कहना तब सीखा जब शिक्षित भारतीय बाबू जी कहे जाते थे। राजर्षि टंडन जी को मैं पितृ-तुल्य मानता रहा। अतएव जब मैं दर्शनार्थ पहुँचता, तो उनके चरण स्पर्श करता और मेरी बातें 'बाबूजी' से होतीं, 'टंडनजी' से नहीं।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र को आधुनिक हिन्दी के प्रथम प्रचारक की मान्यता प्राप्त है। इनके सम्पर्क से प्रभावित कुछ बनारसियों ने वाराणासी में नागरी प्रचारिणी सभा स्थापित की। इस सभा के प्रचार के लिए एक पत्रिका निकालनी प्रारम्भ की, जिसका नामकरण 'सरस्वती' हुआ और जिसके प्रथम संपादक श्यामसुंदरदास जी हुए। कुछ समय पश्चात् 'सरस्वती' सभा की मुख्य-पत्रिका नहीं रह गई। इंडियन प्रेस को पत्रिका का स्वामित्व प्राप्त हुआ तो महावीरप्रसाद जी द्विवेदी पत्रिका-संपादन में श्यामसुंदरदास जी के उत्तराधिकारी हुए।

संस्मरण लिखने ही बैठा हूँ। मेरे पिता कानपुर से अछनेरा तक मोटर गैस की रेलवे लाइन पर स्टेशन मास्टर की हैसियत से नियुक्त थे। कानपुर जिले के उत्तरीपुरा स्टेशन से मेरी पढ़ाई प्रारम्भ हुई। उन दिनों पढ़ाई के लिए उर्दू का बोलबाला था। परन्तु पिता जी शिवभक्त थे और रामचरितमानस का पाठ कियाकरते थे। इसलिये उनके आदेश से मुझे हिन्दी ही पढ़ाई गई। शीघ्र ही सीख गया, तो सरस्वती मेरे हाथ लगी और इस पत्रिका ने मुझे हिन्दी सिखाना प्रारम्भ कर दिया। पाँचवीं कक्षा से अंग्रेजी का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। परन्तु 'सरस्वती' ने मुझे पढ़ाना नहीं छोड़ा।

पिता जी ने मुझे शिक्षक और लेखक बनाने की कल्पना कभी नहीं की थी। उनके अनन्य मित्र मोहनलाल जी ने अपने पुत्र रघुनंदनलाल को लाहौर भेज कर चिकित्सक बना दिया था। पिताजी चाहते थे कि मैं लखनऊ में ही सन् १९११ से चालू होने वाले मेडिकल कालेज का प्रथम विद्यार्थी में बनूँ और पाँचवीं कक्षा से मेरा सहपाठी कालीसहाय निगम मेडिकल कालेज में भी मेरा साथी रहे।

परन्तु होनी दूसरी ही थी। पिता जी पक्षाघात के रोगी हुए, मैं उनकी सेवा में लगा और गृहभार ने मुझे मुदर्रिसी के लिए विवश किया।

हिन्दी-प्रेमी होने के कारण श्यामसुंदरदास जी के पूज्यनाम से परिचित था ही। मेरी

प्रसन्नता की कल्पना की जा सकती है, जब मैंने सुना कि श्यामसुंदरदास जी मेरे कालीचरण विद्यालय के प्राचार्य होकर लखनऊ आ रहे हैं।

हिन्दी का पाठक तो बाल्यकाल ही से था; परन्तु श्यामसुंदरदास जी जैसे नागरी प्रचारिणी सभा के जन्मदाता और प्रथम सेवक के संपर्क में आने पर हिन्दी-सेवा की प्रेरणा भी मुझे मिलने लगी। जयन्तियों और शताब्दी समारोह मनाने का फैशन है। श्यामसुंदरदास जी नागरी प्रचारिणी सभा के जन्मदाता थे, अपनी इस मानसिक आत्मजा का पालन-पोषण आजीवन करते रहे और सन् १९२१ से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष होकर इस विद्वान ने सर्वोच्च कक्षाओं में हिन्दी के पाठ्यक्रम बनाने की महान् सेवा की। इस विद्वान की जन्मशती सन् १९६७ में होती है। परन्तु प्रचार ही स्मृति का रक्षक है। यह श्यामसुंदरदास जी को नसीब नहीं हुआ, जिस कारण उनके शताब्दी समारोह की बात तो बहुत दूर, किसी को उनकी जन्म-जयन्ती मनाने की याद भी नहीं आयी।

इस विद्वान् के संपर्क में आने पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की सेवा का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ। सन् १९१४ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का पाँचवाँ अधिवेशन कालीचरण विद्यालय के प्रागंण में हुआ और साहित्य-प्रदशर्नी के प्रबन्ध की सेवा मुझे मिली।

सन् १९१५ में ग्रेजुएट हुआ और शिक्षकीय प्रशिक्षण के लिए एक वर्ष तक प्रयाग का प्रवासी रहा। तभी मुझे मालवीय जी, बाबू जी और नेहरू जी के दर्शन मिले। तिथि याद नहीं। परन्तु प्रथम दर्शन की याद है। तब बाबूजी दाढ़ी से मुक्त थे और उनकी मूछें कटी हुई थीं। स्थूल तो कभी थे ही नहीं परन्तु इतने दुर्बल भी नहीं थे जितने वे अवस्था बढ़ने पर हो गये थे।

सन् १९१६ के वसंतोत्सव के निकट काशी विश्वविद्यालय का शिलान्यास समारोह हुआ। प्रयाग के प्रशिक्षण महाविद्यालय का विद्यार्थी था। परन्तु पहुँचा तो वहाँ मुझे गांधी जी के दो बार दर्शन मिले। पहली बार, भरी सभा के मंच पर अंग्रेजी में मैंने उनका वह ओजपूर्ण प्रवचन सुना जिस के मध्य ही कई महाराजा मंच छोड़कर सभा से निकल गये और श्रीमती ऐनी बेसंट के आग्रह ही से वह पूरा हो सका। दूसरी बार, थोड़े-से श्रोताओं के मध्य मैंने इस महापुरुष का प्रवचन हिन्दी में सुना और हिन्दी के पक्ष में। तब इने-गिने भारतीय ही गांधी जी के भक्त थे। उनकी पहुँच भारतीय हृदय तक नहीं हुई थी।

लखनऊ के पश्चात् लगभग चार वर्ष तक उन्नाव जिले के गौंरावाँ ग्राम में प्रवास रहा। पढ़ाता रहा और पढ़ता भी। दिसम्बर १९१७ की सरस्वती में द्विवेदी जी का समालोचना-सत्कार शीर्षक लेख पढ़कर प्रतिक्रिया-रूप पत्रिका में प्रकाशनार्थ द्विवेदी जी की सेवा में एक लेख भेजा। इसका एकलक्ष्य रहा था। आचार्य जी ने पहली परीक्षा में मुझे उत्तीर्ण मान लिया। उनके आशीर्वाद मात्र से मेरी गिनती हिन्दी लेखकों में होने लगी।

सन् १९२१ में लखनऊ लौटा कालीचरण विद्यालय में श्यामसुंदरदास जी के उत्तराधिकारी की हैसियत से। तब तक यह नगर उत्तर प्रदेश का राजनैतिक तीर्थ हो गया था। मैं

राजनीति से अलग रहा और अभी तक हूँ। परन्तु स्वातंत्र्य-संघर्षरत राजनीतिज्ञों से संपर्क प्रारम्भ हुआ जिनमें बाबू जी मेरी शीर्षस्थ श्रद्धा के पात्र हुए।

यों तो बाबू जी की गणना कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं में थी। परन्तु हिन्दी-प्रचार उनकी रचनात्मक सेवा का प्रथम अंग था। मैं हिन्दी-भक्त था ही तो विद्यालय के अतिरिक्त अपने लिए सेवा के मुझे दो क्षेत्र मिले--शिक्षक संघों के माध्यम से शिक्षक वर्ग की सेवा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के माध्यम से हिन्दी-सेवा। शिक्षक वर्ग की सेवा के उपलक्ष में मुझे उत्तरप्रदेशीय बोर्ड आफ हाई स्कूल ऐंड इंटर मीडिएट एजुकेशन की सदस्यता मिली और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों में सम्मिलित होते रहने के कारण मेरा हिन्दी के विद्वानों से संपर्क बढ़ा। बाबू जी हिन्दी के कोई भारी विद्वान् नही थे। परन्तु प्रचार के अग्रणी थे और मुझे निर्माण से अधिक धुन प्रचार की थी। तो बाबू जी मेरे हिन्दी-भक्त-हृदय के सम्राट् बने।

प्रांतों को स्वराज्य मिलने पर पंतजी इस प्रदेश के मुख्यमंत्री हुए और बाबू जी प्रांतीय विधान सभा के अध्यक्ष हुए। बोर्ड में पंत जी का सहयोगी रह चुका था और विधान सभा की बैठकें, इसी नगर में हुआ करती थीं। तो दोनों महानुभावों से संपर्क के मौके मिलने लगे।

दुर्भाग्य वश एक और बाबू जी विधान सभा के अध्यक्ष हुए और दूसरी ओर उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। सन् १९३८ की बात है। कालीचरण विद्यालय के रजत-जयंती समारोह में बाबू जी आमंत्रित थे। उन्हें एक आयोजित भवन का शिलान्यास करना था। अस्वस्थ थे। परन्तु मेरा आग्रह उन्हें अस्वीकार नहीं करना था।

सन् १९३६ में मैंने जापान यात्रा की। एशिया के एक अग्रणी देश की शैक्षिक गतिविधि का अध्ययन करने के लिए। स्वातंत्र्य-संघर्ष चालू था। परन्तु भारतीय स्वतंत्रता मेरी कल्पना के बाहर थी। शीघ्र ही दूसरे महासमर की भूमिका बनने लगी। और उसके पश्चात् हमारी स्वतंत्रता, और विदेशी शासकों की भारतीय शासन के दायित्वों से मुक्ति प्राप्त करने की आतुरताएँ समान हुईं। हमें शांतिपूर्वक स्वतंत्रता-प्राप्त करने का गौरव प्राप्त हुआ, गांधी जी स्वर्गीय हुए और हिन्दी को भारतीय संविधान से राष्ट्रभाषा की मान्यता मिली।

ऐसे ही समय बाबू जी सरदार पटेल जी का सशक्त समर्थन पाने पर कांग्रेस अध्यक्ष के पद पर आरूढ़ हुए, तो मैंने निश्चय किया कि वैतनिक सेवा से मुक्ति लेकर बचा जीवन शिक्षक वर्ग के सहयोग से हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करने की सेवा में लगाऊँ।

परन्तु जिस हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के माध्यम से मैं यह सेवा करना चाहता था वह इन्हीं दिनों न्यायालय का वंदी हुआ। एक ओर सम्मेलन बंद हुआ, दूसरी ओर बाबू जी ने अध्यक्ष पद से मुक्ति प्राप्त करके हिन्दी के पक्ष में राष्ट्रीय शासन से संघर्ष प्रारम्भ किया। सन् १९५५ में उन्होंने मुझसे विश्वविद्यालयीय कक्षाओं के लिए पाठ्यपुस्तक निर्माण का दायित्व उठाने का

प्रस्ताव किया और अकेले इस भार को उठाने में मैंने अपने को अक्षम समझा, तो मैं अमरनाथ जी झा से मिला। वह प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति रह चुके थे और उन दिनों बिहार लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष थे, वह नेतृत्व के लिए राजी हुए, परन्तु योजना बन भी नहीं पायी कि वह स्वर्गीय हुए।

बाबू जी का स्वास्थ्य सन् १९३८ ही से बिगड़ने लगा था और लगभग सन् १९५६ से तो वह रोगशय्या ही पर पड़ गये। ऐसी हालत में मैं उनसे मिलने पहुँचा, तो उन्होंने मुझे केन्द्रीय शासन द्वारा न्यायालय से सम्मेलन को मुक्त कराने की सेवा सुपुर्द की। दिल्ली के लिए मेरी दौड़ होने लगी। अन्ततः जवाहरलाल जी को उनसे मिलने का बहाना मिला और बाबू जी के अनन्य भक्त लालबहादुर जी शास्त्री नेहरू जी के शीर्षस्थ सहयोगी थे ही, तो न्यायालय से सम्मेलन की मुक्ति का केन्द्रीय विधान बना और सम्मेलन को एक अस्थायी निकाय का नेतृत्व मिला। बाबू जी की मनोकामना पूर्ण हुई और वह स्वर्गीय हुए।

श्री वाचस्पति गैरोला

हिन्दी-संग्रहालय में राजर्षि-कक्ष

हिन्दी संग्रहालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थायी निधि है। इस संग्रहालय में मुद्रित पुस्तकों, हस्तलिखित ग्रन्थों और पत्र-पत्रिकाओं आदि से संवद्ध लगभग सवा लाख ज्ञान-सामग्री सुरक्षित है। यह भव्य, विशाल एवं दर्शनीय ज्ञान-प्रतिष्ठान राजर्षि टंडन जी की कल्पना का साकार रूप है।

इस संग्रहालय के विभिन्न कक्षों में 'राजर्षि कक्ष' का भी एक नाम है। इस कक्ष की स्थापना सन् १९५० ई० में हुई थी। वर्तमान संग्रहालय-भवन तैयार हो जाने के पूर्व ही टंडन जी ने संग्रहालय के लिए सामग्री संचित करनी आरम्भ कर दी थी; और इस प्रकार उनके द्वारा संग्रहालय की समृद्धि में निरन्तर योगदान प्राप्त होता रहा। किन्तु उनके नाम से जिस कक्ष की स्थापना की गयी है, उसमें प्रायः उन्हीं के व्यक्तित्व से सम्बन्धित सामग्री सुसज्जित की गयी है। विभिन्न स्थानों से समय-समय पर उन्हें छोटी-बड़ी जो वस्तुएँ प्राप्त हुई, उन्हें उन्होंने सम्मेलन को भेंट स्वरूप दे दिया। राजर्षि जी के व्यक्तित्व से सम्बद्ध इस सामग्री को तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया है।

प्रथम वर्ग में उस बहुमूल्य सामग्री को रखा गया है, जो हाथीदाँत, रजत तथा कांस्य आदि से निर्मित है और जो कलात्मक एवं दर्शनीय है। २७ दिसम्बर, सन् १९४९ ई० को हैदराबाद राज्य हिन्दी-सभा द्वारा राजर्षि टंडन को एक अशोक-स्तम्भ भेंट किया गया था। धातु-निर्मित यह स्तम्भ एक पेटी में सुरक्षित है। मूल्यवान् होने के साथ-साथ वह अत्यन्त भव्य भी है। इसी प्रकार संवत् २००७ वि० में कलकत्ता खत्री समाज द्वारा हाथीदाँत से निर्मित अशोक-स्तम्भ भी राजर्षि कक्ष की बहुमूल्य सामग्री का अंग है। जिस समय राजर्षि टंडन जी कांग्रेस अध्यक्ष थे, उस समय जयपुर नगरपालिका ने उन्हें जयपुर नगर के ऐतिहासिक एवं प्रसिद्ध स्थानों के दृश्यों से युक्त एक गोलाकार कॉस्पयम भेंट किया था, जो कि कलात्मक काष्ठ के फ्रेम पर व्यवस्थित है और जिसको देखकर उसके निर्माता शिल्पियों की कला-कुलशता के प्रति सहसा प्रशंसा के उद्गार फूट निकलते हैं। इसी प्रकार १४ जुलाई, १९५१ ई० को बंगलोर सिटी कारपोरेशन द्वारा प्रदत्त चन्दन-मंजूषा, ६ जुलाई, १९५५ ई० को रेलवे स्पोर्टस स्टेडियम, इलाहाबाद की ओर से भेंट रजत पात्र, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस वर्ग की लगभग ३८ प्रकार की विभिन्न वस्तुएँ राजर्षि-कक्ष में व्यवस्थित हैं।

द्वितीय वर्ग में उन विभिन्न वस्तुओं की गणना की गयी है, जिनका ऐतिहासिक महत्व हैं और जिनके द्वारा राजर्षि टंडन जी की स्मृति सजीव हो जाती है। इस सामग्री में उनकी चित्रावली का विशेष स्थान है। लगभग सात वर्ष की अवस्था से लेकर दिवंगत होने तक, विभिन्न अवस्थाओं के चित्र उक्त कक्ष में सुसज्जित हैं। इनके अतिरिक्त उनके राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन से सम्बद्ध अनेक सामूहिक चित्र भी इस सामग्री में सम्मिलित हैं। इन चित्रों के द्वारा जहाँ एक ओर टंडन जी की स्मृति साकार हो उठती है, वहीं दूसरी ओर उनके जीवन के ऐतिहासिक विकास-क्रम तथा उनके महान् कार्यों का भी निर्धारण होता है।

सामाजिक तथा शैक्षिक संस्थानों से राजर्षि टंडन जी को समय-समय पर सर्वोच्च सम्मानित उपाधियों से विभूषित किया गया। उन्हें 'राजर्षि' की उपाधि के अवसर पर जिन वस्त्रों को पहनाया गया था, वे भी राजर्षि कक्ष में सुरक्षित रखे गये हैं। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रदत्त 'डॉक्टर ऑफ लेटर्स' के उपाधिपत्र तथा उस समय धारण किये गये 'गाउन' भी उनके स्मृतिचिह्नों के रूप में वर्तमान हैं।

राजर्षि कक्ष में सुरक्षित टंडन जी के दाँतों का सेट, चश्मा, कलमदान, उनकी लेखनी, टेबुल घंटी और छड़ी आदि सामग्री को देखकर उनकी पुण्यस्मृति आज भी पुर्नजीवित हो जाती है। इस सामग्री को देखकर उनके जीवन की सात्विकता, पवित्रता और निर्भीकता आदि अनेक उच्चत्तम मानवीय सद्गुणों की स्मृति ताजी हो जाती है। राजर्षि कक्ष की इस सामग्री में कुछ स्मृतिचिह्न ऐसे भी हैं, जो टंडन जी से सम्बद्ध नहीं हैं, किन्तु जिनका बहुत बड़ा महत्व है। स्वर्गीय अब्बास तैय्यब की छड़ी, रूमाल, झब्बा; प्रो० कर्वे की छड़ी तथा मृत्तिका पात्र और स्वर्गीय बाल गंगाधर तिलक का छाता इसी प्रकार की सहेजनीय सामग्री है, जिसे टंडन जी ने बड़े यत्न से सम्मेलन संग्रहालय के लिए प्राप्त किया था। उनके द्वारा संगृहीत ये वस्तुएँ भी राजर्षि कक्ष में ही व्यस्थित हैं। इन वस्तुओं की सख्या ७२ के लगभग हैं।

टंडन जी के महान् एवं असहज व्यक्तित्व की परिचायक अधिकतर वस्तुएँ उनके जीवन-काल में ही विभिन्न व्यक्तियों के हाथों में चली गयीं, जिनका कि कुछ भी पता न चल सका। किन्तु सम्मेलन के प्रयत्न से जितनी वस्तुएँ संचित एवं सुरक्षित हो पायीं उनका यदि विधिवत् अध्ययन-अनुशीलन किया जाय तो उनसे उनके दृढ़व्रती एवं अथक अध्यवसायी जीवन के अज्ञात तथ्यों को प्रकाश में लाया जा सकता है।

टंडन जी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। सामाजिक, राजनीतिक' धार्मिक और साहित्यिक, सभी क्षेत्रों में उन्हें अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त थी। राजर्षि कक्ष में सुसज्जित एवं सुरक्षित लगभग पौने चार सौ अभिनन्दन पत्रों को देखकर उनके प्रति अगाध लोक-भावना का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। देश के प्रायः सभी अंचलों और वर्गों से ये अभिनन्दन-पत्र टंडन जी को प्रदान किये गये हैं। वे न केवल हिन्दी में, अपितु संस्कृत, उर्दू, बंगला, तमिल, तेलुगु और मलयालम आदि अनेक भाषाओं में हैं। इस दृष्टि से राजर्षि टंडन जी इस राष्ट्र की भावनात्मक

एकता के प्रतीक थे। देश के सभी वर्ग के लोगों और समस्त भाषा-भाषियों की उनमें अगाध निष्ठा थी।

हिन्दी-संग्रहालय को टंडन जी हिन्दी-जगत् का एक अनुपम एवं आदर्श शोध-संस्थान बनाना चाहते थे। इस दृष्टि से उनके द्वारा विभिन्न व्यक्तियों से बहुमूल्य मुद्रित तथा हस्त-लिखित ग्रन्थ संग्रहालय को प्राप्त होते रहे। इस प्रकार की जो भी सामग्री उन्हें उपलब्ध होती थी उसे वे संग्रहालय में रखने के लिए दे देते थे, जिससे कि अध्येता उसका उपयोग कर सकें। उन्हीं की प्रेरणा का परिणाम है कि हिन्दी-संग्रहालय सम्प्रति समस्त हिन्दी शोधार्थी विद्वानों एवं अध्येताओं का आकर्षण केन्द्र बना हुआ है।

विभिन्न व्यक्तियों को समय-समय पर लिखे गये टंडन जी की हस्तलिपि के लगभग दस पत्र संग्रहालय की सहेजनीय निधि हैं। उनके इन पत्रों को देखकर उनका एकनिष्ठ हिन्दी प्रेम प्रकट होता है। इन पत्रों से उनके भाषा-वैभव का भी पता चलता है। उनके इन पत्रों में सुरक्षित उनकी हस्तलिपि सुदूर भविष्य तक पाठकों एवं अध्येताओं को प्रेरणाप्रद सिद्ध होगी।

इस प्रकार सम्मेलन संग्रहालय का 'राजर्षि कक्ष' राजर्षि पुरूषोत्तमदास टंडन से सम्बद्ध सामग्री का एकमात्र प्राप्ति-स्थान है। इस कक्ष में अधिकाधिक सामग्री के संग्रह के लिए सम्मेलन निरन्तर प्रयत्नशील है। किन्तु उन हिन्दी प्रेमी महानुभावों से हमारा विशेष अनुरोध है, जिनके पास इस प्रकार की कोई छोटी-बड़ी सामग्री सुरक्षित हो, तो वे उसे राजर्षि-कक्ष के लिए देने की कृपा करें।

श्री भवानीप्रसाद गुप्त

राजर्षि टण्डन जी : एक जीवन-झांकी

हिमालय की भाँति अपने सिद्धान्तों पर अडिग नेता किसी भी देश को बड़े सौभाग्य तथा पुण्य-प्रताप से मिलते हैं। भारतीय संस्कृति के तो वह अनन्य उपासक थे। उनके रोम-रोम से भारतीय संस्कृति प्रतिध्वनित होती थी। त्याग, संयम, क्षमा, दया, सेवा, सहिष्णुता आदि इनके दैवी गुण थे। आचार्य विनोबा भावे का कहना है कि--"टंडन जी की सत्यनिष्ठा उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी। उन्होंने राजनीति में भी असत्य का सहारा नहीं लिया।" संत विनोबा ने अपने एक पत्र में यह भी लिखा था कि--"राजर्षि टंडन जी की विविध सेवाओं को कौन नहीं जानता पर उन्होंने जितनी सेवायें की उन सबमें मेरी निगाह में, बड़ी सेवा यह है कि जो नैतिक मूल्य उन्होंने माने उन पर वे हर हालत में डटे रहे। यह गुण इन दिनों कुछ दुर्लभ हो गया है।"

महात्मा गांधी ने टंडन जी की प्रशंसा करते हुये लिखा था कि--"ऐसी ही पुरुषों के त्याग और साहसपूर्ण कार्यों से राष्ट्र का निर्माण होता है।"

राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने कहा है कि--"टंडन जी का व्यवितत्व इतना बड़ा है कि वह राजनीति और साहित्य की परिधि में समा ही नहीं सकता, सामाजिक जीवन के जिस पहलू से भी उनका संबंध रहा है उसी को उन्होंने समृद्ध किया है। सार्वजनिक जीवन में पदार्पण करने के बाद टंडन जी जिन सिद्धान्तों का अनुसरण करते रहे हैं, उनमें से अधिकांश आज भी आदर्श रूप में सर्वमान्य हैं। उनके नेतृत्व से सदा सदाचरण और नैतिकता के पक्ष को समर्थन मिला है।"

पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है--"जो भी व्यक्ति टंडन जी के सम्पर्क में आये, सबने उनसे कुछ न कुछ सीखा। यह महापुरुषों की निशानी है। जो उनसे मिले, लेकर गये। हमने भी उनसे लिया ,जिससे दिल और दिमाग की दौलत बढ़ी। वह ऐसे व्यक्ति थे जो अपने सिद्धान्तों पर अटल स्तम्भ की तरह डटे रहे हैं। वे मेरे बड़े भाई थे।"

डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने लिखा है कि--"टंडन जी स्वतंत्रता-संग्राम के निर्भय सेनानी और हमारी संस्कृति के मूलभूत मूल्यों में अदम्य विश्वास रखनेवाले रहे हैं।"

देश की अनेक महापुरुषों तथा विद्वानों ने राजर्षि टंडन के गुणों की प्रशंसा करते हुये उनकी महानता स्वीकार की है।

माँ-भारती तथा हिन्दी के अनन्य पुजारी, देवतुल्य राजर्षि टंडन के जीवन की प्रत्येक कहानी दीपक की भाँति हमें प्रकाश और प्रेरणा देनेवाली है। राजर्षि टंडन जी के जीवन के अनेक पहलू हैं। उनका जीवन और संस्मरण चिरस्मरणीय है। टंडन जी का एक-एक कार्य संस्मरण बन गया है। उनके अनेक संस्मरण जन-संबंधित हैं और जो सुविख्यात हैं। किन्तु कुछ अमूल्य संस्मरण ऐसे भी हैं जिन्हें अभी तक कुछ विशेष व्यक्ति ही जानते हैं। वे निजी और पारिवारिक हैं, कष्टमय तथा दुखद हैं किन्तु हैं बहुत ऊँचे। इतने ऊँचे जहाँ पहुँच कर बुद्धि चक्कर काटने लगती, है और यह निर्णय करना अत्यंत कठिन हो जाता है कि टंडन जी कौन हैं, क्या हैं और कैसे हैं ?

टण्डन जी का जन्म

तीर्थराज प्रयाग के अहियापुर मुहल्ले में अधिकांश-खत्री परिवार के लोग रहते हैं। श्री फ़क़ीरचन्द टंडन का भी निवासस्थान इसी मुहल्ले में था। इनके तीन पुत्र थे। श्री सालिग-राम टंडन, श्री अनंतराम टंडन और श्री मूलचन्द टंडन। श्री अनंतराम टंडन से पाँच पुत्र, दो पुत्रियाँ और श्री मूलचन्द टंडन से तीन पुत्र और एक पुत्री पैदा हुई। सबसे बड़े भाई श्री सालिग-राम टंडन के घर में संवत् १९३९ विक्रमी के श्रावण मास शुक्ल पक्ष द्वितीया, तिथि मंगलवार तदनुसार १ अगस्त १८८२ ई० को टंडन जी का जन्म हुआ। श्रावण का यह महीना पुरुषोत्तम मास था, इसलिये बालक का नाम भी पुरुषोत्तमदास रखा गया। जन्म के पूर्व इनके दो भाई-बहिनों का निधन हो चुका था। इनके एक छोटे भाई और एक बहिन भी थी। विवाह के उपरांत बहिन का स्वर्गवास हो गया और छोटे भाई श्री राधेनाथ टंडन एम-एस० सी० उपाधि प्राप्त करने के बाद स्थानीय सी० ए० वी० कालेज में साइंस का अध्यापन-कार्य करते थे। अभी हाल में उनका देहावसान हुआ है। ये प्रतिभावान् पुरुष थे। दिमागी बीमारी के कारण इन्हें असमय में ही अध्यापन-कार्य छोड़ना पड़ा था। इनका तथा इनके एकमात्र पुत्र दीनानाथ टंडन का बड़े भाई टंडन जी के ऊपर सब भार आ पड़ा था। दीनानाथ जी आजकल लखनऊ सचिवालय में एक अच्छे पद पर कार्य करते हैं।

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन के पिता श्री सालिगराम टंडन प्रयाग के एकाउण्टेण्ट जनरल आफिस में नौकर थे। घर की स्थिति साधारण थी। श्री सालिगराम जी राधास्वामी संप्रदाय के एक निष्ठावान् सत्संगी थे। सत्संग में आप 'प्रेमसरन' के नाम से विख्यात थे। आप अत्यंत सरल, सौम्य स्वभाव के सत्यनिष्ठ पुरुष थे। बालक टंडन जी पर आपके पिता जी के गुणों, विशेषकर सत्यता की छाप पूर्णरूप से पड़ी थी।

बाल्यकाल

टंडन जी का बाल्यकाल बड़े लाड़-प्यार से बीता। शैशव काल में ही उनकी प्रतिभा का चमत्कार दिखाई देने लगा। साहस और दृढ़ता तो बाल्यकाल में ही निखर पड़ी। कुशाग्र-

बुद्धि और विलक्षण प्रकृति उनकी विशेषता थी। अपने समवयस्कों से उनका मेल नहीं खाता था। वे सबको छापे रहते थे। चाहे वह कार्य-कुशलता में हो, चाहे हाथापाई में, वह पीछे हटने वाले नहीं थे। उन्हें इसकी परवाह नहीं होती थी कि किसी काम को करने में वे अकेले हैं। एक दिन की बात है—टंडन जी अपने सहपाठियों के साथ सिविल लाइन्स घूमने गये। इलाहाबाद का यह मुहल्ला उस समय भी बहुत सुन्दर माना जाता था। अधिकांश बंगले यहाँ अंग्रेजों के थे। अंग्रेजों के बच्चे ही वहाँ अधिकतर घूमते-फिरते नजर आते थे। वहाँ पहुँचने पर टंडन जी और उनके साथियों की अंग्रेज लड़कों से किसी बात पर मुठभेड़ हो गई। मारपीट जब हो ही रही थी कि अंग्रेज लड़कों के एक दूसरे दल ने इन्हें ललकारा। टंडन जी के साथी डरकर भागने लगे किन्तु १० वर्षीय टंडन जी निर्भयता पूर्वक वहीं खड़े रहे। वे लोग कई थे, ये अकेले थे, मगर टंडन जी उस समय तक मैदान में डटे रहे जब तक अंग्रेज लड़कों का वह दल वहाँ से भाग नहीं गया। बाद में टंडन जी ने अपने साथियों की कायरता के लिये बड़ी भर्त्सना की।

टण्डन जी की शिक्षा-दीक्षा

बाल्यकाल में टंडन जी की शिक्षा एक मौलवी साहब के द्वारा आरंभ कराई गई। मौलवी साहब का बालक टंडन पर अगाध प्रेम था, वह इन पर पुत्रवत् स्नेह रखते थे। बड़ी रुचि और मेहनत से पढ़ाते थे। टंडन जी भी मौलवी साहब पर पूर्ण श्रद्धा रखते थे। आरंभिक शिक्षा समाप्त करके जब यह स्कूल में भरती हुये तब भी वह अपने आदि गुरु मौलवी साहब का उतना ही आदर करते थे। जीवनपर्यंत मौलवी साहब के प्रति उनकी श्रद्धा बनी रही। जीवन में जब कभी प्रसंग आता तब वह मौलवी साहब के प्रति आदर और सम्मान प्रकट करते थे।

टंडन जी बचपन से ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। स्कूल के सर्वश्रेष्ठ छात्रों में उनकी गणना होती थी। प्रतिभावान् छात्र होने के कारण यह अध्यापकों की कृपा के विशेष पात्र बन गये थे। खेल-कूद में भी टंडन जी की विशेष रुचि थी। सांस्कृतिक तथा शारीरिक कार्यक्रमों में भी यह प्रमुख रूप से भाग लेते थे। सी० ए० वी० स्कूल से आपने मिडिल परीक्षा और गवर्नमेन्ट हाई स्कूल से हाई स्कूल-परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् इनका नाम कायस्थ पाठशाला इन्टर कालेज में लिखाया गया।

टण्डन जी का विवाह

सन् १८९७ ई० में टंडन जी ने हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। इन दिनों इनकी उम्र १५ वर्ष की थी। इनके माता-पिता ने इन्हें इतनी छोटी आयु में ही वैवाहिक बंधन में बाँध दिया। अभी इनके विद्याध्ययन का समय था। बहुत ऊँची शिक्षा प्राप्त करने की अभिलाषा थी, फिर भी माता-पिता और परिजनों ने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया।

टंडन जी इस छोटी आयु में गृहस्थ-जीवन में फँस तो गये किन्तु वैवाहिक-बंधन से इनकी शिक्षा और भविष्योन्नति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, यह टंडन जी के सच्चरित्र, संयम और

सदाचरण की विशेषता थी और उसी का यह फल था कि उनकी शिक्षोन्नति और विचारोन्नति में किसी तरह की बाधा नहीं पड़ी।

सहयोगिनी धर्मपत्नी

वैवाहिक बंधन में बँधने के बाद भी टंडन जी की शिक्षा निर्विघ्न चलती रही और अपने इच्छित कार्यों की ओर वह अग्रसर होते रहे, इसमें टंडन जी के चरित्र, संयम और कर्त्तव्य का बल तो था ही किन्तु टंडन जी की धर्मपत्नी श्रीमती चंद्रमुखी देवी (बहुआ) उनकी पूर्ण सहयोगिनी थीं। अल्पशिक्षित होने पर भी उन्हें उच्च कर्त्तव्य का पूरा ज्ञान था। इन्होंने टंडन जी के स्वभाव का अध्ययन थोड़े ही समय में कर लिया था, इसलिये उनकी इच्छा के अनुकूल वह आचरण करती थीं, यही नहीं—शिक्षाप्राप्ति में वह टंडन जी को बराबर प्रोत्साहित किया करती थीं और उनकी हर प्रकार की सुविधा का ध्यान रखती थीं। बहुआ ने अपने सभी विचारों और इच्छाओं को टंडन जी में केन्द्रित कर दिया था।उनके सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझती थीं। शिक्षाप्राप्ति और कर्त्तव्य-पालन में टंडन जी को अपनी धर्मपत्नी से बराबर प्रोत्साहन मिलता रहा। १४ वर्ष की अपनी धर्मपत्नी से जो सहयोग मिलना प्रारंभ हुआ उससे टंडन जी बहुत संतुष्ट थे। घरेलू झंझटों से बहुआ ने टंडन जी को मुक्त रखने का बराबर प्रयत्न किया, ताकि उनको शिक्षा-प्राप्ति में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। सन् १८९९ ई० में टंडन जी ने कायस्थ पाठशाला इंटर कालेज से इंटर परीक्षा में सफलता प्राप्त की।

उच्च शिक्षा

बी० ए० की शिक्षा प्राप्ति के लिये टंडन जी ने प्रयाग की प्रसिद्ध संस्था म्योर सेन्ट्रल कालेज में नाम लिखाया। इस कालेज की उत्तर भारत में बड़ी ख्याति है। यहाँ से अनेक छात्र ऐसे निकले हैं जो आज देश और समाज की सेवा में अग्रणी स्थान प्राप्त कर चुके हैं। इस कालेज ने देश-सेवा के लिये कई चोटी के नेताओं को देकर अपनी कीर्ति अमर कर ली है। विभिन्न विषयों के कई प्रकांड पंडित भी इस कालेज की देन हैं। कालेज में प्रवेश लेकर टंडन जी ने अपनी पढ़ाई सुचारु रूप से प्रारंभ की। इनकी गिनती कालेज के अच्छे छात्रों में थी। खेल-कूद में आपकी बड़ी रुचि थी। क्रिकेट का बहुत शौक था। छात्रों के कार्य-कलापों में टंडन जी क्रियात्मक सहयोग देते थे। उनपर उनकी धाक थी। कालेज के छात्र टंडन जी को अपना नेता मानते थे।

कालेज की पढ़ाई का इनका दूसरा वर्ष चल रहा था, इसी समय इनको एक बहुत बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा। मिस्टर हिल कालेज के एक अंग्रेज प्रोफेसर थे, टंडन जी का इनसे संघर्ष हो गया, जिसके कारण यह कालेज से एक वर्ष के लिये रिस्टीकेट कर दिये गये। इनके ऊपर अनुशासन-हीनता का आरोप लगाया गया। छात्र-जीवन का यह संघर्ष टंडन जी की बहादुरी तथा निर्भीकता की एक कहानी बन गया। घटना संक्षेप में इस प्रकार है—टंडन जी अपने समय में क्रिकेट टीम के कप्तान और

खेल-कूद-कमेटी के मंत्री थे। इन्हीं दिनों कालेज में प्रान्तीय व्यायाम प्रतियोगिता होनेवाली थीं जिसके प्रबंधक कालेज के प्रोफेसर मिस्टर हिल थे। इन्होंने अपनी सहायता के लिये पुलिस का प्रबंध किया था। मैच के अवसर पर पुलिस के एक सिपाहीने एक छात्र के साथ दुर्व्यवहार किया। टंडन जी को यह बात असह्य हो गई और इन्होंने पुलिस की अच्छी मरम्मत की। रात्रि में छात्रों की एक मीटिंग में यह निर्णय हुआ कि मिस्टर हिल ने पुलिस द्वारा एक छात्र का अपमान किया है। यह उस छात्र का नहीं हम सभी छात्रों का अपमान है। हमें इसका बदला लेना ही है। फिर क्या था—दूसरे दिन कई सौ छात्रों ने हड़ताल कर दी और टंडन जी के नेतृत्व में यह माँग रखी कि जब तक म्योर कालेज से हिल को निकाल नहीं दिया जाता, तब तक हम लोग इस खेल-कूद में भाग नहीं लेंगे। छात्रों के इस निर्णय से मिस्टर हिल परेशानी में पड़ गये। स्थिति को संभालने का प्रयत्न कालेज के अंग्रेज प्रिंसिपल ने किया। इन्होंने छात्रों तथा उनके नेता टंडन जी को आश्वासन दिया कि मिस्टर हिल को खेल-कूद के मैदान से अलग कर दिया गया है। मैं स्वयं वहाँ उपस्थित रहूँगा। आप लोग हड़ताल बन्द कर दीजिये और खेल-कूद में भाग लीजिये। टंडन जी ने निर्भीकता से कहा—जब तक हम लोगों की माँगें पूरी नहीं होंगी, हड़ताल समाप्त नहीं हो सकती। प्रिंसिपल का प्रयत्न निष्फल गया। हड़ताली छात्र अपने निश्चय पर और प्रिंसिपल तथा कालेज के अन्य अधिकारी अपने निश्चय पर अड़े रहे। अंत में हड़तालियों के नेता टंडन जी पर अनुशासनहीनता का आरोप लगाकर उन्हें १ वर्ष के लिये रिस्टीकेट कर दिया गया। टंडन जी ने अधिकारियों के सम्मुख सिर नहीं झुकाया। दंड भोग लिया। किन्तु अपने आतमसम्मान पर आँच नहीं आने दिया । कालेज के अधिकारी चाहते थे कि यदि टंडन जी पश्चाताप प्रकट कर दें तो उन्हें क्षमा किया जा सकता है किन्तु टंडन जी पहाड़ की तरह अडिग रहे। टंडन जी की इस बहादुरी और निर्भयता ने कालेज के अंग्रेज शासकों पर भारतीय छात्रों की धाक जमा दी।

पिता जी का स्वर्गवास

इन्हीं दिनों टंडन जी के पिता बाबू सालिगराम टंडन का स्वर्गवास हो गया। पिता जी के असामयिक स्वर्गवास से टंडन जी को महान् कष्ट हुआ, शिक्षा-प्राप्ति का प्रोत्साहन धुंधला पड़ गया, फिर भी टंडन जी ने अपना साहस और धैर्य नहीं छोड़ा, अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं हुये। कच्ची गृहस्थी उस पर विद्यार्थी अवस्था, कितनी दुखद समस्या थी किन्तु पुरुषार्थी टंडन जी ने आई हुयी कठिनाइयों का साहस के साथ सामना किया। इन परिस्थितियों में टंडन जी का सारा भार इनके चाचा डाक्टर मूलचन्द टंडन ने उठाया। यह प्रयाग के अच्छे डाक्टरों में थे, अच्छी ख्याति थी। टंडन जी इन्हें पिता-तुल्य ही मानते थे। डाक्टर साहब का भी टंडन जी पर पुत्रवत् स्नेह था। इन्होंने पिता का अभाव खटकने नहीं दिया। शिक्षा-प्राप्ति में इन्होंने भरपूर सहायता की।

छात्र-जीवन में अनेक दुखों और कठिनाइयों से संघर्ष करते हुये टंडन जी ने सन् १९०४ में बी० ए० और सन् १९०६ में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष से आपने अदालत (लोअर कोर्ट) में वकालत करना भी आरंभ कर दिया। सन् १९०७ में एम० ए० की उपाधि भी प्राप्त कर ली और सन् १९०८ में इलाहाबाद हाईकोर्ट में प्रेक्टिस करने लगे। इस समय टंडन जी की अवस्था लगभग २६ वर्ष की थी।

टण्डन जी की १२ वर्ष की वकालत

वकालत पास करने के बाद सीधे ही टंडन जी ने वकालत आरंभ कर दी थी। दो वर्ष तक इन्होंने छोटी अदालत (डिस्ट्रिक्ट कोर्ट) में वकालत की। सबसे पहला केस जो टंडन जी ने लिया वह था उर्दू 'स्वराज्य' के संपादक महात्मा शांति नारायण का। इनके अग्रलेखपर सरकार ने इन पर मुकदमा चलाया था। बड़ी निर्भीकता से टंडन जी ने इस केस को लड़ा। इसके बाद तो क्रांतिकारियों का कोई मुकदमा ऐसा न होता जिसमें टंडन जी सफाई पक्ष की ओर से पैरवी न करते।दो वर्ष के बाद टंडन जी हाईकोर्ट में प्रेक्टिस करने लगे। प्रतिभावान् और परिश्रमी टंडन जी ने हाईकोर्ट में पूरी सफलता प्राप्त की। वकालत अच्छी चल निकली। वह न तो झूठे मुकदमे लेते थे और न झूठी पैरवी करते थे। मुकदमे की सच्चाई की छानबीन वह पहले स्वयं करते थे। यदि उन्हें उसमें सच्चाई की झलक मिली तो वह उसे स्वीकार करते थे वरना वापस कर देते थे। वह इस संबंध में विख्यात हो गये थे, अतः झूठे मुकदमे उनके पास आते ही नहीं थे। वकालत के कार्य में सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि टंडन जी ने इस पेशे में भी अपने आदर्श-चरित्र और सत्यता का परित्याग नहीं किया, बल्कि अपने साधु-स्वभाव और दयालुता का यह बराबर परिचय देते रहे। जिस मुवक्किल की दयनीय दशा होती उसका मुकदमा टंडन जी मुफ्त लड़ते या उससे शुल्क कम लेते थे। राष्ट्रीय, क्रांतिकारी तथा सामाजिक मुकदमों में तो टंडन जी आवश्यकता पड़ने पर अपने पास से भी धन लगा देते थे। यही कारण था कि वकालत के क्षेत्र में भी टंडन जी की महानता चारों ओर फैल गई और वह थोड़े ही दिन में चमक उठे।

हाईकोर्ट के जज भी टंडन जी का सम्मान करते थे। वे उनकी प्रतिभा, सच्चाई, दयालुता, स्पष्टवादिता तथा निश्छल जीवन से काफी परिचित हो गये थे। टंडन जी के स्वाभिमान और सत्यता का एक विख्यात संस्मरण है—

एक बार किसी मुकदमे में न्यायाधीश बनर्जी के इजलास में टंडन जी ने पैरवी की। किसी कानूनी नुक्ते की सफाई के लिये मामला दो न्यायाधीशों के बेंच के समक्ष भेज दिया गया। इस बेंच के एक जज जस्टिस रिचार्डस भी थे। इनका स्वभाव बहुत उग्र था। सभी एडवोकेट इनसे घबराते थे। बहस के दौरान टंडन जी ने कहा कि—"मैंने इस प्रश्न पर न्यायाधीश बनर्जी के इजलास में प्रकाश डाला था।" जस्टिस रिचार्डस ने तुरन्त उत्तर दिया—"जस्टिस बनर्जी की आज्ञा में इस बात का कहीं उल्लेख नहीं है कि आपने यह प्रश्न उनके समक्ष रखा था।" टंडन

जी ने तुरन्त रोषपूर्ण स्वर में उत्तर दिया--"मी लार्ड ! यहाँ मैं अपने मुवक्किल की तरफ़ से बहस करने के लिये खड़ा हुआ हूँ--मैं इसलिये यहाँ नहीं खड़ा हुआ हूँ कि आप मेरी सत्यवादिता की परीक्षा लें, जब मैंने यह बात कही है तो वह ध्रुव सत्य है और सोच समझकर मैंने कही है।"

प्रयाग के प्रमुख वकीलों में आपकी गणना थी। इन दिनों महामना मालवीय जी तथा सर तेजबहादुर सप्रू हाईकोर्ट में प्रेक्टिस करते थे तथा टंडन जी से वरिष्ठ थे, महामना मालवीय से वकालत में टंडन जी को पर्याप्त सहायता मिलती थी। मालवीय जी का इन पर अगाध स्नेह था। ६ साल हाईकोर्ट में प्रेक्टिस करने के बाद सन् १९१४ में महामना। मालवीय के आग्रह से टंडन जी हाईकोर्ट की वकालत छोड़ कर नाभा राज्य में कानून-मंत्री के पद पर चले गये। अपनी योग्यता तथा परिश्रम से थोड़े ही दिनों में आपने विदेश मंत्री का भी भार संभाल लिया। और प्रजा के प्रिय बन गये। नाभा स्टेट की नैतिकता को उच्च स्थान दिलाने से इन्होंने अच्छी लोकप्रियता प्राप्त की।

हिन्दी-सेवा की लगन टंडन जी में विद्यार्थी अवस्था से ही थी। उनके इस कार्य में न तो विद्यार्थी अवस्था की पढ़ाई बाधक हो सकती थी, न वकालत और न किसी ऊँचे पद की लालच। नाभा स्टेट में जब टंडन जी विदेश मंत्री थे, उसके बहुत पूर्व सन् १९१० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना महामना मालवीय द्वारा हो चुकी थी और टंडन जी तब से उसके प्रधान मंत्री होते आ रहे थे। सोते-जागते, उठते-बैठते, उन्हें हिन्दी के प्रचार-प्रसार की चिन्ता बनी रहती थी। हिन्दी के कार्यों से उन्हें कोई भी विमुख नहीं कर सकता था। महाराज नाभा ने उनके इस कार्य में बाधा उपस्थित की, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के एक अधिवेशन में उन्हें जाना आवश्यक था किन्तु महाराज नाभा ने उन्हें अवकाश नहीं दिया। फिर क्या था--टंडन जी तुरन्त त्याग-पत्र देकर अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिये नाभा छोड़ कर चल दिये। नाभा में आने के बाद टंडन जी की आर्थिक अवस्था बहुत अच्छी हो गई थी किन्तु उन्होंने न तो अपने वर्तमान समय की सुख-सुविधा की कोई परवाह की और न भविष्य की। हिन्दी-सेवा के लिये वह अपना सर्वस्व अर्पण करने में तनिक भी नहीं हिचके। सन् १९१६ में टंडन जी ने नाभा से अपना संबंध विच्छेद कर लिया। और प्रयाग चले आये। तदनन्तर महाराजा नाभा स्वयं प्रयाग आये और टंडन जी से नाभा चलने का बहुत आग्रह किया, किन्तु टंडन जी ने जाना स्वीकार नहीं किया। टंडन जी ने हाईकोर्ट में पुनः वकालत आरंभ कर दी। सन् १९२० तक वह सफलता पूर्वक वकालत करते रहे।

पूज्य टंडन जी का प्रथम दर्शन मुझे सन् १९१८ ई० में हुआ था। उन दिनों मैं साहित्य भवन नामक प्रकाशन संस्था में मैनेजर का काम करता था। प्रयाग के जानसेनगंज मुहल्ले में दर्वेश्वरनाथ का एक मंदिर है, इस मंदिर से लगे हुए विशाल भवन के ऊपरी हिस्से में टंडन जी निवास करते थे और नीचे के हिस्से में साहित्य भवन की पुस्तकों की दूकान थी। इस संस्था के अध्यक्ष थे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पंडित रामनरेश त्रिपाठी। यह दूकान टंडन जी ने पंडित रामनरेश त्रिपाठी से खुलवाई थी। टंडन जी प्रायः दूकान में आया करते थे। टंडन जी से

परिचित तथा बाजार के लोग प्रायः टंडन जी को 'बाबूजी' के नाम से संबोधित करते थे। मैं भी उन्हें बाबू जी कहने लगा। धीरे धीरे बाबू जी मेरे परिश्रम से अत्यन्त प्रभावित हुए और मैं उनके घर भी आने जाने लगा। फिर तो उनकी मुझ पर इतनी कृपा हुई कि मैं उनका अत्यन्त निकट का प्रिय भाजन बन गया और कहना यह चाहिए कि उनके परिवार के सदस्यों में मेरी भी गणना होने लगी। उन्हीं दिनों साहित्य-भवन में ही श्री वियोगीहरि का दर्शन करने का प्रथम बार मुझे सौभाग्य मिला। श्री वियोगीहरि जी उन दिनों छतरपुर से प्रयाग आये थे और बाबू जी के प्रियपात्र बन गये थे। बाबू जी ने हरी जी को हिन्दी साहित्य सम्मेलन का कार्य-भार सौंपा और वह सम्मेलन की सेवा में जुट गये। धीरे-धीरे बाबू जी और हरी जी में इतना घनिष्ठ संबंध हो गया, जो जीवन के अंतिम समय तक बना रहा। उन दिनों हरी जी केवल फलाहार करते थे। श्री हरी जी की प्रतिभा, निश्छल व्यवहार और साधु-स्वभाव से बाबू जी तो प्रभावित थे ही मेरे ऐसा साधारण व्यक्ति भी उनका भक्त बन गया। श्री हरी जी की कृपा और प्रेरणा से मैंने साहित्य भवन की नौकरी छोड़कर 'साहित्योदय' नामक प्रकाशन संस्था खोल कर प्रकाशन-कार्य करने लगा। हरी जी ने अपनी कई पुस्तकें मुझे प्रकाशनार्थ बिना किसी प्रकार के पुरस्कार लिये दीं, जिससे मेरा कार्य चलने लगा। सम्मेलन के प्रारंभिक दिनों में हरी जी की अवैतनिक सेवाओं का बड़ा महत्व है। सम्मेलन के निर्माण में उनकी बहुमूल्य सेवायें कभी भुलाई नहीं जा सकतीं। इस प्रकार गत ४० वर्ष से मैं पूज्य बाबू जी का विश्वास भाजन बना रहा मेरे जीवन में उनका वरदहस्त ही मेरा संबल रहा।

बाबूजी का व्यस्त जीवन

'बाबूजी' इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत कर रहे थे। नगरपालिका के चेयरमैन भी थे और थे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधान मंत्री। राजनैतिक तथा हिन्दी के कार्यों से तनिक भी अवकाश बाबू जी को नहीं मिल पाता था। इसका असर उनकी वकालत पर भी पड़ता था किन्तु इन्हें इसकी बिलकुल चिन्ता नहीं थी। वकालत करते हुये भी आर्थिक अवस्था साधारण थी। बाबू जी जितने बड़े वकील थे और जितना बड़ा उनका नाम था उसको देखते हुये आर्थिक आय नगण्य थी। इसका कारण और कुछ नहीं स्वयं टंडन जी ही थे। जिस समय वह हाईकोर्ट जाते थे उस समय का उनका बाना किसी भी व्यक्ति को आकर्षित किये बिना नहीं रह सकता था। बिना दाढ़ी का सुन्दर और भरा हुआ सौम्य मुख-मंडल, गंभीर चेहरा, तनी हुई सुन्दर मोछें, दया और करुणा से भरी हुई सुन्दर आँखें, बन्द गले का कोट और सिर पर महाराजाओं की-सी सुन्दर और विशाल पगड़ी मन को बिना खींचे रह नहीं सकती थीं। इससे बढ़िया आकर्षक पोशाक बाबू जी ने अपने शेष जीवन में फिर कभी भी धारण नहीं किया।

बाबू जी की वकालत से संतोषजनक आय न होने से उनके घनिष्ट मित्रों, विशेषकर घरवालों को बराबर चिन्ता रहती थी। किन्तु क्या किसी की मजाल जो उनसे कुछ कह सके। घर के बच्चे अत्यंत साधारण जीवन व्यतीत करते थे किन्तु किसी को इस संबंध में कुछ कहने की

हिम्मत न पड़ती थी। उन दिनों मैं और टंडन जी के मुंशी जी दो ही ऐसे व्यक्ति थे जो घर का सामान वगैरह बाजार से लाया करते थे। बच्चे सब छोटे थे। जो सब से बड़े लड़के थे वह भी कांग्रेस के क्रियात्मक कार्यों में जुट गये थे। बहुआ (बाबू जी की धर्मपत्नी) के आदेशानुसार गृहस्थी का कार्य चलता था।

बाबू जी का टमटम और घोड़ा

बाबू जी की एक टमटम थी। इसी पर चढ़कर वह हाईकोर्ट और नगरपालिका जाया करते थे। यह नित्य का कार्य था। इसके अतिरिक्त देश, समाज और हिन्दी आदि के काम के लिये स्थानीय आवागमन में भी वह उसका प्रयोग करते थे। यही उनकी एक मात्र सवारी थी। टमटम के घोड़े से बाबू जी का अत्यंत स्नेह था। वह १० वर्ष से बाबू जी के पास रहा। घोड़ा कृषकाय और दुबला-पतला था। बाबू जी उसके स्वास्थ्य की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दे पाते थे। उसके खाने पीने का भी समुचित प्रबंध नहीं था। उसे देखकर मुझे बहुत तरस आती थी। कई बार मैंने सईस से कहा भी, किन्तु उसने जो जवाब दिया उसका मेरे पास कोई जवाब नहीं था। आर्थिक कष्ट घरवालों की तरह घोड़ा भी सहता था। फिर भी वह था सुखी । दुबला-पतला था जरूर किन्तु उसके मुँह पर तेज था।

भेंट में प्राप्त घोड़ा

बाबू जी ने यह घोड़ा खरीदा नहीं था। यह उन्हें भेंट स्वरूप मिला था। इससे उसके प्रति बाबू जी का विशेष स्नेह था। कर्वी (बाँदा) के एक बहुत बड़े महन्त के मुकदमे में बाबू जी वकीले थे। जब वह मुकदमा जीत गये तो महन्त ने प्रसन्नतापूर्वक यह भेंट बाबू जी को आग्रह के साथ दी थी। बाबू जी ने उसे लेने से इनकार किया था, किन्तु महन्त ने बहुत अनुनय विनय किया कि मैं यह घोड़ा अपने स्वार्थ के लिये आपको दे रहा हूँ। जब तक यह आपके पास रहेगा तब तक आप मुझे याद रखेंगे। बाबू जी ने महन्त के आग्रह से प्रभावित होकर यह भेंट स्वीकार कर ली थी।बाबू जी यह अनुभव करते थे कि घोड़ा मेरे यहाँ सुखी नहीं है किन्तु वह घोड़े को सुखी रखने का प्रबंध बड़ी सजगता से करते किन्तु उनका यह प्रबंध स्थायी नहीं हो पाता था। कार्य यों ही चलता रहा।

असहयोग आन्दोलन

सन् १९२० में असहयोग आन्दोलन छिड़ा। उसमें कचहरी और स्कूल कालेजों का वायकाट किया गया। गांधी जी के आह्वान पर टंडन जी ने वकालत छोड़ दी और उनके बच्चों ने स्कूल और कालेज। आन्दोलन में बाबू जी का प्रमुख भाग था। इलाहाबाद क्या उत्तर प्रदेश के वह उस समय अग्रगण्य नेता थे। आन्दोलन को सफल बनाने के लिये उन्होंने रात-दिन एक कर दिया था। प्रचार और प्रसार के लिये अनेक उपाय किये थे। असहयोग आन्दोलन की इस लहर में बाल-वृद्ध-युवक सभी को बहना पड़ा था।

असहयोग के प्रचार में सूर-रामलाल

असहयोग आन्दोलन को सफल बनाने के लिये बाबू जी ने जो कार्यक्रम बनाया था उसमें अधिकांश व्यक्ति सेवा-भाव से कार्य कर रहे थे। शहर में एक सूर था जिसका नाम था 'रामलाल'। यह गाना बहुत अच्छा गाता था। कई बार बाबू जी को मौका मिला, असहयोग आन्दोलन पर इसका गाना सुनने का, यह गायक तो था ही किन्तु कुछ तुकबन्दी भी कर लेता था। टंडन जी के ऊपर इसका प्रभाव पड़ा कि आन्दोलन में गाने के द्वारा यह अच्छा प्रचार कर सकता है। बाबू जी ने मासिक वेतन पर प्रचार-कार्य के लिये कांग्रेस की ओर से उसे नौकर रख लिया। कई महीने वह प्रचार कार्य करता रहा। बीच-बीच में उसे कुछ रुपये मिल जाते थे किन्तु बहुत-सा रुपया उसका कांग्रेस के ऊपर बकाया बना रहता था।

वकालत छोड़ने के बाद बाबू जी की जो आय थी वह एक दम बंद हो गई। आर्थिक चिन्तायें बढ़ गईं। घर का साधारण जीवन भी चलाना कठिन हो गया किन्तु टंडन जी ने धैर्य नहीं छोड़ा। अपने काम पर चट्टान की तरह अडिग रहे। उस समय उन्हें घर की चिन्ता तो थी ही किन्तु दो चिन्तायें विशेष रूप से उनके हृदय को दुखी बना रही थीं। एक तो अपने मुंशी जी की और दूसरे प्रचारक सूर रामलाल के रुपये की।

टण्डन जी के मुंशी छेदीलाल जी

जैसे महान टंडन जी थे वैसा ही महान् उन्हें मुंशी भी मिला था। अत्यंत दुबला-पतला शरीर, हँसमुख मिजाज, दलालु हृदय और सच्चा तो इतना कि सैकड़ों वकीलों के मुंशियों में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सकेगा। बाबू जी अपने मुंशी को बहुत ही स्नेह करते थे। इनके साथ मुंशी जी की आर्थिक आय पर्याप्त नहीं थी फिर भी बाबू जी के साथ अपनी प्रतिष्ठा में श्रीवृद्धिसमझकर वह संतुष्ट थे। बाबू जी के स्वभावानुकूल कार्य करने से वह उनके अत्यंत विश्वास पात्र थे। यह बाबू जी की वकालत का ही कार्य नहीं करते थे बल्कि घरेलू बहुत से कार्य इन्हें करने पड़ते थे। जब बाबू जी ने वकालत छोड़ दी तो मुंशी जी से कहा कि मैं तुम्हें सर तेज बहादुर सप्रू के साथ कर दूँगा, वहाँ तुम बहुत अच्छे रहोगे। मुंशी जी ने तुरंत जवाब दिया कि बाबू जी जैसे आपने वकालत छोड़ दी वैसे ही मैंने मुंशीगीरी छोड़ दी। अब मैं किसी भी वकील के यहाँ मुंशी का काम नहीं करूँगा। बाबू जी ने मुंशी जी को बहुत समझाया, दबाव डाला, डाँटा-फटकारा, लेकिन मुंशी जी ने 'न' छोड़ कर 'हाँ' नहीं किया। स्वाभाविक था कि अपने इस प्रकार के विश्वासपात्र मुंशी की इस प्रतिज्ञा से उनकी चिन्ता बढ़ती। मुंशी जी के इस त्याग से बाबू जी का हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने करुणा-भरे कंठ से कहा—छेदीलाल, तुमसे मेरी आमदनी और खर्च छिपा नहीं है। मेरा हृदय कहता है कि मैं तुम्हें अपने से अलग न करूँ और मासिक इतना देता रहूँ जिससे तुम्हारे परिवार का व्यय चलता रहे किन्तु प्रबल च्छा रहते हुए भी मैं ऐसा कर सकने में कहाँ तक समर्थ हूँ, यह तुम अच्छी तरह जानते हो। यदि मैं यह सहायता नहीं कर सकता तो तुम्हारी बेकारी भी मैं नहीं देख सकता। मुझे तुम्हारी इस स्थिति से बहुत कष्ट

हो रहा है। मुंशी जी ने बाबू जी को संकट में पड़ा हुआ देखकर कहा कि—मुंशी का काम तो मैं अब कभी न करूँगा, यदि मेरे छोटी-मोटी नौकरी करने से आपको मेरे प्रति चिन्ता दूर हो जाये तो मैं तैयार हूँ। बाबू जी ने मुंशी छेदीलाल को नगरपालिका में स्टोरकीपर का काम दिलवा दिया और कहा कि तुम इस पद पर सच्चाई के साथ काम करना, तुम सुखी रहोगे। मुंशी छेदीलाल जीवन पर्यन्त नगरपालिका, इलाहाबाद के एक प्रतिष्ठित स्टोरकीपर रहे। यही नहीं मुंशी के पद को हमेशा के लिये तिलांजलि दे देने के आदर्शमय त्याग से प्रभावित होकर तथा अपने स्नेहपूर्ण संबंध को बनाये रखने के लिये बाबू जी ५) मासिक पेंशन भी बाँध दी, जिसे बाबू जी मुंशी जी को अपने जीवन-काल तक देते रहे।

टमटम और घोड़े का समर्पण

अपने मुंशी जी से वह थोड़ा हल्के हुए फिर उन्हें सूर रामलाल के रुपये की चिन्ता पड़ी। प्रचारक रामलाल का रुपये का तकाजा बढ़ता गया। उसे ४००) देना था। इन दिनों बाबू जी की गिरफ्तारी की अफवाहें उड़ने लगी। रामलाल ने रुपये के लिये बहुत जोर दिया। उन दिनों कांग्रेस के फंड में पैसा नहीं था और न बाबू जी के ही पास एक मुश्त देने के लिये रुपया था। उससे थोड़ा-थोड़ा करके लेने को कहा गया किन्तु वह माना नहीं। बाबू जी रुपये का प्रबंध किसी अन्य से करना नहीं चाहते थे। उनके जबान हिलाने की देर थी किन्तु उन्होंने उस समय इसे उचित नहीं समझा। मैंने उसे दो-तीन दिन के लिये टाल दिया किन्तु बाबू जी को चैन कहाँ। बाबू जी ने मुझसे कई बार कहा कि उसे रुपया देना ही है। तुमने कुछ सोचा? मैंने कई उपाय बताये किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। तीन दिन बीत गये। एक दिन बाबू जी बहुत उद्विग्न हुए। मुझसे कहा—रामलाल आज फिर अपने रुपये के लिये आता होगा। आज मैं उसे लौटाना नहीं चाहता। मैंने एक उपाय सोचा है। मैं ४००) में अपना टमटम और घोड़ा उसे समर्पित कर दूँगा। मैं समझता हूँ वह इस पर राजी हो जायेगा।

बाबू जी के इस विचित्र निर्णय से मैं आश्चर्य चकित हो गया। खुले शब्दों में मैंने इसका विरोध किया और समीप के अन्य लोगों ने भी। मैंने उनसे कहा कि टमटम और घोड़े का मूल्य हजारों रुपये हैं। ४००) में कैसे दिया जा सकता है? उन्होंने झट कहा कि क्या तुम्हारी राय है कि इसे अन्यत्र बेंच दिया जाय और उसमें से उसे ४००) दे दिये जायँ। मैंने कहा—टमटम न रहने से आपको कष्ट होगा। सारा काम-काज रुक जायगा। नगरपालिका आप प्रतिदिन कैसे जायँगे। मेरी बातों में तथ्य रहते हुये भी वह मुझसे सहमत नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि—टमटम बेचने का कार्य मुझे अच्छा नहीं लगता, चाहे वह रामलाल के हाथ हो या अन्य के। मैं तो रामलाल की सेवाओं के रूप में इसे समर्पित करना चाहता हूँ। जितना रुपया उसे चाहिये उससे अधिक का सामान पाने पर उसे प्रसन्नता ही होगी।

बाबू जी अपने निश्चय पर अड़े रहे। किसी की भी बात उन्होंने नहीं सुनी। रामलाल के आने पर बाबू जी ने कहा—देखो रामलाल, इस समय तो रुपये का प्रबंध नहीं हो सका है।

मैं तुम्हारे काम से बहुत खुश हूँ। तुमने जो सेवा की है उसके उपलक्ष में मैं अपना हज़ारों रुपये के मूल्य का टमटम घोड़ा-सहित तुम्हें समर्पित कर देना चाहता हूँ। तुम्हारी क्या राय है? रामलाल अत्यंत प्रसन्न हो गया और बोला कि बाबू जी, यह मेरा धन्य भाग्य है। मैं इसे स्वीकार करता हूँ। बाबू जी ने तुरंत टमटम और घोड़ा उसे समर्पित कर दिया। टमटम देते समय बाबू जी घोड़े के मुँह के पास गये। उसे सहलाया। हम लोगों ने देखा उनकी आँखों में आँसू थे, रामलाल टमटम लेकर अपने आदमी के साथ चला गया। मुझे अच्छी तरह याद है कि बाबू जी ने उस दिन भोजन नहीं किया। अजीब उलझन के साथ मौन रहकर सारा दिन व्यतीत किया।

क्या किसी नेता को आप ऐसा पायेंगे कि संस्था के कर्ज को अपना कर्ज समझे, उसकी अदायगी अपने पास से करे? सेवा-पुरस्कार के नाम पर ४००) के बदले हजारों रुपये की अपनी प्रिय और रात-दिन काम में आनेवाली वस्तु को कौन समर्पित करेगा? ऐसी घटनायें टंडन जी के आदर्श को उच्च बनाती हैं और उनकी सच्चाई और उदारता में चार-चाँद लगा देती हैं।

टण्डन जी टमटम देखकर दुखी

रामलाल टमटम ले गया। वह प्रतिदिन टमटम पर चढ़कर शहर में घूमता। कभी-कभी टंडन जी के जानसेनगंज वाले मकान के सामने से भी निकल जाता। टंडन जी की टमटम को बहुत लोग पहचानते थे, विशेषकर मोहल्ले के लोग। उस समय यह बात अख़बार में भी छप गई थी। जो देखता यही कहता कि टंडन जी ने इसके काम से खुश होकर अपनी टमटम इसे पुरस्कार में दे दी। रामलाल भी सब से यही कहता।

एक दिन टंडन जी अपने बारजे पर खड़े थे। उसी समय टमटम सामने से निकली। उसे देखकर उनकी आँखें भर आईं और वह बारजे पर से कमरे के अंदर चले गये। एक दो करके मकान के नीचे और अगल-बगल के दूकानदारों में यह खबर फैल गई कि टंडन जी अपनी टमटम देखकर रो पड़े। लोगों में रोष पैदा हुआ और कहा कि यदि अब इधर से टमटम आई तो उसकी मरम्मत कर दी जायगी।

एक दिन सड़क पर भीड़ लगी थी। टमटम खड़ी थी। जनता ने सूर रामलाल को घेर लिया था। उससे कहा कि एक तो तुमने यह नीचता की कि बाबू जी की टमटम ले ली और दूसरे तुम्हारी यह हिम्मत कि तुम उनके सीने पर इसे चला रहे हो! उसने क्षमा याचना की और कहा कि आप लोग इस सड़क पर क्या इलाहाबाद में अब इस टमटम को न देखेंगे। फिर तो रामलाल टमटम-सहित इलाहाबाद छोड़ कर न मालूम कहाँ चला गया।

बाबू जी को १८ महीने की सजा

बाबू जी आन्दोलन का कार्य चलाते रहे। नगरपालिका वह किराये की सवारी पर जाते। बायकाट के कारण हाईकोर्ट का जाना तो बन्द ही था। आन्दोलन की प्रगति को देखकर

सरकार घबड़ा गई। गिरफ्तारियाँ आरंभ हो गईं। टंडन जी को सरकार कैसे बाहर रहने देती। ७ दिसम्बर १९२१ को पहिली बार सरकार ने उन्हें अपना मेहमान बना लिया। इन्हें डेढ़ साल का कारावास का दण्ड मिला। बाबू जी के चरित्र, व्यक्तित्व और सेवाओं का जनता पर असीम प्रभाव था। बाबू जी के जेल जाने के बाद आन्दोलन ने और जोर पकड़ा। लोगों में उत्साह की लहर दौड़ गई।

जेल जाने के बाद

बाबू जी जेल चले गये। जब से बाबू जी ने वकालत छोड़ी थी तभी से घर की आर्थिक अवस्था चिन्तनीय हो गई थी। जेल जाने के बाद आर्थिक दशा और बिगड़ गई। बाबू जी के बच्चों को जो कष्ट था उसे न लिखना ही उचित जान पड़ता है। उन दिनों मैं भी बाबू जी के परिवार का एक सदस्य था। बड़े लड़के स्वमीप्रसाद जी कालेज छोड़ चुके थे और साहित्य भवन लिमिटेड के बहुत अल्प वेतन पर मैनेजर हो गये थे। यह साहित्य भवन पहले पं० रामनरेश त्रिपाठी का था। बाबू जी ने इसे लिमिटेड कंपनी बना दिया था। थोड़े दिनों के बाद त्रिपाठी जी का इस संस्था से संबंध-विच्छेद हो गया। टंडन जी के मामा बाबू सूरजप्रसाद खन्ना इसकी देखरेख करते थे। उनके ही आग्रह से स्वामीप्रसाद जी ने साहित्य भवन में कार्य करना स्वीकार किया था। शेष बच्चों में कुछ आन्दोलन के छोटे-मोटे कार्यों में समय बिताते और कुछ खेल-कूद में। बच्चों की देख-रेख जैसा कि बाबू जी जेल जाते समय कह गये थे——मैं करता रहा। उन्हें किस्से कहानी सुनाता, कुछ पढ़ाता और कुछ घुमाता। मुख्य ध्यान मेरा यह था कि बच्चे कुसंगति में न पड़ने पायें। बच्चे मुझसे बहुत ही हिले-मिले थे। बड़े लड़कों की दिनचर्या का भी अवलोकन मैं अपने ढंग से करता रहा।

बाबू जी की धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रमुखी देवी (बहुआ) इन दिनों जिस धैर्य के साथ घर को सँभालती रहीं, वह चित्र आज भी मेरी आँखों के सामने है। पूरे महीने का खर्च वह केवल १००) में चलाती थीं। २० मासिक बाबू जी के पास घनिष्ठ मित्र श्री साँवलदास खन्ना और ३०) मासिक श्री माधो प्रसाद जी सत्संगी के भाँजा कक्को देते रहे। बाबू जी का कुछ रुपया इन दोनों व्यक्तियों के पास अमानत के रूप में जमा था। बहुआ को यह बात मालूम थी। उन्होंने यह समझकर स्वीकार किया था कि बाबू जी ने ही अपने रुपये में से यह प्रबंध कर दिया होगा। इस ५०) मासिक के अतिरिक्त बड़े लड़के भी स्वामीप्रसाद जी ४०) मासिक देते रहे। शेष बहुआ अपने पास से मिलाकर किसी प्रकार घर का संचालन करती रहीं।

बाबू जी का स्वाभिमान बहुत ऊँचा था। इन्होंने सहायता के लिये कभी किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। चाहे जितना कष्ट क्यों न हो वह किसी की भी सहायता स्वीकार नहीं करते थे। जेल जाने के बाद बाबू जी के मित्रों ने आर्थिक सहायता का प्रबंध किया किन्तु बहुआ और बाबू जी के बड़े लड़के ने इसे स्वीकार नहीं किया। कष्ट का अनुभव करते हुए भी

इन लोगों ने किसी से कोई सहायता नहीं ली। पूज्य मालवीय जी, जो टंडन जी को पुत्रवत् मानते थे, वह भी सहायता देते में असफल हुये।

बंबई के सेठ जमनालाल बजाज

सेठ जमनालाल बजाज महात्मा गांधी के अनन्य भक्त थे। महात्मा जी के प्रभाव से प्रेरित होकर इन्होंने अपना सारा जीवन देश-सेवा में लगा दिया था। गांधी जी के साथ यह भी असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े थे। शरीर ही नहीं, लाखों रुपयों की संपदा भी उन्होंने आन्दोलन को सफल बनाने में लगा दी थी। सेठ जी ने लाखों रुपयों का एक फंड वकीलों की सहायता के लिये निर्धारित किया था। समाचार पत्रों में यह बराबर प्रकाशित होता रहा कि जो वकील असहयोग आन्दोलन में अपनी वकालत छोड़ेगा उसे सेठ जी की ओर से १००) मासिक दिया जायगा। कितनों ही ने इस सहायता के लिये सेठ जी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। कितने वकीलों ने इस सहायता को स्वीकार किया। सेठ जमनालाल जी टंडन जी को अच्छी तरह जानते थे। उनके हृदय में बाबू जी के लिये बहुत ऊँचा स्थान था। बाबू जी के वकालत छोड़ने के बाद सेठ जी का ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। सेठ जी ने दो हजार रुपये और अपना पत्र, अपने विशेष व्यक्ति श्री महावीर प्रसाद पोद्दार के हाथ इलाहाबाद भेजा। वह घर पर आये। सेठ जी का निवेदन था कि यह दो हजार रुपये सहायता के रूप में स्वीकार कर लिये जायँ, इसके अतिरिक्त २००) प्रतिमाह सहायता भेजने का आश्वासन था। लेकिन बहुआ और बाबू जी के बड़े लड़के श्री स्वामीप्रवाद जी ने इस सहायता को स्वीकार नहीं किया। पोद्दार जी ने अत्यंत अनुनय-विनय किया। किन्तु सब व्यर्थ हुआ। उनसे स्पष्ट कहा गया कि बाबू जी की आज्ञा के बिना मैं इस पैसे को लेने में बिलकुल असमर्थ हूँ। ो दिन प्रयन्न करने के बाद पोद्दार जी ने लखनऊ जेल जाकर बाबू जी से स्वीकृति लेने की प्रबल प्रच्छा व्यक्त की। प्रति रविवार को बाबू जी से भेंट करने का नियम था। मुझे पोद्दार जी के साथ जाना था। शनिवार की रात को हम ोनों चलकर दूसरे दिन सुबह लखनऊ पहुँचे। सीधे जेल गये। कुछ देर प्रतीक्षा के बाद मिलनेवाले लोग अन्दर बुलाये गये। मैं जेल में बाबू जी से मिलने पहली बार गया था।

जेल के फाटक के भीतर थोड़ी दूर पर एक लंबी लाइन सैकड़ों राजनीतिक कैदियों की बैठी थी। जो जिससे मिलना चाहते थे वे उन्हें उसी लाइन में ढूंढ़ने लगे। मैं भी बाबू जी को ढुँढ़ता हुआ आगे बढ़ रहा था, पीछे से आवाज आई—भवानी! मैं पीछे लौट पड़ा, परिचित आवाज के सहारे। बाबू जी तथा उनके घर के लोग मुझे मेरे आधे नाम से ही संबोधित करते थे। उनकी परिधि में मैं 'भवानी' नाम से ही परिचित था और हूँ। हम दोनों ने बाबू जी का चरण-स्पर्श किया। उन्होंने आशीर्वाद दिया।

मैं विस्मय के साथ बाबू जी को देखता रहा। उन्होंने कहा—दाढ़ी के कारण क्या तुमने पहचाना नहीं? हाँ, बाबू जी! जब आप जेल आये थे तो दाढ़ी नहीं थी। मुझे मालूम

भी नहीं था कि आपने दाढ़ी रखा ली है। लंबी दाढ़ी और लंबे बालों के बीच बाबू जी का देदीप्यमान मुखमंडल महर्षियों की भाँति शोभायमान था। पाँच मिनट के भीतर उनसे मिलनेवाले अन्य लोगों की भीड़ लग गई। कुछ लोगों के हाथों में मैंने फल की टोकिरियाँ देखीं। मैं भी कुछ फल ले गया था।

मैंने अपने साथी श्री पोद्दार जी का परिचय देते हुये उनकी इच्छायें बताईं। बाबू जी ने उनसे स्वयं बातें कीं और सेठ जी का पत्र भी देखा। बाबू जी ने बड़े विनम्र शब्दों में पोद्दार जी से कहा कि मेरी ओर से मेरे भाई जमनालाल जी को बहुत धन्यवाद देना और कहना कि मुझे इसके लिए वह क्षमा करेंगे। मुझे अच्छी तरह याद है कि उन्होंने पोद्दार जी से यह भी कहा कि--मैं अठारह आना प्रति दिन जेल से पाता हूँ। इसमें अपने ऊपर केवल छः आने व्यय करता हूँ। शेष पैसे मैं उन कैदियों को दे देता हूँ जो मेरे पास मेरे कार्य के लिये भेजे जाते हैं। यही कैदी इस समय मेरे परिवार में हैं इनकी चिन्ता मैं यथाशक्ति दूर करता हूँ। इनके अतिरिक्त ऊपर आसमान और नीचे जमीन को छोड़कर और मेरे कोई नहीं है। घर के बच्चों की रक्षा करनेवाला इस समय ईश्वर है, मुझे उनकी चिन्ता नहीं है। पोद्दार जी ने बहुत प्रार्थना की किन्तु बाबू जी ने रुपये लेना स्वीकार नहीं किया और यह भी कहा कि से जी से कहियेगा कि वह मेरे घर पर मासिक सहायता भेजने का कष्ट न करें। हम दोनों जेल से बाहर आये। पोद्दार जी ने कहा कि टंडन जी मनुष्य नहीं देवर्षि हैं। ऐसा सच्चा और त्यागी पुरुष संसार में मिलना दुर्लभ है।

पुनः वकालत न करने का निश्चय

महात्मा गांधी ने चौरी-चौरा कांड के कारण असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया। जिन वकीलों ने वकालत छोड़ थी, उन्होंने जेल से बाहर आने के बाद अपनी वकालत पुनः आरंभ कर दी किन्तु टंडन जी जब जेल से बाहर आये तो उनके सामने विकट समस्यायें उपस्थित हो गईं। उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ सीमा पार कर रही थीं, फिर भी वह पुनः वकालत आरंभ करने के लिये तैयार नहीं हुए। मित्रों के अनुनय विनय को बापू जी ने अस्वीकार कर दिया। उनके एक लंगोटिया वकील दोस्त श्री नवाबबहादुर ने वकालत करने के लिये मजबूर किया। बाबू जी ने कहा---कानून की सारी पुस्तकें अपने दामाद को प्रदान कर चुका हूँ। टमटम सूर रामलाल को पहले ही दे दिया था। न किताबें हैं, न सवारी। वकालत कैसे हो सकती है। मित्र वकील ने कहा कि तुम स्वीकृति दो, कल सुबह तुम्हारे कमरे में पुस्तकें लग जायेंगी और सवारी दरवाजे पर खड़ी मिलेगी। टंडन जी खिलखिला कर हँस पड़े, और कहा--नवाबबहादुर! जिस वस्तु को त्याग चुका उससे ममता क्या? तुम अब मुझे वकालत के लिये मजबूर न करो।

बाबू जी का वकालत न करने का विचार बिलकुल दृढ़ हो गया और वह कांग्रेस के कार्यों में जुट गये। सन् १९२३ में बाबू जी प्रान्तीय कांग्रेस गोरखपुर अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये और इसी वर्ष कानपुर में होनेवाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १३ वें अधिवेशन के सभापति।

बा० शिवप्रसाद गुप्त का आगमन

टंडन जी के लड़कों ने तो आन्दोलन समाप्त होने के बाद स्कूल-कालेज जाना प्रारंभ कर दिया किन्तु घर की आर्थिक दशा का कोई हल न निकला। अजीब अवस्था थी उस समय की। संस्थायें, मित्रगण, नेतागण सभी आर्थिक सहायता देने को लालायित थे। किन्तु टंडन जी ने अपने त्याग की इतिश्री कर दी। बहुत से लोग समझाते हुये झुंझला उठते थे, बहुत से लोग उन्हें जिद्दी कहते थे, बहुत से लोग उनकी सत्यता और न्याय की महानता पर सिर झुकाते थे। उन्हें इसकी कोई परवाह नहीं थी किन्तु परवाह थी उनके मित्रों को, नेताओं को और जनता को। टंडन जी के आर्थिक कष्ट की चर्चा उनके आत्मीयजनों के कष्ट का कारण बन गई थी। बच्चों की पढ़ाई-लिखाई आरंभ हो जाने से व्यय और बढ़ गया था।

काशी के बाबू शिवप्रसाद गुप्त आये। बाबू जी के यहाँ ठहरे। इनका और बाबू जी का आत्मीय संबंध था। यह टंडन जी को दद्दा (बड़े भाई) कहा करते थे। गुप्त जी को स्थिति का पहले ही से पता था। बाबू जी के पुनः वकालत आरंभ न करने की बात जब गुप्त जी को मालूम हुई तो वह अत्यंत दुखी हुए। बाबू जी का आर्थिक कष्ट उनकी आँखों के सामने नग्न नृत्य करने लगा और वह उद्विग्न होकर प्रयाग आ पहुँचे। स्थिति स्वयं देखी, वह विह्वल हो उठे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि बाबू जी वकालत आरंभ कर दें। इस संबंध में उनकी बातचीत निष्फल हुई। वकालत के अलावा अन्य कुछ कार्य के लिये गुप्त जी ने प्रेम-पूर्ण शब्दों में उन्हें नसीहत दी, झुंझलाये भी, किन्तु बाबू जी ने कहा कि—क्या तुम चाहते हो कि मैं बनिया की दूकान खोलकर बैठूँ। गुप्त जी ने उत्तर दिया—यदि आप वकालत नहीं करना चाहते तो कोई अच्छी, ऊँची नौकरी ही कर लो। स्वीकृति मिलने पर मैं ठीक कर दूँगा, किन्तु बाबू जी ने स्वीकार नहीं किया। गुप्त जी ने पं०मोतीलाल नेहरू से इस विषय में बातें कीं। नेहरू जी ने कहा—मैं बहुत समझा चुका हूँ। कोई असर नहीं पड़ा है। मैंने लाला जी को बुलाया है। कोई न कोई रास्ता तो निकालना ही पड़ेगा। उनके घर के लोग भी टंडन जी की आज्ञा के बिना आर्थिक सहायता स्वीकार नहीं करते। गुप्त जी ने कहा—मैं जानता हूँ किन्तु जैसे भी हो इस समस्या को हल करना चाहिये। मैं हर प्रकार की सहायता के लिये तैयार हूँ।

आग्रह पर १०००) रुपये

बाबू शिवप्रसाद गुप्त जब काशी के लिये प्रस्थानकरने वाले थे तो बाबू जी को वह एक हजार रुपये देने लगे। बाबू जी ने लेने से इनकार किया। शिवप्रसाद जी अड़ गये और कहा इस समय बच्चों की पढ़ाई-लिखाई आदि के लिये रुपयों की विशेष आवश्यकता है। आपको कोई चिन्ता नहीं है। मैं आपको 'दद्दा' कहता हूँ और बड़े भाई के समान पूजता हूँ। वह मेरे भी बच्चे हैं। मैं आपको नहीं दे रहा हूँ, अपने बच्चों को दे रहा हूँ। आपको इसमें बिलकुल आपत्ति नहीं करनी चाहिये। अपने छोटे भाई का इतना निरादर, छोटी सी प्रार्थना अस्वीकृत, यह मेरे लिये ठीक नहीं है दद्दा। आत्मीयता में इतना विलगाव करने की आपसे आशा नहीं थी।

मुझे आदेश दीजिये कि मैं यह रुपया बच्चों केलिये घर में दे दूँ। टंडन जी अपने छोटे भाई गुप्त के स्नेह-पूर्ण झिझकार से द्रवित हो गये। उन्होंने गुप्त जी से कहा कि मैं इस रुपये को एक शर्त पर स्वीकार कर सकता हूँ कि जब मेरे पास हो और मैं दूँ तो तुम्हें लेना होगा। गुप्त जी ने सहर्ष कहा कि मैं तो ब्याज सहित लूँगा—छोड़ूँगा नहीं, बड़े भाई से पाने में मुझे प्रसन्नता होगी। बाबू जी ने एक हजार रुपया बतौर उधार के स्वीकार कर लिया।

पंजाब नेशनल बैंक

थोड़े ही दिनों बाद लाला लाजपत राय का प्रयाग में आगमन हुआ। स्थिति को समझने के बाद लाला जी ने पंजाब नेशनल बैंक लाहौर के संयुक्त मंत्री का कार्यभार सँभालने के लिये टंडन जी को विवश किया। टंडन जी के हृदय में लाला जी के प्रति अगाध श्रद्धा थी। विवश हो कर टंडन जी ने अपनी स्वीकृति दे दी। कुछ ही दिनों बादवे बैंक के मंत्री चुन लिये गये। यह लिखना अनुचित न होगा कि बाबू जी ने प्रथम मास के वेतन से बाबू शिवप्रसाद गुप्त का एक हजार रुपया भेज दिया था। अपने एक आत्मीय मित्र का भी पैसा उनके ऊपर बोझ स्वरूप था।

सन् १९२५ से १९२९ तक बाबू जी पंजाब नेशनल बैंक का कार्य करते रहे। इन ५ वर्षों के बीच बाबू जी का आवाहन देश के कार्य के लिये कई बार हुआ किन्तु इन्होंने राजनीतिक कार्यों में सक्रिय भाग नहीं लिया। उनका यह मत था कि वेतनभोगी व्यक्ति को अपना समय अन्य कार्यों में लगाना उचित नहीं। देश के कार्य के लिये जब इनकी माँग होती तो वह विचलित हो जाते। कई बार इन्होंने बैंक के कार्य से मुक्ति चाही, किन्तु लाला लाजपतराय ने इन्हें मुक्ति देने के बजाय यह स्वतंत्रता दी कि वह जब चाहें राजनीतिक कार्यों में भाग ले सकते हैं किन्तु इसे बाबू जी ने बैंक के साथ अन्याय समझा और ५ वर्ष तक राजनीतिक-कार्यों से अलग रहे। हाँ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्यों में वह बराबर भाग लेते रहे।

लोक सेवक-मंडल

लाला लाजपतराय ने लोक सेवक मंडल (सर्वेंट्स आफ दी पीपुल सुसाइटी) की स्थापना की थी और अभी तक उसके सभापति थे। नवम्बर १९२८ में जब लाला जी का स्वर्गवास हुआ उस समय यह प्रश्न उठा कि लोक सेवक-मंडल के सभापति का भार कौन ग्रहण करे। मंडल ने सभापति चुनने का भार गांधी जी को दिया गया। गांधी जी ने यह निर्णय दिया कि इस पद के लिये टंडन जी से बढ़कर और कोई व्यक्ति हमें नहीं दीखता। टंडन जी के सामने अभी भी आर्थिक समस्या थी। वह बैंक से तेरह सौ रुपये मासिक पुरस्कार पा रहे थे। उनके ऊपर एक बड़े कुटुम्ब का भार था, फिर भी वह गांधी जी की इच्छा को टाल न सके। बैंक की नौकरी से तुरंत तिलांजलि दे दी और लोक सेवक-मंडल का सभापति होना स्वीकार कर लिया।

बैंक से मुक्ति लेकर बाबू जी ने सन् १९२९ में लोक सेवक-मंडल के सभापति का कार्यभार सँभाला। जीवनपर्यन्त यह मंडल के सभापति रहे। अपने सभापतित्व काल में टंडन जी ने दिल्ली में लाजपतनगर बसाया और उसके अंतर्गत लोक सेवक-मंडल के कई भवनों का निर्माण करवाया जो दिल्ली का एक दर्शनीय स्थान बन गया है। इलाहाबाद में भी बाबू जी ने लोक सेवक-मंडल की शाखा स्थापित की। यहाँ लाजपत-भवन का निर्माण कराया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बाद बाबू जी की प्रिय और महत्वपूर्ण संस्थाओं में लोक सेवक-मंडल का ही नाम था।

राष्ट्रीय आन्दोलन में व्यस्त

बैंक बंधन से मुक्त होकर बाबू जी सन् १९३० में पुनः प्रयाग आ गये और पूर्ववत राजनैतिक कार्यों में लग गये। विविध दिशाओं में कार्य आरंभ किया। १९३० में उन्होंने 'किसान संघ' की स्थापना की। जमीन्दारी उन्मूलन का कार्य सर्वप्रथम बाबू जी ने ही आरंभ किया। गांधी जी के नमक सत्याग्रह में भी पूरा सहयोग दिया। प्रयाग में क्रास्थवेट रोड की अपनी भूमि पर नमक बनाकर कानून तोड़ा। इस भूमि पर जो मकान बना उसका नाम बाबू जी ने 'तपोभूमि' रखा। उत्तर प्रदेश के सत्याग्रह आन्दोलन के संचालक टंडन जी ही रहे। इन्होंने विदेशी कपड़ों पर पिकेटिंग का सफल प्रबंध किया। परिणाम स्वरूप बहुत से दूकानदारों ने विदेशी कपड़ा बेंचना बन्द कर दिया। किसान आन्दोलन में वह पुनः गिरफ्तार हुए। लम्बी जेल यातना सही। १९३० में बस्ती जेल में, १९३१ में गोंडा जेल में तथा १९३२ में गोरखपुर जेल में रहे। लगान बन्दी तथा जमींदारी प्रथा को मिटाने के आन्दोलन में बाबू जी को उपर्युक्त यातनायें भोगनी पड़ीं। जमीन्दारी प्रथा के मिटाने का कार्य बाबू जी ने आरंभ किया और सरदार पटेल ने इस कार्य को अंतिम रूप दिया।

विधान सभा के अध्यक्ष

सन् १९३६-३७ में बाबू जी विधान सभा की सदस्यता के लिये खड़े हुये और निर्विरोध चुने गये। यही नहीं कांग्रेस को उत्तर प्रदेश में इन चुनावों में अभूतपूर्व सफलता मिली। यह टंडन जी के ही प्रयत्न का फल था। चुनाव के बाद मंत्रि-मंडल ने सर्वसम्मति से टंडन जी को विधान सभा का अध्यक्ष चुना। विधान सभा के अध्यक्ष पद से बाबू जी ने जो कार्यकिया वह स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। कांग्रेस के सदस्य रहते हुए भी जो न्यायप्रियता बाबू जी ने दिखाई, उसकी प्रशंसा उत्तर प्रदेश क्या सारे भारत में हुई। महात्मा गांधी ने कई स्थानों में कहा कि पुरुषोत्तमदास टंडन अध्यक्ष पद से जो कार्य कर रहे हैं उसे देख-सुनकर वी० जे० पटेल की याद आती है। 'यंग इंडिया' में गांधी जी ने लिखा था कि "ऐसे ही त्याग और साहसपूर्ण कार्यों से राष्ट्र का निर्माण होता है।" टंडन जी की निष्पक्षता पर विरोधी दल को कभी कोई संदेह करने का अवसर नहीं मिला। इनके निर्णय सर्वमान्य होते थे। विरोधी दल को इनमें अटूट विश्वास था।

असेम्बली की कार्यवाही हिन्दी में करने का जो निर्णय अध्यक्ष के रूप में टंडन जी ने दिया, वह अत्यंत महत्वपूर्ण था। यह एक बहुत बड़ा निर्णय था। इससे टंडन जी की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी और उनके इस कार्य से अध्यक्ष-पद की प्रतिष्ठा में चार-चाँद लग गये।

सन् १९४० से १९४२ तक का आन्दोलन भारत में क्रांति का आन्दोलन था। नागरिक स्वत्वों की रक्षा के लिये गांधी जी ने आन्दोलन सत्याग्रह के रूप में चलाया। टंडन जी १९४० में नजरबन्द किये गये और लगभग १ वर्ष तक जेल में रहे। इसके बाद 'भारत छोड़ो' का विशाल आन्दोलन छिड़ा। ९ अगस्त १९४२ इतिहास का महत्वपूर्ण पृष्ठ बना। गांधी जी तथा देश के प्रमुख नेतागण गिरफ्तार हुये। टंडन जी ऐसे समय में बाहर कैसे रह सकते थे। नौकरशाही के हृदय में वह काँटे की तरह चुभ रहे थे। इन्हें ८ अगस्त को ही जेल पहुँचाया गया। लगभग २ वर्ष के बाद वह जेल से मुक्त हुए। टंडन जी की यह अंतिम जेल-यात्रा थी। देश के लिये इन्हें कुल सात बार जेल-यातना भुगतनी पड़ी। टंडन जी सन् १९४६ में उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य तथा सर्वसम्मति से पुनः अध्यक्ष चुने गये। विधान सभा पर इनका महत्वपूर्ण प्रभाव था।

टंडन जी विभाजन के प्रबल विरोधी थे। विधान सभा के अध्यक्ष पद से इन्होंने सांप्रदायिकता और मुसलिम लीग के विरुद्ध कई वक्तव्य दिये। इस पर मुसलिम लीग-दल विरुद्ध हो गया। टंडन जी ने जब सोचा कि इस पद पर रहते हुये अपने विचारों को प्रकट करना उचित नहीं जान पड़ता तो बिना किसी हिचक के इन्होंने अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया। देश विभाजन के विरुद्ध अपनी आवाज को अध्यक्षपद के लोभ से रोकना उनके लिये सहज नहीं था। देश के लिये उन्होंने अध्यक्षपद स्वीकार किया था और देश के लिये ठुकरा भी दिया। टंडन जी के इस त्याग को कभी भुलाया नहीं जा सकता। मुझे जहाँ तक याद है त्यागपत्र के बाद इनके पास बधाइयों का ताँता लग गया था। ऐसी ही दृढ़ता के साथ टंडन जी ने संविधान-परिषद में हिन्दी-राष्ट्रभाषा का प्रश्न उठाया था। इस विषय पर वाद-विवाद के साथ बड़ा ही मतभेद हुआ किन्तु टंडन जी की दृढ़ता का ही फल था कि हिन्दी सर्वसम्मति से देश की राष्ट्रभाषा मानी गई। टंडन जी ने अपने इस कार्य से भारत की प्रतिष्ठा को अमर बना दिया है।

भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष

सन् १९५० में टंडन जी भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये। इस चुनाव में अत्यन्त कटुता बढ़ गई थी। पं० जवाहरलाल की विचार धारा इनके विरुद्ध थी किन्तु सरदार पटेल इनके पूर्ण समर्थक थे। टंडन जी की विजय हुई किन्तु सभापतित्व काल में मतभेद ही रहा। पं० जवाहरलाल नेहरू रफीअहमद किदवई तथा श्री मोहनलाल गौतम के संबंध में हठपूर्वक कुछ बातें स्वीकार कराना चाहते थे। टंडन जी ने उसे स्वीकार नहीं किया। फलस्वरूप पं० जवाहरलाल ने कार्यसमिति से त्यागपत्र दे दिया। समिति में सदस्यों की अधिक संख्या टंडन जी के पक्ष में थी। वे चाहते थे कि त्यागपत्र स्वीकार कर लिया जाय किन्तु दूरदर्शी और त्यागी

टंडन जी ने ऐसा करना देश के लिये उचित नहीं समझा। टंडन जी ने स्वयं त्यागपत्र दे दिया और उनके स्थान पर पंडित नेहरू सभापति चुन लिये गये। पंडित जी ने टंडन जी को अपनी कार्यसमिति में रखा।

टंडन जी के त्यागपत्र पर तथा उनकी कार्यसमिति की सदस्यता पर भारत में बड़ी हलचल मच गई। किसी ने कहा पं० जवाहरलाल नेहरू ने टंडन जी की राजनीतिक सेवाओं की हत्या की है। किसी ने कहा कि टंडन जी डर गये और उन्होंने जवाहरलाल जी की कार्यसमिति में रहना स्वीकार कर लिया। अंततः टंडन जी को अपने भाषणों द्वारा जनता में यह विश्वास पैदा करना पड़ा कि मैंने जो कुछ भी किया है वह देश के लिये, भयवश नहीं, कर्त्तव्यवश। मुझे अच्छी तरह याद है कि त्यागपत्र के बाद जब टंडन जी प्रयाग आये तो पुरुषोत्तमदास टंडन पार्क में एक बहुत बड़ी सभा हुई थी। उसमें टंडन जी का भाषण हुआ था। जनता ने उनके समक्ष कई प्रश्न रखे थे। प्रश्नों की झड़ी लग गई थी। टंदन जी ने अपने गंभीर भाषण में जनता को यह विश्वास दिलाया कि भय नामक कोई वस्तु मेरे शरीर के भीतर ईश्वर ने बनायी ही नहीं। मैं जो कुछ करता हूँ वह कर्त्तव्य से प्रेरित होकर।

लोक सभा तथा राज्य-सभा के सदस्य

दो वर्ष बाद सन् १९५२ में लोक सभा के सदस्यों का चुनाव हुआ। टंडन जी इलाहाबाद नगर क्षेत्र से चुने गये। उनके लोक-सभा में जाने से हिन्दी को विशेष बल मिला। टंडन जी के अनेक महत्वपूर्ण भाषण लोक-सभा में हुये। इनके कुछ भाषणों का संग्रह पुस्तकाकार 'शासन-पथ-निदर्शन' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

सन् १९५६ में टंडन जी उत्तर प्रदेश से 'राज्यसभा' के सदस्य चुने गये। कुछ दिनों बाद बाबू जी का स्वास्थ्य गिरने लगा, फिर भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार वह देश-सेवा में लगे रहे। प्रयत्न करने पर भी उन्हें अपनी पुरानी शक्ति प्राप्त न हो सकी। निर्बलता के कारण उनका स्वास रोग उन्हें अधिक कष्ट देने लगा। उनका दिल्ली जाना-आना बंद हो गया। वह अपने पाँचवें पुत्र डाक्टर आनंदकुमार टंडन के साथ कल्याणीदेवी पर रहने लगे। कुछ समय पश्चात् अपनी बीमारी के कारण टंडन जी ने राज्यसभा से त्याग पत्र दे दिया। यहीं उनके क्रियात्मक राजनीतिक जीवन का अन्त सा हो गया किन्तु उनका देश-चिन्तन चारपाई से चिपटा ही रहा।

सार्वजनिक अभिनंदन

सन् १९६० में बाबू जी की बीमारी बड़ी तेजी से बढ़ रही थी। जिस समय दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा अभिनंदन की चर्चा छिड़ी उन दिनों बाबू जी साधारण-तौर से अपना काम कर लेते थे। शौच आदि में वह दूसरों की सहायता नहीं लेते थे। उस समय उनमें कुछ पुरुषार्थ था। दिल्लीवाले अभिनंदन ग्रंथ दिल्ली में ही भेंट करना चाहते थे किन्तु

कहीं बाहर जाने की उनमें शक्ति नहीं थी। इसीलिए अभिनंदन का आयोजन प्रयाग में ही किया गया। यह दूसरा प्रयत्न था बाबू जी को अभिनंदन-ग्रंथ भेंट करने का। पहले कुछ महानुभावों ने यह आयोजन करना चाहा था। कमेटियाँ बन गई थीं। कार्य प्रारंभ होने वाला था किन्तु टंडन जी ने अपने आग्रह से यह कार्य आगे बढ़ने से रोक दिया। लोग हतोत्साह हो गये और कार्य रुक गया था।

दूसरे प्रयत्न में बाबू जी को विवश होना पड़ा। दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने श्री लालबहादुर शास्त्री को अग्रणी बनाकर जिस व्यूह की रचना की उसमें टंडन जी फँस गये। ऐसे बाह्य सम्मान के कार्यों से टंडन जी को स्वाभाविक विरक्ति थी किन्तु संस्था के सामने व्यक्ति की प्रधानता नहीं रह गई। टंडन जी स्वयं कहते थे कि व्यक्ति से संस्था बड़ी होती है। आज यह प्रत्यक्ष हो गया। बाबू जी संस्था के कर्णधारों के अनुनय विनय को टाल न सके। श्री लालबहादुर शास्त्री जिस काम में अग्रणी हों उसमें बाबू जी की अस्वीकृति हो ही कैसे सकती है और उसपर यह जानकर कि राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ग्रंथ-समर्पण करने के लिये अपनी स्वीकृति दे चुके हैं। टंडन जी ने मौन रूप में अपनी स्वीकृति दे दी।

समारोह का भव्य आयोजन

२३ अक्टूबर १९६० दिन रविवार को ५ बजे म्योर सेन्ट्रल कालेज के विस्तृत मैदान में अभिनंदन ग्रंथ समारोह का आयोजन किया गया था। इस महान अवसर पर राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, देश के अनेक अग्रणी नेता, कवि, लेखक, कलाकार, हिन्दी सेवी और नागरिकों के अतिरिक्त प्रदेशों के मुख्यमंत्री, केन्द्रीय एवं राज्यमंत्री आये थे। महामहिम राज्यपाल भी पधारे थे। समारोह की विशेष व्यवस्था की गई थी। स्वागत समिति के अध्यक्ष थे महाकवि श्री सुमित्रानंदन पंत।

सभा-स्थल में ४॥ बजे के लगभग टंडन जी पहुँचे। जिस कार में वह आये उसमें श्री लालबहादुर शास्त्री, डाक्टर आनंदकुमार टंडन (बाबू जी के पुत्र) और उनका सेवक मैं था। शास्त्री जी आगे, डाक्टर साहब बाबू जी के सिरहाने और मैं उनके पाँवों के पास बैठा था। बाबू जी का सिर उनके पुत्र के जंघों पर और पैर मेरे जंघों पर थे। बाबू जी को कार से स्ट्रैचर पर मंच तक ले जाना पड़ा। विशाल जनता की उपस्थिति यह प्रकट करती थी कि टंडन जी के प्रति लोगों में कितनी श्रद्धा है, कितना आदर है। यह समारोह टंडन जी की महानता का द्योतक था। राष्ट्रपति द्वारा टंडन जी का सम्मान देखकर उपस्थित जनता भाव-विभोर हो रही थी।

ंडन जी में भाषण करने की शक्ति नहीं थी फिर भी उन्होंने घर से चलते-चलते एक छोटे से कागज पर कुछ वाक्य लिखे थे। यही उनका संक्षिप्त और अंतिम भाषण था। इस छोटे से भाषण में टंडन जी की आंतरिक वेदना की झलक थी। प्रशासन के प्रति जनता के राजनीतिक

सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कष्टों की कारुणिक उलाहना थी और थी टंडन जी के हृदय की व्यथा।

राष्ट्रपति द्वारा सम्मान

अभिनंदन-महोत्सव के बाद केन्द्रीय सरकार का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ। टंडन जी की देश, समाज और हिन्दी की सेवा तथा उनकी महान योग्यता, उज्ज्वल चरित्र, आदर्श विचारों से प्रभावित होकर केन्द्रीय सरकार की ओर से राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद द्वारा सन् १९६१ में बाबू जी को 'भारतरत्न' की उपाधि से विभूषित किया गया। बीमारी के कारण इस उपाधि के उत्सव में बाबू जी दिल्ली नहीं जा सके थे, अतः इन्हें प्रयाग में ही यह उपाधि प्रदान की गई थी।

सन् १९६१ में बाबू जी का रोग असाध्य बन गया था। स्वांस और खांसी से उनका कष्ट इतना बढ़ा कि देखा नहीं जाता था। उनका शरीर क्षीण होता गया। अप्रैल सन् १९६२ से बाबू जी की हालत गंभीर होती गयी। एलोपैथिक, होमियोपैथीक तथा आयुर्वेद के बड़े-बड़े चिकित्सकों ने बाबू जी को बचाने का अथक परिश्रम किया किन्तु सब निष्फल रहा। बाबू जी १ जुलाई १९६२ को स्वर्गवासी हुए।

बाबू जी की जितनी और जिस तरह की सेवा होनी चाहिये थी उसमें किंचित मात्र की भी कमी नहीं हुई। बाबू जी के पाँचवें पुत्र डाक्टर आनंद कुमार टंडन ने (जिसके साथ बाबू जी रहते थे) उनकी हर प्रकार की सुविधा का प्रबंध किया था। दवा, इन्जेक्शन, डाक्टरों का प्रबन्ध इन्होंने अपने हाथ में लिया था। डाक्टर साहब की धर्मपत्नी (टंडन जी की पुत्र-वधू) कुसुम बहू ने बाबू जी की जो सेवा की वह सदा स्मरणीय रहेगी। रात-दिन बाबू जी की तथा उनके मेहमानों की सेवा करना उनका एक मात्र ध्येय बन गया था।

बाबू जी की बीमारी में पं० जवाहरलाल नेहरू, विजयलक्ष्मी पंडित, राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, श्री सी० बी० गुप्त आदि सैकड़ों महान् पुरुष उन्हें देखने आये थे। दर्शकों का तांता लगा रहता था। मृत्यु के पूर्व बाबू जी के सातों पुत्र, उनकी धर्मपन्तियां, दोनों लड़कियाँ, नाती-पोते आदि सभी प्रयाग आ गये थे। बाबू जी की अर्थी जब चौक में पहुँची तो लगभग २ लाख की भीड़ हो गई थी। जुलूस में श्री लालबहादुर शास्त्री, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल, चन्द्र-भानु गुप्त, कमलापति त्रिपाठी, आचार्य जुगुल किशोर, ठाकुर हुकुम सिंह, डाक्टर राममनोहर लोहिया आदि नेता सम्मिलित थे। राजर्षि टंडन के सब से बड़े पुत्र श्री स्वामीप्रसाद टंडन ने अंतिम संस्कार किया था।

श्री रामेश्वरदयाल दूबे

टण्डन जी और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति

अफ्रीका रहते हुए ही गांधी जी ने यह अनुभव कर लिया था कि स्वतंत्र-भारत का काम बिना राष्ट्रभाषा के नहीं चलेगा। इसके लिए किसी न किसी भारतीय भाषा को चुनना होगा। गांधी जी ने गोखले जी के कहने पर जब सारे भारत में भ्रमण किया, तब उन्हें इस बात की अनुभूति हुई कि हिन्दी ही वह भाषा है, जिसे अधिक से अधिक संख्या में लोग बोलते और उससे भी अधिक संख्या में लोग समझते हैं।

गांधी जी भारत के जनामानस में ऊपर उठ रहे थे। श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास टंडन जी की यह दूरदर्शिता थी कि उन्होंने गांधी जी को हिन्दी के प्रचार के लिए आमंत्रित किया। सन् १९१८ में इन्दौर में सम्पन्न होनेवाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के आठवें अधिवेशन का टंडन जी के अनुरोध पर ही गांधी जी ने अध्यक्ष बनना स्वीकार किया था। गांधी जी सच्चे अर्थों में 'कर्मवीर' थे। उन्होंगे दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का श्रीगणेश करना चाहा। सम्मेलन ने इसे सहर्ष स्वीकार किया और दक्षिण में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना हुई, जिसने अपने पिछले पचास वर्ष के जीवन में अद्वितीय कार्य किया हे। गांधी जी जब तक जीवित रहे, इस संस्था के अध्यक्ष रह कर उसका मार्गदर्शन करते रहे।

सन् १९२५ में इन्दौर में ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन का चौबीसवाँ अधिवेशन हूआ, उसके भी अध्यक्ष टंडन जी के अनुरोध पर गांधी जी बने थे। उसके पश्चात ही नागपुर के सन् १९३६ के अधिवेशन में यह निश्चय हूआ कि दक्षिण भारत को छोड़कर शेष हिन्दीतर प्रदेशों में व्यवस्थित ढंग से हिन्दी प्रचार का कार्य किया जाए। यहाँ यह कहने की आवयकता ही नहीं, कि आसाम, बंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, गुजरात, आदि प्रदेशों में हिन्दी प्रचार का कुछ कार्य पहले से ही प्रारम्भ हो चुका था। किन्तु व्यवस्थित ढंग से से काम करने के लिए वर्धा में हिन्दी-प्रचार समिति की स्थापना हुई, जो आगे चल कर 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' के नाम से प्रसिद्ध हुई।

इस संस्था का कार्य गांधी जी के मार्गदर्शन में चले, इसलिए इसका केन्द्रीय कार्यालय वर्धा में ही रखा गया था। इस समिति के संस्थापक सदस्यों में उस समय के सभी चोटी के नेता थे। महात्मा गांधी, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ,श्री राजेन्द्र प्रसाद, पं० जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, आचार्य नरेन्द्रदेव आदि आदि। चूँकि इस समिति की स्थापना सम्मेलन के एक प्रस्ताव के अनुसार हूई थी, इसलिए टंडन जी का पूर्ण स्नेह इस संस्था को मिला करता था।

समिति के शायद ऐसी कोई बैठक नहीं हुई, जिसमें टंडन जी उपस्थित न हुए हों। इन बैठकों में सम्मिलित होने के लिए वह बार-बार वर्धा आते थे, समिति की गतिविधि से स्वयं परिचित रहते थे, और उसका मार्गदर्शन करते थे। यद्यपि समिति का कार्य काकासाहब कालेलकर की देखरेख में चलता था, फिर भी समिति के प्रति टंडन जी का विशेष आत्मीय भाव था।

सन् ४० से ही हिन्दी-हिन्दुस्तानी की चर्चा शुरू हो गई थी। गांधी जी और उनके सहयोगी 'हिन्दुस्तानी' नाम के समर्थक थे, और उसके लिए देवनागरी और फारसी लिपि—दोनों की अनिवार्यता मानते थे। टंडन जी 'हिन्दी' को 'हिन्दुस्तानी' भी कहा जाए, इसे स्वीकार करते थे, किन्तु फारसी लिपि की अनिवार्यता की बात उनके गले नहीं उतरती थी। फलतः मतभेद हुआ और गांधी जी ने सम्मेलन से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। गांधी जी के अन्य सहयोगी भी जब समिति से हट गए, तब समिति का पूरा उत्तरदायित्व और भार टंडन जी पर आ पड़ा। टंडन जी ने श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन को समिति का मंत्री और श्री रामेश्वर दयाल दुबे को सहायक मंत्री बनाकर वर्धा भेजा।

इस घटना के पश्चात राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और टंडन जी का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ हो गया। टंडन जी समय-समय पर वर्धा आते थे और श्री आनन्द कौसल्यायन प्रयाग जा-जाकर उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करते थे।

किन्हीं कारणों से जब समिति को पुराने भवन छोड़ने पड़े, तब समिति ने जमीन खरीदी और भवन-निर्माण का कार्य शुरू हुआ। समिति के भवन अच्छी तरह बनाए जावें, इसलिए टंडन जी ने अपने पुराने मित्र और सम्मेलन के पुराने इंजीनियर श्री नंदकिशोर अग्रवाल जी को दो-तीन बार वर्धा भेजा, जिन्होंने कुछ समय वर्धा में रहकर कामकाज की देखभाल की थी।

धीरे-धीरे समिति के अनेक भवन बने। आगे चलकर एक ऐसे राष्ट्रभाषा महाविद्यालय के भवन की आवश्यकता अनुभव होने लगी, जिसमें दूर-दूर प्रदेशों से आए हुए छात्रों को हिन्दी पढ़ाने की व्यवस्था की जा सके और जहाँ वे रह भी सकें। समिति ने ऐसे भवन का संकल्प किया। यह सौभाग्य की बात थी कि इस राष्ट्रभाषा महाविद्यालय के भवन का शिलान्यास सन् ५१ की १८ जनवरी को राजर्षि टंडन जी ने किया। आज यह महाविद्यालय विभिन्न प्रदेशों के, विशेषतः पूर्वांचल के मणिपुर, असम, नागालैंड, लुशाई पहाड़ियों के छात्र-छात्राओं को हिंदी अध्यापन की व्यवस्था कर रहा है। लंका और जापान के अनेक विद्यार्थी इस महा-विद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर अपने देश लौट गए हैं, जहाँ वे हिन्दी का प्रचार कर रहे हैं।

सन् १९५१ में सम्मेलन पर रिसीवर की नियुक्ति हुई। सम्मेलन के झगड़ों का प्रभाव जब समिति पर भी पड़ने लगा तब समिति के सदस्य सम्मेलन से पृथक् होने की बात सोचने लगे। टंडन जी का और समिति के निष्ठावान् कर्णधारों और कार्यकर्ताओं का इतना आत्मीय सम्बन्ध था कि बिना बाबू जी की सलाह लिए कुछ किया ही नहीं जा सकता था। समिति के कुछ कर्णधार टंडन जी से मिलने दिल्ली पहुँचे। बिड़ला मंदिर के लान पर बैठकर जिस आत्मीयता से और जिस गद्गद् वाणी से समिति के कर्णधारों को समझाया, उससे सब अभिभूत हो

गए। टंडन जी के वे शब्द अब भी बहुतों को स्मरण हैं—"आप लोग हिन्दी-प्रचार क्षेत्र के मँजे हुए कार्यकर्त्ता हैं। आप सब के द्वारा जो कार्य हो रहा है, उसका हमें गौरव है। दुर्भाग्य से प्रयाग में सम्मेलन-सम्बन्धी कुछ झगड़े शुरू हुए हैं। इस समय उससे अलग होने की बात सोचना ठीक नहीं। क्या पता, आप सबको भी सम्मेलन की समस्याओं को सुलझाने में सहयोग देना पड़े। आप हमसे कैसे पृथक् हो सकते हैं।"

टंडन जी की आत्मीयता भरी वाणी ने सबके हृदय को जीत लिया और पृथक् होने का विचार छोड़ दिया गया।

जब आनन्द जी के स्थान पर श्री मोहन लाल भट्ट जी समिति के मंत्री बने तब उन्हें भी श्रद्धेय टंडन जी का बराबर मार्ग-दर्शन मिलता रहा। जब-जब हिन्दीतर प्रान्तों में बढ़ते हुए हिन्दी-प्रचार के कार्य की रिपोर्ट टंडन जी को दी जाती थी तब तब उनकी आँखें चमक जाती थीं। उनके चेहरे पर संतोष की रेखाएँ झलक आती थीं। वे उसी तरह से प्रसन्न होते थे, जैसे पुत्र के सुन्दर कार्यों को देखकर पिता प्रसन्न हुआ करता है। सम्मेलन के सम्बन्ध में वे सदैव चिन्तित रहे, किन्तु समिति के सम्बन्ध में वे निश्चिन्त थे।

जब प्रयाग में बड़े पैमाने पर उनके सार्वजनिक सम्मान का आयोजन किया गया तब लाखों व्यक्तियों ने उस समारोह में उपस्थित होकर अपना आदरभाव व्यक्त किया, उस समय विभिन्न हिन्दीतर प्रदेशों के सभी प्रमुख कार्यकर्ता प्रयाग पहुँचे थे। समारोह के दूसरे दिन जब सभी राष्ट्रभाषा कर्मी बाबू जी के घर पर पहुँचे, उस समय आसाम के प्रान्तीय संचालक, श्री जीतेन्द्रचन्द्र चौधुरी ने एक अण्डी की शाल और पीतल का एक विशेष पात्र (जिसे आसाम में महान् व्यक्तियों को सम्मान स्वरूप समर्पित किया जाता है) भेंट किया। बाबू जी ने शाल तो उल्टी संचालक को ही उढ़ा दी और वह पीतल का विशेष पात्र इन पंक्तियों के लेखक को सौंप दिया और कहा—"इसे तुम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति में रखा लेना।" बाबू जी का दिया हुआ वह साकार-स्नेह समिति के प्रदर्शिनी-कक्ष में सुरक्षित है।

हिन्दीतर प्रदेश के राष्ट्रभाषा कर्मियों के मन में राजर्षि टंडन जी के प्रति अनन्य श्रद्धा रही है। समिति ने निश्चय किया कि भले ही निधि स्वल्प हो, उसके द्वारा दिल्ली में सम्पन्न होने वाले अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा प्रचार सम्मेलन के नौवें अधिवेशन में श्रद्धेय बाबू जी का सम्मान किया जाए। समिति की ओर से टंडन जी के चरणों में २५,०००) की स्वल्प निधि अत्यंत श्रद्धा के साथ समर्पित की गई। राजर्षि टंडन जो ने उसे स्वीकार कर समिति का गौरव बढ़ाया और वह निधि राष्ट्रभाषा का कार्य करने के लिए समिति को ही सौंप दी।

सन् १९६२ में राष्ट्र भाषा प्रचार समिति ने अपने जीवन के पच्चीस वर्ष की समाप्ति पर बड़े उत्साहपूर्ण वातावरण में रजत-जयंती-महोत्सव" मनाया। इस अवसर पर जहाँ एक ओर समिति ने अपने प्रांगण में गांधी जी की आदम कद कांस्य मूर्ति की स्थापना की, वहीं कार्यालय के समक्ष राजर्षि पुरुषोतमदास टंडन की प्रस्तर पूर्ति स्थापित कर उनके प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा व्यक्त की।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से श्रद्धेय बाबू जी का अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। उनकी आत्मीयता और ममता पाकर राष्ट्रभाषा कर्मी भाई-बहन आत्म-विभोर हो जाते थे उन्हीं की प्रेरणा का यह सुन्दर फल है, कि हिन्दीतर प्रदेशों के दूर-दूर क्षेत्रों में अत्यन्त लगन और निष्ठा के साथ सैकड़ों नहीं, हजारों भाई-बहन हिन्दी प्रचार से पुनीत राष्ट्रीय कार्य में लगे हुए हैं और तबतक लगे रहेंगे, जबतक हिन्दी को उसका उचित स्थान प्राप्त नहीं हो जाता है। उनमें उत्साह है, लगन है और है निष्ठा। किन्तु उन्हें श्रद्धेय बाबू जी की मधुर स्मृति गद्गद् भी बना देती है। जिनके स्नेह और आशीर्वाद से वे वंचित हो गए हैं। वैसी आत्मीयता, वैसी ममता और वैसा स्नेह राष्ट्रभाषा कर्मियों को अब कहाँ मिलेगा ?

श्री केदारनाथ गुप्त

राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन

सन् १९११ की बात है। मैं ईविंग क्रिश्चियन कालेज इलाहाबाद में अध्ययन के लिये आया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हो चुकी थी। उसके अन्तर्गत सम्मेलन के प्राण राजर्षि टंडन जी के साथ हिन्दी के अनेक विद्वान् हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर बैठाने का उत्कट प्रयत्न कर रहे थे। हिन्दी में प्रेम होने के नाते मैं भी सम्मेलन की बैठकों में प्रायः जाया करता था।

हिन्दी के राष्ट्र कवि स्वर्गीय पं० माधव शुक्ल के सहयोग से टंडन जी महाराणा प्रताप नाटक की तैयारी कर रहे थे, मैंने भी उसमें भाग लिया था। अब तो रिहरसल में मैं रोज जाने लगा और मेरा सम्बन्ध टंडन जी से उत्तरोतर बढ़ने लगा। नाटक मंच पर खेला गया। उसकी बड़ी प्रशंसा हुई और उसके द्वारा जनता में हिन्दी का काफी प्रचार हुआ।

सन् १९१३ में मेरा विद्यार्थी जीवन समाप्त हुआ और मैं जमनामिशन हाई स्कूल इलाहाबाद में हिन्दी का अध्यापक हुआ। अब तो हिन्दी के नाते मैं हिन्दी साहित्य सम्मेलन में और भी अधिक जाने लगा। एक दिन टंडन जी ने सहसा मुझे बुलाकर कहा कि तुम सम्मेलन का अर्थ-विभाग सँभालो। मैं राजी हो गया। उस समय स्वर्गीय पं० रामजीलाल शर्मा प्रधान मंत्री थे। स्वर्गीय चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा प्रबन्ध मंत्री थे और स्वर्गीय अध्यापक रामरत्न जी परीक्षा मंत्री थे। मैं सप्ताह में दो बार जाता और पोस्टआफिस द्वारा आई हुई रकम लेकर सम्मेलन में जमा कर देता और अर्थ-विभाग की जांच-परताल कर लेता था।

टंडन जी हिन्दी के प्रचार में लगे हुये थे। उस समय कचहरियों में उर्दू और अंग्रेजी की तूती बोल रही थी। हिन्दी में काम करना लोग पसन्द नहीं करते थे। टंडन जी वकीलों से मिलते और उनसे कचहरियों का सारा काम हिन्दी में करने की प्रार्थना करते थे। धीरे-धीरे कचहरियों में टंडन जी की प्रेरणा से हिन्दी में काम होने लगा किन्तु उतना नहीं जितना वे चाहते थे।

सम्मेलन की वार्षिक बैठकें धीरे-धीरे बड़ी जोरदार होने लगीं और हिन्दी के बड़े बड़े विद्वान् उसमें भाग लेने लगे। इन बैठकों में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने पर बड़ा जोर दिया जाता था। स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक, स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल, स्वर्गीय पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, स्वर्गीय पं० अमरनाथझा, श्री वियोगीहरि,

श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल', श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री आदि हिन्दी के अनेक महारथी टंडन जी के कन्धे से कन्धा मिलाकर हिन्दी के प्रचार में काफी सहायता देते थे।

सम्मेलन के परीक्षा-विभाग की वृद्धि की गई और हिन्दी की पुस्तकों के प्रकाशन का भी काम बढ़ाया गया। इनके द्वारा देश में हिन्दी का वेग के साथ प्रचार होने लगा और हिन्दी की ओर लोग आकृष्ट होने लगे। सन् १९१६ में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ। उस समय महात्मा गांधी की अध्यक्षता में सब प्रान्त के नेताओं का अलग से एक सम्मेलन हुआ। उसमें सब लोगों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा होना एक स्वर से स्वीकार कर लिया।

अब तो हिन्दी का प्रचार और भी अधिक बढ़ा। टंडन जी जब लोक-सभा में गये तो वहाँ भी प्राणपण से इस बात का प्रयत्न करने लगे कि भारत सरकार हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान ले। सेठ गोविन्ददास आदि कतिपय नेताओं ने टंडन जी की इस विषय में काफी सहायता की। सम्मेलन द्वारा हिन्दी का काम साथ-साथ दक्षिण में भी बढ़ाया गया। अन्त में चारों ओर से हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की पुकार जोर से होने लगी। स्वराज्य मिलने पर जब भारत का विधान बना तब हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा का स्थान मिला और इस प्रकार टंडन जी का इतने वर्षों का प्रयत्न पूर्णरूप से सफल हुआ, अब तो हिन्दी का प्रचार दिन दूना और रात चौगुना बढ़ रहा है और विश्वविद्यालयों में भी उसे महत्वपूर्ण स्थान मिलने लगा है।

टंडन जी बड़े स्वदेशभक्त, दृढ़ प्रतिज्ञ और विनम्र सज्जन थे। वे वज्र की तरह कठोर और पुष्प की तरह कोमल थे। जब कभी सिद्धान्त का प्रश्न उपस्थित होता तो अपने निश्चय में वे हिमालय की तरह डटे रहते और लोगों से मिलने-जुलने में वे बड़े ही नम्र थे। लोग उनसे मिलने में अपना सौभाग्य समझते थे। उनमें एक खूबी और भी थी। वे प्राकृतिक चिकित्सक भी थे, वे नमक नहीं खाते थे। और दूध पीने के भी विरुद्ध थे। इस विषय में मेरी और उनकी खूब पटती थी किन्तु दूध के विषय में मेरा और उनका मत नहीं मिलता था, मैं दूध के पक्ष में हूँ किन्तु वे दूध को अप्राकृतिक पेय पदार्थ समझते थे। वे विशेषरूप से फलाहार करते थे। अन्न बहुत कम खाते थे। मूंगफली उनको बड़ी प्रिय थी। तुलसी की चाय को वे पसन्द करते थे। जब कभी वे दावत देते, अपने पुत्रों के विवाह में अथवा साधारण रीति से किसी विशेष अवसर पर तो वे उबाला आलू, केला और दूसरे मौसमी फल खिलाते थे और साथ में पीने के लिये तुलसी की चाय दिया करते थे।

वे जानते थे कि मैं भी प्राकृतिक चिकित्सक हूँ और प्रत्येक प्राणी के लिये अच्छे स्वास्थ्य के साथ सौ वर्ष जीवित रहने का प्रचार करता फिरता हूँ। अतएव कभी कभी जब वे मुझे अपने पास बुलाते तो कहा करते थे कि "सौ वर्ष" मेरे पास आओ।

एक बार की घटना है। टंडन जी कलकत्ता गये हुये थे। वहाँ उनके स्वागत के लिये विशेष तैयारी की गई थी। नाना प्रकार के भोजन तैयार करवाये गये थे। स्वागत के बाद जब सब लोग खाना खाने के लिये बैठे तो अनेक प्रकार के भोजन के पदार्थ सब लोगों के सामने और विशेषकर टंडन जी के सामने रखे गये। टंडन जी ने बड़ी नम्रता से मेजबान से कहा कि

मैं इन चीजों को बिल्कुल नहीं खाता, यदि थोड़े से भिंगोये हुए चने हों तो वे मुझे दिये जायँ। उनको मैं खा सकता हूँ। लोगों ने बड़ी प्रार्थना की किन्तु उन्होंने सामने रखे हुये भोजन को छुआ तक नहीं। अन्त में लोगों को उनके लिये भिंगोये हुये चने और फलों का प्रबन्ध करना पड़ा। उन्हें टंडन जी ने बड़े प्रेम से खाया।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के विषय में कहा जा सकता है कि यदि टंडन जी इतना अधिक प्रयत्न न करते तो हिन्दी या तो राष्ट्रभाषा होती नहीं और यदि होती भी तो उसके होने में काफी समय लगता। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का श्रेय वास्तव में टंडन जी को है।

भारतीय संविधान परिषद में

हिन्दी : राष्ट्रभाषा : देवनागरी लिपि
राजर्षि टंडन जी का ऐतिहासिक भाषण

राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर भारतीय संविधान सभा में सितम्बर १९४९ को राजर्षि टण्डन जी ने जो ऐतिहासिक भाषण दिया था, वह इस प्रकार है--

अध्यक्ष महोदय! मैं उन सब विस्तृत विषयों पर नहीं बोलना चाहता जिन पर मेरे पूर्व वक्ताओं ने अपने मत प्रकट किए हैं। मैंने श्री गोपाल स्वामी आयंगर द्वारा प्रस्तावित संशोधनों पर कुछ संशोधन उपस्थित किए हैं। मुझे जो कुछ भी कहना है, उसमें मैं अपने प्रस्तावों के उद्देश्य को ही यथासम्भव ध्यान में रखूँगा।

श्री आयंगर की तीन कल्पनाएँ

श्री गोपाल स्वामी आयंगर के भाषण में उनके प्रस्तावों की आत्मा झलकती है। उनके अनुसार अंग्रेजी भाषा के बल पर ही हमें स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई है जो अग्रेजी क प्रशासन सम्बन्धी कार्यों के लिए उपयोग, उनके शब्दों में, आनेवाले अनेक वर्षोंतक बनाए रखना आवश्यक है। यद्यपि उनके प्रस्ताव के अनुसार १५ वर्ष तक भारतीय संघ की भाषा अंग्रेजी रहनी चाहिए। वास्तव में १५ वर्षों से भी अधिक समय तक वह अंग्रेजी को बनाए रखने के पक्ष में हैं। उनका दूसरा मुख्य विचार यह है कि कोई भी प्रान्तीय भाषा, जिसमें हिन्दी भी सम्मिलित है, इतनी विकसित नहीं है कि वह ऐसी भाषा की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, जिसे शासन के विविध अंगों का भार वहन करना हो, विशेषकर विधि-सम्बन्धी आस्थाओं एवं गहन विचारों के क्षेत्र में। उनकी समस्त योजना के प्रस्ताव इन्हीं दो मुख्य धारणाओं पर निर्धारित है और उनसे ही रंजित हैं।

उनके प्रस्तावों में एक तीसरी विचित्र कल्पना यह है कि समय की गति के साथ भारत में अंग्रेजी भाषा का चाहे जो कुछ भविष्य हो, किन्तु अंग्रेजी भाषा से जिन गणित अंकों को हमने सीखा है और जो उनके प्रस्ताव में भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप के नाम से पुकारे गए हैं वे अवश्य ही बने रहें और नागरी लिपि के अविच्छिन्न अंग बन जायँ। और वे हमारी देवनागरी लिपि के संस्कृत अंकों का स्थान ग्रहण करें--जहाँ-कहीं भी और जब कभी भी भारतीय संघ के कार्यों में देवनागरी लिपि का प्रयोग हो।

मैं विनम्रतापूर्वक इस सभा के माननीय सदस्यों से अनुरोध करूँगा कि वे इन तीनों विषयों को यह स्मरण रखते हुए अधिक गहराई तक देखें कि आज हम लोग जो कुछ कर रहे हैं उसका सम्बन्ध केवल हमसे ही नहीं है और न उन विभिन्न प्रान्त-निवासी अल्पसंख्यक स्त्री-पुरुषों से ही है, जिनकी अंग्रेजी ढंग से शिक्षा हुई है और जिनका अंग्रेजी भाषा से ही पोषण तथा विकास हुआ है, वरन् हमारे सब निर्णयों का प्रभाव उन करोड़ों पुरुषों और स्त्रियों पर पड़ेगा, जिनका अंग्रेजी भाषा से कोई सम्पर्क नहीं रहा है, जिनके लिए अंग्रेजी भाषा से कोई सम्पर्क होना असम्भव है, और जिन्हें उनकी वर्तमान दशा से ऊपर उठकर लोकतन्त्र तथा प्रशासन का प्रशिक्षण देना है। श्रीमन्! हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आज हम यहाँ जो कुछ निर्णय करते हैं उनका प्रभाव केवल वर्तमान पीढ़ी के लोगों पर ही नहीं पड़ेगा वरन् उनसे आनेवाली पीढ़ियों के भाग्य का भी रूपांकन होगा।

वर्तमान अतीत से बद्ध

प्रधान मंत्री जी ने अपने ढंग से हम लोगों को चेतावनी दी है कि हम पीछे की ओर न देखें और ऐसा कोई भी पग न उठावें जो हमें पीछे ले जाय। मैं सदैव इस विचार से पूर्णतया सहमत रहा हूँ और मैंने स्वयं भी अनेक अवसरों पर कहा है कि हमने विगतकाल में जो कुछ प्राप्त किया है उसी पर सन्तुष्ट नहीं रह सकते और न हम प्राचीन ढाँचों में अपने को पूर्णतया ढाल ही सकते हैं। मैंने लोगों के सम्मुख यह आदर्श रखे हैं--

समयभेदेन धर्मभेदः।
अवस्थाभेदेन धर्मभेदः।

समय और परिस्थितियों के अनुसार हमारे धर्म और कर्तव्यों में परिवर्तन होता है। यह प्राचीन सूक्तियाँ हैं। हमें यह स्मरण रखना है कि हमारे जीवन-क्रम की साधारण प्रणालियाँ एक समय तक रहती है और फिर चली जाती हैं। संसार गतिशील है। आज की प्रणालियाँ कल नई प्रणालियों, रीतियों और विचार-धाराओं को स्थान दे देती है। प्राचीन के पादमूल के पीछे एक नवीन सौंदर्य चलता रहता है। यदि हम चाहें तो भी जीवन के इस महान् मूलभूत तत्व से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकते।

श्रीमन्! साथ ही साथ जैसा की प्रधान मंत्री जी ने भी कहा है हमें यह स्मरण रखना है कि हमारी जड़ अतीत में है और उससे हम अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकते। इस प्रकार से हम अतीत के संग एक सुदृढ़ किन्तु अदृश्य आकर्षिक शृंखला से बंधे हुए है जो समय के साथ निरन्तर बढ़ती चली जाती है, किन्तु न तो टूटती है और न तोड़ी ही जा सकती है। अतः हम जो कुछ भी करने का प्रयत्न करें हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि जैसे-जैसे हम अपनी भवितव्यता की ओर आगे बढ़ते जायँ वैसे वैसे अतीत से हमको बाँधनेवाली वह लंबी और दृढ़ शृंखला दुर्बल न होने पाये, वरन् होना तो यह चाहिए कि वह प्रत्येक पग पर और भी दृढ़ होती जाय। मेरा

निवेदन है कि हमारा तात्त्विक राजनीतिक सिद्धान्त यह होना चाहिए कि हमारा जीवन भूत-कालिक न हो वरन् वह उस वर्तमान में हो जो हमें अतीत से बाँधे रहता है।

मैं नव गुणों अथवा अच्छाइयों को ग्रहण करने के पक्ष में हूँ जो पश्चिम हमें सिखा सकता है। परन्तु मैं यहाँ समुपस्थित सभी सज्जनों से यह निवेदन कर देना चाहता हूँ कि वे इस बात को स्मरण रखें कि पश्चिम में चमकनेवाली सभी वस्तुएँ स्वर्ण नहीं हैं। केवल पश्चिमी होने के कारण कोई वस्तु सर्वथा गुणप्रद नहीं हो जायगी। हमारे देश ने भी ऐसी उच्चकोटि की विचारशील संस्कृति को जन्म दिया है जो समय की गति के साथ संभवतः सम्पूर्ण मानव जाति के भाग्य-निर्माण पर अधिकाधिक प्रभाव डालेगी।

१५ वर्षों के लिए अंग्रेजी

मैं चाहता हूँ कि माननीय सदस्यगण उपयुक्त सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए उस प्रस्ताव पर विचार करें, जिसे हमारे मित्र श्री गोपाल स्वामी आयंगर ने स्वीकृति के लिए उपस्थित किया है। इसे पढ़ कर सुनाऊँगा नहीं। मैं मान लेता हूँ कि आप सब इसकी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण धारा से परिचित हैं। यह प्रस्ताव अंग्रेजी भाषा के कम से कम १५ वर्षों तक बने रहने की कल्पना करता है––न केवल बने रहने की वरन् संघ के प्रत्येक कार्य में अंग्रेजी भाषा के प्रभुत्त्व को बनाए रखने की भी। मेरी मान्यता थी कि यद्यपि यह आवश्यक होगा कि आनेवाले कुछ समय तक अंग्रेजी शासकीय कार्यों में चलती रहेगी तथापि वह अवधि इतनी लम्बी नहीं होगी मैंने सोचा था कि इससे थोड़े समय में ही हम जनता के निकट पहुँच सकेंगे और जनता द्वारा समझी जानेवाली भाषा में कार्य कर सकेंगे। मैं यह बात भूल नहीं जाता कि हमारे दक्षिण के भाइयों के लिए जो यहाँ उपस्थित हैं हिन्दी, जिसे शासकीय भाषा बनाने का प्रस्ताव है, सीखने में अत्यन्त सरल न होगी। फिर भी मेरा निवेदन है कि दक्षिणवालों के लिए हिन्दी सर्वथा अपरिचित नहीं है। उन राष्ट्रपिता के आदेशों पर, जिनका नाम स्मरण सदैव हमारे हृदय की सूक्ष्मतंत्री को स्पर्श करता है, दक्षिण भारत में १९१८ ई० में हिन्दी का कार्य आरम्भ किया गया था। इस अवधि में वहाँ के कई लाख पुरुषों और स्त्रियों ने हिन्दी सीख ली है। जैसा यहाँ उपस्थित मेरे मित्र श्री मोतूरि सत्यनारायण अच्छी तरह बतला सकते हैं प्रतिवर्ष लगभग ५५ वे ६० हजार तक परीक्षार्थी दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (जिसका नाम अभी हाल में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा कर दिया गया है) की हिन्दी-परीक्षाओं में बैठते हैं।

एक माननीय सदस्य––वे केवल लिख-पढ़ सकते हैं। किन्तु अपना अभिप्राय व्यक्त नहीं कर सकते।

माननीय श्री पुरुषोतमदास टंडन––ऐसा सम्भव है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि इससे पता चलता है कि हिन्दी भाषा दक्षिण भारत के लिए कोई नई वस्तु न होगी। मेरी ऐसी धारणा थी कि हिन्दी को मद्रास की युवक पीढ़ी के निकट लानेके लिए १५ वर्षकी लम्वी अवधि की आवश्यकता न होगी। किन्तु जैसा पन्त जी ने कहा है, यह बात हमारे दक्षिण

के भाइयों के कहने की है कि उन्हें कितने समय की आवश्यकता है और मैं इस विचार से पूर्णतया सहमत हूँ कि इस विषय में हमें उनके साथ नहीं बाँधना चाहिए। हम उनको अपनी सेवाएँ अर्पित कर सकते हैं, किन्तु इस बात का फैसला हम उन पर ही छोड़ते हैं कि उन्हें कितना समय चाहिए, और वह कितने समय में अपनी जनता को संघ के प्रशासनिक कार्यों में हिन्दी का व्यवहार करने के लिए तैयार कर सकते हैं। हमने इसी बात को ध्यान में रख कर १५ वर्षों की अवधि स्वीकार की। पहले हमने ५ वर्ष, फिर बढ़ा कर १० वर्ष और अन्त में जब हमने देखा कि हमारे दक्षिण के भाई १५ वर्ष की अवधि चाहते हैं तो हमने इसे स्वीकार कर लिया। किन्तु श्री आयंगर के प्रस्ताव में एक कठोर प्रतिबन्ध है। वह यह कि ५ वर्ष और उससे भी अधिक समय तक अंग्रेजी के साथ के अतिरिक्त हिन्दी का प्रयोग ही न हो, जब तक एक कमीशन सिपारिश नहीं करता और वह राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत नहीं होती। यह मुझे कठोर उपबन्ध लगता है। यह कुछ कोमल हो सकता था। यह क्यों आवश्यक है कि हिन्दी को उन शासकीय कार्यों से पूर्णतया पृथक् रखा जाय, जिनमें हिन्दी का प्रयोग हमारे दक्षिण के मित्रों को किसी प्रकार की असुविधा पहुँचाये बिना ही किया जा सकता है? वर्तमान उपधारा के अनुसार भारतीय संघ का कोई मंत्री किसी सरकारी विषय पर किसी को हिन्दी में पत्र नहीं लिख सकता, जब तक कि उस पत्र के साथ अंग्रेजी अनुवाद न हो। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में तो हिन्दी के प्रयोग की कोई आशा नहीं है। अतः स्थिति यह है कि ५ वर्ष या उससे अधिक समय तक, जब तक कमीशन सिफारिश नहीं करता और वह राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृति नहीं होती, अंग्रेजी से अनुवाद करने के सिवा कोई कार्य हिन्दी में नहीं हो सकता। आप कोई पुस्तक अंग्रेजी में प्रकाशित कर सकते हैं और उसका हिन्दी में भी अनुवाद कर सकते हैं। बस, केवल इतना ही कार्य ५ वर्ष या उससे भी आगे तक हो सकता है। यह कठोर शर्त है। किन्तु फिर भी मैं इस बात को स्वीकार कर लेता हूँ कि अंग्रेजी के साथ के अतिरिक्त कोई काम ५ वर्षों तक हिन्दी में न हो।

आयोग की नियुक्ति, प्रस्तावित संशोधन

किन्तु मैं आपसे कहूँगा कि ५ वर्ष के बाद क्या होगा––इस बात पर विचार करें। श्री आयंगर के प्रस्ताव के अनुसार ५ वर्ष की समाप्ति पर एक कमीशन की नियुक्ति होगी जो भाषा के प्रश्न पर विचार करेगा। निश्चय ही इसका तात्पर्य ५ वर्ष की इस अवधि को २ वर्ष तक और बढ़ाना होगा क्योंकि कमीशन की नियुक्ति के बाद उसकी बैठकें होंगी और सम्भवतः वह समूचे देश का पर्यटन करने के बाद अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करेगा। उसके बाद एक संसदीय समिति बैठेगी, जो इस कमीशन के सुझावों पर विचार करेगी और फिर अपनी अन्तिम रिपोर्ट देगी। मेरा निवेदन है कि कमीशन की नियुक्ति ५ वर्ष की समाप्ति के 'पहले' ही की जाय। मैं कोई समय निर्धारित नहीं करता, मेरा तो संशोधन केवल यह है कि '५ वर्ष की समाप्ति पर' के स्थान पर '५ वर्ष की समाप्ति के पहले' कर दिया जाय, जिससे रिपोर्ट समय पर तैयार रहे

और सरकार ऐसी स्थिति में हो कि वह आदेश दे सके कि ५ वर्ष की समाप्ति के बाद हिन्दी-व्यवहार में जो परिवर्तन आवश्यक जान पड़े उनको लागू किया जा सके। यह छोटा सा संशोधन मैंने प्रस्तुत किया है और मुझे आशा है, कि वह स्वीकार कर लिया जायगा। इसका तात्पर्य केवल यह है कि ५ वर्ष की समाप्ति के पूर्व ही कमीशन की नियुक्ति हो जायगी। किन्तु मैंने अपने संशोधन में यह स्पष्ट कर दिया है कि जो कुछ भी सिपारिशें स्वीकृत होंगी उन्हें ५ वर्ष की समाप्ति के बाद ही लागू किया जायगा। मैं इस पर संतोष करूँगा कि ५ वर्ष के भीतर हिन्दी में केवल वही काम होगा जो अंग्रेजी का अनुवाद हो।

इसी प्रकार कुछ उपवाक्यों में मैंने कुछ संशोधन प्रस्तावित किये हैं। ऐसा अध्यक्ष महोदय ने निर्देश दिया है इन संशोधनों के विषय में यह मान लिया गया है कि वे पेश किए जा चुके हैं। अतः मैं उन्हें पढ़ूँगा नहीं, केवल उनका साधारण प्रयोजन बताऊँगा। एक संसदीय समिति का सुझाव दिया गया है और यह कहा गया है कि वह कमीशन की सिपारिशों पर रिपोर्ट देगी। मैंने एक छोटा उपवाक्य जोड़ दिया है कि यह समिति अपनी भी सिपारिशें दे सकती है, 'ऐसी सिपारिशें जिन्हें वह उपयुक्त समझें।' यह थोड़े से शब्द मैंने उस उपवाक्य में जोड़ दिए हैं, जिसका सम्बन्ध समिति की नियुक्ति और कमीशन की सिपारिशों पर उस समिति की रिपोर्ट से है। मेरी माँग केवल यह है कि यह संसदीय समिति भी, यदि उचित समझे तो, सिपारिशें करे और फिर सरकार समिति तथा कमीशन दोनों की सिपारिशों पर निर्णय करे।

३०१---ख, में मैंने यह संशोधन प्रस्तावित किए हैं।

अन्य संशोधन

जब मैं प्रादेशिक भाषाओं-सम्बन्धी अध्याय २, श्री आयंगर के प्रारूप की ३०१–ग धारा को लेता हूँ। इसमें कहा गया है कि––

"...कोई भी राज्य विधि द्वारा राज्य में व्यवहृत किसी भी भाषा को अथवा हिन्दी भाषा को राज्य के कुछ या समस्त शासकीय कार्यों में प्रयुक्त किये जाने की स्वीकृति दे सकता है।

मैं इससे सहमत हूँ। मैं उस उपबन्ध पर आपत्ति करता हूँ जिसमें कहा गया है––

"जब तक राज्य की विधान-सभा कानून द्वारा कोई दूसरी व्यवस्था नहीं करती तब तक अंग्रेजी भाषा राज्य के उन शासकीय कार्यों में प्रयुक्त होती रहेगी जिनमें उनका प्रयोग संविधान के आरम्भ होने के समय हो रहा था।"

मेरी समझ में नहीं आता है कि राज्यों में अंग्रेजी के प्रयोग को प्रोत्साहित करने की क्या आवश्यकता है। हो सकता है कि संविधान के आरंभ होने के समय उनमें कहीं-कहीं अंग्रेजी भाषा का प्रयोग हो रहा हो, किन्तु इसमें वे परिवर्तन करना चाहते हों। मैं जानता हूँ कि आपने यह व्यवस्था की है कि वे कानून द्वारा परिवर्तन कर सकते हैं, किन्तु हो सकता है कि वे अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं का भी प्रयोग करते हों। अतः मैं इस उपबन्ध के स्थान पर यह वाक्य रखना चाहता हूँ—

"जब तक कि राज्य की विधान सभा कानून द्वारा कोई दूसरी व्यवस्था नहीं करती तब तक वह भाषा या भाषाएँ जो राज्य के शासकीय कार्यों में संविधान के आरम्भ होने के समय प्रयुक्त हो रही थीं, उसी प्रकार प्रयुक्यत होती रहेगी।"

मेरे अपने ही राज्य में शासकीय कार्यों में हम लोग हिन्दी का व्यवहार कर रहे हैं। बिहार और मध्य प्रदेश में भी, मैं समझता हूँ, उसी का प्रयोग हो रहा है। तब फिर हमारे लिए यह क्यों आवश्यक हो कि हम एक नया कानून बना कर फिर से हिन्दी को स्वीकार करें। आज कल हम हिन्दी का व्यवहार सरकार के आदेश से कर रहे हैं, और इसलिए मेरे सुझाए हुए शब्द अधिक उपयुक्त होंगे।

फिर धारा ३०१-ई में कहा गया है कि 'जब राष्ट्रपति को इस बात का संतोष हो जाय कि राज्य की जनता का एक बड़ा अंश किसी अन्य भाषा का प्रयोग चाहता है तो वह आदेश दे सकते हैं कि उस भाषा को भी राजकीय मान्यता दी जाय।' मैं इससे सहमत हूँ, परन्तु मुझे उचित लगता है कि इस सम्वन्ध में कांग्रेस कार्य-समिति के निर्देश का अनसरण किया जाय और जनसंख्या का एक निश्चित अनुपात नियत कर दिया जाय। जिसकी माँग पर किसी भाषा को राजकीय मान्यता दी जा सके। मेरे विचार में कार्य-समिति ने २० प्रतिशत निर्धारित किया है जिसे हम भी स्वीकार कर सकते हैं। अन्यथा केन्द्रीय सरकार के लिए यह निर्णय करना कठिन हो जायगा कि वह किसे स्वीकृति करे और किसे अस्वीकृत। इस प्रकार से कुछ उलझन भी हो सकती है और कुछ प्रान्तों में कटुता भी बढ़ सकती है। यदि अनुपात स्थिर कर लिया जाता है तो केन्द्रीय सरकार का मार्ग स्पष्ट हो ।

और फिर अध्याय ३ में—"सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की भाषा के सम्बन्ध में उपस्थित प्रस्ताव—श्री आयंगर मुझे ऐसा कहने के लिए क्षमा करेंगे—स्पष्टतः प्रतिगामी है। आपने हिन्दी को राजकीय भाषा स्वीकार किया है। मैं मानता हूँ कि आप चाहते हैं कि हिन्दी शनैः शनैः अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करे। किन्तु यह तभी संभव है जब आप हिन्दी को कम से कम हिन्दी भाषी राज्यों में अंग्रेजी का स्थान लेने का अवसर देंगे। मैं जानता हूँ अहिन्दी प्रान्तों को हिन्दी के प्रयोग में कठिनाइयाँ हैं, किन्तु हिन्दी प्रान्तों को हिन्दी के व्यवहार में कोई कठिनाई नहीं है। आप कठिनाइयों को और भी बढ़ा चढ़ा कर न रखें। यह कहा गया है कि हिन्दी में उपयुक्त मुहावरे, वाक्यांश तथा पारिभाषिक शब्दावली अप्राप्य है। अस्तु यह बात आप उन पर छोड़ दीजिए जो हिन्दी में कार्य करेंगे। मेरे अपने ही प्रदेश में विधेयकों तथा अधिनियमों की मूल भाषा हिन्दी ही होती है। स्पष्ट ही हमारे दक्षिण के भाइयों के लिए हमारे इस कार्य से कोई कठिनाई नहीं होगी। आप हमें अपना सब कार्य अंग्रेजी भाषा में करने के लिए क्यों विवश करें, जब हम पहले से ही इसे हिन्दी में कर रहे हैं।

फिर आपका कहना है कि जहाँ तक सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों का सम्बन्ध है उनका कार्य भी १५ वर्षों तक अंग्रेजी भाषा में ही होना चाहिए। मैं इससे सहमत हूँ कि सर्वोच्च न्यायालय का कार्य १५ वर्षोंक त अंग्रेजी में हो किन्तु मेरा निवेदन है कि यह आवश्यक नहीं

है कि उस काल में सब उच्च न्यायालय (हाई कोर्ट) भी अपना कार्य अंग्रेजी में करें। उच्च न्यायालय दो श्रेणियों में विभक्त हो सकते हैं। राज्यों में कुछ ऐसे उच्च न्यायालय हैं जिनमें कुछ नये भी हैं जहाँ कार्य हिन्दी में हो रहा है और परम्परा से होता आया है। उदाहरणार्थ ग्वालियर अथवा इन्दौर को ले लीजिए। मुझे मालूम है कि वहाँ अंग्रेजी का भी प्रयोग हुआ है, बाहर से आए हुए कुछ न्यायाधीशों ने अपना काम अंग्रेजी में किया और उसकी उन्हें अनुमति भी दे दी गई किन्तु फिर भी बहुत-सा कार्य साथ-साथ हिन्दी में होता रहा है। क्या आप उसे रोक देंगे? इसी प्रकार एक उच्च न्यायालय राजस्थान में है और कुछ अन्य राज्यों में भी है। क्या आप इन उच्च न्यायालयों को हिन्दी में कार्य करने से रोक देंगे? उपस्थित प्रस्ताव के अनुसार इन उच्च न्यायालयों का समस्त हिन्दी-कार्य असम्भव हो जायगा। मेरा निवेदन है कि इसमें अवश्य ही परिवर्तन करना चाहिए।

साथ ही एक अन्य कोटि ऐसे उच्च न्यायालयों की है जो अपना काम अंग्रेजी में करते रहे हैं, किन्तु जो १५ वर्ष से कहीं पहले ही हिन्दी को अपना सकते हैं। मेरे अपने प्रदेश के या बिहार अथवा मध्य प्रदेश के ही उच्च न्यायालयों को ले लीजिए। मेरे मन में यह बात स्पष्ट है कि हमारा उच्च न्यायालय ५ वर्षों के पश्चात पूर्णतया हिन्दी में कार्य करना आरम्भ कर सकता है। धीरे धीरे आगामी ५ वर्षों में समस्त कार्य-पद्धति निश्चित की जा सकती है और हिन्दी की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाई जा सकती है। पारिभाषिक शब्दावली कोई अड़चन नहीं उपस्थित करेगी। उसका निर्माण तो हो ही रहा है। बहुत कुछ शब्दावली तो है ही और फिर आवश्यक शब्दावली का निर्माण कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। हिन्दी कोई नयी भाषा नहीं है। जब आयरलैण्ड ने अपना संविधान बनाया तो उसने आयरिश भाषा को अपनाया था। जिसमें न तो अधिक साहित्य था और न पर्याप्त शब्दावली ही थी। किन्तु फिर भी आयरलैण्ड ने उसे ही अपनाया। हमारी भाषा हिन्दी तो अत्यन्त शक्तिशाली भाषा है। श्री आयंगर ने कहा है कि इस भाषा में आवश्यक पारिभाषिक शब्दावली का नितान्त अभाव है। मैं उनकी इस उक्ति पर क्या कहूँ? उन्होंने स्वयं ही कहा है कि वे इस भाषा से परिचित नहीं हैं। और फिर भी वे इसके सम्बन्ध में अपना निर्णय दे रहे हैं। मेरा निवेदन है कि यह न्याय नहीं है। मैं तो कहता हूँ कि हिन्दी संस्कृत के साधनों-सहित जिस विषय में इस सदन में इतना कहा जा चुका है, जिसका मैं पूर्ण रूप से समर्थन करता हूँ--हिन्दी संस्कृत की सहायता से पारिभाषिक शब्दावली की समस्त कठिनाइयों का सरलता से सामना कर सकती है। मुझे तो ऐसा लगता है कि ५ वर्ष की अवधि की समाप्ति के पूर्व ही हम उच्च न्यायालय का काम हिन्दी में चला सकते हैं। किन्तु मेरा तो कहना है कि ५ वर्ष का यह समय तो पर्याप्त है ही। हमें इनकी आवश्यकता नहीं है कि पन्द्रह वर्षों की अवधि तक हमारा कार्य अंग्रेजी में ही चले। फिर इतनी लम्बी अवधि तक हमारे लिए यह अनिवार्य क्यों किया जाय कि हम अंग्रेजी में कार्य करते रहें? हमें विकास करने का यथेष्ट अवसर दीजिए और पन्द्रह वर्ष के बाद सभी प्रमुख कार्य, जैसे भारतीय संघ का कार्य करना सरल हो जायगा, क्योंकि हिन्दी-प्रदेश ऐसा वातावरण उत्पन्न

कर देंगे तथा वे उस पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण कर लेंगे जो समस्त देश के लिए सहायक होगी।

मौलाना हसरत मोहानी (युक्तप्रान्त मुस्लिम)—हिन्दी प्रान्तों से आपका क्या आशय है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैं उन प्रान्तों की ओर संकेत कर रहा हूँ जिन्होंने हिन्दी को अपनी राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया है उदाहरण के लिए युक्तप्रान्त ने औपचारिक रूप में हिन्दी को अपनी राजभाषा स्वीकार कर लिया है, इसी प्रकार बिहार ने भी किया है. . .

मौलाना हसरत मोहानी—क्या युक्तप्रान्त उर्दू प्रान्त है या हिन्दुस्तानी प्रान्त ?

माननीय पुरुषोत्तमदास टण्डन—यह आपका विचार हो सकता है मैं हिन्दी, हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू के झमेले में नहीं पड़ना चाहता। मेरा तो इतना ही कहना है कि युक्त प्रान्त में हिन्दी राजकीय भाषा मान ली गई है और इसी भाषा में सभी सरकारी अधिनियम और विधि कार्य आजकल स्वीकार किए जा रहे हैं। निस्सन्देह बहुत काम अब भी अंग्रेजी में हो रहा है किन्तु क्रमशः वह भी हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा होने लगेगा।

अंकों का प्रश्न

यह मेरे सुझाए गए कुछ साधारण परिवर्तन हैं। अब मैं ३०१—क सम्बन्धी अपने मुख्य संशोधन पर आता हूँ, जो अंकों के विषय में है। श्रीमन् ! मुझे ज्ञात है कि अंकों-सम्बन्धी विवाद से कुछ कटुता उत्पन्न हुई है। मैं उस कटुता को कदापि बढ़ाना नहीं चाहता, मैं यथासम्भव उसका निवारण करूँगा ? मुझे ज्ञात है कि मेरे मद्रास के मित्र हिन्दी-अंकों को बदलना चाहते हैं।

माननीय सदस्य गण—बंगाल भी।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैं यदि अशुद्ध कहूँ तो आप उसे सुधार सकते हैं, परन्तु मैंने अपने बंगाली मित्रों से ऐसा कभी नहीं सुना।

माननीय सदस्यगण—बम्बई भी। वास्तव में सब अहिन्दी भाषी लोग यही चाहते हैं।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मेरा निवेदन यह है कि कम से कम कहा जाय तो यह ठीक नहीं है कि सभी अहिन्दी भाषी क्षेत्र यह परिवर्तन चाहते हैं, पूछता हूँ कि क्या महाराष्ट्र के लोग इसे स्वीकार करेंगे ?

श्री शंकरराव देव—मैं कहता हूँ कि जो मेरा मत है वही महाराष्ट्रियों का भी मत होगा।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—महाराष्ट्र के विषय में मैं अपनी जानकारी से निवेदन करता हूँ कि लिपि समान होने के कारण यदि वहाँ जनमत संग्रह हो तो महाराष्ट्र के लोग तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को स्वीकार नहीं करेंगे।

माननीय सदस्य गण—यदि भारत में इस विषय को लेकर जनमत संग्रह हो तो हिन्दी चली जायगी।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैं माननीय सदस्यों से यह प्रार्थना करूँगा कि वे एक-एक करके मुझे टोकें और एक ही समय में अनेक लोग न बोलें। मुझे श्री शंकरराव देव और डा० अम्बेडकर का कथन सुन कर प्रसन्नता होगी।

माननीय डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी—इस विषय पर जनमत संग्रह क्यों न किया जाय?

श्री एच० जे० खाण्डेकर—(मध्य प्रदेश तथा बरार : साधारण) मैं भी महाराष्ट्रीय हूँ और मैं कह सकता हूँ कि वे अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को स्वीकार नहीं करेंगे।

डा० पी० एस० देशमुख—(मध्यप्रदेश तथा बरार : साधारण) मैं भी महाराष्ट्रीय हूँ और मैं कहता हूँ कि वे अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को स्वीकार नहीं करेंगे।

अध्यक्ष—यह आवश्यक नहीं है कि किसी प्रस्ताव विशेष पर सदस्य गण अपना व्यक्तिगत मत प्रकट करें।

माननीय डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी—माननीय सदस्य मत पूछ रहे हैं।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैंने अपना विचार उपस्थित किया, आप उससे सहमत हों या न हों। मैंने डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी से अपना मत प्रकट करने को नहीं कहा है। मैंने तो यह कहा था और यही बात अब भी मैं यहाँ कहता हूँ कि यदि यह विषय महाराष्ट्र के लोगों के सम्मुख रखा जाय तो वे इसे स्वीकार नहीं करेंगे। मेरा भी उस प्रान्त से सम्पर्क है। और मेरे मित्र श्री मुन्शी चाहे कुछ भी कहें मैं तो यही कहता हूँ कि यदि यह प्रश्न गुजरातियों के सम्मुख रखा जाय तो वे भी इसे स्वीकार नहीं करेंगे। (कई माननीय सदस्यों द्वारा अन्तर्बाधा) क्या यह आवश्यक है कि इतने अधिक लोग एक ही साथ बोलें? यदि एक व्यक्ति बाधा डाले तो मैं उसे सुन सकता हूँ किन्तु जब चार पाँच व्यक्ति एक ही साथ बोल पड़ते हैं तो मैं किसी की भी नहीं सुन पाता।

मैंने श्री शंकरराव देव की बात सुनी। वे कहते हैं कि यदि सम्पूर्ण संविधान जनता के सम्मुख रखा जाय तो वे उसे स्वीकार नहीं करेंगे।

श्री शंकरराव देव—उसमें से अधिकांश।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—यदि ऐसा है तो इसका अधिकांश रद्दी की टोकरी में फेंक देने योग्य है। यदि संविधान का कोई भी भाग देश की जनता को स्वीकार नहीं होगा तो उसको यहाँ स्वीकृत नहीं होना चाहिए। मैं अत्यन्त विनम्रतापूर्वक यह निवेदन करता हूँ कि मैं समूचे देश में इस विषय पर जनमत-गणना को सहर्ष स्वीकार कर लूँगा। यदि प्रान्त हिन्दी को स्वीकार नहीं करते तो मैं वहाँ के लोगों पर हिन्दी को कभी नहीं लादूँगा। फिर तो मैं तत्काल कहूँगा कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा नहीं होना चाहिए। हिन्दी को किसी प्रान्त पर क्यों थोपा जाय? यह तो प्रान्तों को निर्णय करना है कि वे हिन्दी को स्वीकार करते हैं या नहीं। वे चाहें तो अंग्रेजी को ही चालू रख सकते हैं। यदि उनका ऐसा विचार है तो मैं उसे स्वीकार करूँगा। किन्तु जनता की इच्छा को जानने का कोई मार्ग तो निकालना ही चाहिए। विद्यार्थियों की एक संस्था द्वारा हाल में एक परीक्षण मत संग्रह हुआ है। हम लोगों ने उसके विषय में पढ़ा है।

समस्त देश में जनता के विचारों को संगृहीत करने का कोई दूसरा उपाय भी अपनाया जा सकता है। ऐसा मद्रास में भी हो। यहाँ मेरे मित्र कुछ भी कहें मुझे तो आशा है कि मद्रास की बहुसंख्यक जनता हिन्दी चाहेगी।

कई माननीय सदस्य--नहीं, नहीं।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन--किन्तु यदि कोई जनमत ग्रहण सम्भव न हो तो मैं उन सबसे प्रार्थना करूँगा कि जिनके हाथ में आज सत्ता है कि वे अपने हृदयकी क्षीण वाणी को सुनें और कोई ऐसी छोटी सी बात स्वीकार न करें जो उन्हें लगता है कि जनता स्वीकार न करेगी।

मौलाना हसरत मोहानी--मैं युक्त प्रान्त में जनमत संग्रह की माँग करता हूँ कि वहाँ हिन्दी हो वा हिन्दुस्तानी। वहाँ एक भी व्यक्ति संस्कृतनिष्ठ हिन्दी नहीं बोलता।

अध्यक्ष--क्या मुझे यह बताना आवश्यक है कि इस संविधान सभा पर देश के संविधान बनाने का कर्तव्य सौंपा गया है। इस सभा के संविधान में जनमत संग्रह कराने का कोई प्रबन्ध नहीं है, अतः सम्पूर्ण संविधान या किसी भी अंश पर जनमत गणना का कोई प्रश्न नहीं है। अतः इस प्रश्न पर कोई विवाद नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह व्यर्थ होगा।

माननीय पुरुषोत्तमदास टण्डन--मैं उन व्यक्तियों से जिनके हाथ में आज सत्ता है इस विषय पर विचार करने का अनुरोध करता हूँ। मेरा यह प्रस्ताव नहीं है कि इस विषय पर अब प्रत्यक्ष जनमत लिया जाय। जनमत संग्रह है क्या? उसका सीधा तात्पर्य है जनता की इच्छा। यदि यह जनता पर छोड़ दिया गया होता तो वे क्या कहते? . . .

अध्यक्ष--जहाँ तक इस संविधान सभा का सम्बन्ध है, वह जनता की इच्छा को प्रतिबिम्बित करता है।

माननीय श्री आर० आर० दिवाकर (बम्बई, साधारण)--श्रीमन्! माननीय सदस्य जो कुछ कह रहे हैं वह इस सभा के सदस्यों पर आक्षेप है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन--यदि प्रत्येक बार जब भी हम जनता की इच्छा की ओर निर्देश करें, उस पर यह आपत्ति की जाय कि वह इस सदन के सदस्यों पर आक्षेप है तो आगे बढ़ना असंभव हो जायगा। कभी-कभी सदन के विचार जनता के विचार से भिन्न हो सकते हैं। जहाँ तक अंकों का सम्बन्ध है, मेरा कहना है कि आप उस पर मनन करें। संभवतः आपने अपने मत स्थिर कर लिए हैं। फिर भी मैं आपसे कहता हूँ कि आप मेरी बात सुनें। अंकों के प्रश्न पर उत्तेजित न हों।

माननीय डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी--यह हमारे लिए चेतावनी है

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन--आपने अपने ऊपर विचार स्थिर कर लिए हैं और आप अपने विरोधियों की हँसी उड़ाना चाहते हैं। यह आपको शोभा नहीं देता। मैं इस प्रश्न पर गंभीर हूँ। मैं जानता हूँ कि श्री आयंगर इस प्रश्न पर गंभीर हैं। यह विषय हमारी जनता के भविष्य से सम्बन्ध रखता है।

हम लोग कई वर्षों से राष्ट्रभाषा की बात करते आये हैं। सदन के समक्ष यह कोई नया विषय नहीं है। यह उन्नीसवीं शताब्दी की बात है कि राष्ट्रभाषा सम्बन्धी भावना ने बंगाल में रूप धारण किया, युक्तप्रान्त या बिहार में नहीं। मैं आपको उद्धरण दे सकता हूँ, किन्तु मैं सदन का समय नहीं लेना चाहता। बंकिमचन्द्र चटर्जी का मूल लेख मेरे पास है। इस विषय पर मेरे पास केशवचन्द्र सेन का मूल कथन है। सन् १९०८ ई० में 'बंदेमातरम्' में जिसके सम्पादक श्री अरविन्द घोष थे—जो कुछ छपा था, उसका मूल मेरे पास है...।

पं० लक्ष्मीकान्त मैत्र—(पश्चिमी बंगाल—साधारण) उस सबके लिए हमें पर्याप्त पुरस्कार मिल चुका है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—इस विचार को वहाँ रूप मिला और फिर तिलक ने उसका समर्थन किया तथा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने इसे उठा लिया है। मेरा अभिप्राय यह है कि यह आन्दोलन वर्षों से चला आ रहा है और लोगों ने कुछ निश्चित विचारधारा के अनुसार हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने के निमित्त कार्य किया है। यह बात लगभग मान ली गई है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा है और विभिन्न प्रान्तों में इसी धारणा पर कार्य होता रहा है। कुछ ही क्षण पहले मैंने मद्रास में होनेवाले कार्यों का उल्लेख किया है। मैं यह भी निवेदन कर दुँ कि बंगाल, आसाम, महाराष्ट्र, गुजरात तथा उड़ीसा में यह कार्य वर्षों से चल रहा बे। आज कल वर्धा से हिन्दी में परीक्षाएँ संचालित होती हैं और लगभग १,४०००० युवक और युवतियाँ जो हिन्दी भाषी प्रान्तों के नहीं हैं वरन् जो अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के हैं, प्रति वर्ष उनमें बैठते हैं। इससे पता चलता है कि यह नवीन विचार नहीं है और इस विचार के आधार पर देश मेंकार्य होता रहा है। क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि यह अंकों-सम्बन्धी विचार देश में कब से उत्पन्न हुआ है? यदि हिन्दी भाषा को लोगों ने अनेक वर्षों से प्रायः स्वीकार न कर लिया होता तो किसी भी सदस्य का साहस न होता कि उस भाषा की स्वीकृति के सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव इस सदन के सम्मुख प्रस्तुत करता। उसी आधार पर संविधान के प्रारूप के भाषा-सम्बन्धी खण्ड की रचना की गई। किन्तु लोगों में इन अंकों के सम्बन्ध में कितने समय के वाद विवाद उठा? केवल दो तीन सप्ताहों से।

माननीय श्री के० सन्तानम् (मद्रास, जनरल)—मैं माननीय सदस्य को सूचना देना चाहता हूँ कि यह प्रश्न दक्षिण में हमारे सम्मुख कम से कम १५ वर्ष पूर्व हिन्दी प्रचार सभा के सम्बन्ध में उठा था और हम लोगों ने निर्णय किया था कि दक्षिण में हिन्दी का प्रचार अंतर्राष्ट्रीय अंकों के साथ होना चाहिए।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन—मैं श्री सन्तानम् के कथन को ठीक मानता हूँ। मुझे इसका कभी ज्ञान ही नहीं था। परन्तु न तो श्री सन्तानम् ने और न मद्रास की हिन्दी प्रचार सभा ने ही कभी यह प्रश्न देश के सम्मुख उपस्थित किया।

श्री एम० सत्यनारायण (मद्रास, जनरल)—आप स्वयं १५ वर्ष पूर्व हिन्दी प्रचार सभा में थे।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन--जब हिन्दी प्रचार सभा से मेरा सम्बन्ध था तब नागरी अंकों का प्रयोग होता था। मैं यह सूचना अपने मित्र श्री सत्यनारायण को दे दूँ, जिनका इस सभा से सम्पर्क मेरे बहुत बाद में आरम्भ हुआ। जब मेरा उन सभा से सम्बन्ध था, तब उस सभा का मार्ग निर्देशन इलाहाबाद से होता था, तब सभी कार्य हिन्दी अंकों द्वारा किया जाता था। संभवतः अंग्रेजी अंकों को बाद में लाए बगैर आज भी मैं इन्हें स्मरण दिला दूँ कि इनकी प्रकाशित कम से कम कुछ हिन्दी पुस्तकों में नागरी अंक है। मैंने उनमें से कम से कम एक तो देखी है।

श्री एम० सत्यनारायण--यह सन् १९२७ की बात है।

माननीय श्री आर० आर० दिवाकर--हिन्दी, पंजाबी, उर्दू की क्या स्थिति होगी जिनमें आज कल इन अंकों का प्रयोग हो रहा है?

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन--जब आपने भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार किया है तब उसके अंकों को भी स्वीकार कीजिए। मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि इस विषय पर विचार कीजिए कि क्या हिन्दी पर अंग्रेजी अंक लादने का यह उपयुक्त समय है जबकि देश इस विषय में किन्हीं विचारों से तैयार नहीं है। मैंने अनेक बार कहा है कि मैं हिन्दी को किसी प्रान्त पर लादूँगा नहीं, परन्तु आप विधान द्वारा इस लिपि को समस्त राजकीय कार्यों के लिए उन सब पर प्रायः लादे जा रहे हैं, जो नागरी लिपि द्वारा अपना कार्य करते हैं। मैं आपसे कहता हूँ कि आप अपना हाथ वहीं रोक लें। प्रधान मंत्री ने बार-बार कहा है कि भाषाएँ स्वयं विकसित होती हैं और उनका जन्म एक दिन में नहीं होता। यह उन्होंने अनेक बार कहा है। (एक कण्ठध्वनि--वे ठीक है) वे ठीक कहते हैं। भाषाएँ विकसित होती हैं। परन्तु अंक भी विकसित होते हैं। (अंतर्बाधा) अंक भी स्वयं विकसित होते हैं और विकसित हुए हैं। (अंतर्बाधा) अंक लिपि के साथ ही विकसित हुए हैं। लिपि भी उसी भाषा के समान ही विकसित होती है, जिसमें उसका प्रयोग होता है। लिपि का जन्म एक दिन में नहीं होता। उसका सर्वांगीण विकास हुआ है--स्वर, व्यंजन और अंकों के साथ। वह एक कलापूर्ण सम्पूर्ण वस्तु है। आप इस सम्पूर्णता के मुख पर कोई चिप्पी नहीं लगा सकते। आज आप कहते हैं कि नागरी अंकों को निकाल दो, आप यह भी कह सकते हैं--यद्यपि आज आप यह नहीं कह रहे हैं--स्वरों को निकाल दो, अंग्रेजी-स्वरों का प्रयोग करो और केवल हिन्दी-व्यंजनों को ही रहने दो। मैं कहता हूँ कि आप अप्राकृतिक रूपता उत्पन्न करेंगे।

माननीय श्री एन० गोपाल स्वामी आयंगर--यह तो हास्य चित्र है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन--मेरे मित्र कहते हैं कि यह तो हास्य चित्र है। स्वरों को हटाते ही अनर्गलता को वह देख रहे हैं। जहाँ तक हम लोगों का सम्बन्ध है हमें अंकों के हटाने में भी अनर्गलता दिखलाई पड़ती है। इससे किसी को कोई लाभ नहीं होता। आप हमसे ऐसी वस्तु छीन रहे हैं जिससे आप धनी नहीं होते, किन्तु हम निश्चय ही निर्धन हो जाते हैं।

हमारे अंक हमारी प्राचीन सम्पत्ति है। यह भी कभी कहा गया है कि अंग्रेजी के यह अंक हमारे अंक हैं और यह प्रश्न किया गया है कि हम उन्हें फिर क्यों न अपना लें। मानो

हमारे अंक खो गए थे और हम उन्हें फिर से प्राप्त करने जा रहे हैं। ऐसी कोई बात नहीं है। इन अंकों का ज्ञान निश्चय ही हमारे देश से अरब द्वारा यूरोप पहुँचा। हम सबको इसका गर्व है। अन्य कई बातों में भी यूरोप हमारा ऋणी है। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि जो वस्तु हमारे बीच विकसित हुई है उसका हम परित्याग कर दें और उन वस्तुओं को जो मूलरूप से यहाँ से गई हैं उनको परिवर्तित स्वरूप में पुनः ग्रहण कर लें। अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उन्होंने उनके स्वरूप में परिवर्तन किए हैं और हमने भी अपने रूपों में अपनी बौद्धिक प्रणाली के अनुकूल किये हैं। परिस्थितियों और वातावरण के अनुसार सर्वत्र परिवर्तन होते हैं। हमारे देश में भी परिवर्तन हुए हैं। जैसा कि मैंने कहा हमारे अंकों का भी विकास हुआ है। वैदिक काल में वे एक विशेष प्रकार से लिखे जाते थे। फिर परिवर्तन हुआ और लगभग १६ वीं शताब्दी से वे वर्तमान रूप में लिखे जा रहे हैं। क्या हम इन रूपों को छोड़ दें जो इतने लम्बे समय से प्रयोग में आ रहे हैं? मैं कहता हूँ कि अन्तर्राष्ट्रीयतावाद कोई तर्क नहीं है और यह न्याय नहीं है कि इस प्रकार हम अपने लोगों से सहसा उनके अंकों को छोड़ने के लिए कहें।

माननीय श्री आर० आर० दिवाकर——आज कल हम लोग दक्षिण में उनका प्रयोग कर रहे हैं।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन——मैं श्री दिवाकर से यह प्रार्थना करूँगा कि वे धैर्य रखें। उन्हें फिर बाद में बोलने का अवसर मिल सकता है।

देवनागरी की पूर्णता

देवनागरी लिपि के सम्बन्ध में, जिसमें अंक भी सम्मिलित हैं, यह अधिकृत रूप से कहा गया है कि हमारी प्रणाली संसार की वर्तमान सभी प्रणालियों से सबसे अधिक पूर्ण है। मैं आपको एक दो उद्धरण सुनाऊँगा, यद्यपि मेरे पास कई हैं। यह, एक प्रोफसर मोनियर विलियम्स का उपस्थित करता हूँ——

"और अब कुछ शब्द देवनागरी अथवा हिन्दी-प्रणाली के सम्बन्ध में कहता हूँ। इसमें यद्यपि दो महत्वपूर्ण वर्णों की कमी है जो रोमन लिपि में जेड और एफ द्वारा प्रकट किए जाते हैं... (जिस अभाव की पूर्ति जैसा कि आपको विदित है, बिंदुओं द्वारा की गई है।) तथापि वह कुल मिला कर सबसे अधिक पूर्ण तथा समस्त ज्ञात वर्णमालाओं में सुडौल है। हिन्दुओं का विश्वास है कि यह सीधे पुनीत संस्कृत की सुडौलता के साथ उद्भूत समन्वय इसे मानवीय आविष्कार के स्तर से ऊँचा उठा देता है।"

स्वर्गीय सर आइजक पिटमैन ने जो ध्वनि-शास्त्र के बड़े आंग्ल आविष्कारक थे, कहा है——"यदि संसार में कोई भी वर्णमाला सर्वाधिक पूर्ण है तो यह हिन्दी की है।"

मैं अन्य उद्धरणों को नहीं पढ़ूँगा।

कुछ मित्रों का सुझाव था कि रोमन लिपि अपनायी जाय। उनके लिए यह उचित है कि वह उन उद्धरणों पर विचार करें जो मैंने अभी पढ़े हैं। मेरा विचार है कि सम्भवतः, जब हमारा देश शक्तिशाली बनेगा, यूरोपीय जातियाँ स्वतः हमारी वर्णमाला के विशेष गुण को

जानने की ओर आकर्षित होंगी। हमारी भाषा को रोमन लिपि देने का प्रश्न १९वीं शताब्दी में भी उठाया गया था। इँगलैण्ड के कुछ विद्वान् यहाँ के लोगों को रोमन लिपि से शिक्षा देना चाहते थे। इस पर लम्बा विवाद चला था और अन्त में ब्रिटिश सरकार ने निर्णय किया कि रोमन लिपि का प्रयोग इस देश में लाभकारी न हो सकेगा और नागरी लिपि सबसे अधिक उपयुक्त है। अब हमारी भाषा को रोमन रूप देने के विचार करने के दिन चले गए। मुझे आशा है कि इस प्रश्न पर अधिक बल न दिया जायगा।

संस्कृत--एक भाषा

संस्कृत के स्वीकार किये जाने के सम्बन्ध में भी, श्रीमन् ! कुछ कहा गया है। मैं संस्कृत प्रेमियों के सम्मुख अपना शीश झुकाता हूँ। मैं भी उनमें से एक हूँ। मेरी संस्कृत से अनुरक्ति है। मेरा विचार है कि इस देश में जन्म लेनेवाले प्रत्येक भारतवासी को संस्कृत सीखनी चाहिए। संस्कृत में हमारी पुरातन परम्परागत सम्पत्ति सुरक्षित है। किन्तु आज मुझे ऐसा प्रतीत होता है—यदि उसे अपनाया जा सके तो मुझे प्रसन्नता होगी और मैं उसके पक्ष में मत दूँगा--किन्तु मुझे प्रतीत होता है कि यह व्यावहारिक प्रस्थापना नहीं है कि संस्कृत को राजकीय भाषा स्वीकृत किया जाय।

श्री लक्ष्मीकान्त मैत्र--पन्द्रह वर्ष के पश्चात् यह बिल्कुल ठीक हो जायगी, यद्यपि आज नहीं है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन--मैं नहीं समझता कि आज हमारे लिए अपने संविधान में यह कहना संभव होगा कि हिन्दी के स्थान पर संस्कृत को रखना चाहिए। मैं समझता हूँ कि सबसे व्यावहारिक विचार हिन्दी को राजकीय कार्यों की भाषा स्वीकार करना है।

श्री महावीर त्यागी--श्रीमन् ! अंकों के सम्बन्ध में आपका क्या संशोधन है ?

मध्य मार्ग

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन--अतएव मेरा निवेदन है कि इस सर्वांगपूर्ण देवनागरी लिपि में जो अनादिकाल से चली आ रही है, हमें हिन्दी को राजकीय भाषा बनाना चाहिए। यह उचित नहीं है कि एकाएक जबकि जनता को इस विषय का ज्ञान नहीं है, और
चाहिए। यह उचित नहीं है कि एकाएक जबकि जनता को इस विषय का ज्ञान नहीं है, और
न यह विषय ही पर्याप्त समय तक उसके सामने रहा है, संविधान सभा यह निर्णय कर दे कि उस लिपि से नागरी अंक पृथक् कर दिये जायँ और उनके स्थान पर तथा कथित अन्तर्राष्ट्रीय अंक अथवा अंग्रेजी अंक रख दिए जायं। दक्षिण भारत के सदस्य अंग्रेजी अंकों के प्रयोग के प्रति कुछ भावुक हैं क्योंकि वे उन्हें अपनी भाषाओं में प्रयुक्त करते हैं। मैं शान्तिप्रिय व्यक्ति हूँ। मैं यथासंभव कोई झगड़ा नहीं करना चाहता।

मेरे मित्र डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने मुझसे एक प्रकार की व्यक्तिगत अपील की है। मैं इसके लिए उनका आभारी हूँ। मेरी भी इच्छा है कि हमारा भाषा-सम्बन्धी प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकृत हो सके। इसी अभिप्राय से यद्यपि मेरी प्रबल भावना है कि देवनागरी अंकों के विषय में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाय तथापि अपने दक्षिण के मित्रों की इच्छा-पूर्ति के लिए एक सुझाव प्रस्तुत करता हूँ। मुझे आशा है कि आपके लिए उसे स्वीकार करना संभव होगा। मैं कहता हूँ कि पन्द्रह वर्षों तक देवनागरी लिपि के भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों प्रकार के अंकों को मान्यता दे दी जाय और फिर राष्ट्रपति अथवा सरकार, समय-समय पर निर्णय करें कि किस कार्य में एक प्रकार के अंकों का प्रयोग हो और किस कार्य में दूसरे प्रकार के अंकों का प्रयोग हो। सरकारी कार्य कई वर्षों तक अंग्रेजी में होगा। कुछ मित्रों ने विशेषकर श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने सुझाया है कि सांख्यिकी हिसाब की बहियों तथा बैंकों के कार्यों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के प्रयोग की अनुमति दी जाय। मैंने देखा कि वे इस सबम्ध में बहुत उत्सुक थे। अतएव मैंने एक उपवाक्य में यह रखा है कि जहाँ तक इन विषयों का सम्बन्ध है इनमें १५ वर्ष की पूरी अवधि तक केवल अंग्रेजी भाषा का प्रयोग हो। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को रखने का मुख्य प्रयोजन अंग्रेजी भाषा के प्रयोग से ही सिद्ध हो जायगा। जिसमें अंग्रेजी अंकों का प्रयोग तो होगा ही। मैं नहीं समझता कि कोई भी यह चाहता है कि साधारण हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशन में अंग्रेजी अंकों का प्रयोग हो। पर यह भी मैंने सरकार पर छोड़ दिया है। यदि सरकार किसी कार्य विशेष के लिए अंग्रेजी अंकों का प्रयोग करना चाहती है तो वह ऐसा कर सकती है। आवश्यकता पड़ने पर ही वह केवल हिन्दी अंकों का प्रयोग करे। मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप इस मध्य मार्ग को स्वीकार कर लीजिए और यह आग्रह मत कीजिए कि सदा सर्वदा के लिए देवनागरी अंकों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय अंकों का ही प्रयोग होना चाहिए। (अन्तर्बाधा) मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि उस प्रस्ताव को यहाँ स्वीकार न कीजिए क्योंकि ऐसा करके आप हिन्दी के व्यवहार करनेवालों के प्रति बहुत कठोरता करेंगे। उनके मन इस प्रकार के परिवर्तन के लिए तनिक भी धैयार नहीं है। (अन्त-र्बाधा) देवनागरी को राष्ट्रलिपि और हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेने के अनन्तर हम सब लोगों के लिए सम्भव होगा कि सम्मेलनों में भाग लेकर निश्चय करें कि देवनागरी लिपि में किन परिवर्तनों की आवश्यकता है। हमारी पद्धति पूर्ण है किन्तु कुछ अक्षरों के रूपों में परिवर्तन करने की आवश्यकता है और कुछ नए अक्षर के रूपों में परिवर्तन। मेरा निवेदन है कि तुम सबके लिए वर्तमान नागरी लिपि को स्वीकार कर लेने के बाद यह सम्भव होगा और विशेषकर भारत सरकार के लिए यह आवश्यक होगा कि वह लिपि और अंकों में वर्तमान ससय की आव-श्यकताओं के अनुसार परिवर्तनों पर विचार करने के लिए सम्मेलन बुलावे। प्रधान मंत्री जी ने यह कहा कि छापे की सामग्री, कम्पोज करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अंक अधिक उपयुक्त हैं। उनके प्रति आदर प्रकट करते हुए मेरा कथन है कि उनको प्रेस के कामों के बारे में जानकारी नहीं है। छापे के काम करनेवालों में से जिन लोगों के सम्पर्क में मैं आया हूँ, उनका कहना

है कि उनके लिए हिन्दी या अंतर्राष्ट्रीय अंकों के प्रयोग में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कम्पोज करने का सबसे अच्छा काम मोनों टाइप या लीनो टाइप यंत्रों पर होता है। मेरा तो निवेदन है कि हमारे अंक अधिक कलापूर्ण हैं और हमारे अक्षरों के स्वरूप के अनुरूप हैं। मैं आपसे इस मध्यम मार्ग को उसी भावना से स्वीकार करने की प्रार्थना क ता हूँ जिससे प्रेरित होकर मैंने यह प्रस्ताव आपके सम्मुख रखा है। मैं आपको और अधिक कटुता से बचाने का अनुरोध करता हूँ। अन्यथा यह बात यहाँ पर समाप्त नहीं हो सकती, क्या आप समझते हैं कि इस बात पर आन्दोलन नहीं होगा? यह बात उन लोगों के हृदयों में अवश्य खटकेगी जो इन अंकों का प्रयोग करते आए हैं। और उनसे प्रेम करते हैं। चाहे वे हिन्दी भाषी हों या मराठी भाषी हों या गुजराती भाषी हों हम आपको तमिल या तेलुगु लिपियों में तनिक भी हस्तक्षेप नहीं कर रहे हैं, किन्तु आप यहाँ हमारी नागरी लिपि में हस्तक्षेप कर रहे हैं।

श्री एल० कृष्णास्वामी भारती (मद्रास, साधारण)--यह तो केवल राजकीय प्रयोजनों के लिए ही है।

माननीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन--मैं जानता हूँ कि यह केवल भारत सरकार के शासकीय प्रयोजनों के लिए है। किन्तु यदि एक बार भारत सरकार यह आरम्भ कर देती है तब यह निश्चय ही निचले स्तरों में उतरेगी क्योंकि सरकार समस्त कार्यवाहियों का केन्द्र है। इसी कारण से हम इस पर आपत्ति करते हैं। यदि आप कृपया मेरी बात सुनेंगे तो अन्यन्त विनम्रता से मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि मैंने जो मध्यम मार्ग आपके सम्मुख उपस्थित किया है, उसे आप स्वीकार करें और मेरे संशोधनों को मान लें।

श्री संतकुमार टंडन

बाबू जी के प्रेरक जीवन-प्रसंग

(१)

भारतीय देहाती मजदूरों को बहका कर, प्रलोभन देकर, अंग्रेजों की मजदूरी के लिए फिजी, नेटाल आदि द्वीपों को प्रवासित कर दिया जाता था। अर्काटी लोगों द्वारा मजदूरों की इस प्रकार की भर्ती के विरुद्ध जनता में बड़ा रोष हुआ। एक दिन बाबूजी (टण्डन जी) को सूचना मिली कि अर्काटी लोग कुछ देहाती मजदूरों को बहका कर ले आए हैं और उन्हें किले में (प्रयाग के) इकट्ठा कर रखा है। उन्होंने इसके विरोध में आन्दोलन शुरू कर दिया। बाबूजी की वकालत के प्रारम्भिक वर्ष थे। अंग्रेज जिलाधीश को उनके इस आन्दोलन के विषय में ज्ञात हुआ तो दूसरे ही दिन उसने उन्हें कोर्ट में अपने कमरे में बुलवाया। पहिले तो उसने बाबूजी को भय दिखा कर निरस्त करना चाहा। कहा कि इस प्रकार के आन्दोलन से उनका भविष्य बिगड़ जाएगा। बाबूजी पर आतंक या भय का प्रभाव क्यों पड़ने लगा? तब उसने बाबूजी को अनेक प्रलोभन दिए। बहुत तरह समझाया, ऊँचा-नीचा दिखलाया। उसने देखा, बाबू जी पर किंचित् प्रभाव नहीं, वे अपनी ही बात पर दृढ़ हैं। जिलाधीश ने क्रोध में कहा, "लगता है, तुम अंग्रेजों के विरोधी हो।"

"आपको यह बात समझने में बहुत समय लगा!" बाबूजी ने तत्काल निर्भीक स्वर में कटाक्ष करते हुए उत्तर दिया।

अंग्रेज जिलाधीश बाबूजी के इस उत्तर से, उनकी दृढ़ता, निर्भीकता, तत्परता से अवाक् रह गया। उस समय ऐसा तपाक और दो टूक उत्तर एक अंग्रेज अफसर को बाबूजी जैसा ही साहसी व्यक्ति दे सकता था।

(२)

बाबूजी ने सन् १९०८ से इलाहाबाद उच्च न्यायालय में वकालत शुरू की। घटना सन् १९०९ की है। बाबूजी को उच्च न्यायालय में केवल वर्ष भर हुआ था। बाबू जी बेञ्च के समक्ष किसी मुकदमे में बहस कर रहे थे। बेञ्च में मुख्य न्यायाधीश जान स्टेन्ल भी थे। जान महोदय से बड़े से बड़े वकील भी त्रस्त और भयग्रस्त रहते थे। कारण, बहस के दौरान वे बुरी तरह फटकार दिया करते थे। सभी वकील बहस के समय उनसे डरते रहते थे।

बाबूजी ने अपनी बहस के समय कोई तर्क रखा। नीचे के जज ने अपने फैसले में बाबू जी की बहस का जो विवरण लिखा था उसमें उस तर्क का कोई उल्लेख नहीं था। मुख्य न्यायाधीश महोदय ने समझा, बाबूजी कोई नया तर्क पेश कर रहे हैं! वह तर्क एक जज के समक्ष नहीं रखा गया होगा।

जान महोदय ने पूछा, "आपने यह तर्क एक जज के सामने क्यों नहीं पेश किया ?"

बाबूजी ने कहा, "मैंने उनके समक्ष यह तर्क प्रस्तुत किया था। जज महोदय ने अपने निर्णय में इसका उल्लेख नहीं किया। क्यों? मुझे पता नहीं।"

अपने उसी तर्क के आधार पर बाबूजी ने अपनी बहस जारी रखी। थोड़ी देर बाद जान महोदय ने पुनः हस्तक्षेप करते हुए कहा, "जिस एक जज के सामने बहस हो चुकी है, उसकी स्मृति बड़ी तेज है। वे आपके इस तर्क को अपने फैसले में लिखने से कैसे भूल सकते थे ?"

यह सुनना था कि बाबूजी का गुस्सा बढ़ गया। उनका चेहरा तमतमा गया। उन्हें लगा कि प्रकारान्तर से उन पर झूठ बोलने का आरोप लगाया जा रहा है।उन्होंने धैर्य और संयम से काम लिया और दृढ़ता-पूर्वक कहा, "मैं आपके सामने अपने मुकदमे की बहस के लिए प्रस्तुत हुआ हूँ। अपनी सच्चाई और ईमानदारी के लिए आपका फैसला लेने नहीं आया हूँ।"

यह उक्ति बाबूजी के संयम की ही नहीं, उनकी दृढ़ता, निर्भीकता और साहस का भी परिचय देती है।

(३)

एक बार पेन्सिल बनानेवाले किसी स्वदेशी कारखाने का प्रतिनिधि बाबूजी के पास आया। उसने अपने कारखाने की बनी हुई पेन्सिलें बाबूजी को दिखलाईं। वे बड़ी देर तक पेंसिलें देखते रहे। अंत में उन्होंने कुछ पेन्सिलें अपने लिए छाँट लीं। पेंसिलें लेकर बाबूजी ने उनका मूल्य पूछा।

प्रतिनिधि बड़े संकट में पड़ा। वह तो बाबूजी को अपने कारखाने की पेंसिलें उपहार में देने आया था। बाबू जी उनका मूल्य पूछ रहे थे। वह भला क्या मूल्य बतलाता और कैसे ?

बाबूजी बिना मूल्य दिए पेंसिलें लेने को तैयार नहीं थे।

बाबूजी के सचिव भी वहाँ उपस्थित थे किन्तु बाबूजी के स्वभाव और सिद्धान्त से परिचित होने के कारण प्रतिनिधि की कोई सहायता करने में वे असमर्थ थे। बाबूजी प्रतिनिधि से स्वयं विवाद कर रहे थे। उनके विवाद में बड़ी मधुरता थी। फिर कोई कैसे हस्क्षेप करता।

अन्त में बाबूजी ने पेंसिलों का मूल्य दो रुपया निर्धारित किया और मूल्य देकर ही उन्होंने पेंसिलें स्वीकार कीं।

(४)

नवम्बर सन् १९२८ में लाला लाजपतराय का निधन हो गया। वे लोक-सेवक मण्डल (सर्वेन्ट्स आफ द पीपुलसोसाइटी) के सभापति भी थे। इस रिक्त स्थान की पूर्ति का प्रश्न था। मण्डल ने गाँधी जी को इस पूर्ति का भार सौंपा। गांधीजी ने कहा कि टण्डनजी से अधिक योग्य उपयुक्त श्रेष्ठ व्यक्ति अन्य नहीं। गांधी जी ने बाबूजी से निवेदन किया कि वे इस पद को सँभाल लें। बाबू जी उस समय पंजाब नेशनल बैंक के लाहौर स्थित कार्यालय में मंत्री थे। वहाँ वे १५०० रुपए मासिक पा रहे थे। उन पर अपने एक बड़े परिवार का भार था। अतः इस पद को छोड़ कर लोक सेवक-मण्डल की अध्यक्षता स्वीकार करने में कठिन आर्थिक समस्या थी। तथापि वे गांधी जी की इच्छा को न टाल सके। बैंक की सेवा से तिलाँजलि देकर जनवरी १९२९ में वे मण्डल के सभापति हो गए। बाबूजी ने मोह-विरत त्वरित निर्णय लिया था। इस त्याग ने उन्हें और भी ऊँचा उठा दिया। गांधी जी ने उनके त्याग, देशप्रेम और सेवा-भावना की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

(५)

बाबू जी कलकत्ते के बिरला पार्क में अतिथि थे। उनकी सुविधा के लिए वहाँ पूरा प्रबंध था। एक बार हाथ धोने के लिए एक सज्जन ने उन्हें साबुन दिया। बाबू जी ने कहा, "गाँव से आकर तुम्हें शहर की हवा लग गई? साबुन से हाथ साफ नहीं होता, मिट्टी से होता है। . . .यहाँ मिट्टी मिल सकती है?" और बाबूजी ने मिट्टी के गुण बखान कर डाले। जब उन्हें मिट्टी दी गई तो वे बड़े प्रसन्न और संतुष्ट हुए।

(६)

सन् १९५७-५८ का प्रसंग है। प्रयाग के साहित्यकारों ने बाबूजी को अभिनंदित कर अभिनंदन ग्रंथ समर्पित करने का निश्चय किया। इसके लिए कार्यालय खुला, तदर्थ समितियाँ बनीं, पत्राचार शुरू हुआ। बाबूजी उन दिनों दिल्ली में थे। उन्हें इस आयोजन की सूचना पत्र लिखकर दी गई। उन्होंने अभिनंदन लेना अस्वीकार करते हूए आयोजकों को लिखा, "व्यर्थ के कामों में अपनी शक्ति क्यों गँवाते हो? मुझे इस प्रसंग में कोई रुचि नहीं है।"

बाबूजी के इस उत्तर पर आयोजन समाप्त कर दिया गया। लोग जानते थे कि जिस विषय में उनकी रुचि नहीं, उसके लिए उन्हें सहमत करना, स्वीकृति पाना संभव नहीं।

फिर, सन् १९६० में दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने बाबूजी को अपने अभिनंदन के लिए विवश कर ही दिया। उस समय वे अपने गृह प्रयाग में थे और बहुत बीमार थे। अस्वस्थता के कारण उनमें विरोध या आपत्ति की अब उतनी प्रबल शक्ति नहीं थी। तथापि बाबूजी ने श्री गोपालप्रसाद व्यास को पत्र लिखा कर सूचित किया, ". . .आप लोग यह प्रपंच क्यों कर रहे हैं?"

व्यास जी और अन्य आयोजक धुन के पक्के थे। उन्होंने श्री लालबहादुर शास्त्री जी को आयोजन का अग्रणी बना लिया था। वे ही बाबूजी को अपने प्रेमपूर्ण आग्रह से अभिनंदन स्वीकार करने के लिए विवश कर सकते थे। जब सारी योजना बन गई, अभिनंदन ग्रंथ समर्पण के लिए राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी ने स्वीकृति दे दी, तिथि निश्चित हो गई और प्रयाग में समारोह की तैयारियाँ भी होने लगीं, तब व्यास जी अपने दल-सहित बाबूजी के .पास प्रयाग आए। इतना सब हो जाने पर भी बाबूजी को बड़ी मुश्किल से वे लोग अभिनंदन ग्रन्थ लेने के लिए तैयार कर सके। फिर तो निस्पृह, त्यागी, संत सदृश राजर्षि का अभिनंदन प्रयाग की पावन भूमि पर मंगलपूर्वक हो ही गया।

श्री नरेशचंद्र चतुर्वेदी

राजर्षि टंडन जी : तपस्या और सेवा के प्रतीक

राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों में त्याग, तपस्या, देशभक्ति, हिन्दी सेवा, संस्कृति और सदाचार के लिए महात्मा गांधी के सहयोगियों में जिस एक नाम को सर्वाधिक आदर के साथ स्मरण किया जायगा वह नाम है राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन का।

टंडन जी व्यक्ति नहीं संस्था थे। अपने देश में किसान आन्दोलन के वे जन्मदाता थे। कानून के पंडित होने पर भी सत्यता और सादगी में उनके जीवन का अभिन्न संबंध रहा। टंडन जी के समान शुद्धाचरण और न्यायनिष्ठ व्यक्ति मिलना दुर्लभ ही कहा जा सकता है। अपने जीवन में वे जितने ही सत्यवादी थे, उतने ही सिद्धांत पालन में कट्टर भी। कथनी और करनी की एकता में गांधी जी के पश्चात् कदाचित् अकेले टंडन जी का ही नाम लिया जा सकता है। कबीर का निम्नलिखित दोहा टंडन जी अपने भाषणों में प्रायः सुनाया करते थे—

सिंहन के लहँडे नहीं हंसन की नहिं पाँत।
लालन की नहिं बोरियाँ साधु न चले जमात ।।

जैसे सिंह झुंड बाँधकर नहीं रहते, हंस पंक्तिबद्ध होकर नहीं उड़ते, लाल बोरियों में नहीं भरे जाते और साधु जमात बनाकर नहीं चलते अर्थात महत्वपूर्ण चीजों की बहुतायत नहीं होती। ठीक यही बात टंडन जी के लिए भी लागू होती है। गांधी युग में टंडन जी वैसे सत्पुरुष विरल ही मिलेंगे। वे महामना मालवीय जी के उत्तराधिकारी और गांधी जी के अनन्य अनुयायी थे। परन्तु हिन्दी के प्रश्न को गांधी जी ने राजनैतिक कारणों से उसे देश की आवश्यकता के बजाय राजनीति से जोड़ा तो टंडन जी ने महात्मा गांधी जी का भी प्रत्याख्यान किया। अत्यंत विनम्रता किन्तु पूरी दृढ़ता के साथ हिन्दी और देश के हित में उन्होंने गांधी जी के दो लिपियों में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी के सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी संस्था को राष्ट्रीय स्तर पर गांधी जी के असहयोग के बावजूद प्रतिष्ठित करके प्रभावशाली ढंग से चलाते रहना टंडन जी की अदम्य संगठन शक्ति का ही परिणाम था।

टंडन जी जब प्रथम बार कांग्रेस अध्यक्ष पद के लिए खड़े हुए थे तब वे डा० पट्टाभि सीतारामैया के मुकाबले थोड़े से वोटों से पराजित हो गये थे क्योंकि नेहरू जी का तीव्र विरोध और देश के सभी नेताओं का नेहरू जी के पक्ष में होने के कारण उन्हें पराजित होना पड़ा था किन्तु जब दूसरी बार से कांग्रेस अध्यक्ष पद के लिए खड़े हुए तब वे आचार्य कृपलानी और शंकर

राव देव को हरा कर भारी बहुमत से विजयी हुए थे। पं० नेहरू इस बार भी उनके विरोध में थे। और स्वयं टंडन जी दुबारा चुनाव लड़ने के इच्छुक नहीं थे किन्तु सरदार बल्लभभाई पटेल के आग्रह के कारण उन्होंने दुबारा कांग्रेस अध्यक्ष पद का चुनाव लड़ना स्वीकार किया था। यूँ तो राजर्षि टंडन और पं० जवाहर लाल नेहरू के नीति-संबंधी मतभेद थे ही परन्तु कांग्रेस अध्यक्ष निर्वाचित होने के बाद से यह मतभेद अधिक उग्र होकर अपनी चरम सीमा को पहुँचे। नेहरू जी का दृष्टिकोण काल्पनिक और अन्तरराष्ट्रीय अधिक था। जबकि टंडन जी पथार्थवादी और राष्ट्रीयता को महत्त्व देते थे। सरदार पटेल से भी नेहरू जी के मतभेदों का यही कारण था और महात्मा गांधी जी के उत्तराधिकारी होने के बावजूद नेहरू जी गांधी जी की राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत दूर ही रहे।

प्रधान मंत्री पद पर नेहरू जी और सत्तारूढ़ दल कांग्रेस के प्रधान पद पर राजर्षि टंडन जी और दोनों की दृष्टियों में मौलिक अन्तर और दोनों ही सिद्धांतों से समझौता न करनेवाले थे अतः स्वाभाविक था कि मतभेद गम्भीर से गम्भीरतर हो जाते। इसमें सरदार पटेल की मृत्यु से और भी परेशानी हुई और पं० नेहरू जी ने टंडन जी से असहयोग शुरू कर दिया। मामला यहाँ तक बढ़ा कि या तो नेहरू जी अपने पद से हटें या टंडन जी अलग हों। टंडन जी के सहयोगी तथा तत्कालीन कई कांग्रेस नेताओं ने नेहरू जी को अलग करने के लिए टंडन जी पर दबाव डाला परन्तु टंडन जी ने किसी की भी एक न सुनी और अपने मित्रों तथा सहयोगियों के आग्रह और अनुरोध के बावजूद स्वयं ही कांग्रेस अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया और कांग्रेस का नेतृत्व भी नेहरू जी को सौंप दिया। त्यागपत्र देने के दो चार दिन पूर्व ही जब वे दिल्ली से प्रयाग जाते हुए रास्ते में कानपुर स्टेशन पर मुझे मिले तब मेरे यह कहने पर कि "आप वर्किंग, कमेटी से नेहरू जी का त्यागपत्र स्वीकार क्यों नहीं कर लेते?" जो उत्तर उन्होंने दिया वह आज भी मेरे कानों में गूँजता रहा और टंडन जी की महानता में चार चाँद लगा देता है। टंडन जी ने कहा था "तुम पागल हो गये हो क्या? जवाहरलाल की देश को बहुत जरूरत है। मैं अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के लिए जवाहरलाल को कांग्रेस और देश के नेतृत्व से हटाकर देश का नुकसान नहीं कर सकता।"

ऐसा नहीं कि पं० जवाहरलाल नेहरू के व्यवहार से उन्हें शिकायत नहीं थी मगर देश की जरूरत और नेहरू जी की क्षमता पर उनका अगाध विश्वास था। यूँ नेहरू जी उनसे आयु तथा सार्वजनिक जीवन में जूनियर भी थे और टंडन जी पंडित नेहरू को हृदय से अधिक स्नेह भी करते थे। यही कारण था कि जब टंडन जी ने कांग्रेस अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देकर पं० नेहरू को कांग्रेस सौंप दी और नेहरू जी ने कांग्रेस अध्यक्ष बन कर वर्किंग कमेटी के एक सहयोगी सदस्य के रूप में टंडन जी से सहयोग की याचना की तब नेहरू जी के आग्रह के समक्ष झुककर उन्होंने नेहरू जी की वर्किंग कमेटी की सदस्यता स्वीकार कर ली। इतना ही नहीं नीति-संबंधी मामलों में नेहरू जी और टंडन जी के मतभेद बहुत गहरे थे, फिर भी नेहरू जी ने जब टंडन जी को लोक-सभा के लिए इलाहाबाद से चुनाव लड़ने के लिए अनुरोध किया तब

पहले उन्होंने अस्वीकार कर दिया और जब बहुत आग्रह अनुरोध के साथ नेहरू जी भी रफी अहमद किदवई को भेजकर इस स्थान के लिए टंडन जी से पुनः अनुरोध किया तो उन्होंने चुनाव लड़ना स्वीकार कर लिया। टंडन जी की लोकप्रियता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि वे इलाहाबाद शहर की लोक-सभा सीट के लिए निर्विरोध निर्वाचित हुए थे।

तथाकथित नेहरूवादी टंडन जी को प्रायः मुस्लिम-विरोधी और धार्मिक व्यक्ति कह कर उनकी शुद्ध राष्ट्रीय दृष्टि का और खरी राष्ट्रीयता का उपहास किया करते थे ऐसे लोगों के मुंह पर उस समय करारा तमाचा लगा था जब कि इलाहाबाद के मुसलमानों ने बड़ी सभा करके यह घोषणा की कि "अगर बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन इलाहाबाद से लोक सभा के लिए कांग्रेस उम्मीदवार बनना मंजूर करेंगे तो शहर के सभी मुसलमान उनका समर्थन करेंगे और कोई भी मुसलमान उनके विरोध में नहीं खड़ा होगा।" और यही हुआ भी जब टंडन जी ने उम्मीदवार बनना स्वीकार कर लिया तो जो लोग हिन्दू या मुसलमान उम्मीदवार के रूप में सामने आये भी थे, सभी ने नाम वापस ले लिए तथा टंडन जी निर्विरोध लोक सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। उस समय उत्तर प्रदेश में ही नहीं पूरे देश में एक टंडन जी ही ऐसे नेता थे जो सर्वसम्मत लोक-सभा की सदस्यता के लिए निर्वाचित हुए थे।

अपने आपको प्रगतिशील कहनेवाले कुछ लोग टंडन जी के हिन्दी प्रेम को उर्दू भाषा-द्रोह से जोड़ कर देखते थे। कदाचित इन लोगों को इसका ज्ञान भी नहीं था कि टंडन जी उर्दू-फारसी के बहुत अच्छे जानकार तथा उर्दू शेरोशायरी के बड़े शौकीन थे। अकबर इलाहाबादी उनके अत्यंत प्रिय शायर थे और अपने भाषणों तथा निजी बातचीत में टंडन जी बहुत से बढ़िया शेर अक्सर सुनाया करते थे।

स्वाधीनता के पश्चात् कांग्रेस सरकार ने पूरे देश में अंग्रेजियत का जो माहौल बना रक्खा था और स्वाधीन भारत की सारी कल्पनाएँ धूल धूसरित होकर वही पुरानी गुलामी की परिपाटी का बोलबाला था। सारा का सारा वातावरण पुरानी अफसर शाही का, हाँ, केवल देखनेवाली आँखें गरीब हिन्दुस्तानी की अवश्य थीं। स्वाधीन भारत में पराधीन भारत की प्रवृत्तियाँ घटने के बजाय बढ़ोत्तरी पर थीं। राजर्षि टंडन इस माहौल से बेचैन होकर अपने भाषणों में प्रायः निम्नलिखित शेर कहा करते थे :—

महफिल उनकी साकी उनका।
आँखें अपनी बाक़ी उनका।।

टंडन जी जितने दिन भी जिये देश और देशभाषा के लिए उनकी प्रत्येक साँस आई गई। टंडन जी की दूरदर्शिता को लोगों ने समझने की कोशिश नहीं की, स्वयं पं० जवाहरलाल नेहरू ने टंडन जी की उन चेतावनियों की उपेक्षा की जिनकी ओर वर्षों पूर्व टंडन जी ने ध्यान आकर्षित किया था। टंडन जी ने जो चेतावनियाँ देश के नेतृत्व को समय रहते ही दी थीं उनकी उपेक्षा

करके देश को वर्षों बाद उन्हीं परिस्थितियों से साक्षात्कार करना पड़ा। राष्ट्रभाषा हिन्दी का महत्वपूर्ण प्रश्न उलझा ही दिया गया था। टंडन जी तिब्बत पर किये गये नेहरू जी के समझौते को एक भारी भूल बताते हुए लोक सभा में जो व्याख्यान दिया था, वह अक्षरशः सत्य निकला। पाँच ही वर्ष बाद भारत के साथ चीन ने जो व्यवहार किया उसकी भविष्यवाणी टंडन जी ने वर्षों पूर्व भारतीय लोक-सभा में की थी। किन्तु उस समय हिन्दी-चीनी भाई-भाई के नारे में न नेहरू जी ने ध्यान दिया और न देश की जनता ने।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न देश की आजादी के बाद सबसे बड़ा राष्ट्रीय प्रश्न था। जिस पर देश की एकता और देश का ज्ञान-विज्ञान निर्भर करता है परन्तु इस प्रश्न को भी टाल मटोल कर जहाँ पहुँचा दिया गया उसके दुष्परिणाम देश के सामने हैं। पराधीन भारत को भाषा और भाव की दृष्टि से महात्मा गांधी ने एकराष्ट्र बना कर एकता के जिस सूत्र में गूँथ दिया था, स्वाधीन भारत के नेतृत्व ने उसे तारतार करके बिखेर दिया।

आज भाषा संघटन के बजाय विघटन की भूमिका बन गई है और राष्ट्रीयता, प्रादेशिकता तथा जातीयता के आघातों से चकनाचूर होते दिखाई देने लगी है।

टंडन जी के अंतिम दिन देश में फैली अव्यवस्था, विघटनवादी मनोवृत्ति और भष्टाचार के दुःख से पीड़ित होकर व्यतीत हुए। रुग्णता ने उन्हें इतना अशक्त बना दिया था कि वे उठ कर बैठ भी नहीं सकते थे इतने पर भी उन्हें हिन्दी और हिन्दुस्तानियों की चिंता निरंतर सताती रहती थी। एक क्षण भी ऐसा नहीं बीतता था जब कि उन्हें अपना देश और अपनी भाषा तथा संस्कृति भूली हो। राष्ट्र के प्रति सतत चिंतन उनका जीवन था। राष्ट्रभाषा की स्थिति के प्रति वे अत्यधिक चिंतित थे। संविधान की उपेक्षा करके कांग्रेस के केन्द्रीय शासन ने जो नीति अपनाई थी उसने उन्हें बहुत चोट पहुँचाई थी। मृत्यु से लगभग बीस-पचीस दिन पूर्व प्रयाग में जब मेरी उनसे अंतिम भेंट हुई तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए कार्यरत रहने की प्रेरणा देते हुए उन्होंने एक हलकी सी मुस्कान के साथ बड़ी मुश्किल से यह कहा था "मृत्यु से क्या भय ?" और एक शेर सुनाया —

दिला ! मुल्के अदम जाने से क्यों इतना तू डरता है ?
हजारों रोज जाते हैं यह रास्ता खूब चलता है ॥

टंडन जी जैसे महापुरुष रोज रोज जन्म नहीं लेते और जैसा कि सभी महापुरुषों के साथ होता आया है वही टंडन जी के साथ हुआ। महापुरुषों को प्रायः समझने में भूल की गई है, टंडन जी के साथ भी उनके देश में ऐसा ही हुआ। टंडन जी के सहज स्वभाव और उदारता का बहुत से लोगों ने अनुचित लाभ उठाया। उनके त्याग, तपस्या, दृढ़ता तथा निष्ठा का लाभ देश को मिलता यह भी इस अभागे देश की राजनीति ने नहीं होने दिया। उनकी महानता और दूर-दर्शिता को कभी कभी संकुचित अर्थ और संदर्भ देकर तथा कथित देशभक्त और हिन्दी सेवाओं ने उनके हृदय को मर्माहत किया। लेकिन इतने पर भी कदाचित् महापुरुष अपने जीवनदीप को

निरंतर प्रज्वलित रखते हैं कि उसके प्रकाश में चाहनेवाले मार्ग खोज लें और इसी उज्ज्वलादर्श को रखते हुए एक दिन वे पार्थिव रूप में इस लोक से विदा हो जाया करते हैं। पूज्य टंडन जी ऐसे ही एक आलोक-स्तंभ थे जिन्होंने देश के लाखों व्यक्तियों को अपने त्यागमय चरित्र, निष्ठापूर्ण जीवन तथा उच्चादर्शों से प्रेरणा प्रदान की और एक दिन उन्हीं महान् आदर्शों के प्रति अपने को समर्पित करके दूसरों को महान् आदर्शों के लिए सदैव संघर्ष करते रहने की शिक्षा देकर सदैव के लिए पार्थिव रूप से इहलोक से विदा हो गये।

वे प्रातःस्मरणीय और सर्वथा वन्दनीय महापुरुष थे—उनके चरणों में शतशः प्रणाम।

श्री विद्याभास्कर

ऐसा निर्भीक नेता कहाँ है ?

"पद और धन दोनों को या दोनों में से किसी एक को भी स्वीकार करने का प्रश्न जब कभी मेरे सामने आया है तभी मेरे हृदय ने इसका उत्तर इनकारी में दिया है।" यह शब्द हैं राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के, जो उन्होंने एक दिन आपसी बातचीत में कहे थे। प्रसंग यह था कि उनसे किसी राज्य के राज्यपाल का पद स्वीकार करने का आग्रह राष्ट्रपति की ओर से किया गया था और उसकी चर्चा सार्वजनिक रूप में प्रयाग में की जा रही थी। एक मित्र ने मुझे सम्बोधित कर कहा कि आपको अपने अखबार में इसके बारे में लिखना चाहिये और इस बात पर बल देना चाहिये कि राजर्षि को यह पद देना ही है तो ऐसे किसी बड़े राज्य का राज्यपाल बनाना चाहिये, जो उनके व्यक्तित्व और गौरव के अनुरूप हो। इसके पहले कि मैं इस सुझाव पर कुछ कह सकूँ या चर्चा के विषय को विस्तार से समझ सकूँ, राजर्षि ने उक्त वाक्य कह कर हम सबको मौन कर दिया। किसी को उनसे यह कहने का साहस नहीं हुआ कि ऐसे विषय में आपको स्वयं अपने लिए अपने आप निर्णय नहीं करना चाहिये; हम सबकी मनोकामना की पूर्ति के लिए हम सबका गौरव बढ़ाने के लिए इस पद को स्वीकार करना चाहिये अथवा यह कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करने में हम सबको सेवा स्वीकार करनी चाहिए। जिसमें आपसे और अधिक ऊंचा पद प्राप्त करने का प्रस्ताव करने के लिए भारत सरकार और राष्ट्रपति विवश हो जायं। देश की आज की परिस्थिति में, वर्तमान स्वार्थपूर्ण राजनीतिक अवस्था के वातावरण में अन्य किसी नेता के लिए ऐसा उपक्रम या उपाय करना सर्वथा स्वाभाविक और उचित जान पड़ता। आज लोगों को धोखा देकर, गुमराह और अपमानित कर अपने लिए ऊँचा से ऊँचा पद सुनिश्चित करने की जो परम्परा चल पड़ी है, उसमें ऐसा सोचना नितान्त सहज होता। किन्तु हममें से किसी को ऐसी बात कहने का साहस नहीं हुआ। टण्डन जी के निर्मल, उदात्त गरिमामय आदर्शवादी जीवन और व्यक्तित्व के प्रभाव से वहाँ उस समय उपस्थित सभी लोक इतने प्रभावित हो गये कि किसी के मुँह से एक शब्द नहीं निकला और इसमें सन्देह नहीं कि हम सबने मन में यही अनुभव किया कि इसी त्याग-मय, तेजोमय ईर्ष्या, द्वेष और स्पृहाविहीन, निष्कलुष और निरभिमानी जीवन से हम सब का गौरव बढ़ता है। यदि इस एकान्त पथगामी राजर्षि के जीवन से हम गौरवान्वित होते हैं तो यह हमारे लिए कुछ कम सम्पदा नहीं है। जो पद उन्हें दिया जा रहा था, उसके लिए माँग करने की कौन कहे किसी प्रकार का संकेत भी उन्होंने नहीं किया था। जो लोग उनसे वह पद ग्रहण कर के लिए कह रहे थे। उनके सामने केवल एक स्वार्थपूर्ण उद्देश्य था वह यह कि जिन टण्डन जी के

प्रति हम लोगों न उदण्डतापूर्ण, उच्छलतापूर्ण और निरादरपूर्ण व्यवहार किया है वह अवश्य ही प्रतिशोध की भावना से परिपूर्ण होंगे। अतः उन्हें किसी सरकारी पद पर बैठा देने से यह आशंका समाप्त हो जायगी कि टण्डन जी द्रव और प्रतिशोध की भावना से कोई ऐसा काम करेंगे, जिससे हमारा आसन डोल जाय; हमारी मौज में खलल पड़ जाय या हमारी निकृष्ट मनोवृत्ति का अनावरण हो जाय। यदि टण्डन जी आज की राजनीति के नेता होते तो प्रतिशोध की भावना को मन में छिपाये रखते हुए ऊपर-ऊपर मुसकराते हुए अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वियों और शत्रुओं के बीच उठते-बैठते, उनकी व्याज-स्तुति करते रहते. उनके लिए यदा-कदा, यत्र-तत्र स्वागत समारोह का आयोजन करते रहते, स्वयं दूर-दूर तक का दौरा करते रहते, अपने समर्थकों का दल और उसका बल बढ़ाते, अनेक अकरणीय कुकर्म करते हुए भी भौतिक रूप से नैतिकता और पवित्र जीवन चारित्रिक शुचिता का उपदेश देते फिरते और इतना सब करते हुए भी ऐसे मौके की ताख में रहते जब अपने प्रतिद्वन्द्वी को उठाकर पटक देने, अपमानित कर, पदच्युत कर अपने रास्ते से हमेशा के लिए हटा देना सरल काम हो गया होता। राजनीतिक जीवन का यह छल-छद्मपूर्ण व्यवहार केवल आज देखा जा रहा है, यह हम नहीं कर रहे हैं। अकबर और औरंगजेब, मानसिंह और मीर जाफर जो रास्ता दिखा गये हैं; उस पर आज के राजनीतिक नेता कितनी कुशलता से चल रहे हैं, इस पर भी कोई शंका प्रकट करना मेरा अभीष्ट नहीं है। किन्तु यह कहे बिना रहना कठिन है कि महात्मा गांधी ने इस देश के सार्वजनिक जीवन को जिस प्रकार शुद्ध कर भारतीयों को नया मार्ग दिखलाया था, उस पर निष्ठा-पूर्वक सच्चे दिल से चलनेवाले गांधीवादी युग के कुछ ही इने गिने लोगों में राजर्षि टण्डन जी सर्वप्रमुख थे।

सन् १९१६ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास समारोह के अवसर पर गांधी जी ने जिस निर्भीकता से राजाओं और महाराजाओं की अकर्मण्यता और स्त्रियों जैसी अलंकरण-पूर्व वेशभूषा की निन्दा की थी और वाइसराय लार्ड हार्डिंज को भी सम्बोधित कर जिस प्रकार कहा था कि हजारों काशीवासियों को मार्गावरोह का जो कष्ट उठाना पड़ रहा है, उससे कहीं अच्छा होता कि आज जैसे एक वाइसराय की बम या गोली से मृत्यु हो जाय, उस प्रकार की बात कहने या सार्वजनिक जीवन को कलंकित करनेवाले आज के धनपतियों की खुले शब्दों में निन्दा भर्त्सना करने की हिम्मत आज किसी एक राजनीतिक नेता में भी नहीं है। खान अब्दुल गफ्फार खान की बात दूसरी है, क्योंकि एक तो वह अब हमारे देश के नहीं रहे, दूसरे पिछले २२ वर्षों से तरह-तरह की यातना सहते हुए उन्होंने भारतीयों और पाकिस्तानियों को अनैतिकता के गर्त में पड़ते देखा है और वह आज भी, कब्र में पैर लटकाए हुए इन दोनों देशों के कुमार्गियों की निन्दा कर सकते हैं। किन्तु सन् १९४५ में जब राजर्षि टण्डन जी देश के प्रभावकारी नेता थे और उनके साथ एक बड़ा वर्ग हमेशा बना रहता था और जब उनके विरोधियों की संख्या बढ़ती जा रही थी क्योंकि पद-प्राप्ति और धनोपार्जन की सम्भावना बढ़ती दिखाई देती थी, तभी उन्होंने गांधीवादी निर्भीकता प्रकट करने में लेशमात्र संकोच नहीं किया। इस सम्बन्ध की एक साधारण घटना का अति गम्भीर अर्थ समझने का शायद आज समय है। लखनऊ में प्रदेश कांग्रेस की

चुनाव समिति की बैठक हो रही थी और प्रत्याशियों की सूची पर विचार किया जा रहा था। श्रीमती इन्दिरा गांधी का नाम सामने आया। कहते हैं कि टण्डन जी ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और कहा कि "इन्दू को प्रत्याशी बनाना उचित न होगा। पहली बात तो यह है कि उनकी अवस्था अभी कम है। उन्हें राजनीतिक काम-काज का अनुभव प्राप्त करना शेष है। दूसरे उन्हें प्रत्याशी बनाने से अन्य अनेक त्यागी और कर्मठ परिवार के वास्तविक कार्यकर्ताओं को ठेस पहुँचेगी, उनका हमें ख्याल रखना चाहिये। तीसरे, नेहरू परिवार के हर व्यक्ति को विधान सभा या संसद में भेजने की प्रवृत्ति का देश का राजनीतिक जीवन पर नितान्त अस्वास्थ्यकर प्रभाव पड़ता है।" टण्डन जी ने देश के हित में राजनीतिक जीवन की शुचिता के पक्ष में और नेहरू परिवार के शुभेच्छु के रूप में यह विचार प्रकट किये थे। किन्तु उन्हीं दिनों से देश के राजनीतिक कार्यकर्ताओं में अविनय, अविचार, उद्दण्डता, अभद्रता आदि दुर्गुणों का उदय होने लगा था क्योंकि स्वार्थपूर्ति की आसन्न सम्भावना ने उन्हें अन्धा और बहरा बनाना शुरू कर दिया था। चुनाव-समिति के ऐसे किसी एक विवेकशून्य सदस्य ने कहा-- "टण्डन जी, अभी आप अधीर क्यों हो रहे हैं। आपकी एक पुत्रवधू का नाम भी इस सूची में है।" टण्डन जी ने उस दिन के बाद से समिति की बैठकों में जाना बन्द कर दिया और धीरे-धीरे प्रदेश-कांग्रेस के क्रियाकलाप से पृथक् होने लगे। तब से कांग्रेस के स्वयम्भू नेताओं ने कांग्रेस और देश का कितना और कैसा पतन कर डाला है, यह प्रत्यक्ष है, इसकी विवेचना दुःखद तो है ही; अनावश्यक भी है। आज किसमें यह साहस है कि कठोर सत्य कहे? किसमें यह साहस है कि ५० वर्ष की अपनी सेवा को खुशी-खुशी भूलकर पद का त्याग कर दे? आज कौन है जो कबीर की बानी दुहराता हुआ लोगों से कह सके कि सत्य और न्याय के पक्ष में जूझने के लिए, अपना घर फूंक दे और हाथ में लुआठी लेकर निकल पड़े? यह सही है कि आज के अन्धकार के युग में ऐसा एक भी व्यक्ति दिखायी नहीं पड़ता।

राजर्षि टण्डन जी का स्मरण कृतज्ञतापूर्वक करते रहना हमारा धर्म है जिससे भावी सन्तति के लिए प्रेरणा-स्रोत की अजस्र धारा बहती मिलती रहे। ऐसे अवसर पर उन अधूरे कार्यों की ओर भी ध्यान देना भी हमारा कर्तव्य है जो टण्डन जी का शरीर अधूरा छोड़ गया है। यदि जगन्नियन्ता ने ऐसा कोई काम अधूरा छोड़ रखा है तो उसका यही अर्थ है कि राजर्षि टण्डन जी से प्रेरणा लेने वाले उसे पूरा करने के लिए कृत-संकल्प हों। कर्मठ लोगों को उत्पन्न करने के लिए प्रकृति बहुधा अनेक समस्याओं को अधूरा छोड़ देती है और नयी समस्याएँ उत्पन्न करती रहती है।

हिन्दी की समस्या की गिनती इसी में की जानी चाहिए। देश की एकता को पुष्ट करने के लिए इस शताब्दी के आरम्भ में पूज्य मालवीय जी ने हिन्दी को माध्यम माना था। महात्मा गांधी ने पूज्य मालवीय जी का अनुकरण किया और हिन्दी के काम को आगे बढ़ाया। टण्डन जी ने मालवीय जी की आज्ञा मानकर हिन्दी की सेवा का व्रत धारण किया। गांधी जी से मतभेद होने पर हिन्दी की रक्षा के निमित्त उनसे भी लोहा लिया। राजर्षि टण्डन जी के प्रभाव का ही फल

था कि भारतीय संविधान ने हिन्दी को केन्द्रीय शासन की और राज्यों के पारस्परिक व्यवहार की भाषा स्वीकार किया और घोषित किया कि भारत की राजभाषा हिन्दी होगी। संविधान में हिन्दी को यह पद-प्रतिष्ठा देने के बाद साहसहीन और अदूरदर्शी स्वार्थी प्रशासकीय नेताओं ने हिन्दी की न केवल उपेक्षा की, बल्कि दिन-रात उसकी निन्दा करते रहे। यहाँ तक कि राजर्षि टण्डन जी और सेठ गोविन्ददास को कठमुल्ला, हिन्दी वाला, दकियानूसी, प्रतिक्रियावादी आदि नाम से पुकारने लगे। यदि टण्डन जी तनिक शिथिल न होते तो हिन्दीकरण की तिथि १५ वर्ष की न रखी गयी होती। स्नेही साथियों का आग्रह मानकर उन्होंने १५ वर्ष की अवधि मान ली थी। किन्तु वह जानते थे कि १५ वर्ष की समाप्ति के समय उन्हें पुनः उसके लिए संघर्ष करना पड़ेगा। टण्डन जी के इस संघर्ष का वर्णन प्रमुख पत्रकार श्री कुलदीप नायर ने अपनी पुस्तक 'बिटविन द लाइन्स" में किया है। उसकी कुछ पंक्तियाँ यहां उद्धृत करना काफी है और इस बात को दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी के प्रश्न पर समझौता करना उन्हें स्वीकार नहीं था और हिन्दी के उन्नयन के मार्ग की बाधा को दूर करना वह कितना बड़ा कर्तव्य और धर्म मानते थे।

राजर्षि टण्डन जी पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त के पुराने मित्र थे। दोनों में बड़ा स्नेह था। एक दूसरे का बहुत आदर करते थे। किन्तु हिन्दी के मामले में टण्डन जी के सामने यह सम्बन्ध नगण्य महत्व का था। इसका प्रमाण कुलदीप नायर की पुस्तक का यह अंश (पृष्ठ ३०) है--"राजभाषा की संसदीय समिति की अन्तिम बैठक में २५ नवम्बर १९५८ को तत्कालीन स्वराष्ट्रमंत्री गोविन्दवल्लभ पन्त को सम्बोधित करते हुए उत्तेजित पुरुषोत्तमदास टण्डन ने चिल्ला कर कहा--'आप देशद्रोही हैं। उत्तर प्रदेश में भी जब मैं विधानसभा का अध्यक्ष था और आप मुख्यमंत्री थे तभी मुझे आपके हिन्दी-प्रेम पर सन्देह था। आज मेरी यह धारणा पक्की हो गयी है आपमें कुछ भी (प्रेम) नहीं है।" इससे कमरा स्तब्ध हो गया। सदस्य विचलित हो उठे। शान्त मुद्रावाले पन्त जी की आकृति भी रोषपूर्ण हो गयी। तभी एकाएक उनकी छड़ी जो उनकी कुर्सी से लगी खड़ी रहा करती थी, गिर पड़ी। कुछ देर तक केवल एक यही आवाज कमरे में सुनी गयी। उसके बाद मद्रास के एक सदस्य डाक्टर ए. रामस्वामी मुदलियार ने विरोध प्रकट किया। कई अन्य लोगों ने उनका साथ दिया। जिनमें हिन्दी-समर्थक सेठ गोविन्ददास जी भी थे। जिन्होंने समिति में टण्डन जी का समर्थन किया था। टण्डन जी टस से मस नहीं हुए। आक्रोश में बैठे रहे।" पन्त जी से राजर्षि जी को शिकायत थी कि उन्होंने अपना अध्यक्षीय मत देकर कामरेड डांगे के विरोधी मत को निरस्त क्यों नहीं कर दिया। आज वैसा कौन रह गया है जो हिन्दी के लिए अपने घनिष्ठ मित्र से भी कठोरतापूर्वक बोल सके ?

कुमारी पुष्पा अग्रवाल

राजर्षि टंडन जी : लोकप्रिय व्यक्तित्व

सभी व्यक्ति महान् नहीं होते, यह सर्वविदित है। पर जो महान् होते हैं वे व्यक्ति ही होते हैं। साधारण बात है। बहुत ही मामूली। पर बड़ी गहरी है। मस्तिष्क में तुरन्त प्रश्न कौंधता है कि आखिर इस व्यक्ति का 'क्या' उसे महान् बना देता है जो दुनिया उसे पूजती है। और यहीं हम गहराई में जाते हैं। एक व्यक्तित्व की। जिस प्रकार विशाल एवं गम्भीर समुद्र की गहराई में जाने पर असंख्य मणि मुक्ताओं का भण्डार मिल जाता है उसी प्रकार किसी भी महापुरुष के जीवन की गहराइयों में उतरने पर असंख्य मन्त्रों (जीवन मन्त्र जिनकी वे साधना करते हैं) का भण्डार मिल जाता है। वहाँ हम अनुभव करते हैं कि अथक परिश्रम, असीम उत्साह, श्रद्धा, विश्वास, साहस और कष्टों को झेलने की अनन्त सहनशक्ति इसके मूल तत्त्व रहे हैं।

हमारे प्राचीन काल के ऋषियों जैसा रूप है श्रद्धेय टण्डन जी का, आप बाल कभी नहीं बनवाते थे। सिर के तीन ओर लम्बे लम्में बाल जो चन्द्राकार बनाते हैं और लम्बी दाढ़ी... हमारे प्राचीन काल के ऋषियों का रूप। जीवनभर आप देश में जागृति लाने का अथक प्रयास करते रहे। आपका मुख्य पहनावा गर्मियों में धोती, कुर्ता तथा जाड़े में धोती, अचकन था। कभी कभी जब अधिक शीत पड़ती थी तो पायजामे का भी उपयोग कर लेते थे। पैर में कपड़े का जूता पहनते थे। जूते का नीचे का भाग सूत की रस्सी से बँटकर बनाया जाता था।

राजर्षि जी केवल वेषभूषा और रहन-सहन से ही ऋषि नहीं लगते थे, वरन उनका खान-पान भी ऋषि मुनियों का सा सादा था। कभी कभी तो आश्चर्य होने लगता है देखकर कि मनुष्यों में से ही कोई प्राणी इस प्रकार कठिन साधना कर उन असाध्य वस्तुओं की प्राप्ति के लिए जीवन में संघर्ष कर रहा है जिनके लिए हमारे प्राचीन भारत के साधक प्रसिद्ध हैं। टण्डन जी गांधी जी की तरह जीवन के लिए भोजन में विश्वास करते थे।' 'भोजन के लिए जीवन में नहीं।' सन १९०३ ई० में नमक आन्दोलन के वर्षों पहले से ही आपने नमक खाना बन्द कर दिया था। दाल, तरकारी आप बिना नमक के ही खाते थे, हाँ यदि अनजान में किसी ने नमक मिला दिया तो आप उसे फेंकने के पक्ष में नहीं थे। आप नमकीन और बिना नमक दोनों प्रकार का भोजन रुचिपूर्वक खा लेते थे। चीनी के स्थान पर गुड़ का उपयोग करते थे। आप स्वास्थ्य की दृष्टि से कच्चे खाये जाने वाले पदार्थों को अधिक रुचि से खाते थे। वे 'भोजन' जैसी तुच्छ वस्तु को, जो कि पेट भर कर मानवीय मशीन को चलने योग्य बनाती है, अधिक महत्व नहीं देते थे।

अनेक उदाहरण आपके जीवन में भरे पड़े हैं जबकि आप महीनों केवल फल खाकर ही रह जाते थे।

टण्डन जी अपने सार्वजनिक जीवन में कितने कठोर पुरुष रहे हों पर वास्तविकता यह है कि आप अत्यन्त ही कोमल हृदय के पुरुष थे। एक घटना इस सम्बन्ध में विशेषरूप से उल्लेखनीय है। सन १९३७ ई० की बात है, आप अस्वस्थ थे। अतः डाक्टरों की राय से आपको गाय का दूध पीने के लिए दिया जाता था। एक दिन आपने अपने निजी सचिव से कहा कि दूधवाले को बुलाकर यहीं दूध दुहाया करो ताकि तुरन्त ताजा दूध पीने को मिल जाया करे। सचिव ने दूध वाले को गाय सहित बुलाया। जब ग्वाला दूध दुहने लगा तो टहलते-टहलते आप भी वहाँ पहुँच गये। ग्वाले ने बछड़े को पहले पिला कर गाय के अगले पैर में बाँध दिया और फिर दूध दुहने लगा। गाय का बच्चा जो गाय के अगले पैरों में बँधा अपनी माँ का दूध पीने के लिए जी तोड़ कोशिश कर रहा था और माँ के सीने में मुंह से धक्का दे रहा था आप बैठे बैठे यह सब देख रहे थे।

जब दुहा हुआ दूध आपके पास लाया गया तो उस समय आपकी आँखों से अश्रुधारा निकल रही थी। आपने कहा, मैं दूध नहीं पी सकता। जब हम अपनी माता का दूध दूसरे को नहीं पीने देते तो दूसरे की माता का दूध हमें कदापि नहीं पीना चाहिए। यह घोर अन्याय है। महान् पाप है। मैं दूध नहीं पी सकता। सचिव ने कहा "बाबूजी, बछड़े के पीने से अधिक मात्रा में गाय दूध देती है। अतः इसके दुहने से बछड़े के भाग का दूध नहीं लिया गया। दूसरे बछड़े को अगर अधिक दूध पिला दिया जाएगा तो वह बीमार हो जायेगा। उसके पेट में कीड़े पड़ जायेंगे। इसलिए उसे उचित मात्रा में ही दूध पिलाया जाता है। गाय अधिक दूध देती है अतः उसका बछड़ा भूखा कदापि नहीं रह सकता। किन्तु आपने दूध पीने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। तब से आप दूध का प्रयोग नहीं करते थे। अपने सिद्धान्तों के पीछे टण्डन जी ने बड़े से बड़े प्रलोभन को भी पास नहीं फटकने दिया। और बड़ी से बड़ी वस्तु का त्याग कर दिया।

टण्डन जी की ईमानदारी एवं सत्य परायणता सर्वविदित है। राजनीति में भी आपने कभी छल-छद्म से काम नहीं लिया। आपने कभी भी स्वार्थ या पद प्राप्ति के लिए कोई तिकड़मबाजी नहीं की। आप बड़े ही सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। अनेकों गुण आपके व्यक्तित्व में भरे पड़े थे। आप अंग्रेजी, हिन्दी, फारसी तथा संस्कृत के अच्छे जानकार थे। फारसी की पुस्तकों को तो आप बहुत ही पसन्द करते थे। भारतीय संस्कृति के तो एक सुदृढ़ स्तम्भ ही थे। एक स्पष्ट वक्ता की भाँति सत्य बात को छिपाना आपका स्वभाव नहीं रहा। कुछ लोगों का ख्याल है कि आप इसी कारण इतने पीछे रह गये। क्योंकि आपकी बुद्धि ने जिस बात को स्वीकार नहीं किया आपने डटकर उसका विरोध किया। यदि आप ऐसा न करते तो हमारे देश के उच्चतम श्रेणी के नेता के रूप में आपको कभी का प्रमुख स्थान मिल गया होता।

आतिथ्य सत्कार भारतीय संस्कृति का एक विशिष्ट अंग है। टण्डन जी, अपने अतिथियों की देखभाल स्वयं करते थे। उनने रहने, खाने-पीने, तथा सोने और अन्य सभी प्रकार

की सुविधाओं का आप ध्यान रखते थे। सब मिलाकर आप एक कुशल व्यावहारिक व्यक्ति थे।

आदत मानव का स्वभाव बन जाती है। और स्वभाव की वजह से जहाँ मनुष्य को सफलता प्राप्त होती है वहीं पर कभी-कभी स्वभाव कष्टदायक भी हो जाता है। टण्डन जी का स्वभाव था प्रत्येक कार्य को महत्वपूर्ण समझना। चूँकि आपके पास अनेको महत्वपूर्ण कार्य रहते थे और आपका जीवन अत्यन्त व्यस्त था अतः अनावश्यक रूप से साधारण कार्यों को भी महत्वपूर्ण बना देने से कई बार उनके आवश्यक काम पिछड़ जाते थे।

श्रद्धेय टण्डन जी में कुछ क्रोध की मात्रा भी थी। परन्तु आप तत्क्षण ही भूल जाते थे कि मैंने किसी के ऊपर क्रोध किया है। आप जिस व्यक्ति के ऊपर क्रोध करते थे लगभग एक मिनट बाद ही क्रोध को भूलकर उससे प्रसन्नतापूर्वक बात करने लगते थे।

सन १९०५ ई० में बंग भंग आन्दोलन के समय जब विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हुआ उसी समय से आपने चीनी खाना बिल्कुल छोड़ दिया। दूसरा कारण चीनी त्याग देने का यह है कि सन १९०५ ई० के आस पास हमारे देश का बहुत सा रुपया चीनी के आयात में लगाया जाता था। कपड़े के पश्चात् चीनी के आयात पर रुपया खर्च होता था। उस समय कपड़े का आयात लगभग साठ सत्तर करोड़ रुपये का होता था और चीनी का आयात लगभग चौबीस करोड़ रुपये का। इस प्रकार देश के धन का बहुत बड़ा भाग विदेशों को भेंट किया जाता था। इस स्थिति से देश को बचाने के लिए आपने चीनी का परित्याग किया। एक कारण यह भी था कि उस समय लोगों की ऐसी धारणा थी कि चीनी हड्डी के कोयले से साफ की जाती थी और उसमें रक्त के कण मिले रहते हैं। इसलिए भी आपने चीनी को तिलांजलि दे दी। आपने सन् १९२१ ई० में चीनी पर एक नोटिस भी छपवाई थी जिसमें चीनी का सेवन कम करने के लिए जनता से अनुरोध किया गया था। और उससे होनेवाली हानि की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया गया था।

यह घटना सन १९०७ ई० की है। आपके निकट सम्पर्क वालों को तो पता ही था कि आप चमड़े का जूता नहीं पहनते थे। चमड़े का जूता पहनना आपने क्यों छोड़ दिया इसके पीछे भी एक कहानी है। एक बार आपको कसाई खाना खोलने के लिए व्यापारियों का एक मसौदा बनाना पड़ा। उस समय आपने देखा कि गोहत्या केवल माँस खाने के लिए नहीं वरन चमड़े के लिए भी की जाती है। अतः तब से आपने संकल्प किया कि चमड़े का जूता नहीं पहनूँगा। यही कारण है कि जब आप सन १९०९ ई० में सर्वप्रथम हाईकोर्ट में वकालत करने गये तो उस समय आपके पैर में जूट की रस्सी का बना हुआ भद्दा सा जूता था। उस समय उस जूते को देखकर डा० सर तेज बहादुर सप्रू ने आपकी चुटकी लेते हुए कहा था कि हजरत ! ये जूता पहनकर हाईकोर्ट में वकालत करने चले हैं। इस वाक्य पर बड़ी देर तक हँसी होती रही तब भी आपने चमड़े के जूते का कभी उपयोग नहीं किया।

व्यक्तित्व की दृढ़ता का एक से एक उदाहरण हमें उनके जीवन में मिल जायेगा।

सन १९१४ ई० से ही आपने घी खाना छोड़ दिया था क्योंकि आपका ख्याल था कि घी मुटापा बढ़ाता है।

सन् १९२१ ई० के आन्दोलन के बाद आपने कई राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना की और देश के प्रतिष्ठित नेताओं का ध्यान विशेष रूप से इस ओर आकर्षित किया। काशी विद्यापीठ की भाँति आपने इलाहाबाद में हिन्दी विाद्यापीठ की स्थापना की। इसके प्रथम आचार्य आप ही थे और सर्व प्रथम विद्यार्थी आपके पुत्र। जीवन पर्यन्त आप इसकी सहायता करते रहे।

सन १९०८ ई० से लेकर सन १९०९ ई० के कुछ मास तक आपने प्रयाग से निकलने वाले प्रमुख और प्राचीन समाचार पत्र 'अभ्युदय' का बड़ी योग्यता के साथ सम्पादन किया। इस समाचार पत्र के सर्वप्रथम सम्पादक प्रातःस्मरणीय महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी थे। उस समय आपही लगभग पत्र का सारा काम देखा करते थे। आप ही मैनेजर थे।

टण्डन जी पूर्णरूप से एक आध्यात्मिक पुरुष थे। यूँ तो वे हमारे सामने अनेक रूपों में आते हैं। और सत्य भी है कि प्रतिभा एकांगी नहीं होती। एक साहित्यकार, राजनीतिक नेता, सम्पादक, अध्यापक, व्यवस्थापक, वक्ता, कार्य-कर्त्ता, और न जाने क्या, क्या। परन्तु इन सबसे ऊपर एक महान् व्यक्तित्व जो अपने अलौकिक तेज द्वारा आकाश की ऊँचाइयाँ छूता प्रतीत होता है, जिसके सम्मुख यह सब बातें बहुत पीछे छूट जाती हैं, उनका वह व्यक्तित्व एक प्रकाश स्तम्भ की भाँति ज्योति-किरणें बिखेरता अविचल एवं अडिग खड़ा हुआ है जिसके सम्मुख अनायास ही मानवमात्र का मस्तक नत हो जाता है।

ग्राहकों से निवेदन

'सम्मेलन-पत्रिका' के प्रेमी एवं नियमित पाठक ग्राहक-बन्धुओं से मुझे यह निवेदन करते थोड़ा संकोच हो रहा है कि पत्रिका भाग ५६ से इसका शुल्क ८ रु० के स्थान पर १०) दस रुपये कर देना पड़ा है। कागज तथा छपाई आदि के मूल्य इधर पिछले कई वर्षों से बहुत बढ़ गये हैं, फिर भी हम 'सम्मेलन-पत्रिका को ८) रु० वार्षिक में ही देते रहे हैं। क्योंकि सम्मेलन इस पत्रिका को किसी लाभ के लिए नहीं, राष्ट्रभाषा और उसके साहित्य के समुत्थान तथा संवर्द्धन के लिए निकालता है। वर्तमान परिस्थिति में मूल्यों के और अधिक बढ़ जाने से वार्षिक शुल्क १०) रु० दस रुपये कर देने के लिए हमें विवश होना पड़ा है। हम पत्रिका में वर्ष भर में ५०० पृष्ठों से अधिक की अनुशीलन-शोध-पूर्ण सामग्री पाठकों को दिया करते हैं, इस दृष्टि से यह १०) रु० वार्षिक शुल्क अधिक नहीं है। कृपया आगामी वर्ष सन् १९७० भाग ५६ का शुल्क भेजते समय इस सूचना को ध्यान में रखें।



व्यवस्थापक

सम्मेलन पत्रिका

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

हिन्दी-वाङ्मय की अभिवृद्धि

हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश

द्वारा

उत्कृष्ट एवं उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन

१.	तत्वज्ञान	डा० दीवानचन्द्र	५-००
२.	अरस्तू की राजनीति	श्री भोलानाथ शर्मा	१०-००
३.	संस्कृत आलोचना	श्री बलदेव उपाध्याय	५-५०
४.	भारतीय दर्शन	डा० उमेश मिश्र	८-००
५.	पश्चिमी दर्शन	डा० दीवान चन्द्र	४-००
६.	भारतीय आर्य भाषाएं	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१०-५०
७.	कला और आधुनिक प्रवृत्तियां	श्री रामचन्द्र शुक्ल	४-००
८.	उर्दू-हिन्दी शब्द-कोश	श्री पु० मु० मद्दाह	१६-००
९.	राजनय	श्री राघवेन्द्र सिंह	३-७५
१०.	संस्कृत नाटककार	श्री कान्तिकिशोर भरतिया	४-५०
११.	आपेक्षिकता का अभिप्राय	डा० निहालकरण सेठी	४ ००
१२.	विश्व इतिहास	डा० रामप्रसाद त्रिपाठी	१४-५०
१३.	इतिहास दर्शन	डा० बुद्धप्रकाश	१२-००
१४.	सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास	डा० बैजनाथ पुरी	१५-००
१५.	आर्थिक पद्धतियां	डा० मुरलीधर जोशी	६-५०
१६.	मनोविज्ञान की ऐतिहासिक रूपरेखा	डा० सीताराम जायसवाल	१३-००
१७.	भारत में मुद्रा और बैंकिंग का विकास	डा० अवधबिहारी मिश्र	४-००
१८.	भाषा विज्ञान पर भाषण--भाग १, २	डा० हेमचन्द्र जोशी	२०-००
१९.	समाज सेवा का क्षेत्र भाग--१, २	डा० शम्भूनाथ सिंह	१७-५०
२०.	भारतीय नीति शास्त्र का इतिहास	डा० भीखनलाल आत्रेय	२०-००
२२.	मूल्य और पूंजी	श्री महेशचन्द्र	९-००
२३.	अर्थशास्त्र के सिद्धान्त	डा० श्रीगोपाल तिवारी	२०-००

कलात्मक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी विषयों पर यह समिति आज तक प्रायः १७० उच्चस्तरीय ग्रंथ प्रकाशित कर चुकी है। हिन्दी माध्यम से अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों और जिज्ञासुओं के हित का ध्यान रख कर प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा तैयार कराये गये ये ग्रंथ अपनी पाठ्य-सामग्री के अतिरिक्त सुदृढ़ जिल्द और सुन्दर गेट अप तथा साधारण मूल्य के कारण विशेष लोकप्रिय हो रहे हैं।

क्रयादेश भेजकर अनुगृहीत करें।

सचिव, हिन्दी समिति

सूचना विभाग, उ० प्र० शासन, लखनऊ